खंड : ४

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के व्यक्तित्व-कर्तृत्व पर केन्द्रित संस्मरणात्मक आलेख

:: अनुक्रम ::

क्र० सं० पृ० सं०	विषय	लेखक
१.	शास्त्री जी	नरेन्द्र कोहली	५
२.	स्वामी विवेकानन्द के चरणचिन्हों पर शास्त्री जी	डॉ० विवेकी राय	१८
३.	एक कर्मठ संन्यासी : आचार्य शास्त्री	डॉ० चन्द्रदेव सिंह	२४
४.	सरस्वती पुत्र श्री शास्त्री जी	त. शि. क. कण्णन	२७
५.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	डॉ० सियाराम तिवारी	३०
६.	सभी के अपने शास्त्री जी	पुष्करलाल केड़िया	३७
७.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का भारतीय मन	डॉ० विद्याबिन्दु सिंह	३८
८.	शरणागति का सुरक्षा कवच	मनु शर्मा	४१
९.	संत मिलन सम सुख जग नाहीं	डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	४४
१०.	पाँकाल माछ	डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र	५८
११.	सुरभित पलों से गुजरते हुए	डॉ० चमनलाल गुप्त	६०
१२.	सर्वभूत हिते रता	पुरुषोत्तम दास हलवासिया	६३
१३.	एक विरल व्यक्तित्व	विश्वंभर सुरेका	६४
१४.	आस्तिकता एवं विनम्रता के हिमालय	राकेश ओझा	६५
१५.	शुभकामनाएँ	विजय कुमार 'प्रशांत'	६७
१६.	शास्त्री जी : व्यक्तित्व की एक झलक	डॉ० धर्मपाल मैनी	६८
१७.	वैष्णव जन तो तेने कहिए.....	डॉ० शीला मिश्र	६९
१८.	निर्मल मानस आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी	डॉ० योगेश प्रवीन	७२
१९.	सहृदयता उनकी पहचान है	विजय बहादुर सिंह	७४
२०.	गन्ध चन्दन को	डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर	८२
२१.	जनु मरुभूमि कल्पतरु जामा	श्रीराम तिवारी	८६
२२.	...और राजभवन आश्रम बन गया	आनन्द मिश्र 'अभय'	९०
२३.	ईश्वर हमारा अन्तिम आश्रय है	सिद्धेश	९४
२४.	मंगल कामना (कविता)	कृष्णचन्द्र शर्मा	९५
२५.	ऐसे नर थोड़े जग माहीं	मृदुला सिन्हा	९६
२६.	स्मृति के वातायन से	बद्री नारायण तिवारी	९९
२७.	श्रद्धा-सुमन (कविता)	अवधेश नारायण मिश्र 'दीपक'	१०१
२८.	स्मरणीय व्यक्तित्व के मनीषी	डॉ० गिरिजा शंकर त्रिवेदी	१०२
२९.	अभिनंदन (कविता)	डॉ० अशोक कुमार उपाध्याय	१०३
३०.	प्रज्ञा-पुरुष आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री	स्वदेश भारती	१०४
३१.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : एक अप्रतिम-व्यक्तित्व	डॉ० सय्यद महफूज़ हसन रिज़वी 'पुष्परोक'	१०७
३२.	लेखकों में सौम्य शांत विष्णुकान्त	डॉ० परमानंद श्रीवास्तव	१११
३३.	एक दोहा	डॉ० रमानाथ त्रिपाठी	११३
३४.	क्षीर सागर की हिलोर के श्री-विग्रह : आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री	शिव ओम अम्बर	११४

क्र०सं०	विषय	लेखक	पृ० सं०
३५.	श्री गुरवे नमः	शरद चन्द्र पाठक	११७
३६.	विद्या-वारिधि शास्त्रीजी (कविता)	राजदेव सिंह 'कौशल'	११८
३७.	रंगकर्मी आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री	विमल लाठ	११९
३८.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री (कविता)	डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी	१२२
३९.	श्री विष्णुकान्त शास्त्री : आदर्श समग्र	पृथ्वीनाथ शास्त्री	१२३
४०	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : अप्रतिम व्यक्तित्व	डॉ० माताप्रसाद सिंह	१२५
४१.	श्रद्धा-सुमन (कविता)	नीलम श्रीवास्तव	१२६
४२.	Vishnukant as I know him (Down the memory lane)	Arunendu Sarkar	१२७
४३.	Acharya Vishnukant Shastri : Reminiscence and Recollections	Prof. Kunal Ghosh	१३२
४४.	साहित्य, राजनीति और जन का समन्वय	गिरिराज किशोर	१३४
४५.	भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति	गोविन्द मिश्र	१३९
४६.	सत्य-साधना के मूर्त रूप : आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री	डॉ० वसुमति डागा	१४२
४७.	आचार्य श्री : जिनकी वाणी में सम्मोहन है	प्रो० कृष्ण बिहारी पाण्डेय	१४८
४८.	एक अद्भुत व्यक्तित्व	डॉ० कुसुम खेमानी	१५२
४९.	स्मृतियाँ जो जीवन की पाथेय बनीं	डॉ० शिवनाथ पाण्डेय	१५५
५०.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री (कविता)	डॉ० भगवती प्रसाद चौधरी	१५८
५१.	बहुआयामी उत्प्रेरक व्यक्तित्व	डॉ० सरोज सिंह	१५९
५२.	विरुद्धों के सामंजस्य	श्रीनारायण पाण्डेय	१६१
५३.	सरलता, सात्विकता तथा विद्वत्ता की साकार मूर्ति	शिव कुमार गोयल	१६५
५४.	हर आलोक छुआ अपनापन है उन्मोचन नश्वरता के दाग से	डॉ० राजेन्द्र मिश्र	१६९
५५.	सहजता एवं आत्मीयता की प्रतिमूर्ति	डॉ० रमानाथ त्रिपाठी	१७१
५६.	श्री विष्णुकान्त शास्त्री – जैसा देखा जैसा पाया	केशव दीक्षित	१७४
५७.	विद्वद्वर और अपनत्व	नन्दलाल शाह	१७६
५८.	भारतीयता के पर्याय	डॉ० हरिप्रसाद दुबे	१७८
५९.	अध्यात्म-चिंतक को नमन (कविता)	डॉ० अजय शुक्ल	१७९
६०.	निष्काम कर्मयोगी	प्रकाश त्रिपाठी	१८०
६१.	एक श्रेष्ठ सांस्कृतिक महापुरुष	डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'	१८२
६२.	'बेंच मेट' से 'पिताश्री' तक	सुषमा स्वराज	१८५
६३.	तोहि मोहि नाते अनेक	डॉ० नामवर सिंह	१८९
६४.	तुमको प्रणाम!	ब्रजनन्दन सहाय 'मोहन प्रेमयोगी'	१९३
६५.	पश्येम शरदः शतम् : पचहत्तर वर्ष पूर्ति में प्रार्थना	सीतानाथ गोस्वामी	१९४
६६.	'महामहिमा जलरासी'	प्रो० सूर्यप्रसाद दीक्षित	१९६
६७.	अभिनन्दन!	रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी 'प्रलयंकर'	१९९
६८.	एक साधुपुरुष, एक आचार्य	डॉ० शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव	२००
६९.	An Appreciation By a Contemporary	Amitabha Ghosh	२०४

क्र०सं०	विषय	लेखक	पृ० सं०
७०.	ऋषिगंध से पूरित व्यक्तित्व	डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी	२११
७१.	राजनीति के पंक में पंकज	केशरीनाथ त्रिपाठी	२१३
७२.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : मेरी दृष्टि में	रामकृष्ण गुप्त 'बन्धु'	२१५
७३.	नागफनी पर रामनामी पद्मासन	रामचन्द्र मिश्र 'कोशलेश'	२१६
७४.	'जतो दिन बाँची ततो दिन सीखी'	ममता कालिया	२२१
७५.	अविस्मरणीय व्यक्तित्व	शंकरलाल मेहता	२२३
७६.	हमारे शास्त्रीजी	लक्ष्मीकांत तिवारी	२२६
७७.	आश्चर्यजनक व्यक्तित्व : शास्त्रीजी	उम्मेद सिंह बैद	२२७
७८.	शास्त्रीजी को याद करते हुए	श्रीनिवास शर्मा	२२९
७९.	गुरुवर! तुम्हारी राजनीति मानवीयता है	डॉ० सुकीर्ति गुप्ता	२३१
८०.	क्या भूलूँ क्या याद करूँ	डॉ० इन्दु जोशी	२३४
८१.	मुस्कुराहट बनी रहे	डॉ० वसुंधरा मिश्र	२३६
८२.	भारतीय संस्कृति की आभा से मंडित व्यक्तित्व	स्नेहलता बैद	२३७
८३.	शास्त्री जी को मैंने जैसा देखा	पं० राधा मोहन उपाध्याय	२३९
८४.	भक्तित्व, संतत्व एवं कर्मत्व का समुच्चय	श्रीमोहन तिवारी	२४१
८५.	ओज के शंख और आस्था की वंशी	डॉ० कमलेश जैन	२४२
८६.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : गुरवे नमः	निर्भय मल्लिक	२४४
८७.	जनु जोगी परमारथु पावा	कृष्ण स्वरूप दीक्षित	२४६
८८.	प्रणम्य है उनका आचार्यत्व	कृष्णकुमार अष्ठाना	२४८
८९.	स्मृतियों के वातायन से	डॉ० उषा द्विवेदी	२४९
९०.	आचार्य शास्त्रीजी : एक चुम्बकीय व्यक्तित्व	दुर्गादत्त सिंह	२५१
९१.	कवि और साहित्यकार पण्डित विष्णुकांत शास्त्री	राजेन्द्र उपाध्याय	२५३
९२.	विष्णुकान्त शास्त्री साक्षात् काव्य हैं	डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय	२५५
९३.	मन की बात	डॉ० प्रतिभा अग्रवाल	२५७
९४.	शत-शत प्रणति (कविता)	डॉ० कृष्णकुमार त्रिपाठी	२६०
९५.	वंदनीय शास्त्रीजी	पी. डी. चितलांगिया	२६१
९६.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री (कविता)	अशोक कुमार मिश्र	२६२
९७.	गंगा की निर्मलता, पावनता एवं संस्कृति के प्रतीक-मनीषी : शास्त्रीजी	डॉ० कमल किशोर गोयनका	२६३
९८.	गुरुवरं नुमः (कविता)	डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी	२६९
९९.	शास्त्र, शासन और शास्त्री जी	प्रो० राम मोहन पाठक	२७०
१००.	हे विष्णुकान्त! (कविता)	राजबहादुर 'विकल'	२७३
१०१.	आचार्य श्रीपं० विष्णुकान्त शास्त्री	आचार्य श्रीकान्त शास्त्री	२७४
१०२.	आचार्य शास्त्री की पूरक और प्रेरक— वात्सल्यमूर्ति श्रीमती इंदिरा शास्त्री	डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी	२७५

नरेन्द्र कोहली

शास्त्री जी

सन् १९६१-६२ की बात है। मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कॉलेज से हिंदी में एम. ए. कर रहा था। विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ने अध्यापकों के लिए एक अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन किया था। गोष्ठी के विषय में हमें कोई विशेष जानकारी नहीं थी। बस इतना ही पता था कि हमारे प्रोफेसर जो कुछ कर रहे थे, उसमें हमें उनकी सहायता करनी थी। आवश्यक था कि जिस छात्र को जो आदेश दिया जाए, वह उसका पूर्णतः पालन करे। मैं उसे गुरुसेवा का नाम नहीं दूँगा। वह तो हमारा लोभ और स्वार्थ था। हमें पढ़ना था, परीक्षा में अच्छे अंक लाने थे, और फिर उन्हीं प्रोफेसरों के माध्यम से नौकरी प्राप्त करनी थी। अपने गुरुओं की प्रसन्नता हमारे भविष्य का निर्धारण करने वाली थी। वह सेवा नहीं चाटुकारिता थी। काम करूँ न करूँ, किंतु डॉ. नगेन्द्र और अन्य प्रोफेसरों को दिखाई पड़ना चाहिए कि मैं बहुत काम कर रहा हूँ। पिसा जा रहा हूँ। मरा जा रहा हूँ। अपने प्राण दे दूँगा, किंतु उनका काम अवश्य करूँगा।

बाहर से आए अतिथियों को विभिन्न स्थानों पर ठहराया गया था। कलकत्ता के एक युवा अध्यापक को हमारे हॉस्टल में ठहराया गया था। नाम था : विष्णुकान्त शास्त्री। युवा थे। कम से कम मैंने तब तक उनके विषय में कुछ सुना जाना नहीं था। उनका लिखा हुआ कुछ पढ़ा भी नहीं था। वेशभूषा और हावभाव में वे अन्य लोगों से कुछ भिन्न थे। सबसे प्रमुख बात यह थी कि उनका व्यवहार अन्य अभ्यागत अध्यापकों से सर्वथा भिन्न था। वे हमारे लिए आतंक नहीं थे। सहज भाव से हमारे साथ उठते बैठते थे। बातें करते थे। हमें अपने निकट आने के लिए प्रोत्साहित करते थे। मुझे अब यह तो स्मरण नहीं है कि उनसे उन दिनों क्या बातें होती थीं; किंतु इतना अवश्य स्मरण है कि उनके पास बैठ कर यह नहीं लगता था कि हम अपने विभाग के आदेश का पालन कर रहे हैं। लगता था कि अच्छी मनभावन संगति में बैठे हैं; और कुछ न कुछ नया सीख रहे हैं।

संगोष्ठी समाप्त हो गई और शास्त्री जी कलकत्ता लौट गए। मैंने कभी उनसे पत्र व्यवहार नहीं किया। शायद उसका कारण मेरा और उनका अपने-अपने जीवन में व्यस्त हो जाना ही था। मैं एम. ए. कर नौकरी में चला गया। पी-एच. डी. करने बैठ गया। विवाह कर लिया। संतान के मोह में उलझ गया और अपने लेखन में लगा रहा। उनसे सीधा संपर्क कोई नहीं था, किंतु उनसे संबंध न रहा हो, ऐसा भी कभी नहीं लगा। 'कुछ चंदन की, कुछ कपूर की' हाथ लगी, तो लगा कि अपने किसी पुराने श्रद्धेय मित्र के चित्रों का कोई एलबम हाथ लग गया है। उसे उलटता पलटता रहा। उससे यह भी ज्ञात हुआ कि वे मेरे समान पी-एच. डी. के फेर में नहीं पड़े हैं। डिग्री के पीछे नहीं हैं, ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश का प्रयत्न कर रहे हैं। मेरे और उनके स्वभाव में कोई समानता रही होगी, जो मेरे मन में उनके प्रति सम्मान था। संभव है, समानता न रही हो — वे मेरे अभावों के पूरक हों। जो कुछ मेरे पास नहीं था, वह उनके पास था, इसीलिए वे मुझे अच्छे लगते हों। मैं सर्जक साहित्यकार बनने की अपनी अदम्य आकांक्षा में बंधा, या अपने स्वभाव से प्रेरित स्वधर्म में लगा, कहानियाँ और व्यंग्य लिख रहा था और वे सद्ग्रंथों को पढ़ उनका मर्म जानने का प्रयत्न कर रहे थे। मैं लेखक बन रहा था और वे आलोचक बन चुके थे।

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स् (इण्डिया) लि०, ६, लायब्रेरी रेंज, कोलकाता-७०० ००१

दिल्ली के पुराने किले में, मैं अपनी पत्नी के साथ, धर्मवीर भारती का नाटक 'अंधायुग' देखने के लिए गया था। अभी नाटक आरंभ नहीं हुआ था कि मुझे शास्त्री जी दिखाई पड़ गए। उनके साथ सबका एक सुखद अनुभव है कि उन्हें देखते ही प्रणाम में झुक जाना एकदम अनिवार्य नहीं है। वे आपको पहचानने में औपचारिकता की प्रक्रिया में से नहीं गुज़रते। वे अपनी महानता का प्रदर्शन किए बिना तत्काल ही आपको पहचान लेते हैं; और सहज भाव से बातें करने लगते हैं। बोले, "अरे नरेन्द्र ! यह कैसे संभव हो रहा है कि तुम 'पांचजन्य' और 'मुक्तधारा' — दोनों में एक साथ छप रहे हो ?

मेरे लिए यह अत्यन्त सुखद अनुभव था। उन्हें मेरी याद थी। वे मुझे पहचानते थे। मैं क्या लिख रहा था और कहाँ छप रहा था, वे जानते थे। .....

मैं आज भी मानता हूँ कि मैंने अपना जीवन मूर्खता ही में गुज़ार दिया है। कभी बहुत सोचा नहीं, कभी बहुत जाना नहीं। संसार के चतुर चालाक और समझदार लोगों जैसा तो कभी रहा ही नहीं। तब तक यह भी मालूम नहीं था कि कौन सी पत्रिका किस विचारधारा की है। कौन सा प्रकाशक किस पार्टी का है। कौन सा संपादक किन लेखकों को जानता मानता है। शास्त्री जी के प्रश्न ने जैसे मुझे झकझोर कर सजग किया। 'मुक्तधारा' साम्यवादियों की पत्रिका थी और 'पांचजन्य' राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मुखपत्र। पर मैंने कभी इस ओर ध्यान ही नहीं दिया था। शायद उन लोगों ने भी मेरे विषय में ऐसा कोई निर्णय तब तक नहीं लिया था। उन दोनों में प्रायः मेरे व्यंग्य छपते थे।

"मेरे व्यंग्यों में सरकार विरोधी स्वर है और ये दोनों ही पत्रिकाएं विपक्ष की हैं, अतः वे दोनों ही मुझे छाप देते हैं।" मैंने उत्तर दिया।

पता नहीं वे मेरे उत्तर से संतुष्ट हुए या नहीं हुए; किन्तु मेरे मन में अनेक प्रश्न जाग उठे। मात्र छपना ही तो लेखक का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। क्या छप रहा है और कहाँ छप रहा है — यह जानना भी तो आवश्यक है। पाठक कौन है? किन लोगों के साथ मुझे चलना है ? ..... उसके लिए मुझे बहुत प्रयत्न नहीं करना पड़ा। मुझे आज भी लगता है कि मैंने संस्थाओं, पार्टियों, संगठनों तथा साथियों को नहीं चुना। मैं तो बस अपने मार्ग पर चलता चला गया। अपने स्वभाव के अनुसार, अपने स्वधर्म का निर्वाह करता चला गया। जो मेरे लिए स्वाभाविक था, वह लिखता रहा। लोगों ने स्वयं ही मुझे स्वीकार अथवा अस्वीकार कर दिया। मेरे लिए यह सुखद ही रहा। मैंने लोगों की ओर नहीं देखा कि वे मुझसे क्या चाहते हैं। यह भी नहीं सोचा कि आजकल क्या लिखना लाभकारी है। यह भी जानना नहीं चाहा कि क्या लिखने से क्या लाभ होगा। बस यही जाना कि मैं यही लिखना चाहता हूँ। यही लिखूँगा। मिलना न मिलना महत्त्वपूर्ण नहीं है। लिखना अपने आत्मिक विकास के लिए होता है। सांसारिक उपलब्धियाँ तो उसके मार्ग की बाधाएँ हैं। ..... किन्तु शास्त्री जी का प्रश्न मुझे जगा तो गया।

उसके पश्चात् अनेक स्थानों पर अनेक गोष्ठियों और सभाओं में शास्त्री जी से भेंट होती रही। दिल्ली में, कलकत्ता में..... संयोग ही था कि कलकत्ता की विभिन्न संस्थाओं — श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, बड़ाबाजार लाइब्रेरी, भारतीय संस्कृति संसद, भारतीय भाषा परिषद, अनामिका — द्वारा आयोजित कार्यक्रमों के निमंत्रण मिलते रहे और ऐसा कभी नहीं हुआ कि वहां शास्त्री जी न हों। वे उन सब में व्याप्त थे। उनसे अनेक प्रकार की बातें भी हुईं। परिचय बढ़ा। किन्तु मैं उनको, उनके महत्त्व को, ठीक ठीक जान पाया होऊँ — ऐसा मैं नहीं कह सकता। उनका व्यक्तित्व ही ऐसा है कि स्वयं को बहुत दिखाता नहीं चलता। अपनी असाधारणता और विशिष्टता को दबाए, साधारण और सामान्य बने रहना उनका स्वभाव है।

सौजन्य : श्री घनश्यामदास बेरीवाला, १६७, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ००७

१९७१ में बांगलादेश के मुक्तिसंग्राम के संदर्भ में धर्मवीर भारती के साथ उनका बांगलादेश का भ्रमण, वहां के लोगों के बीच जा कर उनके साथ अपनी एकजुटता प्रकट करना, अपना समर्थन देना, सबके सामने आया। उनके द्वारा सुनाई गई हिन्दी और बांगला कविताओं की गूंज भारत और बांगलादेश दोनों ही देशों में सुनाई पड़ती रही। सामान्यतः कवि अपनी कविताएँ सुनाता है। अपने लिए यश चाहता है। किन्तु यहाँ एक ऐसा व्यक्ति था, जो संस्कृत, हिन्दी और बांगला के श्रेष्ठ काव्य को कंठस्थ कर सरस्वती का चारण बना, सामान्य जन को — पढ़े लिखों को, अनपढ़ों को, अधपढ़ों को — काव्य संस्कार दे रहा था।

सूचनाएँ मिलती रहीं कि वे भारतीय जनता पार्टी की बंगाल की शाखा के पदाधिकारी हो गए हैं। वे वहाँ की विधान सभा के सदस्य हो गए हैं। वे सांसद हो गए हैं। .....

एक दिन फोन आया। यदि मैं घर पर ही था तो वे मेरे घर आ रहे थे। हमारे साथ भोजन भी करेंगे। ..... मैं चकित ! ऐसा तो आज तक नहीं हुआ कि सांसद तो सांसद, कोई नगर पार्षद भी स्वयं अपनी इच्छा से मेरे घर आया हो। शास्त्री जी आ रहे थे। उन्होंने यह नहीं कहा था कि मैं कहीं से उन्हें ले आऊँ। किसी भी प्रकार की कोई मांग नहीं थी, बस वे आ रहे थे। हाँ ! फोन पर ही इतना अवश्य बता दिया था कि उन्होंने मेरे उपन्यास 'महासमर' के तब तक प्रकाशित सारे खंड पढ़ लिए हैं।

वे सहज भाव से किराए के लिपहिया स्कूटर पर आए। परिवार के अति आत्मीय व्यक्ति के समान हम सब से मिले। बताया कि संसद में बहुत हंगामा होता रहता है। लोग संसद की कार्यवाही चलने नहीं देते, ऐसे में वे संसद के पुस्तकालय में चले जाते हैं और वहीं बैठ कर पढ़ते रहते हैं। वहीं उन्होंने 'महासमर' के छह खंड पढ़ डाले थे। उस उपन्यास को पढ़कर वे मेरी प्रशंसा करने नहीं आए थे, 'महासमर' लिखने के लिए मेरे प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने आए थे।.....

मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। अब तक मैंने अपनी निन्दा भी सुनी थी और प्रशंसा भी; किन्तु इस प्रकार कृतज्ञता व्यक्त करने कभी कोई नहीं आया था। हाँ ! जैनेन्द्र जी के शब्द अवश्य स्मरण हो आए, जो उन्होंने अपने एक पत्र में 'दीक्षा' पढ़कर लिखे थे, 'मैं आपका कृतज्ञ होता हूँ।'

मैंने अपने स्वभाव में बंध कर एक उपन्यास लिखा था। पाठकों के लिए ही प्रकाशित करवाया था। जो पढ़ता था, उसके प्रति मैं कृतज्ञ होता था कि उसने मेरी पुस्तक को इतना महत्त्व दिया। संसार में सहस्रों आकर्षणों के होते हुए भी, उन्हें त्याग उन्होंने पुस्तक को चुना; और लाखों लाख पुस्तकों में से, (किन्हीं भी कारणों से) चुन कर मेरे उपन्यास को पढ़ने में अपना समय और ध्यान लगाया। पाठक मेरी प्रशंसा करते थे और मैं पुलकित होता था। प्रकाशक से रायल्टी मिलती थी और मैं प्रसन्न होता था।..... पर इस प्रकार कृतज्ञता व्यक्त करने तो कभी कोई नहीं आया था।..... क्या अर्थ था इस कृतज्ञता का ? शास्त्री जी प्रत्येक क्षेत्र में मुझ से बड़े थे। अवस्था में, ज्ञान में, चरित्र में, पद में, लोकप्रियता में — फिर भी वे मुझे इस प्रकार महत्त्व दे रहे थे। मेरे लेखक को बहुत बल मिला। जो कुछ मैं अपना स्वभाव और स्वधर्म मान कर लिख रहा था, जो मैं अपने सुख के लिए लिख रहा था, वह देश और समाज के लिए इतना उपयोगी भी था कि उस समाज का एक सात्विक और ज्ञानी प्रतिनिधि मेरे प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने आया था।..... मेरी विह्वलता थी कि मुझ से संभल नहीं रही थी।

और शास्त्री जी ने कैसेटों का एक सुंदर की पोटली मेरे सामने रख दी, "कलकत्ता में प्रतिमास ईशावास्योपनिषद्

सौजन्य : श्री परशुराम जगदीश प्रसाद नौधड़ा, ३२, इजरा स्ट्रीट, रूम नं०-८०९, कोलकाता-१

पर मैं थोड़ी चर्चा करता रहा हूँ। ये उसके अट्ठारह कैसेट हैं। ये मैं तुम्हारे लिए लाया हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम इनको सुनो।"

मेरे लिए तो किसी ने जैसे स्वर्ग के द्वार खोल दिए थे। ..... उपनिषद् पढ़ने की मेरी कितनी उत्कट अभिलाषा थी। संस्कृत न जानने और भाग्य में किसी उपयुक्त गुरु के न होने के कारण मेरी इच्छा आज तक पूरी नहीं हो पाई थी। ..... आज शास्त्री जी स्वयं घर आकर अपने अट्ठारह व्याख्यानों के कैसेट दे रहे थे। कैसेटों के रूप में उनका मूल्य कुछ भी आँका जा सकता है; किन्तु वे कैसेट मात्र नहीं थे।.....

मैं अत्यंत घर-घुस्सू व्यक्ति हूँ। स्वयं अपनी इच्छाएँ पूरी करने के लिए भी गतिशील नहीं हो पाता। किसी पाठ्यक्रम अथवा ज्ञानशिविर में नहीं जाता। अविश्वासी इतना हूँ कि किन्हीं गुरु को खोज कर उनके घर नहीं जा पाता। किस पर विश्वास करूँ। चारों ओर झूठ और पाखंड है। पत्राचार से पढ़ना तो मेरे लिए असंभव है। .... सोचता रहता हूँ कि रामकृष्ण परमहंस कहाँ गए थे, गुरु खोजने ? उनके सारे गुरु स्वयं चल कर उनके पास दक्षिणेश्वर पहुँचे थे। उनके सारे शिष्य अपनी इच्छा से उनके पास आए थे। तो भगवान् जब चाहेंगे, मेरे पास भी मेरे गुरु को भेज देंगे।..... बहुत बाद में मेरे एक पूर्वशिष्य ने एक सूत्र दिया था — 'पात्रता हो जाने पर गुरु स्वयं आ जाते हैं।' तो लगता था कि आज मेरी पात्रता सिद्ध हो गई थी, इसीलिए गुरु स्वयं चल कर मेरे घर आए थे और साथ ही ईशावास्योपनिषद् का ज्ञान लाए थे।

मुझे अब स्मरण नहीं है कि मैंने तब शास्त्री जी के प्रति अपनी कृतज्ञता किन शब्दों में जताई थी। कुछ कह भी पाया था या नहीं। प्रायः ऐसे अवसरों पर या तो मुझे उपयुक्त शब्द नहीं सूझते या फिर मेरी भावुकता, विह्वलता में परिणत हो जाती है और मेरे मुख से शब्द नहीं निकलते। किन्तु इतना तो आज मैं जानता ही हूँ कि शास्त्री जी किसी के द्वारा अपने प्रति आभार ज्ञापन की स्थिति ही नहीं आने देते। सारा बोझ राम जी पर डाल कर वे अपना अकर्तापन स्थापित कर देते हैं।..... मैंने जब कभी उनके प्रति आभार व्यक्त करना चाहा है, उन्होंने राम जी का नाम ले कर मुझे मौन कर दिया है।

कैसेट देते हुए, उन्होंने इतना अवश्य कहा, "इसे सुनना और अपनी प्रतिक्रिया देना। ठीक से बात कह सका हूँ या नहीं। इसका लिप्यंकन भी हो गया है। पुस्तक छप कर आएगी, तो तुम्हें एक प्रति दूँगा।"

मैंने जानकारी चाही कि पुस्तक कहाँ से छप रही है। तभी सोच लिया था कि पुस्तक आते ही खरीद लूँगा।

.....तो उसके पश्चात् उन्होंने ज्ञान चर्चा नहीं की। भोजन का समय था। वे चर्चा को भोजन पर ले आए। उनके पास प्रत्येक विषय के लिए संस्कृत के श्लोक, उर्दू के शेर और हिन्दी काव्य की उत्कृष्ट पंक्तियाँ थीं। ऐसा कोई विषय नहीं था, जिसे वे काव्यमय नहीं कर देते थे।

भोजन के पश्चात् मैं उन्हें अपने अध्ययन कक्ष में ले आया। वहाँ वेणुगोपाल की प्रतिमा थी। वे बहुत प्रसन्न हुए और प्राणायाम संबंधी कुछ बातें सिखाते रहे।..... बोले, "यदि मैंने तुम्हारा अध्ययन कक्ष और यह मंदिर न देखा होता, तो तुम्हारे घर आना अधूरा ही रहता।"

विदा होते हुए, उन्होंने मेरी पत्नी से पूछा, "क्यों मधु ! क्या तुम्हें लगा कि तुम किसी राजनीतिक व्यक्ति से मिल रही हो ?"

"नहीं !" हम दोनों का ही उत्तर था, "न कहीं राजनीति दिखाई दी, न राजनीतिज्ञ और न ही राजपुरुष।"

वस्तुतः वे तो हम सब के प्रिय शास्त्री जी थे, जो हमारे आत्मीय भी थे और पूजनीय भी। जो मित्र भी थे

सौजन्य : श्री बलदेव प्रसाद गनेड़ीवाला, इण्डोनेशिक ग्लास डाउस प्रा० लि०, कोलकाता-७०० ००१

और गुरु भी। जो हम से कहीं ऊँचाई पर आसीन — उत्-आसीन थे। हमें उदात्तता की ओर खींचते भी थे, किन्तु हमें अपनी हीनता का बोध नहीं होने देते थे। वे विदा होते हैं तो व्यक्ति को यही लगता रहता है कि उसका कुछ बहुत बहुमूल्य खो गया है।

शास्त्री जी ने कृपापूर्वक अपने प्रवचनों की जो कैसेटें दी थीं, उनको मैं और मधुरिमा बहुत ध्यान से नियमपूर्वक सुनते रहे। ईशावास्योपनिषद् मुझे स्वयं भी बहुत प्रिय था, यद्यपि मुझे उसके बहुत ही कम अंश समझ में आते थे। गीता प्रेस द्वारा एक जिल्द में प्रकाशित नौ उपनिषदों की एक प्रति मैंने १९५७ में खरीदी थी, जो अब भी मेरे पास है। वह साक्षी है कि मैंने १९५७ से आजतक उपनिषदों को समझने के कितने प्रयत्न किए हैं। वे प्रयत्न ही थे। एक तो मुझे संस्कृत भाषा का तनिक भी ज्ञान नहीं और फिर उपनिषद् ऐसी पुस्तक तो नहीं, जो भाषा जानने मात्र से समझ में आ जाए। संस्कृत का जानकार प्रत्येक व्यक्ति उपनिषद् नहीं समझता। .....'पर शास्त्री जी के उन प्रवचनों में मुझ जैसे अज्ञानी को भी ध्यान में रखा गया था। वस्तुतः वे एक अध्यापक द्वारा अपने छात्रों के लिए दिए गए व्याख्यानों जैसे प्रवचन थे, जिनमें प्रत्येक बात को स्पष्ट विश्लेषण और उदाहरणों के माध्यम से सर्वसाधारण के समझने योग्य बनाया गया था। मुझे दिनकर जी की एक उक्ति भी याद आती है, जिसमें उन्होंने कहा था कि लेखक जितना अधिक परिश्रम करेगा, पाठक को उतना ही कम परिश्रम करना पड़ेगा। शास्त्री जी ने भी उस विषय को जितना आत्मसात कर लिया था, जिस प्रकार वह उनके व्यक्तित्व का अंग हो गया था, उससे भी वह विषय श्रोता के लिए सरल हो गया था। मुझे भी उसमें से बहुत कुछ समझ में आया। मेरे ज्ञान में वृद्धि हुई।

अगली बार लखनऊ के गोमती होटल में भेंट हुई। मैं उनके कमरे में गया, तो उन्होंने कहा, "इससे पहले कि ये प्रतियाँ समाप्त हो जाएँ, भाई तुम अपनी प्रति संभाल लो।"

मैंने देखा उन प्रवचनों का मुद्रित रूप थी वह पुस्तक — 'ज्ञान और कर्म।' मन में आया भी कि कहूँ कि मेरे पास तो उनकी दी हुई कैसेटें हैं। पुस्तक का उपयोग किसी और को देने में किया जा सकता है, जिसके पास कैसेटें न हों। पर पुस्तक पाने के लोभ में ऐसा कुछ कहा नहीं। चुपचाप पुस्तक थाम ली।

घर आकर पुस्तक पढ़ने का प्रयत्न किया; किन्तु वह सुने हुए प्रवचनों की पुनरावृत्ति लगी, अतः पुस्तक संभाल दी।..... संयोग ही था कि मैं अपने उपन्यास 'महासमर' के लेखन में महाभारत के युद्ध के निकट पहुँचता जा रहा था और मेरी चिन्ता थी कि भगवद्गीता को भी किसी न किसी रूप में आना ही है। तो क्यों न एक बार गीता को मूल संस्कृत में पढ़ लूँ। टीकाओं से पढ़ने में आनन्द नहीं आ रहा था और अनेक स्थानों पर झुंझलाहट भी होने लगती थी। आधी से अधिक टीकाओं में प्रसिद्ध श्लोक "नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।" के अनुवाद में लिखा था कि पानी उसे गीला नहीं कर सकता और हवा उसे सुखा नहीं सकती। आत्मा न हुई, कोई कपड़ा हो गया, जिसे गीला किया जा रहा है और सुखाया जा रहा है। (भगवान् की असीम कृपा है कि अभी तक किसी विद्वान् ने उसके इस्त्री किए जाने के विषय में कुछ नहीं कहा है।)

पानी जीव के मृत, आत्मा रहित शरीर को गला कर नष्ट करता है और पवन आर्द्रता को शुष्क कर उसे पूर्णतः जलविहीन (डिहायड्रेट) कर, नष्ट करता है। जल आत्मा को गला नहीं सकता और पवन उसे आर्द्रताविहीन नहीं कर सकता। इस ओर उन अनुवादकों का ध्यान ही नहीं गया। ये मक्खी पर मक्खी मारने वाले अनुवाद मुझ से पढ़े नहीं जाते थे। अतः मैं किसी अध्यापक की खोज में था, जो मेरे घर आकर, मेरी मनोनुकूल परिस्थितियों में मुझे गीता पढ़ा जाता। अंततः मुझे कृष्णावतार मिले। मजे की बात यह थी कि वे मुझे पढ़ाने आ रहे थे, किन्तु

सौजन्य : श्री सुशील कुमार बगड़िया, राजकुमार ब्रदर्स, १६७, एल. एस. रोड, कोलकाता-७

मुझे 'सर कहते थे, क्योंकि मैं अवस्था में उनसे बड़ा था और लेखक था। उनके साथ बैठ कर मैंने गीता पढ़ी। गीता पूरी हुई, तो मुझे लगा कि अब वे हाथ जोड़ देंगे कि काम पूरा हुआ, विदा करें; किन्तु उन्होंने प्रस्ताव रखा कि क्यों न हम इसी प्रकार उपनिषद् भी पढ़ें। अंधा क्या मांगे, दो आँखें। हमने ईशावास्योपनिषद् से आरंभ किया और तब शास्त्री जी की पुस्तक "ज्ञान और कर्म" अलमारी से निकल कर मेज़ पर आ गई। उसे सामने रख कर ईशावास्य को समझने का प्रयत्न किया, तो न कोई शब्द अबूझ रहा, न कोई भाव अथवा विचार ही जटिल अथवा बोझिल लगा। हमने एक एक कर अन्य उपनिषद् भी पढ़े, किन्तु शास्त्री जी की पुस्तक पढ़ने का एक दुष्परिणाम यह था कि और किसी उपनिषद् की कोई टीका अथवा व्याख्या प्रीतिकर नहीं लगी और हम आधेअधूरे मन से, उखड़े उखड़े रूप में शेष उपनिषद् पढ़ते रहे।

लखनऊ में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की ओर से हिन्दी दिवस मनाया जा रहा था। मेरे लिए सबसे बड़ा आकर्षण था कि शास्त्री जी वहाँ मिलेंगे। पर मन आशंकित भी था कि जहाँ वे वक्ता हों, वहाँ मैं क्या बोलूँगा। पर बोलना तो था ही। मुझे जो कुछ बोलना था, बोल आया और इस भाव से बैठ गया कि अब शास्त्री जी बोलेंगे और मेरे वक्तव्य का खोखलापन उजागर होगा। .....पता नहीं क्यों, मैंने बिना सोचे समझे उनके सहवक्ता के रूप में बोलना स्वीकार कर लिया.....

उन्होंने अपना वक्तव्य मेरी प्रशंसा से आरंभ किया और कहा कि वे अपनी बात वहीं से आरंभ करेंगे, जहाँ मैंने अपनी बात समाप्त की है। उन्होंने मेरी लाज रख ली थी। अपने वक्तव्य के मध्य भी किसी न किसी बहाने मेरी चर्चा करते रहे, जैसे मैं कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण बोल कर आया हूँ। मैं उनके हाथों में स्वयं को बहुत सुरक्षित पा रहा था।

प्रातः के समय हम सब खाली थे। कार्यक्रम कल ही समाप्त हो चुका था और मेरी गाड़ी अपराह्न में तीन बजे थी। मैं सोच ही रहा था कि क्या करूँ कि उनका फोन आया, "क्या कर रहे हो ?"

"कुछ भी नहीं।"

"खाली हो ?"

"खाली ही हूँ।"

"तो कमरे में बैठे क्या कर रहे हो। चलो हमारे साथ। दो एक लोगों से मिल आएँ।"

मैं नहीं जानता था कि वे कहाँ जा रहे हैं; किन्तु उनकी संगति के लोभ में मैं साथ चल पड़ा। यह भी कह सकता हूँ कि मेरे लिए यह महत्त्वपूर्ण था ही नहीं कि वे मुझे कहाँ ले जा रहे हैं। मन में अनेक जिज्ञासाएँ थीं। उनका समाधान शास्त्री जी ही कर सकते थे।

मैंने एक प्रकार से उपनिषदों की शिकायत की, "मैंने बृहदारण्यक बड़े परिश्रमपूर्वक पढ़ा है; किन्तु मेरी समझ में तो कुछ आया ही नहीं।"

शास्त्री जी ने न तो यह स्वीकार किया कि बृहदारण्यक बहुत कठिन और जटिल उपनिषद् है, न ही मुझे प्रतिभा से शून्य बताया। हँस कर बोले, "यदि तुम किसी बड़े व्यक्ति से पहली बार मिलो, तो क्या वह अपने मन की सारी बातें तुम्हें स्पष्ट कह देगा ?"

"नहीं।"

"बार बार मिलो। बार बार चर्चा करो। उसका मन जीतो।"

सौजन्य : श्री रवग्लाल सुराना जैन, ओसवाल भवन, २बी., जन्दो अल्लिक लेन, कोलकाता-६

मुझे प्रो० उदयभानु सिंह स्मरण हो आए। वे कहा करते थे, विद्या भी अभ्यास मांगती है। पुनरावृत्ति मांगती है। .....सचमुच मुझे उपनिषदों को बार बार पढ़ना होगा। जिज्ञासु और शिष्य भाव से उनके निकट जाना होगा। उपनिषद् हैं, कोई खालाजी का घर नहीं है।

हम लोग राजनिवास पहुँचे तो मुझे ज्ञात हुआ कि कार्यक्रम में राज्यपाल से मिलना है। महामहिम राज्यपाल सुरजभान से शास्त्री जी भेंट का समय ले चुके थे। हमें भीतर जाने में न विलंब हुआ, न असुविधा हुई।

शास्त्री जी ने मेरा और प्रेमशंकर त्रिपाठी का परिचय कराया।

महामहिम ने हँस कर कहा, "आप जानते हैं, हिन्दी मुझे आती नहीं है। एकदम कोरा हूँ।"

मैं समझ नहीं पाया कि उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में एक ऐसे व्यक्ति को क्यों चुना गया, जिसे वहाँ की भाषा का तनिक भी ज्ञान नहीं है। चर्चा से ज्ञानवर्धन हुआ। उनकी शिक्षा अंग्रेजी और उर्दू के माध्यम से हुई थी। काव्य के प्रेमी थे। शास्त्री जी ने हाल चाल पूछा तो उन्होंने एक शेर पढ़ दिया, जिसका अर्थ था कि जबसे इस ऊँचे मकान में रहने लगा हूँ, मेरे बच्चे मिट्टी में खेलने को तरस गए हैं।

शास्त्री जी श्रेष्ठ काव्य की चयनित पंक्तियों के भंडार थे। वहाँ नियमित काव्य गोष्ठी आरंभ हो गई। जो पंक्तियाँ महामहिम को अच्छी लगतीं, उन्हें वे अपने सामने रखे कागज़ पेंसिल की सहायता से फारसी लिपि में लिख लेते थे। शास्त्री जी ने बहुत कुछ सुनाया। प्रेमशंकर भी अपने गुरु की परंपरा में बोल पड़े। साहस कर कुछ पंक्तियाँ मैंने भी सुना दीं।

इसी प्रकार की गोष्ठियों की अमूल्य स्मृतियाँ शिमला की भी हैं। शास्त्री जी हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल बने तो उन्होंने शिमला आने का निमंत्रण दिया। उस निमंत्रण को मैंने वर के रूप में संभाल कर रख लिया। मेरा कनिष्ठ पुत्र अगस्त्य अपनी कंपनी के काम से अमरीका से मलेशिया आया हुआ था। उसके पास सप्ताह भर की छुट्टी थी। गर्मी भयंकर थी। उसने इच्छा प्रकट की कि वह दिल्ली आ जाएगा और हम सब लोग मिल कर किसी पहाड़ पर चलेंगे। मधुरिमा को शास्त्री जी का निमंत्रण मुझ से भी अधिक याद था। उस वर को मांगने का यही अवसर था। किन्तु मेरे मन में संकोच भी था। परिवार के साथ जाने का अर्थ था— मैं, मधुरिमा, ज्येष्ठ पुत्र कार्तिकेय, पुत्रवधू वंदना और नन्हा बच्चा नचिकेता, कनिष्ठ पुत्र अगस्त्य। और मजे की बात थी कि वह अपने साथ अपनी प्रोग्राम डायरेक्टर को भी ला रहा था। उस बेचारी अकेली अमरीकी लड़की को वह मलेशिया में कहाँ छोड़ता। फिर जो टैक्सी लेकर जाएँगे, उसका ड्राइवर भी होगा। पर परिवार के दबाव ने मेरे संकोच को बोलने नहीं दिया और हम शिमला जा पहुँचे। शास्त्री जी का व्यवहार ऐसा था कि मेरा संकोच भी विलुप्त हो गया। उत्तर प्रदेश की विधान सभा के अध्यक्ष केशरीनाथ त्रिपाठी भी मेरे ही समान अपने परिवार के साथ वहाँ थे। उनके साथ कुछ सरकारी कर्मचारी भी थे।

वह पूर्णिमा की रात। शिमला का राजनिवास, अर्थात् नगर की सबसे ऊँची पहाड़ी—जहाँ से सारा आकाश और सारा नगर साफ दिखाई देता था। रात का भोजन कर सब लोग बाहर आ गए थे और लगभग दो घंटे वहाँ खड़े खड़े प्रकृति के सौन्दर्य में लिपटे, काव्य रस और कुछ कुछ हास्य रस का पान करते रहे।

अगली रात कुछ भिन्न प्रकार की गोष्ठी ले कर आई। डॉ० गोपाल राव भी अपने पुत्र, पुत्रवधू, पोते तथा पोती के साथ आ गए थे। संध्या से ही हम लोग बाहर लॉन में थोड़ी ऊँचाई पर बनी एक छत्री के नीचे बैठ गए थे। शास्त्री जी के बड़े भाई-भाभी भी उपस्थित थे। बातें तो हल्के फुल्के चुटकुलों से आरंभ हुईं। ठहाकों पर ठहाके लगते

सौजन्य : श्री अरुण प्रकाश अग्रवाल, ए४बी, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ०७३

रहे। क्रमशः कविता घुसपैठ करती चली गई। शास्त्री जी ने अनेक कविताएं सुनाई। किन्तु जितना हमारा आग्रह बढ़ता गया कि वे अपनी कविताएँ सुनाएँ, वे उतने ही कठोर होते गए कि वे अपनी कविता नहीं सुनाएँगे। परिवेश बहुत सुखद था। मैं दूर खड़े संतरियों की ओर देखता था और सोचता था कि अपने राज्यपाल को चुटकुले सुनाकर अट्टहास करते देख कर वे कितने चकित होते होंगे। कभी वे उनका कविता का उच्च स्वर सुन कर सोचते होंगे कि यह कवि राज्यपाल कैसे हो गया।

वे दिन जीवन भर के लिए सुखद और स्मरणीय हैं।

मैं शास्त्री जी द्वारा उसी दिन दी गई उनकी पुस्तक 'तुलसी के हिय हेरि' ले कर लॉन में बैठा था। वे आए, "अरे तुम यहीं बैठे हो। मैं सोच रहा था कि कहाँ गए।"

उन दिनों शास्त्री जी अपने सारे अतिथियों को प्रातः का नाश्ता करवा कर अपने कार्यालय जाते थे। दोपहर के भोजन पर वे हमारे साथ होते थे। वे बहुत कम और बहुत सादा खाते थे किन्तु शेष लोगों के लिए वैविध्यपूर्ण भोजन होता था। मुझे उनकी सुनाई हुई एक घटना स्मरण हो आती है। लखनऊ में किसी भेंट में उन्होंने सुनाया था कि बचपन में उन्हें पढ़ने की लत थी अतः सदा पुस्तक हाथ में होती थी। खाना परोसा जाता तो भी अधिकांशतः ध्यान पुस्तक की ओर होता था, भोजन की ओर कम। एक दिन नानी माँ ने दुखी हो कर कहा, "भगवान् ने जाने कहाँ से एक बैल मेरे घर भेज दिया है, जिसके सामने जो कुछ डाल-दो, वह सानी मान कर खा जाता है।"

अब वे अपने शरीर और अवस्था के कारण भोजन के लिए और भी सावधान थे। कुछ सात्त्विकता की दृष्टि से भी।

संध्या से रात के समय तक वे हमारे साथ ही होते थे। रात्रि के भोजन के पश्चात् तो गोष्ठी ही जमती थी। एक दिन संगीत का कोई कार्यक्रम था। उनको आमंत्रित किया गया तो उन्होंने शर्त लगा दी कि उनके अतिथियों को भी बुलाया जाएगा, तो ही वे आएंगे। उस दिन हम भी राज्यपाल के साथ में कार्यक्रम में सम्मिलित हुए। शिमला की माल रोड खाली जैसी हो गई और हम लोग अपने गंतव्य तक पहुँचे। यह तो स्पष्ट ही दिखता था कि वहाँ के धार्मिक, साहित्यिक और संस्कृतिकर्मी लोगों को लगता था कि उनका ही एक साथी आजकल राज्यपाल है। यह उनके लिए हर्ष और प्रसन्नता का विषय था। वे सब प्रकार के समारोहों में सम्मिलित होते थे। उत्साह से भाग लेते थे। और राज्यपाल के पद से साहित्यकार के समान व्याख्यान देते थे। मंदिरों में जाकर पुरोहितों का संस्कृत उच्चारण सुधारते थे और उन्हें शास्त्र की विधि समझाते थे। साहित्यकारों को सात्त्विक साहित्य का संस्कार देते थे। धर्मवीर भारती ग्रंथावली के विमोचन पर बोले, तो एक मित्र, प्रशंसक, आलोचक और एक सहृदय पाठक के रूप में बोले। ज्ञानपीठ पुरस्कार देते हुए निर्मल वर्मा की कहानियों का सटीक विवेचन किया। बाद में जब वे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बने तो रायबरेली में रामायण मेले में पहुँचे। चर्चा का विषय था—रामचरितमानस और जीवन की समस्याओं का समाधान। शास्त्री जी आए तो बोले, समाधान बहुत हो चुका। मैं आपको भक्ति के स्वरूप के विषय में कुछ बताना चाहता हूँ। और कोई भी सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता था कि सर्वश्रेष्ठ भाषण उन्हीं का था।

शिमला की उस संध्या की स्मृति भी आज तक बनी हुई है, जब मैंने उनसे प्राणायाम और भक्ति की बात छेड़ी थी। उन्होंने मुझे बहुत कुछ समझाया था; किन्तु न तो कभी मेरी वह दिनचर्या बन पाई, न मैं प्राणायाम कर पाया। कलकत्ता में हुए उनके गीता संबंधी प्रवचनों के पुस्तकाकार प्रकाशन के विषय में पूछा, तो बोले कि उसका लिप्यंकन हो चुका है। वे उसका संशोधन कर रहे हैं। अन्य व्यस्तताओं के कारण उतना समय नहीं मिल पाता.....

सौजन्य : श्री हरिराम जालूका, ९६, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७

और एक वाक्य उन्होंने ऐसा कहा, जो मेरे हृदय में खुद गया, 'मेरे पास समय बहुत कम है।' .....मैं शिष्टाचार अथवा सांत्वना के रूप में भी कुछ कह नहीं पाया। जानता हूँ कि समय सबके पास कम है। इतना समय महाकाल ने किसी को भी नहीं दिया है कि वह समय नष्ट भी करे और अपने जीवन का लक्ष्य भी पूरा कर ले। कौन जानता है कि किसके पास कितना समय है। मेरे पास ही कितना समय है ? हमें अपने समय को सुव्यवस्थित तो करना ही होगा। शास्त्री जी कितने ही काम संभाल रहे थे और फिर कितने सरल और सहज थे।

शिमला से विदाई के समय उन्होंने एक-एक व्यक्ति को — यहाँ तक कि बच्चों को भी — हिमाचली टोपी पहना कर कोई न कोई उपहार दिया। अपनी शुभकामनाओं और आशीर्वाद के साथ विदा किया। जब उन्होंने टैक्सी के ड्राइवर से पूछा, "सरदार जी ! आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?" तो उसकी आँखें भर आईं। एक शब्द नहीं बोल पाया। हाथ जोड़ कर स्टीयरिंग पर आ बैठा। शिमला की सीमा पार कर उसके मुख से पहले शब्द फूटे, "गवर्नर साहब भी कैसे भले आदमी हैं। मेरा भी ध्यान था उनको।"

उसकी दृष्टि में शास्त्री जी के साथ साथ हमारा सम्मान भी बढ़ गया था। आखिर हम शास्त्री जी के मिलने जुलने वालों में से थे।

मैंने दिल्ली पहुँच कर उनको एक पत्र लिखा। चाटुकारिता मैं कर नहीं सकता था और शास्त्री जी को उसकी आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु मैंने पाँच छह दिन उनके घर में रहकर, उनके सान्निध्य में व्यतीत किए थे। वह भी तब, जब वे मेरे समान अध्यापक नहीं रह गए थे। एक प्रदेश के राज्यपाल थे। मैंने उनका व्यवहार देखा था। ऐसा विद्वान्, चरित्रवान, सात्त्विक और निरहंकारी व्यक्ति खोजने पर भी मिलेगा, इसमें मुझे बहुत संदेह था। मैंने बड़े बड़े संन्यासियों में भी अहंकार देखा है — अपनी विद्वत्ता का अहंकार, अपने पद का अहंकार, अपने संपर्कों का अहंकार। और यहाँ एक ऐसा व्यक्ति था, जिसे किसी चीज़ का अहंकार नहीं था, सत्ता का मद भी नहीं था। .....एक बार मेरी पत्नी ने मेरे चरित्र के विषय में कहा था कि मैं विनीत नहीं हूँ। मुझे उसकी टिप्पणी नहीं भायी, क्योंकि मैं उससे सहमत नहीं था। विनीत तो मैं था ही, हाँ दब्बू नहीं था। .....मैंने आपत्ति की, तो उसने कहा, "विनीत है, शास्त्री जी। आप वैसे हैं ?" और मुझे मौन रह जाना पड़ा था। मैं अपनी तुलना शास्त्री जी से किसी भी रूप में नहीं कर सकता था। न वैसा था और प्रयत्न करने पर भी शायद वैसा बन नहीं सकता था। वे ईश्वर से ही दैवी संपदा लेकर आए हैं।

तो मैंने शास्त्री जी को पत्र लिखा और उनके अनेक गुणों की प्रशंसा की। उन्होंने उत्तर दिया, "हम सब एक दूसरे से बहुत कुछ सीख सकते हैं।" और मैं आज तक सोच रहा हूँ कि मैं तो उन से सहस्र बातें सीख सकता हूँ? पर वे मुझ से क्या सीख सकते हैं ?

सन् २००० ई. की छह जनवरी को मैं साठ वर्षों का हो रहा था। सठियाना कोई अच्छी बात नहीं है; किन्तु षष्टिपूर्ति सम्मानजनक अवसर माना जाता है। मैंने अरुण महेश्वरी को तैयार कर लिया था कि वह उस दिन एक (छोटा सा ही सही) आयोजन अवश्य करे। 'महासमर' का आठवाँ खंड आ चुका था। 'महासमर' उपन्यास शृंखला का पूरा होना अपने आप में महत्त्वपूर्ण था; किन्तु मेरी इच्छा थी कि प्रकाशक उसके साथ दो चार पुस्तकें और भी लोकार्पित करे — कुछ मेरी लिखी हुई, कुछ मेरे विषय में लिखी हुई। अरुण मुझसे सहमत था। प्रश्न था कि मुख्य वक्ता किसे बनाया जाए ? कौन उस शृंखला का विमोचन करे ? मेरे मन में शास्त्री जी के अतिरिक्त दूसरा कोई

सौजन्य : सेवन स्टार एयर ट्रेवल्स प्रा० लि०, १६१/१, महात्मा गाँधी रोड, कोलकाता-७०० ००७

नाम नहीं था। अरुण ने उन्हें पहले कभी भाषण देते नहीं सुना था। इसलिए वह उतना उत्साहित तो नहीं था किन्तु सहमत हो गया।

मैंने तो अपनी मित्र मंडली की एक छोटी सी बैठक की ही कामना की थी; किन्तु शास्त्री जी की उपस्थिति ने उसे कुछ ऐसा महिमामंडित किया और मित्रों ने कुछ ऐसा उत्साह दिखाया कि स्वयं मुझे अपने आप से ईर्ष्या होने लगी। किन्तु उसके पश्चात् से मैं एक विकट कठिनाई में पड़ गया। अनेक मित्रों की इच्छा थी कि उनके आयोजनों में शास्त्री जी अध्यक्षता करें। उसके लिए वे मुझसे आग्रह करते थे कि मैं शास्त्री जी को आमंत्रित करूँ। तब तक मैं स्वयं नहीं जानता था कि किसी प्रदेश के राज्यपाल को आमंत्रित करना कितना कठिन काम है। मेरी षष्टिपूर्ति के आयोजन में तो वे सहज ही आ गए थे। मैंने अनुभव किया था कि किसी राज्यपाल को आमंत्रित करना कितना लाभदायक है। न तो उन्हें यात्रा व्यय देना पड़ता है, न उनके ठहराने की व्यवस्था करनी पड़ती है, न उन्हें लाने के लिए गाड़ी भेजनी पड़ती है। किन्तु अब यह भी देख रहा था कि राज्यपाल महीने में एक ही बार अपने प्रदेश से बाहर जा सकते थे, और उसके लिए भी उन्हें राष्ट्रपति से अनुमति लेनी पड़ती थी। इस बात का बड़ी तीव्रता से अनुभव तब हुआ, जब 'साकेत निधि' से मुझे 'रामकथा सम्मान' मिल रहा था। शास्त्री जी आ नहीं सकते थे और 'साकेत निधि' को सारे देश में उस अवसर के उपयुक्त दूसरा कोई व्यक्ति नहीं दिख रहा था। अनेक लोगों के नाम प्रस्तावित होकर निरस्त हुए। ऐसा कोई नहीं था, जिसे मंच देकर 'साकेत निधि' गौरवान्वित हो और ऐसा कोई नहीं था, जिससे पुरस्कार लेकर मैं स्वयं को सम्मानित समझ सकूँ। अटल जी का नाम भी बार बार आया; किन्तु वे देश के प्रधानमंत्री थे। उन्हें बुलाना तो लगभग असंभव ही था। अर्थात् शास्त्री जी जैसा कोई नहीं था। अंततः निर्णय किया गया कि यदि आयोजन के दिन शास्त्री जी नहीं आ सकते तो आयोजन उस दिन किया जाए, जिस दिन शास्त्री जी को राष्ट्रपति के अनुरोध के अनुसार दिल्ली में रहना ही था। उस दिन भी उनके पास समय बहुत कम था किन्तु किसी प्रकार इस कार्यक्रम को भी ठेलठाल कर उनके अन्य कार्यक्रमों के बीच टिका दिया गया। वे समय से आए और अपनी पूर्वसूचना के अनुसार अपने भाषण के पश्चात् जाने के लिए उठे। सभा के अध्यक्ष डॉ. उदयभानु सिंह ने घोषणा कर दी कि शास्त्री जी के जाने के साथ ही सभा संपन्न हो गई मानी जाए, अतः वे अब अध्यक्षीय भाषण नहीं देंगे। शास्त्री जी डॉ. सिंह के निकट आए और बोले, "आप मेरे गुरु के समान हैं। मैं आपके चरण छू कर आप से आग्रह करता हूँ कि आप मेरी बाध्यता समझें और अपना भाषण पूरा करें।"

उन्होंने झुक कर डॉ. सिंह के चरण छू लिए।

मैंने अनेक सभाओं में देखा है कि प्रायः वक्ता कहते हैं कि राज्यपाल होने के नाते, शास्त्री जी को महामहिम कहा जाना चाहिए किन्तु वे हमारे इतने अपने और सहज हैं कि उन्हें महामहिम कहना कठिन लगता है। .....किन्तु उनकी असाधारण सहजता, विनम्रता, शालीनता और शिष्टाचार को देखते हुए भी यह कल्पना हममें से किसी ने नहीं की थी के वे मंच पर ही इस प्रकार डॉ. सिंह के चरण छू लेंगे। .....और तब से मेरे मन में यह बात आई है कि हम पद देख कर किसी को महामहिम कहते हैं। यहाँ एक व्यक्ति है, जो अपने स्वभाव से, अपनी प्रकृति से ही महिमावान है, अतः महामहिम कहलाने का वास्तविक अधिकारी है। किन्तु हम उन्हें महामहिम नहीं कहते, क्योंकि वे हमारे अपने हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि पद पाकर साधारण व्यक्ति भी विभिन्न प्रकार के कृत्रिम उपकरणों से स्वयं को असाधारण बनाने का प्रयत्न करता है; और ईश्वर से ही असाधारणता लेकर जन्मा हुआ व्यक्ति आजीवन अपने व्यवहार से स्वयं को साधारण बनाए रखने की तपस्या करता है।

सौजन्य : श्री अमित अग्रवाल, १६, बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के पुरस्कार समारोह का अवसर था। तब तक शास्त्रीजी राज्यपाल नहीं बने थे। शास्त्री जी को अटल जी के हाथों लोहिया पुरस्कार मिल रहा था। मैं जानता था कि उन्हें गोमती होटल में ही ठहराया जाएगा। मेरे साथ मेरी पत्नी और दोनों पुत्र भी थे। उन्हें एक संबंधी के घर टिका कर मैं शास्त्री जी से मिलने के लोभ में गोमती होटल में अपने कमरे में ठहर गया। रात को दस बजे तक वे अपने कमरे में नहीं थे। इसलिए सो जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। प्रातः उठकर नहा धो कर मैंने उनको फोन करने की सोची। मन ने चेताया भी कि यदि वे रात को अपने कमरे में लौट भी आए हों, तो बहुत देर से लौटे होंगे। अभी बहुत जल्दी है। संभव है कि सो रहे हों। और उठ भी गए हों तो अभी स्नान-ध्यान का क्रम चल रहा होगा। ऐसे में मैं बाधा बनूँ यह उचित नहीं है। किन्तु मन इस बात से भी आशंकित था कि वे कहीं निकल गए, तो फिर उनसे भेंट नहीं हो पाएगी।

मैंने फोन किया।

उन्होंने फोन उठाया, "नरेन्द्र किस कमरे में हो ?"

मैंने बताया।

"नहा धो चुके क्या ?"

"जी !"

"तो आ जाओ। यहीं नाश्ता कर लेते हैं। आ जाओ।"

"आपका स्नान ध्यान हो गया क्या ?"

"तुम्हारे फोन से जगा हूँ। बस मंजन कर लूँ। तुम आ जाओ। बाकी सब होता रहेगा।"

मैं अपना संकोच नहीं छोड़ पा रहा था किन्तु वे बुला रहे थे तो जाना ही चाहिए था।

उनका कमरा मेरे कमरे से बहुत दूर नहीं था। मैं शीघ्र ही पहुँच गया। कपाट भिड़े हुए थे। उनका स्वर आया, "आ जाओ। आ जाओ।"

वे वज्रासन में बैठ गए थे।

"रात को आप देर से आए।"

"हाँ ! स्टेशन जाना पड़ गया। बारह बजे लौटा।" वे बोले, "तुम्हारा 'महासमर' कहाँ तक पहुँचा ? गीता वाला प्रसंग लिख चुके क्या ?"

मैं भी गीता पर ही चर्चा करना चाहता था। अच्छा हुआ कि उन्होंने स्वयं ही बात आरंभ कर दी।

"अच्छा पहले यह बताओ कि नाश्ते में क्या लोगे ?"

उन्होंने फोन पर नाश्ते का आदेश दे दिया।

"हाँ ! कैसे उपन्यास में ढाला है गीता के प्रसंग को ?"

"वैसे तो मैंने गीता के कथ्य को सारे उपन्यास में बिखेर दिया है, ताकि वह विभिन्न घटनाओं के साथ जुड़ जाए और पाठक को वह शास्त्र का उपदेश न लगे।"

"अच्छा किया।" उन्होंने कहा, "योग की कितनी परिभाषाएँ ली हैं तुमने ?" उन्होंने पूछा और फिर स्वयं ही बोले, "एक तो कार्यकौशलम् है, दूसरी समत्व वाली; और तीसरी दुख का कारण होते हुए भी उसका इंद्रियों से योग न होने देना।"

हम लोग गीता पर चर्चा करते रहे। चर्चा का अर्थ था : मेरी जिज्ञासाएँ और शास्त्री जी के समाधान। वस्तुतः मेरा तो लोभ यही था कि मुझे सामग्री भी मिले और मेरी समझ भी साफ हो। वह स्वाभाविक रूप से हो रहा था। उनकी चर्चा की शैली ऐसी थी कि उसमें कहीं यह नहीं लगता था कि वे प्रवचन कर रहे हैं अथवा मुझे उपदेश दे रहे हैं। वे सामने वाले को तनिक भी महत्त्वहीन नहीं होने देते थे। मेरा उपन्यासकार का महत्त्व बनाए रखते हुए, मुझे समझाते चल रहे थे। ..... तभी एक स्वनामधन्य लेखक आ गए। शास्त्री जी ने उनका भी स्वागत किया। किन्तु तब चर्चा की दिशा ऐसी बदली कि बोलना उन नवागत महानुभाव का काम हो गया और हम श्रोता हो कर रह गए। उनका आत्मगुणगान का राग इतना कर्कश था कि मुझ से सुना नहीं गया। मैं अनुमति ले कर चल पड़ा। पता नहीं शास्त्री जी इतने धैर्य से कैसे सुन रहे थे। न केवल सुन रहे थे, उन महोदय का सत्कार भी करते चल रहे थे।

शताब्दी एक्सप्रेस तीन बजे चलती थी। मुझे उसी से जाना था। अब स्मरण नहीं है कि नाश्ते के समय या उसके बाद शास्त्री जी से भेंट हुई।

"आज जाना है ?"

"जी।"

"तीन बजे ?"

"जी !"

"मैं भी दोपहर के भोजन के पश्चात् जाऊँगा। प्रेमशंकर त्रिपाठी मुझे उन्नाव ले जा रहे हैं।" वे बोले, "पर नरेन्द्र ! होटल में चेक आऊट का समय बारह बजे का है। तुम दो-ढाई बजे तक स्टेशन के लिए निकल जाओगे।"

"जी !"

"तो उन दो घंटों के लिए हिन्दी संस्थान को पूरे दिन का किराया देना पड़ेगा होटल को।" शास्त्री जी बोले, "हमारी अपनी जेब से कुछ नहीं जा रहा किन्तु संस्थान के खजाने से तो जा ही रहा है और संस्थान भी तो हमारा ही है।"

"जी!"

"मैंने सोचा है कि हम बारह बजे से पहले कमरा छोड़ देंगे। भोजन ही तो करना है। वह भोजनालय में कर लेंगे। सामान को हम अपने साथ भी रख सकते हैं और लॉबी में भी छोड़ सकते हैं।" वे बोले, "क्या विचार है?"

"एकदम ठीक है।" मैंने कहा, "दो घंटे एक अटैची रखने के लिए पूरे दिन का किराया क्यों दिया जाए। संस्थान पर व्यर्थ का बोझ पड़ेगा।"

संयोग से उस दिन मंगलवार था। उन दिनों मैं मंगलवार को अन्न न खाने का व्रत लिए हुए था। खाने की मेज़ पर शास्त्री जी को मेरी चिन्ता थी। बैरे से पूछा, "क्यों भाई फलों में क्या मिल सकता है?"

"ताज़ा फ्रूट तो कोई नहीं मिलेगा।" वह बोला, "डब्बाबंद पाइन एप्पल मिल जाएगा।"

"क्यों लखनऊ का ताज़ा मौसमी फल नहीं मिलेगा ?" शास्त्री जी ने पूछा।

"नहीं ।"

"क्यों ?"

"यह तो आप हमारे मैनेजर से पूछें ।"

"रहने दीजिए।" मैं ने हस्तक्षेप किया, "मैं दही इत्यादि खा लूँगा, आप परेशान न हों।"

सौजन्य : श्री सम्पत कुमार मालपाणी, द्वारा- प्रकाश इन्टरप्राईजेज, ५/१, क्लाईव रो, १म तल्ला, कोलकाता-१

"तुम अपनी इच्छा से जो भी खाओ, किन्तु यह होटल की व्यवस्था क्या है ?" शास्त्री जी शांत नहीं हुए।

पेट भरने के लिए, मैंने कई पदार्थ खोज लिए थे, इसीलिए मेरे मन से प्राप्य और अप्राप्य की समस्या धुल गई थी। किन्तु रिसेप्शन पर आ कर मैंने शास्त्री जी का एक नया ही रूप देखा।

"देखो भाई ! मैं संसार के सारे बड़े देशों की राजधानियों के अच्छे होटल में जा चुका हूँ; किन्तु एक भी देश इतना अभागा नहीं है, जहाँ वहाँ का ताज़ा मौसमी फल न मिल सके।" वे बोले, "मैं लखनऊ आऊँ और यहाँ का दशहरी आम खाना चाहूँ तो तुम्हारे होटल में मुझे दशहरी आम नहीं मिलेगा ?"

रिसेप्शनिस्ट ने हाथ जोड़ दिए, "इन बातों का निर्णय प्रबंधन अधिकारी करते हैं। मैं तो केवल उनके आदेशानुसार आप लोगों की सेवा के लिए हूँ। होटल की नीतियों के निर्णय मैं नहीं ले सकता।"

"तो हमारी शिकायत उन तक पहुँचाओ।" शास्त्री जी बोले, "कहो तो लिख दूँ।"

"नहीं ! मैं आप की बात मैनेजर साहब तक पहुँचा दूंगा।"

मैं सदा से जानता हूँ कि शिकायत और सुझाव पुस्तिका को लोग छिपा कर ही रखते हैं। उसका अस्तित्व सदा वायवीय ही होता है। वह कभी प्रकट नहीं होती।

उसके कई वर्ष बाद, जब शास्त्री जी ने अपने पचहत्तरवें वर्ष में प्रवेश किया, कलकत्ता में एक भव्य समारोह हुआ। उसमें मुख्य वक्ता के रूप में बोलते हुए श्रीमती सुषमा स्वराज ने एक घटना की चर्चा की। अयोध्या में राम मंदिर को लेकर संसद में कोलाहल हो रहा था। प्रायः सारे ही तथाकथित 'धर्म निरपेक्ष' सांसद भारतीय जनता पार्टी का विरोध करने के बहाने राम मंदिर का विरोध कर रहे थे; और मंदिर की निन्दा की ओट में राम जी की निन्दा हो रही थी। सहसा शास्त्री जी आवेश में आ गए और उन सारे ही महारथियों के साथ अकेले ही लोहा लेने के लिए भिड़ गए। वे अकेले ही इतने सारे लोगों का विरोध कर रहे थे और इतने आवेश में बोल रहे थे कि श्रीमती स्वराज आशंकित हो उठीं। उन्होंने उन्हें शांत करने का प्रयत्न किया तो शास्त्री जी बोले, "वे मेरे राम की निन्दा कर रहे हैं तो क्या मैं चुपचाप सुन लूँ।"

मृदुभाषी और शांत शास्त्री जी का यह रूप देख कर कोई भी समझ सकता है कि अपने मानापमान की विशेष चिंता न करने वाले शास्त्रीजी सिद्धांतों, आदर्शों तथा अपने आदर्श पुरुषों की अवहेलना और उपेक्षा नहीं सह सकते। मेरे मन में स्वामी विवेकानन्द के जीवन की अनेक घटनाएँ उभरती हैं, जहाँ वे अपने मानापमान, महत्त्व, उपेक्षा, निन्दा स्तुति की तनिक भी चिन्ता नहीं करते, किन्तु भारतमाता, भारतीय धर्म और संस्कृति के सम्मान की रक्षा के लिए वे संघर्ष की किसी भी सीमा तक जा सकते थे। अमरीका में जब एक नीग्रो श्रमिक ने उन्हें अपना जाति भाई मान कर उनसे हाथ मिलाना चाहा तो उन्होंने सहर्ष उसकी इच्छा पूरी की। जब लोगों ने पूछा कि आपने उसे क्यों नहीं बताया कि आप नीग्रो नहीं, भारतीय हैं; तो उनका उत्तर था कि वे किसी और को नीच और स्वयं को उच्च बताने के लिए संसार में नहीं आए हैं। किन्तु जब वे भारत लौटते हुए जलपोत के डेक पर खड़े थे और एक ईसाई पादरी मना करने पर भी हिन्दू धर्म की निन्दा करता ही जा रहा था, तो स्वामी जी क्रुद्ध हो उठे थे। बोले, यदि वह चुप नहीं हो जाता तो वे उसे उठा कर समुद्र में फेंक देंगे। उनका क्रोध और शारीरिक बल देख कर वह पादरी वहाँ से चुपचाप खिसक गया था।

शास्त्री जी का सात्त्विक क्रोध भी अपने देश, देव और संस्कृति की रक्षा के लिए ही प्रकट होता है। ●

सौजन्य : The Udbodhan Trust, 18, Netaji Subhas Road, Kolkata-700 001

डॉ० विवेकी राय

स्वामी विवेकानन्द के चरणचिन्हों पर शास्त्री जी

२७ जून २००४ का दिन मेरे लिए अति महत्त्वपूर्ण हो गया। इस दिन ईश्वर की कृपा से वर्षों का सँजोया एक सुखद सपना साकार हुआ। विद्वान् मनीषी और तत्कालीन महामहिम राज्यपाल, उत्तर प्रदेश सरकार प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री का आगमन अपने शहर गाजीपुर में हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। उनके द्वारा कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के भीतर सिद्ध संत पवहारी बाबा के आश्रम और रवीन्द्रपुरी स्थित महाविद्यालय में निर्धारित दो कार्यक्रम सम्पन्न हुए। पूरे जनपद की ओर से उनका मुक्त हृदय से स्वागत किया गया। अति गौरवान्वित और अनुगृहीत जनपद ने अनुभव किया कि सौम्य, शालीन, शान्त और संस्कारशील प्रो० शास्त्री को मात्र एक राजपुरुष के रूप में जानना उन्हें नितान्त अधूरा जानना होगा। वास्तव में वे निष्ठावान् साहित्य-साधक और चिन्तक हैं। उनके काव्य, निबन्ध, यात्रावृत्त, संस्मरण, रिपोर्ताज, समीक्षा, रेखाचित्र और नाट्यालोचन आदि विविध विधाओं के बहुप्रशंसित ढेर सारे ग्रन्थ स्वयं इसके प्रमाण हैं। अपने जीवन की ही भाँति अपनी रचनाओं में वे सर्वत्र स्पष्ट लक्ष्य और विचारधारा वाले दीख पड़ते हैं। वे सहृदय सर्जक, भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता और विश्वसनीयता से परिपूर्ण कुशल वक्ता हैं। उनका यह बहुआयामी सारस्वत व्यक्तित्व पाठकों और श्रोताओं पर स्पष्ट छाप छोड़ता है। उनके उद्बोधन में उल्लास, पारदर्शिता, सहज प्रवाह और गंभीर अभिव्यक्ति के साथ ही सहज ही आत्मसात् हो जाने वाला मूल्यवान् सन्देश होता है।

ऐसे सांस्कृतिक व्यक्तित्व वाले साहित्यकार राजपुरुष को उस दिन पूर्वी उत्तर प्रदेश के पिछड़े जनपद गाजीपुर में देखना एक सुखद सुयोग था। जिस प्रकार महान् युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द २२ जनवरी सन् १८९० ई. को सिद्ध सन्त पवहारी बाबा की साधनास्थली कुरथा (गाजीपुर) में स्वेच्छा से उनके दर्शनार्थ पहुँचे थे उसी प्रकार शास्त्री जी भी श्रद्धासिक्त अन्तःप्रेरणा से प्रभावित हो इस पावन साधनास्थली पर माथा टेकने के लिए पहुँचे थे। दर्शनों का कार्यक्रम उन्होंने ही दिया था। बाद में पी. जी. कॉलेज के प्रबन्धक श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह ने अपने महाविद्यालय का कार्यक्रम उसमें जुड़वा लिया। इस काशीखंड से जुड़ी तथा ऋषियों, मुनियों, सन्तों और महापुरुषों की साधनास्थली गाजीपुर के पी. जी. कॉलेज में प्रो० शास्त्रीजी का जो उद्बोधन भाषण हुआ उसने यहाँ के बुद्धिजीवियों को मंत्रमुग्ध कर दिया।

महाविद्यालय की ओर से संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० धर्मनारायण मिश्र ने संस्कृतभाषा में जो अभिनन्दनपत्र प्रस्तुत किया। उसके आरम्भ में कहा गया—

सूर्यकान्तो दिवा भाति, नक्तञ्च विधुकान्तकः।
नक्तन्दिवं भ्राजते चायं, विष्णुकान्ताभिधो मणिः।।
साहित्ये सुकुमारवस्तुनि, दृढालोचने च काठिन्यवति।

सौजन्य : Shri Mohanlal Lath Jankalyan Trust, 18, N. S. Road, Kolkata-700 001

पत्रे चाथ विवेचनयुजि, शास्त्रिणोऽस्य समा गतिः।।
सरस्वत्या लालितञ्चैनं, लक्ष्मीरपि पुत्रीयति।
अहो विरलो ह्येष, लोकेऽस्मिन् द्वैमातुरः।।

खादी के धवल धोती-कुर्ता, चप्पल सहित सुपरिचित रंगीन दुपट्टे में आचारनिष्ठ, विद्याव्रती, गंभीर और शान्त व्यक्तित्व वाले शास्त्री जी को गाजीपुर में देखकर मुझे सन् १९७४ की उस कालावधि का स्मरण हो गया जब लखनऊ में उत्तरप्रदेश सरकार की हिन्दी समिति (इसी का नया नाम 'हिन्दी संस्थान' हो गया है) का पुनर्गठन हुआ था और उस समिति में मैं भी एक सदस्य था। समिति के अध्यक्ष कथाकार अमृतलाल नागर थे। डॉ० धर्मवीर भारती, शिवानी, नजीर बनारसी, प्रो० राजनाथ पाण्डेय, यशपाल और भगवतीचरण वर्मा आदि के साथ आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भी थे। वे उस समय भी भारतीय संस्कारविग्रह के रूप में अपनी पारदर्शी सहजता, पांडित्यपूर्ण वाग्मिता और आधुनिकतम चिन्तन में स्पष्टता के साथ प्रवेश-वृत्ति से भरपूर प्रभावित करते थे। लगातार तीन वर्षों तक साल में कई-कई बार बैठकों में उनसे मिलना होता था। उन्हीं दिनों उनकी कृति 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' प्रकाशित हुई थी और पत्र-पत्रिकाओं में उसकी व्यापक रूप से चर्चा हो रही थी। इस कृति में शास्त्री जी समीक्षक, चिन्तक और शोधकर्ता के रूप में प्रस्तुत हुए थे, मगर उन्हें देखकर तथा उनसे बात कर तत्काल यह विदित हो जाता था कि इनका केन्द्रीय व्यक्तित्व कवि-व्यक्तित्व है। वे प्रायः कहा भी करते हैं कि कविता मेरे लिए ऊर्जा का स्रोत रही है। नये-पुराने कवियों की लम्बी-लम्बी कवितायें उन्हें कंठस्थ हैं और गोष्ठियों में अथवा सामान्य बातचीत की स्थितियों में वे उन्हें सुनाकर चमत्कृत कर देते हैं। उनके मुँह से एक कविता की पंक्तियाँ जो समग्र रूप से आज के युगीन यथार्थ का सम्पूर्ण चित्र हैं, अक्सर सुनने को मिली हैं।

अद्भुत अन्धकार उतरा है धरती पर आज,
जो सबसे ज्यादा अंधे हैं, वे ही देख रहे हैं।

उनके गाजीपुर (उ. प्र.) में आगमन पर ऐसा एक प्रसंग मेरे सामने भी आया। हुआ यह कि पवहारी बाबा के आश्रम पर पहुँच कर अर्चन-पूजन में उन्होंने मुझे अपने पास बैठा लिया। वैदिक मंत्रोच्चार के बीच पूजा-अर्चा सम्पन्न हुई और बाबा के समाधिस्थल आदि सहित उनकी चित्र-विचित्र चकितकारी हस्तलिखित पांडुलिपियों के निरीक्षण के बाद डाकबंगले के लिए प्रस्थान करने लगे तो उन्होंने सारा प्रोटोकोल हटाकर मुझे अपनी गाड़ी में बैठा लिया। गाड़ी में आंचलिक मार्ग के इर्दगिर्द खुले गंगातीरी परिवेश और इस परिवेश में धुली पौराणिक-ऐतिहासिक स्मृति-सुगन्ध के बारे में मुग्ध भाव से चर्चा होती गयी। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के बाद दूसरे विश्वपुरुष गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गाजीपुर प्रवास और इस प्रवास-काल के दौरान रची दो रचनाओं के बारे में मनोयोग से सुना। मगर डाकबंगला पहुँचकर यह सांस्कृतिक चर्चा प्रसंगवश समकालीन अपसंस्कृति पर आ गयी और तभी मैंने याद दिलाया कि इस संदर्भ में आप एक कविता यही 'अद्भुत अंधकार उतरा है' सुनाया करते हैं।

उक्त कविता की चर्चा के उठ जाने के बाद शास्त्री जी ने कहा कि यह कविता उनकी स्वरचित नहीं है, बंगला के प्रसिद्ध कवि जीवनानन्द दास की है। इसके बाद वे उस लम्बी कविता के पूरे हिन्दी भावानुवाद को सुना गये। मुझे आश्चर्य हुआ कि इस अमृत महोत्सव वाली वय में उन्हें इतनी लम्बी कविता कंठस्थ है। इसके साथ ही मुझे सन् १९७८ के इर्दगिर्द डॉ० रामखेलावन राय के संयोजन में पटना यूनिवर्सिटी में आयोजित एक गोष्ठी के एक सत्र

सौजन्य : Shree Om Prakash Modani, 24, Gopi Kristo Paul Lane, Kolkata-700 006

की कार्यवाही की याद ताजी हो गयी। विषय हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता से सम्बन्धित था। उस सत्र में शास्त्री जी ने अपनी कंठस्थ कविताओं के विशाल भंडार को सम्बन्धित विषय से जोड़ते हुए उपस्थित साहित्यकारों और प्रबुद्ध श्रोताओं को चमत्कृत कर दिया। वे उस समय काव्यविग्रह के रूप में दीख रहे थे और भारतेन्दु से लेकर सर्वेश्वरदयाल सक्सेना तक की कविताओं के भीतर विषय से जुड़ी सटीक अर्थवत्ता को व्यक्त करते चल रहे थे। उनमें कवि, काव्यमर्मज्ञ और समीक्षक-विश्लेषक का अद्भुत समन्वय झलक रहा था। काव्यविधा में उनका सम्पूर्णता के साथ प्रवेश और अपने अनुभवों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति उनकी निजी विशेषता है। एक काव्यविधा ही क्यों ? ऊपर उनकी विविध विधाओं में गहरी सृजनात्मक पैठ की चर्चा हो चुकी है। यहाँ तक कि इस युग की सबसे जटिल विधा नाटक और रंगमंच से भी शास्त्री जी गंभीरता और प्रामाणिकता के साथ जुड़े हुए हैं। इस तथ्य का साक्षी एक बार मुझे भी बनना पड़ा था।

भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता की ओर से सन् १९८३ में एक कथासमारोह आयोजित था। २३ दिसम्बर से आरंभ होकर तीन दिनों तक चलने वाले इस समारोह में हिन्दी के चोटी के कथाकार उपस्थित थे। आमंत्रितों में एक मैं भी था। उस समारोह की एक अतिरिक्त उपलब्धि थी शास्त्री जी के बहुआयामी व्यक्तित्व के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आयाम का साक्षात्कार। यह तो मुझे मालूम था कि वे प्रामाणिक नाट्यालोचक हैं परन्तु नाट्यकर्म और आधुनिकतम रंगमंच से वे इतने सक्रिय रूप से जुड़े हैं, यह उसी समय देखने को मिला।

कलकत्ते के कथासमारोह का कार्यक्रम बहुत ही कसा हुआ था परन्तु उसी में से रात में समय निकाल कर वे बाहर से आये साहित्यकारों को 'अनामिका' की नवीनतम प्रस्तुतियों को अपनी टिप्पणियों के साथ दिखाते थे। इस कार्य में कथाकार नरेन्द्र कोहली में विशेष दिलचस्पी और उत्साह दिखायी पड़ता था। यह ज्ञात हुआ कि 'अनामिका' के स्थापनाकाल से ही सक्रिय रूप में शास्त्री जी अपना योगदान उसे प्रदान करते चले आ रहे हैं। उक्त संस्था के अतिरिक्त अन्य रंगकर्मी संस्थाओं की प्रयोगधर्मी प्रस्तुतियों को भी बहुत रुचिपूर्वक उन्होंने दिखाया था। ऐसा लगा कि इस महानगर के प्रयोगधर्मी नाटकों, उनकी विकसित तकनीक, उन नाटकों को प्रस्तुत करने वाली संस्थाओं, रंगमंच और रंगशिल्पियों आदि में शास्त्री जी की गहरी पैठ है। उसी क्रम में मैंने रंगमंचविहीन, रंगसज्जा-रहित और किसी भी प्रकार की कृत्रिमता अथवा औपचारिकता से रहित प्रस्तुतियों को देखा था और कुछ अतिरिक्त प्रभाव का अनुभव किया था। इस अनुभव को प्रो० शास्त्री की मौलिक और सार्थक आलोचना-टिप्पणियों बहुत समृद्ध करती थीं। लिखित नाटक और रंगमंच से सीधे सक्रिय रूप में जुड़े होने के कारण उनकी उक्त आलोचनात्मक टिप्पणियों में विश्वसनीयता होती थी। उनके नाट्यालोचन सम्बन्धी कई गम्भीर निबन्ध 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' में संकलित हैं और सर्वथा नयी दृष्टि के साथ इस अति विकसनशील विधा के प्रति नयी सोच और नये चिन्तन का द्वार खोलते हैं। वास्तव में नाट्यकर्म में व्यापक रूप से क्रियात्मक और चिन्तनात्मक जुड़ाव उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आयाम है जो इधर उनके स्थितप्रज्ञ राजपुरुष, निष्ठावान् राजनीतिकर्मी, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रवक्ता, भारतीय अध्यात्म के व्याख्याकार और कुशल वक्ता आदि के व्यक्तित्व के आगे परदे के पीछे चला गया है। मंच पर वे प्रमुख रूप से कुशल तथा प्रभावशाली वक्ता के रूप में ही आने लगे हैं।

उस दिन गाजीपुर के शिक्षकों, बुद्धिजीवियों और शिष्ट-विशिष्ट जनों की उस गरिमामयी सभा में भी प्रबल ललक उनका भाषण सुनने की ही थी। व्याख्यान का विषय था 'तकनीकी शिक्षा और संस्कृति'। उन्होंने अपने

सौजन्य : Shyam Studio, 122, Rabindra Sarani, Kolkata-700 007

उद्‌बोधन में स्पष्ट किया कि देशकाल की आवश्यकतायें तकनीकी विकास को प्रोत्साहित करती हैं लेकिन संस्कृति भी उसे गंभीर रूप से प्रभावित करती है। इस दृष्टि से पश्चिमी देशों की तकनीक का अन्धानुकरण करने की जगह हमें स्वयं के ऐसे तकनीकी विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए जो हमारे लिए हितकर हो तथा हमारी क्षेत्रीय आवश्यकताओं और विशेषताओं के अनुरूप हो जिससे हम आत्मनिर्भर हो सकें।

आचार्य जी ने मंच पर पधारने के पूर्व महाविद्यालय के कृषि अनुसंधान केन्द्र का उद्‌घाटन-कार्य सम्पन्न किया था। भाषण पर इसका प्रभाव स्पष्ट था। उन्होंने कहा कि अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र में खेती के लिए बड़े-बड़े फार्म हाउस हैं। वहाँ सिंचाई और छिड़काव जैसे कार्य में हवाई जहाज का प्रयोग किया जाता है। जुताई-बुवाई और कटाई आदि कार्य बड़ी-बड़ी मशीनों से सम्पन्न होते हैं। भारत के इस भाग पूर्वांचल में खेतों के टुकड़े छोटे-छोटे होते हैं, इसलिए यहाँ अपनी परम्परागत तकनीक को ही विकसित करना श्रेयस्कर होगा। बाजार की होड़ वाले संसार में भारत जैसे देश अपनी निजी तकनीक को विकसित कर ही टिके रह सकेंगे। समृद्ध देशों का अन्धानुकरण ग्रामीण भारत की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं को आहत करेगा। भारत हमारे गाँवों में बसा हुआ है जबकि इंडिया बड़े-बड़े शहरों में। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इंडिया का तो आशातीत विकास होता गया पर भारत पिछड़ता गया। संवेदनशील हृदय वाले शास्त्री जी के अन्तर्मन में भारत के पिछड़ेपन की कचोट बहुत गहरी थी और भाषण में उनके एक-एक शब्द से संवेदित-सम्प्रेषित होती रही।

अपने उद्‌बोधन में उन्होंने बहुत ही कुशलता के साथ टेकनालाजी और संस्कृति को एक दूसरे के साथ जोड़ कर प्रस्तुत किया और कहा कि संस्कृति अर्थात् सम्यक् कृति वास्तव में जीवन की व्यवस्था का ही नाम है। इसका प्रयोग वेद में हुआ है। उन्होंने इसके तीन रूपों का उल्लेख किया। गुणाधान अर्थात् गुणों का विकास, दोषापचयन अर्थात् दोषों को दूर करना और हीनांगपूर्ति अर्थात् कमियों को दूर करना। उन्होंने आर्षग्रन्थों के साक्ष्यों को प्रस्तुत करते हुए बहुत बल देकर कहा कि जीवन के सम्यक् विकास के लिए दूसरों के दोषों को देखने की जगह अच्छे विचारों को ही आत्मसात् करते रहना चाहिए। दूसरों के दोष देखते रहने पर वे सारे दोष अपने भीतर आ जाते हैं। जो बात व्यक्ति के लिए है वही किसी राष्ट्र पर भी लागू होती है। अपने तीनों रूपों से सज्जित किसी समृद्ध और सुविकसित संस्कृति के भीतर से ही महान् तकनीकी ज्ञान विकसित होता है और इस ज्ञान की परिधि को भूगोल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। अपने देश में विज्ञान और पुराण का सह अस्तित्व है। अपने गौरवशाली अतीत के प्रति आस्थावान् शास्त्री जी ने इसी क्रम में प्राचीन काल के भारतीय तकनीकी विकास की चर्चा की और कहा कि खजुराहो, कोणार्क और कुतुबमीनार आदि की चकितकारी तकनीकी विशेषताओं का लोहा आज के इंजीनियर भी मानते हैं। इन सदियों पुरानी ऐतिहासिक धरोहरों में पूर्णतः वैज्ञानिकता छिपी है। उच्च कोटि का तकनीकी ज्ञान हमारे देश के रक्त में विद्यमान है। एक सौ दस करोड़ की आबादी वाले इस देश में आवश्यकता पड़ने पर हरित क्रान्ति घटित हो गयी। उन्होंने बहुत बल देकर कहा कि कृषि से जुड़े तकनीकी ज्ञान को और किसान से जुड़ी अपेक्षित जानकारियों को उन्हीं की भाषा में उन तक पहुँचाया जाना चाहिए।

शास्त्री जी की अंतिम बात सुनकर मुझे ३ जनवरी सन् ०२ वाले आजमगढ़ के एक भोजपुरी समारोह का स्मरण हो आया। डॉ० कन्हैया सिंह उसके संयोजक थे। उसमें शास्त्री जी ने भोजपुरी भाषा की वैज्ञानिकता, उसकी सम्प्रेषणशक्ति और प्रभावी व्यापकता की जो व्याख्या की उससे भोजपुरीप्रेमियों को बहुत बल मिला। उस अवसर

पर शास्त्री जी ने उत्तर प्रदेश में भोजपुरी अकादमी बनाने की बात उठा कर नये सिरे से एक सार्थक आशा जगा दी थी और संभव था अपने पूरे कार्यकाल तक राज्यपाल पद पर रह गये होते तो पाँच करोड़ भोजपुरीभाषियों का हृदय एक सपना साकार होते देख खिल गया होता। मगर यह संभव नहीं हो सका। राजनीतिक अपसंस्कृति के पेट में लोकजीवन की खुशहालियाँ समाती चली जा रही हैं। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद आंचलिकता की लहर चली तो मुझ जैसे बहुत से कथाकार अपनी जमीन की रसगंध से जुड़े और लोक तथा लोकभाषाओं को सम्मान मिला। मगर बदलते समय के साथ नगरबोध और नागर मुद्रा ने उस आंचलिकता और ग्रामोन्मुखता को दबा दिया।

अपने २ फरवरी, ०३ के लिखे एक पत्र में मैंने शास्त्री जी से उक्त आजमगढ़ वाले समारोह और भोजपुरी भाषा से जुड़े सन्दर्भों की चर्चा की तो उन्होंने अपने राजभवन, लखनऊ से १४ फरवरी, ०३ को लिखे उत्तर में और बातों के अतिरिक्त जो एक मर्मस्पर्शी वाक्य लिखा 'अपनी जड़ों से जुड़कर ही शक्ति का संचय किया जा सकता है और इसलिए अपनी बोली (भोजपुरी) को सम्मान देना ही चाहिए।' वह बहुत ही मूल्यवान है।

इन सब बातों से शास्त्री जी की लोकजीवन के प्रति निष्ठा और हार्दिक लोकोन्मुखता की स्पष्ट झलक मिल जाती है। भारतीय संस्कृति के उत्स गाँव हैं और हर उच्च सांस्कृतिक मन सम्पन्न मनीषी गाँव और उसके जीवन के प्रति सम्मान की दृष्टि रखेगा ही। मेरा उपन्यास 'लोकऋण' पढ़कर शास्त्रीजी ने श्री गांगेय भवन कलकत्ता से दि. २२-१०-७७ ई. के लिखे एक पत्र में लिखा कि देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण के वजन पर लोक ऋण की कल्पना मुझे बहुत भायी। मैंने अपने एक दो व्याख्यानों में इसका उपयोग भी कर लिया। इस विस्तृत पत्र के अन्त में उन्होंने उपन्यास-नायक के गाँव के भविष्य से जुड़ जाने के संकल्प को एक ध्यानाकर्षक बिन्दु के रूप में रेखांकित किया।

इसी क्रम में शास्त्री जी की एक सदाशयता और स्मृति की जीवन्तता की भी चर्चा हो जाय। श्री राजेश्वर सिंह, प्रबन्धक, महाविद्यालय गाजीपुर और डॉ० पी. एन. सिंह के साथ मैं उन्हें गाजीपुर में पधारने के लिए आमंत्रित करने गया तो सम्बन्धित बातों के बाद उन्होंने स्वयं ही मेरे उपन्यास लोक ऋण का प्रसंग छेड़ दिया और कहा कि इस चौथे ऋण लोक ऋण का शास्त्रीय प्रमाण भी उपलब्ध है और शतपथ ब्राह्मण में इसका ही मानव ऋण कह कर उल्लेख किया गया है। यही नहीं गाजीपुर आकर भी वे मेरे उपन्यास 'लोक ऋण' को नहीं भूल सके। वास्तव में मेरा यह उपन्यास उन्हें प्रिय है। डाक बंगले में भोजन के पूर्व अन्य विषयों की चर्चा के साथ मानव ऋण वाला प्रसंग उठ गया। उन्होंने बताया कि डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने अपनी एक पुस्तक 'हिन्दू धर्म - जीवन में सनातन की खोज' में इसकी विस्तृत चर्चा की है। मैंने भीतर ही भीतर अनुभव किया कि शास्त्री जी की उदार लोकोन्मुख दृष्टि का ही यह प्रभाव रहा कि उन्होंने मुझ जैसे गाँव के लेखक को बराबर सम्मान दिया, हर पत्र का उत्तर दिया और हर पत्र में लिखा, 'सर्जनारत रहें और स्वस्थ रहें।'

शास्त्री जी के पत्र में प्रयुक्त 'स्वस्थ रहें' शब्द पर बारम्बार मेरा ध्यान टिक जाता है। क्या अर्थ है स्वस्थ रहें का ? मेरा मन कहता, उन जैसे सरस्वतीसिद्ध और निर्मलदृष्टि-सम्पन्न आस्तिक व्यक्ति के इस शब्द के प्रयोग में कुछ असाधारणता अवश्य छिपी है। इस 'स्वस्थ' का अर्थ तन्दुरुस्त जैसा कदापि नहीं। अवश्य ही उसके निहितार्थ में आध्यात्मिक संकेत है। मगर अपने स्व में स्थिति मेरी कहाँ है ? यदि ऐसा हो जाय तब तो सब प्रकार से बेड़ापार हो जाय। मैं बहुत ही अनुगृहीत अनुभव करता हूँ कि सम्मान्य शास्त्री जी इसी रूप में मार्ग दर्शन कर रहे हैं। वे इस

सौजन्य : Assam Carriers (P) Ltd., Manglam, R. No. 403, 6, Old Court House Street, Kolkata-1

योग्य हैं। अपने 'स्व' में स्थित व्यक्ति ही दूसरों को स्वस्थ रहने का प्रभावी निर्देश दे सकता है। निःसंदेह शास्त्री जी के व्यक्तित्व में, वाणी में और व्यवहार में ऐसा बहुत कुछ है जिससे सीखा जा सकता है। न अहंकार, न तनाव और न प्रदर्शन और स्वभाव की सहज सात्त्विक विनम्रता ! स्वामी विवेकानन्द के चरणचिन्हों की खोज में वे गाजीपुर में सिद्ध संत पवहारी बाबा की तपोभूमि कुरथा गाँव (शहर से ६ किमी पश्चिम गंगा तट पर बसा) आ गये। पूजा-अर्चा और आरती करते समय वे अति सामान्य श्रद्धाशील भक्त की भाँति दिखे। निरीक्षण पुस्तिका में उन्होंने लिखा कि इस पावन स्थली पर आकर मेरा जीवन धन्य हो गया। उस पवित्र स्थली पर पहुँच कर कहीं भी ऐसा नहीं लगा कि अपने भारी भरकम महामहिम पद का लबादा ओढ़े-ओढ़े सारा कार्यक्रम सम्पन्न कर रहे हैं। यहाँ तक कि एक अवसर पर अपनी सुपरिचित हासयुक्त धारा को भी तरंगित करने से वे नहीं चूके।

आश्रम से वापसी के समय जब वे अपनी गाड़ी में मुझे बैठाने लगे तो राजेश्वर सिंह ने मेरी ओर संकेत कर कहा— 'अब इन्हें मैं आपको सौंप रहा हूँ'। इस पर छूटते ही शास्त्री जी ने हँसते हुए कहा 'मैं तो स्वयं अपने को इन्हें सौंपते हुए लखनऊ से चला हूँ'। और क्षण भर के लिए वातावरण हास्यानन्दमय हो गया। मैं स्तब्ध संकुचित और विनम्र बड़प्पन के प्रति अहोभाव में डूबा-डूबा क्या करता ? चुपचाप गाड़ी में बैठ गया। उस दिन कई-कई बार ऐसे क्षण आये जिनमें उनके संरक्षणशील स्वस्थ स्वभाव और छोटों को सम्मान देने की प्रवृत्तियों का परिचय मिला।

कॉलेज परिसर में वनस्पति उद्यान के पार्श्व में हिमालय के काले पत्थरों से बनी एक प्रतिकृति है जिसके ऊपर एक गुफा में संत योगी श्यामाचरण महाशय की एक प्रतिमा है। उस पर माल्यार्पण करने के बाद जब वे वृक्षारोपण करने चले तो एक समस्या खड़ी हो गयी। वृक्ष रुद्राक्ष का था और विधिवत् पूजन कर उसका रोपण होना था। उधर कड़ी सुरक्षा व्यवस्था के चलते पुरोहित जी उपस्थित नहीं हो पाये थे। स्थिति को भाँप कर विद्यालय प्रबन्धक श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह ने कहा "आपसे बड़ा विद्वान् पण्डित भला कौन होगा ? अब यह पवित्र कार्य .....।" अतिप्रसन्न मुद्रा में तत्क्षण पौरोहित्य कार्य के लिए सन्नद्ध होकर महामहिम ने विधिवत् मन्त्रोचार के साथ वृक्षारोपण कार्य को स्वयं सम्पन्न कर दिया। उनकी इस सहजता और विनम्रता ने सभी को विस्मित और आनन्दित कर दिया। ऐसी निर्मान, निरहंकार सहजता किसी स्वस्थमन मनीषी के भीतर ही सम्भव है।

अन्त में मैं उन्हीं की एक कविता से इस संस्मरण का समापन करना चाहता हूँ। अपने स्वागत भाषण में मैंने यह चर्चा की थी कि इस महाविद्यालय के पास संसाधन और प्रबन्धन की क्षमता किसी विश्वविद्यालय से कम नहीं है और यह एक सपना है जो अभी पूरा नहीं है। विशाल कॉलेज परिसर और तीन-चार स्थलों पर माल्यार्पण से शास्त्री जी को पूरी स्थिति का अहसास हो गया था और इस संदर्भ तथा जीवन के अन्यान्य व्यापक संदर्भों में मैं उनकी कविता की उन दो पंक्तियों को उद्धृत कर रहा हूँ जो एक प्रबल संदेश बन कर गाजीपुर की हवा में अनन्त काल तक सूक्ष्म रूप से गूँजती रहेंगी—

बड़ा काम कैसे होता है ? पूछा मेरे मन ने,
बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय, मृदु वाणी।
किन्तु अहं हो छोटा जिससे सहज मिलें सहयोगी
दोष हमारा श्रेय राम का, यह प्रवृत्ति कल्याणी। ●

सौजन्य : श्री गोविन्द नारायण काकड़ा, ३७, कैनिंग स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००१

डॉ० चन्द्रदेव सिंह

एक कर्मठ संन्यासी : आचार्य शास्त्री

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : एक अध्यापक, एक समीक्षक, एक कवि, एक विचारक, एक अध्यात्म-व्याख्याता, एक स्वयंसेवक, एक राज-नेता, एक सर्वप्रिय प्रशासक, एक प्रवचनकर्त्ता, गोस्वामी जी की विनय-भावना को आदर्श मानकर जीवन जीने का विश्वासी, दृढ़ निश्चयी, अपनी मान्यताओं के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित : सब कुछ होते हुए एक कर्मठ संन्यासी। कर्मठता—लक्ष्य और संन्यासवृत्ति—स्वभाव।

एक भक्त की भाँति 'रामजी की इच्छा' को तकिया कलाम बनाते हुए भी कर्म के प्रति निरन्तर जागरूक, सतर्क। करुणा और संवेदनशीलता की साकार प्रतिमा : दुख-सुख को समभाव से सहते जाने की क्षमता और निन्दा तथा लांछनों की उपेक्षा कर प्रतिक्रिया-हीन बने रहने का आत्म संयम : एक संन्यासी की आत्म-साधना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? जिस व्यक्ति की अभिलाषा है—

सौंप जब तुमको दिया इस जिन्दगी का भार रघुवर!
तब मुझे क्या सोचना है, जीत हो या हार रघुवर!!
सिर्फ इतनी शक्ति मुझको दो कि मैं अन्तःकरण से
कर सकूँ स्वीकार सबकुछ, जो तुम्हें स्वीकार रघुवर!!!

रघुवर के प्रति अडिग आस्था का परिणाम है अहम् की समाप्ति। यह आस्था जितनी सहज है, सरल है उसके सौगुना कठिन। यही आस्था तो संन्यास का कारण बनती है, यही आस्था तो 'परगुन नहिं दोष कहौंगो' के लिए तत्पर करती है और इसी आस्था के बल पर मनुष्य सम्पूर्ण सृष्टि के आकर्षणों को लोष्ठवत मान लेता है। लेकिन यह आस्था केवल गृह-त्याग, समाज-त्याग की ही प्रेरणा नहीं। गृहस्थ जीवन जीते हुए भी संन्यासी का आचरण संभव है, भले ही उसमें अधिक परिश्रम अपेक्षित हो, अधिक त्याग अपेक्षित हो, अधिक आत्मसंयम अपेक्षित हो।

महाभारत युद्ध की समाप्ति पर रक्तपात से दुखी महाराज युधिष्ठिर पितामह भीष्म से संन्यास लेने की आज्ञा मांगते हैं। धर्मराज का कोमल हृदय लौकिक सुख-साधनों से ऊबा हुआ और आहत है। उन्हें संन्यास की आज्ञा तो मिल जाती है, लेकिन धर्मराज की इच्छा के अनुकूल नहीं, पितामह के विचारों के अनुरूप। पितामह धर्मराज को समझाते हैं—

धर्मराज संन्यास खोजना कायरता है मन की
है सच्चा मनुजत्व ग्रंथियाँ सुलझाना जीवन की। —दिनकर (कुरुक्षेत्र)

पितामह धर्मराज को सलाह देते हैं कि संन्यासी अपना विकास कर सकता है यदि वह संसार त्याग कर मुक्ति की खोज में रम जाता है। लेकिन समाज में रहते हुए संन्यासी का जीवन जीने वाला अपने जैसे अनगिनत को मोक्ष का अधिकारी बना सकता है—

सौजन्य : SHREE HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

एक पंथ है छोड़ जगत को अपने में रम जाओ
खोजो अपनी मुक्ति और निज को ही सुखी बनाओ। –दिनकर

यहीं दूसरा मार्ग है—अपने बल-विवेक के आधार पर अन्य अनेक को मुक्ति मार्ग का यात्री तैयार करना। और धर्मराज उसी संन्यास विशेष की शिक्षा लेकर लौटते हैं। इस संन्यास का रास्ता कर्मठता के गाँव से गुजरता है, जिसके परिपार्श्व में त्याग और तपस्या के सघन वृक्षों की शीतल छाँव होती है। पितामह का कथन है—

मिट्टी का यह भार संभालो बन कर्मठ संन्यासी,
पा सकता कुछ नहीं मनुज बन केवल व्योम-प्रवासी। –दिनकर

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री व्योम-प्रवासी तो नहीं, व्योम-विश्वासी अवश्य हैं। यही व्योम-विश्वास उनकी जीवन-पूँजी है, जिसके भरोसे उनका सब कुछ 'रामजी की इच्छा से' ही होता है, सम्भव है। वही व्योम-विश्वास उन्हें किसी भी दायित्व को अंगीकार करने को बाध्य करता है और वे प्रत्येक स्थिति को 'रामजी की इच्छा' मान कर ही स्वीकार करते हैं। इसी राम-इच्छा के विश्वास पर तो उन्हें दुनिया तुच्छ लगती है। उन्हीं की पंक्तियाँ हैं–

यह जग-ज्वाला क्या बिगाड़ सकती है मेरा
नाम तुम्हारा, सब तापों का सहज शमन है।

'कलियुग केवल नाम अधारा' को साधन मानकर, साध्य के प्रति सब कुछ समर्पित कर निश्चिन्त हो जाने वाले शास्त्री जी ने 'ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में' से सहमति तो नहीं कायम की है, लेकिन शून्य के प्रति उनकी श्रद्धा में कमी भी नहीं आई है। एक ओर शून्य के प्रति अपार आस्था और दूसरी ओर मिट्टी के प्रति अपार स्नेह। स्नेह कर्त्तव्यनिष्ठा का हेतु और आस्था, त्याग तथा उदारता की प्रेरणा। यदि संत प्रवर मलूक दास की शब्दावली को दुहरायें— 'सबहिन के हम, सबै हमारे जीव, जन्तु मोंहि, लगैं पियारे।'

तो मानना होगा कि अभिलाषा तो संतत्व की प्राप्ति ही है, किन्तु परिस्थितियों से पलायन नहीं—गृहस्थ की संतत्व-प्राप्ति-चेतना। यही चेतना युग-जीवन से जोड़े रखती है और युग की विकृतियों के कारण दुखी तथा उदासीन और व्याकुल भी बनाती है।

शास्त्री जी का कवि युगीन स्थितियों को देख तिलमिला उठता है और तब यथार्थ की अभिव्यक्ति से संकोच नहीं करता। यह सच है कि पूर्ववर्ती कवियों ने भी ऐसे वातावरण के प्रति अपनी व्यंग्य वाणी के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं— 'अब दादुर वक्ता भए हमहिं पूछिहैं कौन?'

कृत्रिमता और असत्य के प्रदर्शन से मर्माहत शास्त्री जी का कवि-मन अन्तर की भावना को दबा नहीं पाता और स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है—

यह ग़ज़ब देखो कि सूरज दीप का मुँहताज
भ्रमर निर्वासित, कमलवन मेढकों का राज
देवता तो अंध कारागार में हैं बन्द
पुज रहा शैतान, लेकिन पहन उसका साज।

यह है मिट्टी का भार, जगत का भार, जिसे दायित्व समझकर, मानकर शास्त्री जी का कवि-मन सतत् जागरूक है। आस्था अपनी जगह, कर्त्तव्यनिष्ठा अपनी जगह।

सौजन्य : कलावंतिया विद्या विलास, झिंझानी, द्वारा-जन कल्याण ट्रस्ट, ४७, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कोलकाता-७

वैसे यह अलग प्रश्न है कि संत मलूकदास उस स्तर तक पहुँच गये हैं जहाँ हरि ही उनका स्मरण करते हैं और उन्हें सुमिरन से भी विश्राम मिल जाता है—

माला फेरूँ न कर जपौं, जिभ्या भजौं न राम
सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पायौ विसराम।

यह अवस्था आचार्य शास्त्री की अभी तक नहीं हो पायी है, अभी तो उन्होंने स्वयं को समर्पित ही किया है। उस स्तर की प्राप्ति आकांक्षा हो सकती है, प्रयत्न उसी ओर है, लेकिन अभी स्तर-भेद है। यही कारण है–कभी वे सहजता, साधारणता की कामना व्यक्त करते हैं और कभी जन-जीवन को वर्तमान संदर्भ से परिचित कराने के दायित्व का भी निर्वाह करते हैं। पहाड़ की ऊँचाई के अहम् की ओर संकेत कर जहाँ शास्त्री का संन्यासी मन उसके परिणाम से स्वयं को दूर रखने का निश्चय दोहराता है—

मैं बहुत ऊँचा हूँ, रहूँ अलग सबसे
मन में पहाड़ के यह बात आयी जबसे
सूख गया रस, तन-मन बने पत्थर के
भूमि पर लदा है बोझ-सा वह तब से।

वहीं मुझे शास्त्री जी के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में पितामह भीष्म की सलाह याद आने लगती है। धर्मराज द्वारा बार-बार संन्यास की रट लगाने पर पितामह उन्हें समझाते हैं कि जीवन की सार्थकता क्या है? मानव जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए? अपने लिए तो पशु पक्षी जीते हैं; मानव तो सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है—

'यही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आपही चरे।' *–राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त*

जबकि मनुष्य—

'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।' *–राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त*

ऐसा ही मनुष्य अमरता का अधिकारी बनता है, ऐसा ही आदर्श-मानव इतिहास बनता है, इतिहास बनाता है और ऐसे ही मानव का स्मरण समाज, देश और मानवता के लिए नयी ऊर्जा, नयी चेतनता का साधन होता है। पितामह का कथन है—

भोगो तुम इस भाँति वृत्ति को दाग नहीं लग पाए,
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुममें विलीन हो जाए। *–दिनकर (कुरुक्षेत्र)*

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की जीवन-पद्धति क्या पितामह की आदर्श शिक्षा का देदीप्यमान उदाहरण नहीं? ●

सौजन्य : RAJASTHAN STORES, 201B, M. G. Road, Kolkata-700 007

त. शि. क. कण्णन

सरस्वती पुत्र श्री शास्त्री जी

वेद में एक पंक्ति है "अनुव्रतः पितु पुत्रो माता भवतु सम्मनाः" पुत्र पिता के व्रत का पालन करने वाला हो और माता की कामनाओं को पूरा करने वाला हो। ठीक इससे मिलती जुलती सन्तकवि तिरुवल्लुवर द्वारा रचित तमिलवेद तिरुक्कुरल की यह पंक्ति भी देखिये :—

"मधन् तन्दैक्कु आट्रुम उदवि इवन् तन्दै
एन्ऱोट्रान् कोल एनुञ्गोल्।"

एक सच्चा पुत्र पिता का इसी रूप में उपकार कर सकता है जब संसार कहने लगे कि इसका पिता तो धन्य है जिसने ऐसी सन्तान पाई है, और माता जब यह सुनती है कि उसके पुत्र को समाज अत्यन्त सम्मान देता है तो यह पुत्र जन्म से भी अधिक आनन्दित होती है। और जहाँ तक इन सरस्वती साधक श्री शास्त्री जी की बात है वे वेद के इन शब्दों के साथ समभाव रखते हैं।

मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं के जो आदर्श हो सकते हैं, धर्म के मापदण्ड के जो तत्त्व हैं उन सबके समष्टिरूप में आचार्य प्रवर श्री विष्णुकान्त जी शास्त्री का व्यक्तित्व है।

लगभग १० वर्ष पूर्व की बात है, अचानक दिल्ली में रेलभवन के सामने उनके दर्शन हुये, वे राज्यसभा से आ रहे थे, मैंने अपना परिचय दिया। मेरा हाथ पकड़ते हुये कहा आज तुम्हारे साथ भोजन करने में स्वाद आ जायेगा। अपने प्रथम मिलन में ही उन्होंने आत्मीयता के अबाध बन्धन में मुझे बाँध लिया था। और कालान्तर में जब कभी भी उनसे मिलना होता उनकी आत्मीयता में वही स्नेह स्निग्ध सहजता और उष्णता होती। इसके अतिरिक्त विद्वानों के पारस्परिक आकर्षण तथा श्रद्धा का कारण अनिर्वचनीय होता है। कवि भवभूति के शब्दों में :—

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु"

मनुष्य को मनुष्य से प्रीति के बन्धन में जोड़ने वाला तो कोई आन्तरिक कारण ही होता है, और इसका मूल कारण सरस्वती पुत्र शास्त्री जी की ध्रुव साहित्य साधना तथा जीवन और स्वभाव के विभिन्न घटकों में व्याप्त स्नेह की, सहजता की अनुभूति है। महाभारत में लोक जीवन के प्रति ज्ञानी, ऋषि मुनि विद्वानों के दृष्टिकोण का विवरण है—

"प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः"

जो व्यक्ति लोक जीवन में आकर स्वयं अपने मानसचक्षु से उसका अवलोकन करता है वही व्यक्ति समाज को पूरी तरह जानता, समझता है। और जिस व्यक्ति के जीवन उन्नयन का प्रकाशस्तम्भ गोस्वामी तुलसीदास जैसा समर्थ कवि हो तो स्वतः उन्हें जीवन की बहुरंगी क्यारियों में व्याप्त साहित्य, दर्शन, पुराण, उपनिषद्, धर्म, भाषा की कमनीयता का नवनीत प्राप्त हो गया हो तो क्या आश्चर्य। श्री शास्त्री जी की मेधा का विस्तार भी तुलसी के मानस

सौजन्य : RDB Industries Ltd., 8/1, Lalbazar Street, (1st Floor), Kolkata-700 001

में पूरी तरह मज्जित होने पर ही हुआ है। क्योंकि कितना स्पष्ट लिखा है "सुरसरि सम सब कहँ हित होई" और शायद मानस की मनभाती पंक्तियों को पढ़कर ही उन्होंने स्वयं को लोककल्याण के लिये समर्पित कर दिया। और उनकी इस उदात्त भावना का उद्घोष ही है सर्वमंगल। श्री शास्त्री जी वरिष्ठ प्राध्यापक, प्रतिभा सम्पन्न लेखक, प्रखर राष्ट्रप्रेमी एवं गुरु गम्भीर वाणी की तेजस्विता से आपूर्ण प्रबुद्ध वक्ता हैं। वाग्देवी की मधुरता से सिंचित एक अच्छा वक्ता होना मनोहारी बात है। एक लब्ध प्रतिष्ठ लेखक होना बड़ी बात है। पर इनके साथ एक सुदृढ़ सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक कार्यकर्ता होना सोने में सुहागे की बात है। श्री शास्त्री जी का व्यक्तित्व इन त्रिगुणों का अपूर्व समन्वय है। प्रायः लेखक एवं वक्ता दोनों होकर भी राष्ट्रचिन्तक नहीं रहते हैं और यदि दैव दुर्विपाक उनमें राष्ट्रप्रेम की उज्ज्वल भावना है तो वे संस्कृति के पक्षधर नहीं होते हैं भारतीय संस्कृति से दूर रहते हैं या अनभिज्ञ रहते हैं। पर शास्त्री जी इन सभी तत्त्वों में अजस्र प्रेरणा स्रोत हैं। उनकी निर्मल जीवन धारा में से किसी भी एक धारा (तत्त्व) को पृथक् नहीं किया जा सकता है।

राजनीति के महिमामण्डित यशस्वी विधायक पद प्राप्ति पर उनके श्रद्धास्पद स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती ने आशीर्वचन के रूप में जो शब्द कहे थे वे कितने अर्थपूर्ण हैं, "दलीय राजनीति का सबसे बड़ा दोष यह है कि अपने ही दल के कुछ अयोग्य व्यक्तियों की गलत नीतियों का समर्थन भी करना पड़ता है ..... । पार्टी मुख्य नहीं है। नर-नारायण ही मुख्य है"। जिस व्यक्ति का इतना प्रतिभासम्पन्न गुरु हो, मार्गदर्शक हो तब उस शिष्य पुत्र का आचरण भी उतना ही परिष्कृत एवं तेजोमय होगा।

"स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्त" राजनीति के कलुषित दल-दल में पदार्पण करने पर भी स्फटिक मणि की भांति अपने उज्ज्वल व्यक्तित्व से उन्होंने राजनीति की तह को पवित्रता एवं निर्मलता प्रदान की। अपने मधुर व्यवहार से राजनीति की उष्मा को उन्होंने शीतलता प्रदान करते हुये तीर्थ ही बना दिया। राजनीति के इस विशाल परिवार में भी उन्होंने अपनी मनोवृत्ति को यत्किंचित् मलिन नहीं होने दिया। भोज की यह पंक्ति कितनी मनोहारी है :—

"क्रियासिद्धि सत्वे भवति महतां नोपकरणे" सफलता दृढ़ संकल्प एवं शुद्ध आचरण से ही मिलती है न कि बढ़िया साधनों से।

शास्त्री जी ने अपनी कुशलता एवं बुद्धिमत्ता से यह सिद्ध कर दिया कि किस प्रकार राजनीति की दुनियाँ में रहकर भी राजनीति के ऊपर रहा जा सकता है और यह भी कितनी मोहक बात है कि प्रतिपक्ष कम्युनिस्ट व कांग्रेस के शीर्ष नेता भी अग्रज के रूप में उन्हें तहे दिल से सम्मान देते हैं। जिनमें सर्वश्री इन्द्रजीत गुप्ता, सोमनाथ चटर्जी, ज्योति बासु, प्रियरंजनदास मुन्शी व दीदी ममता बनर्जी का नाम उल्लेखनीय है।

श्रीयुत् शास्त्री जी मिलनसार हैं, व्यवहार पटु हैं। जिनका स्वभाव ही सौजन्य एवं औदार्य से परिपूर्ण हो, गुरु के अद्भुत सत्संग का सुयोग हो ऐसे व्यक्ति का कार्यक्षेत्र भी धर्म, ज्ञान और भक्ति के पवित्र संगम से विकासोन्मुखी होता है। विनम्रता और उदारता उनके व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। मानवमात्र के समग्र कल्याण की असीम भावना से उद्भूत उनकी धार्मिक विचार सरिता एक ऐसी दिव्य अनन्त चेतना की प्रतिमूर्ति है जो सबके लिये सर्वदा सर्वत्र प्रेरक एवं मंगलकर्त्री है। स्वामीजी के उन्नत विचारों से उनका व्यक्तित्व निखरा है। वे मनसा, वाचा, कर्मणा, सच्चे अर्थों में भारतीय संस्कृति के उपासक हैं, पक्षधर हैं। तुलसी एवं कबीर के प्रति उनकी श्रद्धा विलक्षण है। राष्ट्रप्रेम तो उनमें कूट कूट कर भरा हुआ है। राममन्दिर आन्दोलन में उनकी भूमिका प्रमुख रही है। रामलला के भावुक कार्यकर्ताओं

सौजन्य : Seth Gangaram Bhutoria Jankalyan Trust, 56, Netaji Subhas Road, Kolkata-700 001

के निच्छल स्नेहपूर्ण व्यवहार से शास्त्री जी को सर्वदा सम्बल मिला है। राष्ट्रीय स्वाभिमान के लिये वे कृतसंकल्प हैं। महाकवि भारवी ने कहा है "अभिभूति भयाद सूनतः, सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः" स्वाभिमानी राष्ट्रनेता अपने प्राणों की जरा भी परवाह नहीं करते। अपने प्राणों को तो छोड़ सकते हैं परन्तु अपने तेज को नहीं छोड़ते हैं। अनेक आन्दोलनों से जुड़ने पर भी उनके सज्जन मन ने प्राध्यापकीय मर्यादा का जरा भी उल्लंघन नहीं किया है। यह एक अपूर्व चरित्र की दीप्ति है। श्री शास्त्री जी इसमें शतशः उत्तीर्ण हैं। राम मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में शायद उनके सम्मुख पूज्य पिता रचित ये पंक्तियाँ थी "इन दीनों की आह दयामय के दरदी श्रवणों में पड़ेगी कभी"। शायद उन्होंने कविकुलगुरु कालिदास की ये स्वर्णिम पंक्तियाँ भी पढ़ी थीं :—

"अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्"

सज्जन सत्गुणों के कारण विनम्र हो जाते हैं, परोपकारी पुरुषों का यही मधुर स्वभाव है। पवित्र मन ही प्रेम की पवित्रता को समझता है, पहचानता है, उनका प्रेम व्यवहार शुद्ध, निष्कपट होता है। अतः जो भी व्यक्ति उनके सान्निध्य में आया वह उनका अपना हो गया। सबके प्रति स्नेह दृष्टि, समभाव। मानवमात्र में उपलब्ध केवल प्रकाश ही नहीं उनमें एक असाधारण आकर्षण है जो निसर्गतः आपको आकर्षित कर लेता है।

सरस्वती पुत्र शास्त्री जी पर भर्तृहरि जी की यह वाणी कितनी सटीक घटित होती है—

"वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयन्ते खलुभूषणानि सततं वाग्भूषणम् भूषणम्।।"

वाणी का अलंकार ही व्यक्ति का श्रेष्ठ आभूषण होता है। यह आकर्षक, उज्ज्वल आभूषण शास्त्री जी ने बाल्यावस्था में ही धारण कर लिया था।

कविवर कालिदास ने रघुवंश में राजा दिलीप का वर्णन करते हुये एक सुन्दर श्लोक लिखा है :—

"आकार सदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भः सर्वतोदयः"

राजा दिलीप की आकृति जितनी सुन्दर थी, उतनी ही विलक्षण बुद्धि थी, जैसी मेधा का विस्तार था वैसा ही विपुल उनका ज्ञान शास्त्र था। जैसा शास्त्र ज्ञान था वैसे ही उनके सुकर्म, और जैसे सुकर्म वैसे ही उसका परिणाम सर्वमंगल के लिये होता है।

यह श्लोक पूज्य शास्त्री जी पर पूर्णरूपेण घटित होता है। जीवन में शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र हो जहाँ शास्त्री जी ने अपना योगदान न दिया हो।

ऐसे उदार, सहृदय, यशस्वी, विद्वान् का अनुज होने का मुझे गर्व है। जो मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ख्याति प्राप्त करता हुआ राष्ट्र की तहे दिल से सेवा करता है उसका साक्षात् उदाहरण श्री शास्त्री जी हैं। वास्तव में शास्त्री जी जैसे मनस्वी व्यक्तियों के कारण विवेकशील मनुष्यों को कभी कभी ऐसा लगता है कि हमारा देश फिर अपनी उसी प्राचीन गरिमा को प्राप्त करेगा जब देश देशान्तर के लोग अपने चरित्र के संवर्धन के लिये भारतवासियों का अनुगमन करेंगे। श्री शास्त्री जी 'जीवेम शरदः शतम्" के अनुरूप स्वस्थ दीर्घ आयु प्राप्त कर अपनी आँखों से राष्ट्र की उसी प्राचीन गरिमा को पुनः देख सकें यही हमारी प्रभु से प्रार्थना है। ●

सौजन्य : RAJU SULTANIA, 318, Chittaranjan Avenue, Kolkata-700 006

डॉ० सियाराम तिवारी

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री पर ध्यान जाते ही उनका व्यक्ति-रूप और रचनाकार-रूप, दोनों मेरे मनश्चक्षु के समक्ष खड़े हो जाते हैं और मैं निर्णय नहीं कर पाता हूँ कि उनका व्यक्ति बड़ा है या रचनाकार। बचपन में पढ़ी हुई अँगरेजी के एक आलोचक की यह टिप्पणी मुझे सदा याद रहती है कि "A poet cannot write the poetry he wants to write but only the poetry that is within him." उस आलोचक ने तो केवल कवियों के सम्बंध में कहा है, पर मैं मानता हूँ कि यह किसी भी प्रकार के लेखन पर लागू है। शास्त्री जी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व में इसी कारण ऐसी अनन्यता है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनका व्यक्ति बड़ा है या रचनाकार। और, यही कारण है कि उनके कर्तृत्व पर लिखते हुए उनके व्यक्तित्व पर कुछ लिखे बिना लेखन अधूरा मालूम पड़ता है।

१९७६ में शांतिनिकेतन जाने के पहले ही मेरा शास्त्री जी से सम्पर्क हो गया था। उन दिनों मैं भागलपुर विश्वविद्यालय में था। एक दिन स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग में कई सहयोगियों के साथ बैठा था। तभी देखा। धोती, कुर्ता और चादर से परिवेष्ठित लम्बा, छरहरा, गौर वर्ण का व्यक्ति जिसके ललाट पर तिलक की शोभा, मुखमंडल पर सौम्यता की आभा और ओठों पर मुस्कान की रेखा फैली हुई थी, भारतीय संस्कृति को मूर्त करता हुआ कक्ष में प्रवेश करता है। हम सब उनकी ओर उन्मुख हो जाते हैं। वे अपना परिचय देते हैं और हम लोगों को एक-एक निमंत्रण-पत्र देते हैं। कलकत्ते की 'अनामिका' नाम की नाट्यसंस्था ने भागलपुर में दो नाटक अभिनीत करने का आयोजन किया था। उसे देखने का निमंत्रण था। मैंने उन दोनों नाटकों का अभिनय देखा। वैसा सफल अभिनय उसके पहले मैंने कभी नहीं देखा था। उसे देखकर मेरे मन ने यही प्रश्न किया कि कैसे लोग कहते हैं कि हिंदी का रंगमंच नहीं है!

उस समय शास्त्री जी से जो सम्पर्क हुआ वह दिनानुदिन घनिष्ठतर होता गया। एक सिलसिले में उन दिनों की लिखी हुई अपनी डायरी के पन्नों को उलटना पड़ रहा है। मैं उन दिनों डायरी में उस दिन के वृत्त के साथ-साथ प्राप्त और प्रेषित पत्रों का भी उल्लेख कर दिया करता था। देखता हूँ कि 'विष्णुकांत शास्त्री का पत्र मिला' और 'विष्णुकांत शास्त्री को पत्र लिखा', इस प्रकार के उल्लेख से उन दिनों की डायरी के पृष्ठ भरे हुए हैं। १९७६ की जनवरी में जब शांतिनिकेतन गया और १९९९ तक वहाँ रहा तो आत्मीयता अधिकाधिक प्रगाढ़ हो गयी। वे विश्वविद्यालयेतर कार्य से भी शांतिनिकेतन या बोलपुर आते तो समय निकालकर मुझे अवश्य ही दर्शन देने की कृपा करते। उनकी यह कृपा पराकाष्ठा पर तब पहुँच गयी जब जनवरी २००० में शांतिनिकेतन से मेरी विदाई के अवसर पर मुझे अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित करने का भार भी उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। उस समय विष्णुकान्त जी हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल के रूप में शिमला में थे। हद तो तब हो गयी जब उन्होंने आयोजकों को निर्देश दिया

सौजन्य : श्री मणीन्द्रनाथ पसारी, ३, बुड स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ०१६

कि मिनट-मिनट का जो उनका कार्यक्रम बने, उसमें तिवारी जी के घर चलने का भी कार्यक्रम रखा जाय। कार्यक्रम रखा गया और वे प्रो० कल्याणमल लोढ़ा तथा डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी के साथ मेरे घर पधारे और आध-पौन घंटे तक वहीं रहे। उन्होंने मुझे धन्य कर दिया।

शास्त्रीजी के व्यक्तित्व की विशेषताओं को शब्दबद्ध करना सरल कार्य नहीं। वे छात्रवत्सल महान् गुरु हैं, सुधी साहित्यकार हैं, शोधाभिनिवेशी विद्वान् हैं, संत राजनेता हैं साथ ही लोकप्रिय राज्यपाल रहे हैं। राजभवन में उनसे मिलते हुए स्वतंत्र भारत के वास्तविक राज्यपाल से मिलने का बोध होता है। उनके इन सभी रूपों में दुग्ध में नवनीत के समान एक प्रकार का औदात्य छाया हुआ है। यही औदात्य उनके सर्जन में यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है।

शास्त्री जी के सर्जन की पाँच दिशाएँ हैं— आलोचना, संस्मरण और यात्रा-वृत्तांत, रिपोर्ताज, अध्यात्म और कविता। उन्होंने माना है कि परिवेश के दबाव के कारण उन्हें आलोचनात्मक लेखन में प्रवृत्त होना पड़ा। परिवेश के दबाव से उनका तात्पर्य उनके प्राध्यापक होने से है। वे मानते हैं कि "वैदुष्यपूर्ण, विचारात्मक, आलोचनात्मक लेखन विश्वविद्यालय के अध्यापक के रूप में मेरा सहज कर्तव्य था।" यह सर्वथा स्वाभाविक है। उदाहरण यही प्रमाणित करता है कि सफल आलोचक वही हो सकता है जो सफल अध्यापक भी है। कम से कम हिंदी-साहित्य में तो ऐसी ही स्थिति है। अध्यापकेतर लेखकों ने जो आलोचनाएँ लिखी हैं, उनमें पारदर्शिता का अभाव है, वे उलझी हुई हैं, वे प्रतिपाद्य विषय से अधिक उससे बाहर की बातें कहती हैं। यदि ऐसी आलोचना को कोई नाम देना हो तो उसे जर्नलिस्टिक आलोचना कहा जा सकता है। तात्त्विक आलोचना लिखना अध्यापक के लिए जितना सुगम है उतना अन्य व्यक्तियों के लिए नहीं।

शास्त्रीजी जन्मजात अध्यापक हैं। सच्चे और सफल अध्यापक के दो गुण होते हैं। उसका पहला गुण यह है कि वह नीचे से लेकर ऊपर की कक्षाओं में समान अधिकार के साथ पढ़ा सकता है। उसके अध्यापन से निम्न कक्षा के छात्र संतुष्ट होते हैं तो उच्च कक्षा के छात्र भी तृप्त होते हैं। निम्नतम और उच्चतम कक्षाओं के छात्रों को उनके स्तर पर उन्हें तृप्त करना सफल अध्यापक का पहला गुण है। सफल अध्यापक का दूसरा गुण यह है कि उसे कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, प्राचीन काव्य, आधुनिक काव्य जो भी पढ़ाने को मिले, उसी में वह छात्रों को तृप्त कर दे। कुछ सीमित विषयों में ही अपनी पैठ रखने वाला सफल अध्यापक नहीं हो सकता। शास्त्री जी की अध्यापकीय सफलता सर्वविदित है। उनके आलोचनात्मक लेखन में जो विषय-वैविध्य है, वह उनके सफल अध्यापक की देन है। वे यदि कालिदास की विरह-व्यंजना का विवेचन करते हैं तो सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे हिंदी के आधुनिक कवि पर भी लिखते हैं और नवगीत पर भी अपनी लेखनी चलाते हैं। वे कबीरदास पर लिखते हैं तो तुलसीदास पर भी। यही नहीं, वे कबीरदास और तुलसीदास में आंतरिक साम्य की भी खोज करते हैं। कबीरदास और तुलसीदास में किसी भी प्रकार के साम्य की बात उठते ही ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी धारा के कवियों के सम्बंध में तुलसीदास की इस टिप्पणी पर ध्यान गये बिना नहीं रह सकता है :

साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं अधम कवि निंदहिं वेद पुरान।।

यह शास्त्री जी जैसे तत्त्वदर्शी आलोचक का ही काम है कि वह कबीरदास और तुलसीदास में आभ्यंतर साम्य का संधान करता है और सफलतापूर्वक करता है।

सौजन्य : Aloke Kumar Newatia, Property Option, 1, British India Street, Front Bldg. Kolkata-69

शास्त्री जी तुलसीदास के सर्वश्रेष्ठ अध्येता हैं। उनके समग्र आलोचनात्मक लेखन में गुण और परिमाण, दोनों दृष्टियों से तुलसी-विषयक लेखन ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक है। उनका पुस्तकाकार आलोचनात्मक लेखन केवल तुलसीदास पर है। 'तुलसी के हिय हेरि' मौलिक और 'तुलसीदास : आज के संदर्भ में' सम्पादित पुस्तक पाठकों के सामने हैं। तुलसीदास पर उन्होंने जो लिखा है, उसमें श्रद्धालु अध्येता और तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक, दोनों के गुण विद्यमान हैं। इसीलिए तुलसी-विषयक उनका आलोचनात्मक लेखन केवल ज्ञानवर्धन ही नहीं करता, वरन् तुलसी-साहित्य में पाठकों के चित्त को रमा देता है। संत-भक्त कवियों में कबीरदास और तुलसीदास के साथ सूरदास पर भी शास्त्री जी का ध्यान गया है और उनके सम्बंध में सर्वाधिक विचारणीय बिंदु पर ध्यान गया है। सामान्यतया समझा जाता है कि वल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति में दैन्य भाव की स्वीकृति नहीं है, अतः सूरदास के दैन्य भावापन्न पद उनके वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पहले रचे गये होंगे। शास्त्री जी ने बड़ी प्रामाणिकता के साथ इस भ्रांति का निराकरण कर दिया है। उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रंथों का गहन आलोड़न कर यह सिद्ध कर दिया है कि वल्लभ-मत में दैन्य भाव की अस्वीकृति नहीं है, अतः सूरदास में जो दैन्य भाव है, वह सहज और स्वाभाविक रूप में ही है।

शास्त्री जी की आलोचना में वैविध्य का एक पक्ष यह भी है कि कविता के साथ-साथ आलोचना पर भी उनकी दृष्टि गयी है और उन्होंने दो महान् आलोचकों— रामचंद्र शुक्ल और नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना-पद्धति का बड़ा प्रामाणिक और मौलिक विवेचन किया है। शुक्लजी की आलोचना-सरणि पर विचार करते हुए लोक-मंगल की चर्चा तो होती थी, पर उनकी आलोचना के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में उसके विशद विवेचन का श्रेय शास्त्री जी को ही है। इस सम्बंध में शास्त्री जी की यह भी खोज है कि शुक्लजी ने लोक-मंगल की यह धारणा तुलसीदास से ग्रहण की थी।

इसी तरह नंददुलारे वाजपेयी के आलोचक-रूप का जो विवेचन किया है, वह भी सर्वथा मौलिक है। वाजपेयी जी आरम्भिक दिनों में पत्रकार थे और बाद में दीर्घकाल तक प्राध्यापक रहे, पर इन दोनों की कोई छाप उनकी आलोचना पर नहीं है। आलोचनाओं में वे बस आलोचक हैं। अपने व्यक्तित्व के सभी खानों को अलग-अलग रखकर लिखना एक बड़ी सिद्धि है जो वाजपेयी जी में थी। इस सिद्धि को लक्षित कर शास्त्री जी ने जिस सूझ का परिचय दिया है, उस पर मन मुग्ध हो जाता है।

शास्त्री जी का आलोचनात्मक लेखन इस बात का प्रमाण है कि वे केवल व्यावहारिक आलोचना में ही विलक्षण पटुता नहीं रखते हैं, वरन् सैद्धांतिक आलोचना की भी अपार क्षमता धारण करते हैं। सैद्धांतिक आलोचना की उनकी शक्ति के दर्शन करने के लिए उनका एक ही आलेख 'काव्य का वाचिक सम्प्रेषण' पर्याप्त से अधिक है। दसवीं शताब्दी के राजशेखर के पश्चात् कविता-पाठ के सिद्धांत पर अत्यंत परामर्शपूर्वक विमर्श करने वाले शास्त्रीजी कदाचित् एकमात्र आचार्य हैं। शास्त्रीजी इसके अधिकारी भी हैं क्योंकि वे स्वयं कविता-पाठ की कला में निष्णात हैं। यही नहीं, उन्हें जितनी कविताएँ कंठस्थ हैं, उतनी शायद ही किसी अन्य को हो। कविता-पाठ का उन्होंने एक शास्त्र प्रस्तुत किया है जिसे हिंदी के मौलिक काव्यशास्त्र में सम्मिलित किये जाने की आवश्यकता है।

शास्त्रीजी के व्यक्तित्व की विशेषता उनके आलोचनात्मक लेखन में भी स्पष्ट झलकती है। व्यक्ति-रूप में शास्त्रीजी मृदुभाषी और प्रियवादी हैं। किसी आलोचक के व्यक्तित्व की यह विशेषता उसके आलोचनात्मक लेखन

सौजन्य : SHREE RAKESH MISHRA, 147, Forshor Road, Ramkistopur, Howrah-711 101

में आ जाय तो उसकी आलोचना गुणानुवाद मात्र होकर रह जायेगी। पर शास्त्रीजी के आलोचक की यह विशेषता है कि वह अपने व्यक्तित्व की विशेषता को त्यागे बिना आलोचक के धर्म का निर्वाह करता है। रामचंद्र शुक्ल के दुराग्रह और उनकी हठवादिता की ओर शास्त्रीजी किस प्रकार संकेत करते हैं, यह देखने योग्य है— "आचार्य शुक्ल की अनमनीय मुद्रा और स्वमत पोषण के अतिरिक्त आग्रह के कारण कई परवर्ती आलोचकों ने अपने आवेशजन्य अतिरेक में उनका प्रखर विरोध भी किया है..... (द्रष्टव्य : 'लोक-मंगल और आचार्य रामचंद्र शुक्ल' शीर्षक निबंध)। उनके व्यक्तित्व का सौम्य रूप उनकी आलोचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है। बड़ी बात यह है कि इसके कारण सत्य कहने से वे कहीं बाज भी नहीं आये हैं।

शास्त्रीजी का सफल अध्यापक उनकी आलोचनाओं में सर्वत्र बोल रहा है। इसका प्रमाण उनकी आलोचना-भाषा देती है। सफल अध्यापक अपने अध्यापन में छात्र को अपने साथ ले चलता है। शास्त्री जी भी अपनी आलोचनाओं में अपने पाठकों को साथ ले चलते हैं। निम्नांकित वाक्यों से इस बात की पुष्टि हो जाती है :

(१) इस विवेचन को आगे बढ़ाने के पहले विरह-सम्बंधी कालिदास की तात्त्विक दृष्टि पर थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ('कालिदास की विरह-व्यंजना' शीर्षक निबंध)।

(२) क्या कालिदास ने भी अपनी विरह-वेदना अपने श्रोताओं-पाठकों के साथ बाँट लेनी चाही थी ? कौन जाने ! (उपर्युक्त निबंध में)।

(३) फिर कबीरदास कैसे रहस्यवादी हो गये ? क्योंकि आचार्य शुक्ल के अनुसार उन्होंने 'निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का प्रेमतत्त्व लिया।" क्या निराकार ईश्वर की भक्ति भारतीय प्रेम-साधना के अनुसार नहीं की जा सकती ? (द्रष्टव्य : 'कबीरदास के मूल स्वरूप पर पड़े आवरण' शीर्षक निबंध)।

(४) मैं सचमुच समझ नहीं पा रहा कि ऊपर के मंतव्य से इस दोहे का क्या सम्बंध है ? (उपर्युक्त निबंध में)।

(५) आज तुलसीदास होते तो जरूर पूछते कि भाई..... (द्रष्टव्य : 'आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास' शीर्षक निबंध)।

अध्यापक से भी अधिक प्रवचनकार को इस बात की अपेक्षा होती है कि वह श्रोताओं को अपने साथ ले चले। शास्त्री जी सफल अध्यापक होने के साथ-साथ सफल प्रवचनकार भी हैं। उपरि उद्धृत अंतिम उद्धरण में प्रवचनकार की भाषा है।

शास्त्री जी की आलोचना-भाषा की यह विशेषता है कि वे गम्भीर विषय को भी सरल ही नहीं, मनोरंजक रूप में प्रस्तुत करते हैं। सच्चा भक्त मोक्ष से भी अधिक भक्ति के अवसर-लाभ को महत्त्व देता है। इस तथ्य को शास्त्री जी इस प्रकार कहते हैं : "बहुत-से भक्त ऐसे भी होते हैं जो स्वयं चीनी बन जाने के स्थान पर चींटी बने रहकर चीनी का स्वाद लेते रहते हैं" (द्रष्टव्य : 'तुलसीदास की विचारधारा के कुछ विशिष्ट बिंदु' शीर्षक निबंध)।

निष्कर्ष यह है कि शास्त्री जी तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक के सभी गुणों को उत्तम रूप में धारण करते हैं।

शास्त्री जी के सृजन की एक दूसरी दिशा है संस्मरण-लेखन। संस्मरण एक ऐसी विधा है जो रचना और आलोचना, दोनों का आनंद देती है। इसलिए संस्मरणकार में रचनाकार और आलोचक, दोनों के गुण अपेक्षित होते हैं। जो केवल आलोचक है, वह तो मर्मस्पर्शी संस्मरण लिख ही नहीं सकता। उसका लिखा संस्मरण इतिवृत्त

मात्र होकर रह जायेगा। शास्त्री जी सहृदय आलोचक और मर्मी रचनाकार हैं। अतः उनके संस्मरण भी अनुपम हैं। उनके अधिकांश संस्मरण हिंदी के ख्यात रचनाकारों और आलोचकों से सम्बंधित हैं।

शास्त्री जी के संस्मरण संस्मृत व्यक्तियों के अंतरंग विवेचन हैं। उनके संस्मरण-लेखन की कला के दर्शन शीर्षकों से ही होने लग जाते हैं। शीर्षकों में ही उन्होंने संस्मृत व्यक्तियों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के सारतत्त्व को प्रस्तुत कर दिया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी विषयक संस्मरण का शीर्षक है— 'अविरोध की साधना के मूर्त्त रूप'। इस शीर्षक में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व तो मूर्त्त हो ही उठा है, स्वयं शास्त्री जी का व्यक्तित्व भी साकार हो गया है। स्थूल दृष्टि से देखने पर हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व समझौतावादी या अवसरवादी का प्रतीत होता है। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की इस विशेषता को शास्त्री जी ने 'अविरोध की साधना' की संज्ञा दी है। शास्त्री जी के स्वभाव में जो मृदुता और सौम्यता है उसे यहाँ स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। इस शीर्षक के चयन में आलोचक शास्त्री जी की सूक्ष्म दृष्टि और उदार सहृदयता, दोनों एक साथ द्रष्टव्य हैं। यह चमत्कार शास्त्री जी ने अपने सभी संस्मरणों में दिखाया है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र के संस्मरण में उनको 'धुरिप्रतिष्ठा का अधिकारी' कहा गया है। मिश्र जी अत्यंत छात्रप्रिय अध्यापक और बड़े तत्त्वदर्शी विद्वान् थे। काव्य के पाठ के भीतर प्रवेश कर उसके सौंदर्य को उद्घाटित करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। काव्यशास्त्र के वे नदीष्ण विद्वान् थे। रीतिकालीन काव्य के उद्धार और व्याख्या के उनके कार्य अपूर्व हैं। निश्चय ही वे धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी हैं। शास्त्री जी के द्वारा लिखे गये सभी संस्मरणों के शीर्षकों में चित्ताकर्षक कवित्व भरा हुआ है।

शास्त्री जी द्वारा लिखे गये संस्मरण संस्मृत व्यक्तियों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर प्रकाश डालने के साथ-साथ शास्त्री जी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व की भी झलक दिखाते हैं। संस्मरण-लेखन प्रायः आत्म-स्तुति अथवा आत्म-प्रक्षेपण के दोष से ग्रस्त हो जाया करता है। शास्त्री जी के संस्मरण सर्वथा निर्दोष तो हैं ही, अपनी विधा के मानदंड भी हैं।

संस्मरण के साथ-साथ शास्त्री जी ने यात्रा-वृत्त भी लिखे हैं। संस्मरण और यात्रा-वृत्त, दोनों निकट की विधाएँ हैं। यात्रा-वृत्त भी एक प्रकार से संस्मरण ही है। अंतर केवल इतना है कि संस्मरण का सम्बंध जहाँ व्यक्ति से होता है, वहाँ यात्रा-वृत्त का सम्बंध स्थान से होता है। यात्रा-वृत्त वस्तुतः स्थान-विषयक संस्मरण है। एक दूसरा अंतर यह होता है कि यात्रा-वृत्त केवल रचना है, इसमें आलोचना का कोई स्थान नहीं। यात्रा-वृत्त में उसके लेखक का व्यक्तित्व कहानी, उपन्यास, नाटक आदि की अपेक्षा अधिक मात्रा में प्रतिबिम्बित होता है। यात्रा-वृत्त की सफलता इस बात में होती है कि वह पाठक में यह भाव उत्पन्न करे कि काश ! वह भी इस यात्रा में सम्मिलित होता तो कितना अच्छा होता ! शास्त्री जी के यात्रा-वृत्त ऐसी ही प्रतीति कराते हैं।

शास्त्री जी के लेखन का एक क्षेत्र रिपोर्ताज भी है। उनके रिपोर्ताज बाँगला देश की मुक्ति-कथा से सम्बंधित हैं जो 'बाँगला देश के संदर्भ में' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हैं।

शास्त्री जी जितने सफल अध्यापक हैं, उतने ही सफल प्रवचनकार। वस्तुतः उनके सफल अध्यापक होने के मूल में उनका सफल प्रवचनकार होना है। सफल प्रवचनकार को श्रोता का जितना ध्यान रखना पड़ता है उतना अन्य किसी भी प्रकार के वक्ता को नहीं रखना पड़ता है। सच्चा प्रवचनकार श्रोताओं के बौद्धिक स्तर पर उतरकर उन्हें अपने वक्तव्य को हृदयंगम कराता है। यही कार्य वे अध्यापक-रूप में भी करते रहे हैं जिसके कारण उन्हें इतनी

सौजन्य : KISWOK INDUSTRIES PVT. LTD. 11, Brabourne Road, Kolkata-700 001

छात्रप्रियता प्राप्त हुई। प्रवचनों में उनकी सफलता का एक दूसरा कारण यह है कि वे अंतर से आध्यात्मिक पुरुष हैं। उनकी अंतरात्मा का निर्माण अध्यात्म से हुआ है। यदि वे विश्वविद्यालय आचार्य और राज्यपाल नहीं होते तो संसार उन्हें एक परमहंस संत के रूप में देखता। यही कारण है कि उनका आध्यात्मिक लेखन सभी प्रकार के लेखनों से अधिक पुष्ट है। लगता है, अध्यात्म-विषयक लेखन (जो मूल रूप में प्रवचन है) में ही उनका चित्त रमा है। 'भक्ति और शरणागति', 'ज्ञान और कर्म' और अप्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीता पर उनके प्रवचन इस बात के प्रमाण हैं।

यह अध्यात्म उनकी कविताओं में भी गया है जो उनके लेखन की अंतिम दिशा है। वस्तुतः अध्यात्म और आस्तिकता की झलक उनके सभी प्रकार के लेखन में दिख जाती है। उनकी कविताओं का एक संकलन डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी द्वारा सम्पादित होकर 'जीवन-पथ पर चलते-चलते' नाम से १९९९ में प्रकाशित हुआ था। उनके लेखन के इसी पक्ष ने पुस्तक का मुख सबसे पीछे देखा।

शास्त्री जी की समग्र साहित्य-साधना पर दृष्टि-निक्षेप करते हुए जब उनकी कविताओं पर दृष्टि पड़ती है तो संस्कृत में प्रचलित एक उक्ति मन में कौंध जाती है— *कविर्भावयति भावकश्च कविः।* अर्थात् कवि ही आस्वादन करता है और भावक ही कवि होता है। जब व्यक्ति में रचनाकार और आलोचक का सम्मिलन हो जाता है तो एक विलक्षण साहित्यकार का जन्म होता है। शास्त्री जी ऐसे ही विलक्षण साहित्यकार हैं। उनकी काव्य-रचना और गद्य-लेखन में एक रमणीय सामंजस्य है। उनकी गद्य-रचनाओं में यदि चिंतन की गम्भीरता, विशदता और युक्तियुक्तता है तो उनकी कविताओं में भाव की सहजता, अनुभूति की मार्मिकता और अभिव्यक्ति की प्रांजलता है। जैसी पारदर्शिता उनकी गद्य-रचनाओं में है वैसी ही काव्य-रचनाओं में भी है। साथ ही, आध्यात्मिकता की अंतर्धारा भी उनकी दोनों प्रकार की रचनाओं में मेल कराती है।

'जीवन-पथ पर चलते-चलते' में चार प्रकार की कविताएँ दिखायी पड़ती हैं— राष्ट्रीय, प्रेमपरक, भक्तिपरक एवं विविध। शास्त्री जी का व्यक्तित्व दो तत्त्वों से बना है— राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व तो इसको प्रतिबिम्बित करता ही है उनके कवि-रूप में तो ये दोनों तत्त्व उसी प्रकार साफ-साफ दिखायी देते हैं जिस प्रकार प्रयाग में संगम पर गंगा और यमुना का जल साथ बहता हुआ भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में उद्बोधन का स्वर है तो भारत-विभाजन से उत्पन्न शरणार्थी-समस्या की व्यथा भी; वोट बैंक की राजनीति कर देश को रसातल की ओर ढकेलनेवालों को चेतावनी है तो डॉ० हेडगेवार-जैसे राष्ट्र-भक्तों का अभिनंदन भी है। उनकी प्रेमपरक कविताओं में सस्ती भावुकता के स्थान पर पवित्र प्रेम की एक ऐसी आभा है जो ज्योत्स्ना के समान सुखदायी है, उसमें निश्छल हृदय का सहज उच्छ्वास है जो अभिभूत कर देता है। हिंदी की प्रेम-कविताओं के बीच शास्त्री जी की ये कविताएँ अपनी एक अलग पहचान बनाती हैं। उनकी भक्त्यात्मक कविताओं में समर्पण अथवा शरणागति का भाव है। उनकी ये कविताएँ भी अपनी एक विशिष्टता रखती हैं। उनकी प्रकीर्ण कविताएँ उनके मन की तरंग हैं जो यथावसर प्रकट हो गयी हैं।

शास्त्री जी ने संस्कृत, बाँगला और अंग्रेजी की कुछ कविताओं के अनुवाद भी किये हैं। उनके कवि-रूप पर विचार करते हुए इनको अनदेखा नहीं किया जा सकता। काव्य का अनुवाद और वह भी कविता में, एक कठिन कार्य है क्योंकि कविता का अनुवाद मात्र भाषांतर करना नहीं होता। वह एक नवीन काव्य-रचना ही होता है। शास्त्री जी के द्वारा किये गये अनुवाद भी ऐसे ही हैं। एक अनुवाद देखने योग्य है। रवीन्द्रनाथ की एक कविता है—

सौजन्य : श्री घनश्यामदास बेहरीवाल, १६७, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ००७

बहु दिन धरे, बहु क्रोश दूरे
बहु व्यय करि, बहु देश घूरे
देखते गियेछि पर्वतमाला, देखते गियेछि सिंधु
देखा हय नाइ चक्षु मेलिया
घर हते शुधु दुइ पा फेलिया
एकटि धानेर शिषेर उपरे एकटि शिशिर बिन्दु।

शास्त्री जी का अनुवाद है :

बहुत दिनों तक बहुत खर्च कर
देश-देश में दूर दूरतर
गया देखने पर्वतमाला, गया देखने सिंधु
किंतु न देखा कभी आँख भर
घर से केवल दो कदमों पर
एक धान की बाली ऊपर एक ओस का बिन्दु।

यदि यह बताया नहीं जाय कि यह किसी अन्य कविता का अनुवाद है तो सहृदय को इसका तनिक भी आभास नहीं होगा। रवीन्द्रनाथ की कल्पना में दो अंश हैं— 'बहु क्रोश दूरे' और 'बहु देश घूरे' अर्थात् 'बहुत दूर तक' और 'बहुत देशों में'। विचारणीय है कि बहुत दूर तक घूमेगा तब तो वह बहुत देशों में घूमेगा ही, अतः इन दोनों बातों को अलग-अलग कहने की जरूरत नहीं है। इसलिए शास्त्री जी ने दोनों कल्पनाओं को एक में मिला दिया— 'देश-देश में दूर दूरतर'। इससे बिम्ब में अधिक कसावट आ गयी। दूसरा चमत्कार शास्त्री जी ने अंतिम पंक्ति में दिखलाया है। रवीन्द्रनाथ की कविता में एक वाक्य-खंड है— 'धानेर शिषेर उपरे'। इसके लिए शास्त्री जी ने लिखा है— 'एक धान की बाली ऊपर'। शास्त्री जी ने 'बाली' शब्द का प्रयोग कर बिम्ब को और साफ तथा सुरम्य बना दिया।

शास्त्री जी की कविताएँ प्रसन्न मन का सहज उच्छलन है जो सहृदय को अपने भावलोक में विचरण कराती हैं। शास्त्री जी जितने सधे हुए आलोचक हैं, उतने ही सिद्ध कवि। राजशेखर ने ठीक ही लिखा है कि जो कवि आलोचक भी होता है, वह कभी अधम दशा को प्राप्त नहीं होता—

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्।।

शास्त्री जी ने जो भी लिखा है, सब खूब जमकर लिखा है। उनकी किसी भी रचना में चलतापन नहीं है, सब में रमतापन है। उन्होंने जल्दीबाजी में कुछ नहीं लिखा है, जो भी लिखा है, सब आसनस्थ होकर लिखा है। यह भी उनके व्यक्तित्व की ही विशेषता है। गृहीत कार्य, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, साहित्यिक हो या साहित्येतर, सबको समान भाव से पूर्ण निष्ठा से सम्पादित करना शास्त्री जी के व्यक्तित्व की एक दुर्लभ विशेषता है जो उनके लेखन में भी उतर आयी है।

शास्त्री जी की शैली की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह मर्मस्पर्शिनी सूक्तियों से जगमग है। सूक्तियाँ रचनाओं में वही काम करती हैं जो काम स्वर्णाभूषणों में जटित होकर रत्न करते हैं। सूक्तियों की रचना करने में

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स् (इण्डिया) लि०, ६, लायन्स रेंज, कोलकाता-७०० ००१

वही समर्थ होता है जो अनुभव से परिपक्व और भाषाधिकार से सम्पन्न होता है। ऐसे प्रौढ़ कृतिकार के विमल मानस से उत्पन्न सूक्ति (सु+उक्ति) रचना को शोभामंडित कर देती है। शास्त्री जी के सभी प्रकार के लेखन में सूक्तियों की भरमार है जो उनकी चिंतना और भाषा की प्रौढ़ि का परिचय देती है।

शास्त्री जी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व ऐसा है कि उस पर लिखनेवाले को पर्याप्तता की कभी प्रतीति नहीं हो सकती। अतः एक व्यक्तिगत अनुभव की बात कहकर मैं इस लेख को समाप्त करना चाहूँगा क्योंकि उसे कहे बिना कथन अधूरा रहेगा। शास्त्री जी की रचनाओं को मैं समय-समय पर पढ़ता रहा हूँ किन्तु उनपर लिखने के लिए जब मैं उन्हें पढ़ने लगा तो उनमें इतना खो गया कि मैं भूल ही गया कि मुझे लिखना है। शास्त्री जी की रचनाएँ इतना आकृष्ट कर लेती हैं कि उनपर लिखने के लिए जो तटस्थता अपेक्षित है, वह नहीं रह पाती है। यही शास्त्री जी के लेखन की सफलता, श्रेष्ठता एवं अद्वितीयता है। इत्यलम् ! ●

पुष्करलाल केडिया

सभी के अपने शास्त्री जी

परम् श्रद्धेय आचार्य श्री विष्णुकान्तजी शास्त्री के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर अमृत महोत्सव का आयोजन कर उनके प्रति श्रद्धा सम्मान अर्पित किया जा रहा है, यह गौरव की बात है। श्री शास्त्रीजी से मेरा विगत तीन दशकों का सम्पर्क है। मुझे उनसे सदैव सेवा कार्यों में लगे रहने की प्रेरणा मिली है एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। भारतीय संस्कृति के वैज्ञानिक गूढ रहस्यों पर आधारित मेरे विचारों के लिए सदैव उन्होंने मेरी पीठ थपथपाई है और प्रेरित किया है।

आम का फल अपना मीठा स्वाद देने के लिए वृक्ष पर नीचे की ओर लटका रहता है। जो व्यक्ति महान होते हैं वे इसी का अनुसरण करते हैं। मैंने आदरणीय शास्त्रीजी को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में 'शिक्षा प्रेमियों के नाम एक पैगाम' लेख प्रेषित किया, उन्होंने गरिमामय पद पर रहते हुए जो पत्र मुझे भेजा, वह मेरे जीवन का एक अनमोल धरोहर बन गया। राज्यपाल के लेटर पैड पर उन्होंने जो जबाब भेजा, वह अविस्मरणीय है। इसी महान गुण के कारण भगवान श्री नारायण की तरह सभी के दिलों में बसे हैं परम आदरणीय श्री विष्णुकान्तजी शास्त्री।

मेरा शत् शत् नमन् ! ●

सौजन्य : Jagdish Chandra N. Mundra, 7D, Lansdown Heights, 6, Lansdown Road, Kolkata-20

डॉ० विद्याविन्दु सिंह

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का भारतीय मन

भारत की संस्कृति, साहित्य, दर्शन के मर्म को समझकर अपने जीवन-व्यवहार में उतारने वाले चिन्तक, मनीषी व्यक्तित्व का नाम है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एक मर्मज्ञ विद्वान, सहृदय, कुशल राजनीतिज्ञ हैं, भक्ति के मर्म को समझने वाले साधु पुरुष हैं। उनका व्यक्तित्व और व्यवहार उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। शास्त्रों में कहा गया है कि 'मनुष्य का जन्म लेना सहज है पर मनुष्य बनने के लिए तप करना पड़ता है।' यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने यह तप किया है और वे सच्चे अर्थों में मानव कहे जाने के योग्य हैं। उन्होंने जीवन के क्षेत्र को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया है। राजनीति में रहकर भी उसके तमस और मालिन्य से कमल-पत्र जैसे निर्लिप्त रहने की उनकी कोशिश भी जीवन की एक चुनौती है। वे वरेण्य साहित्यकार के रूप में पूरे विश्व में जाने जाते हैं। साहित्य जगत में भी तमाम वादों एवं गुटों से निरपेक्ष रहते हुए वे अपनी अलग छवि और एक विशिष्ट पहचान रखते हैं। फिर भी सभी विचारधाराओं के साहित्यकारों से उनकी आत्मीयता एवं सौहार्द भाव है। वह सबके प्रिय हैं, सबके आदरणीय हैं।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी एक जागरूक पाठक हैं, विद्याव्यसनी हैं, विचारक हैं। उनका एक भी पल अध्ययन, मनन व विचारणा के बिना नहीं कटता। महामहिम राज्यपाल जैसे उच्च पद पर रहते हुए नाना प्रकार के कर्त्तव्य-बोधों, चिन्ताओं, तनावों के बीच भी वे पढ़ते रहते हैं। वे अध्ययन के लिए सही चयन करके पढ़ते हैं। यह चयन का विवेक भी व्यक्ति के संस्कार, रुचि, प्रतिभा और स्वभाव पर निर्भर करता है।

आगन्तुकों से मिलने की निर्धारित अवधि में भी कोई न कोई पुस्तक उनके समक्ष खुली रहती है। एक-एक अभ्यागत से मिलकर उसकी समस्या को सौहार्दपूर्वक सुनते हैं और उसका धर्मसंगत, न्यायसंगत समाधान सुझाते हैं। यदि करणीय है तो उसके कार्य का आश्वासन देते हैं वरना उसकी संभावना को बताते हुए ईमानदारीपूर्वक विनम्र, स्पष्ट शब्दों में स्थिति स्पष्ट कर देते हैं। एक अभ्यागत के जाने के बाद दूसरे के बुलाये जाने के अंतराल में वह सामने खुले ग्रंथ का अध्ययन करते रहते हैं। उनकी समय के महत्त्व की यह चेतना अत्यन्त प्रेरक है।

आचार्य शास्त्री जी मन से अध्यापक हैं। गुरु, कर्म को वह तप मानते हैं और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। उनके शिष्य पूरे विश्व में हैं। अपने शिष्यों के प्रति उनका हार्दिक वात्सल्य भाव है तथा उनके उत्कर्ष की वह निरंतर कामना करते हैं। उनका साहित्यकार मन सहज संवेदनशील है। साहित्य के चिरंतन शिव भाव पर निरंतर उनकी दृष्टि रही है। वे मानते हैं कि साहित्य ही समाज को सत्पथ दिखाता रहा है और आगे भी वही मार्ग प्रशस्त करने में सक्षम होता रहेगा। साहित्य समाज को परिवर्तन के लिए भी सचेत करेगा और परिवर्तन का सद्विवेक भी देगा। साहित्य ही अपनी जमीन से जोड़कर आँधी आँधियों में हमारे पाँवों को टिके रहने की शक्ति देगा, ऐसा उनका विश्वास है।

सौजन्य : गीता मन्दिर ट्रस्ट, १, मल्लिक स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७

शास्त्री जी अपने इष्टदेव प्रभु श्री राम के आराधक तुलसी के भक्त हैं। वह गोस्वामी तुलसीदास की तेजस्विता को आधुनिकता की चुनौती के रूप में स्वीकार करते हैं। वह राम के नाम के माहात्म्य के साथ ही राम के कार्य और उनके चरित्र के औदात्य को मानव के लिए कल्याणकारी मानते हैं। तुलसीदास की विचारणा के उन विशिष्ट बिन्दुओं को शास्त्री जी ने अपने निबन्धों में रेखांकित किया है जो किसी भी देश काल के लिए शाश्वत मूल्य रखते हैं। तुलसी का मनोरथ विश्व कल्याण था, सम्पूर्ण सृष्टि को सियाराममय देखने की उनकी जो दृष्टि थी उसका सम्यक् विवेचन शास्त्री जी ने बड़े प्रभावी ढंग से किया है। उनके निबन्धों को पढ़कर गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि सहज समझ में आने लगती है।

'तुलसी के हिय हेरि' ग्रंथ में आचार्य जी ने तुलसी और कबीर की आंतरिक समरसता को उजागर किया है। उन पर बंगला साहित्य का भी गहरा प्रभाव है। रवीन्द्रनाथ टैगोर और तुलसी की विनय भावना के आंतरिक भाव साम्य की उन्होंने विवेचना की है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के विचारों का भी उन्होंने गहन मंथन किया है। उनकी रचनाओं तथा जीवन व्यवहार में उनके प्रभाव को देखा जा सकता है। संस्कृत साहित्य व संत साहित्य के वे मनीषी अध्येता हैं और उनका अध्ययन उनके लेखन और व्याख्यान दोनों में प्रतिबिम्बित होता है।

आचार्य शास्त्री जी की कृतियों में 'ज्ञान और कर्म' ग्रन्थ इस दृष्टि से बहुचर्चित रहा कि उसमें 'ईशावास्योपनिषद्' के व्यापक भाव की सहज और संक्षिप्त विवेचना है। यह ग्रंथ उनके क्रमिक प्रवचनों का संग्रह है। इसमें उपनिषद, वेदान्त, ब्रह्म विद्या आदि की विस्तृत व्याख्या है। आत्मतत्त्व को समझने की सहज पद्धति और आत्मतत्त्व का पुनः निरूपण करके इस गूढ़ विषय को सबके लिए सहज किया गया है। इसमें आधुनिक विज्ञान के आणविक विश्लेषण पद्धति के परिणाम के विषय में विशद विवेचन है। सृष्टि-नियन्ता प्रकृति व परम ब्रह्म की शक्ति का दिग्दर्शन कराते हुए जो विवेचन इसमें प्रस्तुत है उससे ईश्वर के प्रति आस्था सुदृढ़ होती है। इसी ग्रंथ में आत्मज्ञानी की महिमा का बखान है और मोह तथा अज्ञान को शोक का कारण बताते हुए उनसे बचने का मार्ग भी स्पष्ट किया गया है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का मन एक भक्त का मन है। उन्होंने 'भक्ति एवं शरणागति' नामक अपने निबंध में 'भक्ति' व 'शरणागति' नामक अपने निबन्ध के मर्म की गहन व रोचक व्याख्या की है। इसमें भक्ति की भूमिका सरल भागवत धर्म, भक्ति के विभिन्न स्वरूप, नवधा भक्ति आदि का दिग्दर्शन है। निर्गुण-सगुण भक्ति दोनों के अभेद भाव को भी निरूपित किया गया है। शरणागति के भेदों का भी उल्लेख करते हुए शरणागत की सहज साधना और उसके महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इन निबन्धों को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि उनका मन शरणागति की चरम-अवस्था को प्राप्त कर चुका है। उनके स्वभाव की विनम्रता, सबके प्रति स्नेह-आशीर्वाद भाव आदि उनके व्यवहार को देखते हुए यह बात प्रमाणित भी होती है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का संस्मरणात्मक निबन्ध संग्रह 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' मानवीय संवेदना के चरम-भाव की अभिव्यक्ति है। ये निबन्ध सिद्ध करते हैं कि मनुष्य किसी भी देश, काल और परिस्थिति में हो, सबसे पहले वह मनुष्य होता है। रंग भेद, जाति भेद, स्थान भेद, धर्म भेद, भाषा भेद व्यक्ति के आत्मीय भाव के आगे व्यर्थ व छोटे हो जाते हैं। मनुष्य का हृदय परस्पर संवेदनाओं से जुड़ना चाहता है, मैत्री भाव चाहता है। इसलिए यात्राएँ इस सर्वात्म भाव की पहचान के लिए होती हैं। उनके निबन्धों में पीढ़ियों से बिछुड़े प्रवासी भारतीयों के लिए आत्मीयता की पुकार है और उनकी आत्मीयता पाकर गद्‌गद् होने का भाव भी है।

सौजन्य : निवारी बन्धु, कोलकाता / कानपुर

भारत की संस्कृति को अपने जीवन-व्यवहार में जीने वाले प्रवासी भारतीयों के प्रति उनके मन में कृतज्ञता का भाव है। उनसे बार-बार मिलने की ललक है। एक ओर अपनी भारतीय संस्कृति के प्रति भारत में होने वाली उपेक्षा की पीड़ा भी इन निबन्धों में है तो दूसरी ओर प्रवासी भारतीयों ने भारत की परम्परा व सांस्कृतिक विरासत को जिस आत्मीयता से सहेज रखा है, उसके प्रति अपार श्रद्धा का भाव भी है।

अपने संस्मरणों में उन्होंने एक-एक क्षण के अनुभव को विराट् भाव से जोड़ते हुए सहानुभूति को सर्वानुभूति के रूप में सबके लिए सहज बना दिया है। आचार्य शास्त्री जी अपने पूर्वज साहित्यकारों, सन्तों, मनीषियों और विचारकों के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता का विनम्र भाव रखते हैं। उन्हें अपना गुरुजन मानते हैं। उनकी विनम्रता भरे हुए बादल और फलों से लदे वृक्ष की विनम्रता है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी साहित्य की वाचिक परम्परा और सांस्कृतिक विरासत को भी महत्त्व देते हैं। लोकगीतों व लोक कथाओं की करुण संवेदना उनके हृदय को रससिक्त करती है। विशेषकर रामकथा से जुड़े गीतों में राम और सीता की पीड़ा को समझने वाले लोकमन के प्रति वे श्रद्धा से विगलित हो उठते हैं। भक्त की जो पहचान शास्त्रों में बतायी गयी है, उसमें एक यह भी है कि श्रवण-कीर्तन से भाव विभोर, अश्रु-विगलित होने तथा कंठावरोध हो जाने वाला मन भक्त का ही हो सकता है। शास्त्री जी के इस भक्त रूप का दर्शन मैंने कई बार किया है।

आचार्य शास्त्री जी ने अपना एक ग्रंथ अपनी स्व० पत्नी श्रीमती इन्दिरा जी को समर्पित करते हुए लिखा है कि 'दिवंगता पत्नी सुदर्शना इन्दिरा को–जिसने मुझे बनाने के प्रयास में अपने को मिटा दिया' उनका यह समर्पण करुण-रस के श्रद्धा भाव का एक सजीव उदाहरण है। यह वाक्य नारी के प्रति उनके सम्मान-भाव को उजागर करता है। उन्होंने अपनी प्रिय सहचरी के विछोह की मर्मान्तक पीड़ा को भी सृजन की शक्ति बना लिया। प्रतिवर्ष उनकी गोलोकवासी सहचरी की पावन स्मृति में ऐसे प्रेरक आयोजन होते हैं जो वर्तमान और भावी पीढ़ियों को नारी की शक्ति की पहचान कराने की दिशा में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। पुण्यश्लोका श्रीमती इन्दिरा शास्त्री की स्मृति में कलकत्ता में श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के तत्त्वावधान में तेरह वर्षों तक एक वृहद आयोजन किया गया जिसमें बड़ी संख्या में छात्राएँ गीता का अध्ययन, मनन और प्रवचन करके प्रतियोगिता में भाग लेती रहीं। पिछले दो वर्षों से इस आयोजन को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करते हुए इसे 'इंदिरा विष्णुकान्त शास्त्री मातृशक्ति सम्मान' से विभूषित कर क्षेत्र-विशेष की विशिष्ट महिला को सम्मानित किया जाता है। इस आयोजन का मुख्य उद्देश्य यही है कि भारत की 'मातृशक्ति' भारतीयता की पहचान बनाये रखे और भारतीय संस्कृति की निरन्तर संवाहक बनी रहे।

अपने प्रिय की स्मृति के दुःख को शक्ति बनाकर सबको शक्ति देने का यह प्रयोजन सचमुच स्पृहणीय है और इसके लिए समाज को आचार्य जी का कृतज्ञ होना चाहिए। ऐसे प्रेरक व्यक्तित्व सबको प्रेरणा दें, यही शुभकामना है। ईश्वर करे उनकी वरद छाँह, सत्य का मार्ग खोजने वालों पर बनी रहे। प्रभु श्री राम से प्रार्थना है कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी स्वस्थ व शतायु हों, उनकी वैचारिक, राजनैतिक और साहित्यिक सक्रियता निरन्तर बनी रहे, जिससे कि उसके प्रकाश में वर्तमान व भावी पीढ़ियाँ भारत की संस्कृति की पहचान और अपने समाज के कल्याण में सक्रिय भूमिका निभाने का मार्ग पाती रहें। आज का जड़ होता जा रहा समाज आस्था का सम्बल लेकर फिर से जीवन्त हो सकता है, शास्त्री जी का यह विश्वास प्रभु श्री राम फलित करें। ●

सौजन्य : शत्रुरंग भवन, आलापाड़ा, कोलकाता

मनु शर्मा

शरणागति का सुरक्षा कवच

'महामना के तीन निशान, हिन्दु, हिन्दी, हिन्दुस्तान' के इस नारे के माध्यम से हिन्दी की अस्मिता की रक्षा करने और जीवन के हर क्षेत्र में अंग्रेजी के वर्चस्व को निरन्तर विस्तार मिलने की चिन्ता से जिस व्यक्ति ने हम सबको इन दिनों अधिक झकझोरा है वे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल माननीय पं० विष्णुकान्त शास्त्री हैं। विगत दिनों वे किसी कार्यक्रम का उद्घाटन करने वाराणसी आये थे। उनका विचार है कि वह राष्ट्र गूंगा है जिसकी अपनी मातृभाषा नहीं है। पर हमारी एक मातृभाषा है, फिर भी हम हकलाने लगे हैं। हम दूसरे की मातृभाषा का दामन पकड़ते हैं और अपनी राष्ट्रीयता को निरन्तर घायल करते रहते हैं। आखिर क्यों?

ऐसा नहीं है, कि इस प्रश्न को शास्त्री जी ने इस सांस्कृतिक नगरी में ही उठाया हो। वे जहाँ भी रहते हैं विदेशी भाषा और विदेशी आचार उन्हें असह्य है। जब भी अवसर मिलता है, वे इसके विरुद्ध सावधान करते रहते हैं। राजभवन में भी इस सन्दर्भ में उन्होंने कई आदेश निकाले हैं, बिना इसकी परवाह किये, कि उनके कथन की क्या प्रतिक्रिया हो रही है, या लोग उनके बारे में क्या सोच रहे हैं। शास्त्रीजी जिसे उचित समझते हैं, उसे वे कहते और वैसा ही करते भी हैं।

भगवान में अपार आस्था, साहित्य और संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम, सत्य निष्ठा, कर्त्तव्य परायणता और राष्ट्र के प्रति पूर्ण समर्पण के मिले जुले रंगों से यदि कोई हँसता हुआ रेखांकन किया जाय तो वह चित्र विष्णुकान्त शास्त्री का ही होगा। उनकी राजनीति क्षेत्र की पहली उपलब्धि के समय जब वे कलकत्ता के जोड़ासाँकू क्षेत्र के प्रतिनिधि के रूप में बंगाल विधान सभा के सदस्य चुने गये थे, तो मैंने बधाई देते हुए उन्हें बड़ी आत्मीयता से उलाहना भी दिया था, कि यार साहित्य के क्षेत्र से तुम राजनीति में चले गये इसका मुझे दुख भी है।

उन्होंने तुरन्त आभार व्यक्त करते हुए लिखा था, कि हमारे-तुम्हारे सोच में मौलिक अन्तर है। तुम सोचते हो, कि हम जो करते हैं, अपनी प्रेरणा या इच्छा से करते हैं। उस कार्य के कर्त्ता हमीं हैं। पर हम सोचते हैं यह सब भगवत् कृपा से होता है। प्रेरणा उसी की है और कर्त्ता वही है। मैं तो मात्र 'करण' हूँ, 'निमित्त मात्र हूँ।' निमित्त मात्रं भव सव्यसाची।' मैंने अनुभव किया कि शास्त्री जी केवल गीता का पाठ ही नहीं करते, वरन् वे गीता को जीवन में जीते भी हैं।

जीवन के हर क्रियाकलाप को साक्षी भाव से देखना उनका प्रधान गुण है। इसीलिए मैंने शास्त्री जी को कभी दुखी नहीं देखा। 'जो दुख में न मलीन भई, औ सुख में कछुहू ना हरखाई' इसी स्थिति में वे सदा रहते हैं। हर स्थिति में प्रसन्न। उनके इस स्वभाव के मूल में है— 'जाहि विधि राखै राम ताहि विधि रहिए।'

एकबार राजभवन में उन्होंने इस पंक्ति का पूरा छन्द सुनाया था। छन्द सुनने के बाद मजाक के तौर पर मैंने तुक भिड़ाया कि और हर स्थिति में अट्टहास करिए।' फिर क्या था? हँसी का जैसे विस्फोट हुआ, मानो हास्य का कोई घड़ा एकदम फूट पड़ा हो। आज भी वह अट्टहास मुझे गुदगुदाता रहता है। मुझे ठीक याद है उस समय

सौजन्य : तिवाड़ी ब्रदर्स, कोलकाता

राजभवन की वह गम्भीरता उस हास्य में बह सी गयी थी। शायद किसी को याद रहा हो कि वह राजभवन में राज्यपाल का मिलन कक्ष है।

यों तो इस राजभवन में अनेक बार आया हूँ। कई राज्यपालों से साक्षात्कार भी हुआ है। एक ऐसे राज्यपाल से भी मिला हूँ, जो डंके की चोट कहते थे, कि मुझे हिन्दी नहीं आती। हिन्दी के अलफाज में समझ नहीं पाता हूँ, हिन्दी पढ़ पाना तो दूर की बात थी, हिन्दी की वर्णमाला भी उन्हें नहीं आती थी। बाकायदे उनकी तकरीरें फारसी लिपि में लिखी जाती थीं। इसके लिए उस समय एक विभाग की ही व्यवस्था की गयी थी। यह बात १९८५ के आसपास की है। उनसे मिलकर और हिन्दी की ऐसी दुर्दशा देखकर बड़ी पीड़ा हुई थी। स्पष्ट लगा था, कि उत्तर प्रदेश जैसे हिन्दी के बगीचे का माली किसी अरबी घोड़े को बना दिया गया है। उस समय बड़ी ग्लानि हुई थी। जिस राजभवन की गरिमा को कभी सरोजिनी नायडू और कन्हैयालाल मुंशी ऐसे लोगों ने महिमामण्डित किया हो, वहाँ मैं क्या देख रहा हूँ। दुर्भाग्य है कि राजनीति इन सब पर विचार नहीं करती, वह तो केवल मोहरा बैठाना जानती है।

पर शास्त्री जी ने आने के बाद यहाँ की फिज़ा ही बदल दी। हर क्षेत्र में हिन्दी का प्रयोग होने लगा। यहाँ तक कि किसी आदेश या परिपत्र में कोई अंग्रेजी का शब्द आ जाता, तो तुरन्त तत्सम्बन्धी अधिकारी को बुला कर बड़ी आत्मीयता और प्रेम से पूछा जाता, कि इस शब्द के लिए कोई हिन्दी का शब्द नहीं है क्या ?

अब तो राजभवन के वातावरण में हिन्दी की आत्मीयता है, संस्कृत की गम्भीरता है और है कविता की सुरभि। 'ज्यों केला के पात में पात-पात में पात त्यों शास्त्री जी की बात में बात-बात में बात' कविता की पंक्तियाँ उनके व्यक्तित्व में सार्थकता पाती हैं। अद्‌भुत् है उनकी स्मरण शक्ति।

शास्त्री जी घन्टों धारा प्रवाह कविता सुना सकते हैं, जीवन के हर सन्दर्भ की, 'क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति वेश' की। कबीर, तुलसी से लेकर नागार्जुन, मुक्तिबोध तक शायद ही ऐसा कोई स्थापित कवि हो, जिसे उनकी स्मृति ने अपनी मंजूषा में बन्द न किया हो। एक तो अनेक कविताएँ उन्हें याद हैं, फिर सन्दर्भ के अनुसार उनकी याददाश्त तुरन्त उसे प्रस्तुत भी करती है। इस तरह उनकी स्मृति दुधारी होने से दोनों ओर से धारदार है।

आज से लगभग ग्यारह वर्ष पहले जब मेरी पत्नी का निधन हुआ था, तब शास्त्री जी ने संवेदना व्यक्त करने मेरे घर पधारने की कृपा की थी। उस समय वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में थे। घन्टों गीता और हिन्दी की निर्वेद् भाव की कविताएँ सुनायी थीं। और परिस्थिति अनुकूल होते ही अपनी प्रकृति के अनुसार खिलखिला पड़ते थे, मानो मन हलका करने के लिए एक सिद्धतांत्रिक मंत्र पढ़-पढ़कर अपनी खिलखिलाहट का शीतल जल छिड़क रहा हो। आज भी लगता है, जैसे अर्जुन के विषाद को कृष्ण ने कुरुक्षेत्र में दूर किया था वैसे ही उस दिन मेरे विषाद को दूर करने स्वयं विष्णु पधारे थे।

शास्त्री जी से मेरा परिचय 'हिन्दी प्रचारक संस्थान', वाराणसी के माध्यम से हुआ था। हिन्दी प्रचारक संस्थान' हिन्दी प्रकाशन का एक प्रभावशाली संस्थान है, जिसका गौरवशाली इतिहास है। उसका मूल उत्स कलकत्ता में था और उसके सर्वेसर्वा श्री कृष्ण चन्द्र बेरी थे। जिन्हें शास्त्री जी बड़े भैया कहा करते थे।

मेरा सौभाग्य था, कि वह बड़े भैया मेरे भी बड़े भैया और मेरे निर्माता भी थे। शास्त्री जी की पहली पुस्तक 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' इसी संस्थान से प्रकाशित हुई थी। उस समय मैं इस संस्थान के साहित्यिक प्रकाशनों के सलाहकार के रूप में जुड़ा था।

इसी संस्थान से शास्त्री जी की दूसरी पुस्तक 'स्मरण को पाथेय बनने दो' भी प्रकाशित हुई। संस्मरणों की इस पुस्तक का नाम अज्ञेय की एक कविता पंक्ति थी। इन संस्मरणों की रोचकता से अधिक रोचक इस सम्बन्ध

सौजन्य : कलकत्ता काव्यकुञ्ज अड्डा, १५०बी, अहिरीटोला, कोलकाता

की एक बात है, कि जब भी श्री बेरी जी इस पुस्तक का नाम लेते थे तब 'स्मरण' की जगह वह मरण ही कहते थे, अर्थात् मरण को पाथेय बनने दो— ही उनके मुँह से निकलता था। शास्त्री जी से भी इसी नाम के साथ उन्होंने कई बार बातें की थीं। जब भी बेरी जी अपने ढंग से पुस्तक का नाम लेते थे शास्त्री जी ठहाका लगाते थे, पर कुछ कहते नहीं थे। अन्त में श्री बेरी जी की जिज्ञासा मुखरित हुई। उन्होंने शास्त्री जी से पूछा– "जब भी मैं पुस्तक का नाम लेता हूँ तुम हँस क्यों पड़ते हो ?"

शास्त्री जी ने हँसते हुए ही कहा— "आप हमेशा 'स्मरण' को 'मरण' कहते हैं। शायद इसलिए कि 'मरण' का स्मरण जीवन यात्रा के लिए सबसे अधिक सार्थक पाथेय है। जब तक व्यक्ति के मस्तिष्क में मरण का स्मरण रहेगा, तब तक वह कभी गलत काम नहीं करेगा।" यह शास्त्री जी की शालीनता ही कही जायेगी, कि उन्होंने अपने 'बड़े भैया' से कभी नहीं कहा कि आप मेरी पुस्तक का नाम क्यों बिगाड़ते हैं, या आप मेरी पुस्तक का नाम गलत क्यों उच्चारित करते हैं ?

विनम्रता, सहजता, शालीनता आदि शास्त्री जी के अनुकरणीय गुण हैं। चाहे वे किसी पद पर रहे हों, पर मैंने उनमें कभी अहंकार नहीं देखा और न यह अहंकार उनके पद की प्रतिष्ठा में आड़े आया। उनके आदर्श तुलसी हैं। 'राम सो बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो ? राम सो खरो है कौन, मों सो कौन खोटो?' शास्त्री जी तुलसी की तरह राम को सबसे ऊपर रखते हैं और स्वयं को सबसे नीचे तथा इन दो छोरों के बीच सारे संसार को मानते हैं। इसी भाव से वे जीवन को जीते भी हैं।

अहं ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है और प्रभु की शरणागति में सबसे बड़ा बाधक भी। अपने लेखों और भाषणों में यह बात वे बार-बार दुहराते हैं, इसी से वे बड़ी से बड़ी विपत्ति से भी पार हो जाते हैं।

अब आखिरी बात, पर कम महत्त्व की नहीं।

और किसी बात में भले ही न होऊँ, पर उम्र में तो मैं शास्त्री जी से बड़ा हूँ ही। इसलिए मैं स्वयं को शास्त्री जी का बड़ा भाई ही समझता हूँ। .....बात उन दिनों की है जब आत्मकथा श्रृंखला की मेरी दूसरी कृति 'द्रोण की आत्मकथा' प्रकाशित हुई थी। तब उसकी एक प्रति मैंने अवलोकनार्थ उनके पास कलकत्ता भेजी थी। उन्होंने तुरन्त अपनी प्रतिक्रिया लिखी। उसी के कुछ दिनों बाद वे काशी आये। बातों के क्रम में उन्होंने 'द्रोण की आत्मकथा' की चर्चा करते हुए उसकी प्रशंसा की और कहा कि ऐसा कोई उपन्यास हिन्दी में आना चाहिए जिसमें महाभारत काल का सामाजिक संघर्ष, संत्रास और तनाव अपनी समग्रता में हो। ऐसी कोई कथाकृति हिन्दी में है नहीं।

मेरा उत्तर भी उन्हीं की मानसिकता के अनुकूल था। मैंने कहा— "सोचता तो मैं भी हूँ, पर जब तक भगवत् कृपा नहीं होगी, यह 'मेराथन दौड़' मुझसे नहीं दौड़ी जायेगी।" —उनका विश्वास था कि मैं अवश्य यह काम कर सकता हूँ। बात आयी गयी और खत्म हो गयी। इसके बाद मैंने दो उपन्यास और लिखे– 'कर्ण की आत्मकथा' तथा 'अभिशप्त कथा' पर शास्त्री जी की कही बात सदा मेरे मन में कौंधती रही।

और एक दिन वह आया जब मैंने 'कृष्ण की आत्मकथा' का लेखन शुरू किया। धीरे-धीरे उसके आठ खण्ड प्रकाशित हुए। लगभग अठाइस सौ पृष्ठों का एक भारी भरकम उपन्यास हिन्दी जगत में आया। शास्त्री जी की आकांक्षा पूरी हुई या नहीं इसका निर्णय तो काल देवता ही करेगा।

पर एक बात तो निश्चित हुई। मेरी जानकारी में हमेशा बड़े भाई का आशीर्वाद छोटे भाई को लगा है, पर मेरे सन्दर्भ में यह छोटे भाई का आशीर्वाद बड़े भाई को लगा था। जिसका जिक्र मैंने अनेक बार किया है और आज भी इस बात को छोड़ नहीं पा रहा हूँ। ●

सौजन्य : स्मृति (सांस्कृतिक संस्था) पाण्डु नगर, मुख्य गुरु मार्ग, कानपुर

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

संत मिलन सम सुख जग नाहीं

शास्त्री जी से मेरी पहली भेंट कब और कहाँ हुई थी, इसका ठीक ठीक स्मरण नहीं है। मगर अब इतने लम्बे समय और इतनी मुलाकातों के बाद यह अनुभव कर रहा हूँ कि उनसे प्रथम मिलन अवश्य ही मेरे संचित पुण्यों का फल था। 'रामचरित मानस' के 'उत्तर काण्ड' में गरुड़ ने सात अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये हैं जिनके उत्तर काकभुशुण्डि ने दिये हैं। प्रश्न जितने ही गंभीर और संक्षिप्त हैं, उत्तर उतने ही संतोषप्रद और सूक्तिमय। गरुड़ पूछते हैं— "बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संछेपहिं कहहु बिचारी।" काकभुशुण्डि उत्तर देते हैं— "नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं।" प्रश्न है— सबसे बड़ा दुख क्या है और सबसे बड़ा सुख क्या है ? उत्तर है— दरिद्रता के समान दुख नहीं है और संतमिलन के समान सुख नहीं है। काव्य के पारखी विचार करें कि उत्तर में कितनी कलात्मक ऊँचाई है। मनुष्य की सारी तर्कसरणि भंग हो गई है। जब सबसे बड़ा दुख दरिद्रता है तो सबसे बड़ा सुख सम्पन्नता होनी चाहिए। लेकिन तुलसी ठीक उल्टी बात कहते हैं अर्थात् सबसे बड़ा दुख तो दरिद्रता पर सबसे बड़ा सुख संतमिलन। तुलसी इसीलिए एक बड़े कवि हैं। तो शास्त्री जी से जब जब मेरी भेंट हुई है, संत मिलन जैसा सुख प्राप्त हुआ है। यहाँ मैं अपने लेखक-मन का एक पाप कह दूँ। वह यह कि यद्यपि रचनाकार के मूल्यांकन पर उसके निजी व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए (या कौन जाने पड़ना चाहिए— मैं अभी इस जटिल काव्यशास्त्रीय प्रश्न पर किसी अंतिम निर्णय तक नहीं पहुँच सका हूँ) पर मेरे मूल्यांकन प्रभावित हो जाया करते हैं। कारण यह कि मूल्यांकन करने वाला कहाँ से देख रहा है, उसी से मूल्यांकन का वृत्त बनता है। अगर हम रचनाकार की जिन्दगी को देख रहे हैं तो आखिर उसी आँख से तो उसकी रचना को भी देखना है। बहरहाल, इस लेख में मेरे लिए यह स्थिति नहीं है क्योंकि मैं शास्त्री जी की रचना को नहीं उनके व्यक्तित्व को ही देख रहा हूँ जिसके प्रति मेरे मन में बहुत भाव है।

शास्त्री जी की रचनाएँ – निबंध, यात्रावृत्त, संस्मरण, अनुवाद आदि – धर्मयुग प्रभृति लोकप्रिय पत्रिकाओं में पहले से पढ़ने को मिलती रहती थीं और उनसे दो एक बार पत्राचार भी हो चुका था पर उनसे ठीक से पहली बार मिलने की स्मृति १९७६ की ही उभर रही है। सितम्बर, १९७६। डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय जयपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे और उन्होंने वहाँ एक २० दिवसीय लेखक कार्यशाला आयोजित की थी। यह कार्यशाला कुछ कुछ आज के पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों जैसी थी जिसमें लेखकों-विद्वानों के विविध विषयों पर व्याख्यान होते थे। उस कार्यशाला या संगोष्ठी में शास्त्री जी भी आये थे। उसमें डॉ० नगेन्द्र, डॉ० निर्मला जैन, डॉ० रामदरश मिश्र, नागेश्वर लाल, गोपालकृष्ण कौल, तारकनाथ बाली वगैरह शामिल हुए थे। गोरखपुर से मैं और परमानन्द श्रीवास्तव थे। संयोग से हम हास्टल के जिस कमरे में रुके थे, उसके ठीक बगल में शास्त्री जी का कमरा था। उसी समय से मुझे ज्ञात है कि शास्त्री जी रोज प्रातः चार बजे उठ जाते हैं और एक घंटा नियमित योगाभ्यास करते हैं। शुद्ध शाकाहारी

सौजन्य : Shree Chandan Mal Dugar Memorial Trust, 5, Synagauge St. Kolkata-1

हैं। गर्मियों में धवल धोती और श्वेत कुरता धारण करते हैं। छत फाड़ ठहाके लगाते हैं। हृदय से निश्छल और विचार से निश्चल हैं। बोलते हैं ऐसे जिसको फूल झड़ना कहते हैं। और वाणी में आवेग ऐसा जैसे फूल भी गुलाब या बेला के नहीं, हरसिंगार के झड़ रहे हों। और अपने से उम्र में छोटों के प्रति आत्मीयता ऐसी कि पहली ही मुलाकात में 'तुम' संबोधन तथा व्यास शैली में अभिभावक जैसा कथन और व्यवहार। किसी निष्कपट हृदय को पहचानने में बहुत समय नहीं लगता। शास्त्री जी को मैं पहली मुलाकात के एक-दो रोज में ही पहचान गया।

बीस दिनों की संगोष्ठी किसी भी रचनाकार के लिए बहुत गरिष्ठ लग सकती है। मेरे लिए तो वह मेरे स्वभाव के ही विरुद्ध थी। मैं गोष्ठियों से अधिक जीवन को सीधे देखना और उससे कुछ ग्रहण करना चाहता हूँ। इसीलिए मैं जहाँ कहीं भी किसी साहित्यिक संगोष्ठी में गया, उसके आसपास के स्थानों के भ्रमण के ही आकर्षण में। और इसी तरह देखा है मैंने सम्पूर्ण भारत को। जयपुर के अलावे शेष राजस्थान को देखने की मेरी दिली इच्छा थी जिसके बारे में बचपन से पढ़ता और सुनता आया था। जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, शास्त्री जी का स्वभाव भी कुछ ऐसा ही है जिसके सटीक प्रमाण उनके यात्रा संस्मरण ही हैं। मुझे ठीक स्मरण नहीं है कि यह प्रस्ताव मेरा था या स्वयं शास्त्री जी का कि हम लोग एक सप्ताह ही गोष्ठी में रहें, फिर एक सप्ताह शेष राजस्थान का भ्रमण करें और पुनः लौटकर जयपुर से दिल्ली के लिए प्रस्थान करें। दिल्ली हम दोनों को जाना था। मेरे साथ परमानन्द जी भी थे जिन्हें प्रभु ने गोष्ठियों के लिए ही तैनात किया है, अतः वे तो गोष्ठी रस से विरत नहीं होना चाहते थे पर मेरे आग्रह पर वे भी साथ चलने को राजी हो गये, जैसा कि सबके आग्रह पर प्रायः हो जाया करते हैं। शास्त्री जी के संबंध शुरू से देश भर में और प्रतिष्ठित परिवारों से रहे हैं। उन्होंने जयपुर के एक व्यक्ति से कह कर एक एम्बेसडर कार (तब आज की तरह किसिम किसिम की गाड़ियाँ सड़क पर नहीं दौड़ रही थीं) माँगी और हम लोग जयपुर से उदयपुर के लिए रवाना हुए। वह भारत में इंदिरा गाँधी द्वारा लगाये गये आपात्काल का अंधकारमय समय था। शास्त्री जी ने बंगला के प्रसिद्ध कवि जीवनानन्ददास की कविता सुनाई— बंगला में भी और हिन्दी में भी। उस कविता की दो आरंभिक पंक्तियाँ मुझे आज तक नहीं भूली हैं :—

अद्भुत अंधकार उतरा है धरती पर आज
जो सबसे ज्यादा अंधे हैं वे ही देख रहे।

सबसे अच्छी कविता वह है जो बिना प्रयास के सहृदय की स्मृति की धरोहर बन जाय। आज के कवियों को जिनमें शायद मैं भी हूँ, इस पर विचार करना चाहिए। अगर कविता का कोई प्रयोजन है जैसा कि कवि कहते हैं तो पाठक की स्मृति उसकी कसौटी क्यों न हो ?

गाड़ी बढ़ रही है मेवाड़ की राजधानी, पहाड़ियों में बसी झीलों की सुन्दर नगरी उदयपुर की ओर और कार के भीतर शास्त्री जी की सरस्वती जाग्रत है। अनेक साहित्यिक प्रसंगों, अनेक हिन्दी-संस्कृत-बंगला कवियों की कविताओं से गाड़ी के भीतर का वातावरण राजस्थान के मरुथल में भी रसमय है। अपनी इस रसमयता (जिसे सहृदयता कहते हैं) और अपनी स्मृति के लिए शास्त्री जी सम्पूर्ण हिन्दी जगत् में विख्यात हैं। उन्हें न केवल पुराने कवियों की छन्दबद्ध रचनाएँ बल्कि नये से नये कवियों की अतुकान्त और गद्यात्मक रचनाएँ भी याद हैं। और कविता का पाठ तो वे ऐसे करते हैं कि स्वयं उस कविता का रचयिता भी जिसे सुनकर अभिभूत हो जाय। 'काव्यमीमांसा' कार प्रसिद्ध यायावरीय आचार्य राजशेखर ने लिखा है—

सौजन्य : Om Prakash Chandak, 55/1, Ballygunge Circular Road, Kolkata-700 019

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती।

अर्थात् संस्कारवान व्यक्ति प्रयत्न करके काव्यरचना तो कर सकता है पर उसका पाठ तो वही कर सकता है जिसे सरस्वती सिद्ध हो। इस अर्थ में शास्त्री जी को सरस्वती सिद्ध है।

राजस्थान की इस यात्रा में शास्त्री जी के साथ हम लोगों ने जयपुर के अलावा हल्दीघाटी, श्रीनाथ द्वारा, चित्तौड़गढ़ और उदयपुर की यात्रा की। इन इतिहासप्रसिद्ध स्थानों को शास्त्री जी बड़ी गंभीरता से निहार रहे थे। चित्तौड़गढ़ के किले में जब गाइड ने कहा, "इस वीरभूमि को प्रणाम करें बाबूजी, यहीं माँ पद्मिनी ने अगिन अस्नान किया था।" तो शास्त्री जी ने एक बार फिर दुहराया 'अगिन अस्नान'। मैंने कहा, मैंने पहली बार सुना है इस शब्द को। कितना पवित्र शब्द है। 'सती' और 'जौहर' के बारे में बहुत पढ़ा था पर कुछ शब्द जिन्हें इतिहास घिस नहीं पाता और जो लोकस्मृति में हजारों वर्ष बाद भी टटके रह जाते हैं उन्हीं में यह शब्द है— 'अगिन अस्नान'। ताजा खिले वन्य पुष्प की तरह। अछूते द्वीपों की खुशबू आती है जिनसे। १३०२ ई. में रानी पद्मिनी ने कई सौ क्षत्राणियों के साथ अग्नि स्नान किया था। चित्तौड़ पर अलाउद्दीन का कब्जा हो गया मगर पद्मिनी नहीं मिली— "छार उठाइ लीन एक मूठी। दीन उड़ाइ पिरथमी झूठी।" चित्तौड़गढ़ के बाद हम नाथद्वारा गये। मैंने देखा शास्त्री जी अपनी धवल धोती और श्वेत कुरते में श्रीनाथ जी की मूर्ति के सामने साष्टांग लेट गये। बिना भीतरी गहरी आस्था के यह संभव नहीं था। मुझमें शायद उतनी गहरी आस्था नहीं इसीलिए मैंने मूर्ति को खड़े खड़े हाथ जोड़े। हल्दीघाटी से कुछ पत्थर मैंने जरूर उठा लिये जो आज भी मेरे संग्रह में हैं। फिर हम लोग उदयपुर पहुँचे और रात में श्री नन्द चतुर्वेदी के अतिथि रहे। उनके बड़े से हालनुमा कमरे में जमीन पर ही सबका बिस्तर लगा। उदयपुर के सूचना केन्द्र में शास्त्री जी का एक व्याख्यान भी आयोजित हुआ जिसमें उन्होंने स्वाधीनता वगैरह की चर्चा करते हुए परोक्ष रूप से आपात्काल का विरोध किया। ये वे दिन थे जब कोई भी व्यक्ति शासन विरोधी कोई भी बात मुँह से निकालने की हिम्मत नहीं करता था। शास्त्री जी ने उस व्याख्यान में भी जीवनानन्द दास की 'अद्भुत अंधकार' शीर्षक कविता बंगला और हिन्दी दोनों में सुनाई। आस्था से साहस आता है। वही अभय करती है। शास्त्री जी की निर्भीकता में उनकी आस्था का बहुत बड़ा योगदान है।

१९७६ ई. को प्रथम मानकर चलूँ तो पिछले २८ वर्षों में शास्त्री जी से इतनी मुलाकातें हैं कि सबका विस्तार से जिक्र कर पाना कठिन है। २८ वर्ष कम नहीं होते हैं— वह भी तब जबकि हर मुलाकात में संबंध पिछले से प्रगाढ़तर होता जाय। फिर भी अभी मैं शास्त्री जी पर संस्मरण नहीं लिखना चाहता था। इलाहाबाद से प्रकाश त्रिपाठी 'वचन' पत्रिका का एक विशेषांक शास्त्री जी पर केन्द्रित कर रहे थे। उनके अति आग्रह को भी अपने विनीत दुराग्रह से मैंने टाला। लेकिन अब जबकि शास्त्री जी का अमृत महोत्सव मनाया जाना है मुझे अपने ही भीतर से आदेश मिला कि मैं अपने लेखक धर्म से च्युत हो रहा हूँ। किसी कनिष्ठ लेखक का और वह भी एक साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक का यह धर्म है कि वह अपने से वरिष्ठ लेखक के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करे और यदि वह उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो तब तो और भी। आरंभ में अपने लेखक-मन के जिस पाप का जिक्र मैंने किया है कि किसी लेखक के व्यक्तित्व और उसकी व्यक्तिगत जिन्दगी की छाया उसके मूल्यांकन के समय मेरे साथ लग जाती है, शास्त्री जी जैसे लेखकों के लिए ही है। इसीलिए मैं उनका मूल्यांकन नहीं कर रहा हूँ— उनके निष्कलुष व्यक्तित्व को अपने

सौजन्य : ओज प्रकाश सक्सेना, याक्ष इण्टरप्राईजेज, २८बी, शेक्सपीयर सरणी, १०वीं, मीलाम्बर बिल्डिंग, कोलकाता-१७

मन पर पड़ी छाप को ही लिपिबद्ध करना चाहता हूँ। यह मेरा अधिकार और कर्तव्य दोनों है। किसी के मन पर शास्त्री जी की ऐसी छाप नहीं है तो मैं उसकी स्वतंत्रता में भी दखल नहीं देना चाहता। इस संदर्भ में वाल्टेयर का यह अमर वाक्य मुझे बराबर स्मरण रहता है— "मैं भले ही आपके कहे हुए एक भी शब्द से सहमत न होऊँ परन्तु मैं मरने तक आपकी इस स्वतंत्रता की रक्षा करूँगा कि आप जो कुछ कहना चाहते हैं कह सकते हैं।"

२६ जुलाई, १९८० ई. को मैं कलकत्ता में था। शास्त्री जी कुछ अस्वस्थ थे। मैंने चन्द्रकान्त फोगला के यहाँ से फोन किया। शास्त्री जी ने तुरन्त घर पर बुलाया। मेरे साथ रामदेव शुक्ल और कृष्णपाल सिंह भी थे। हम उनके यहाँ गये। उन्होंने अपने पलँग पर ही बैठाया बहुत सी साहित्यिक बातें कीं। बंगला के कवि शंख घोष की कविता सुनायी जो उन्होंने कलकत्ता विधानसभा में पढ़ी थी। कविता क्रांतिकारी थी पर इस वक्त मुझे याद नहीं रही। उस समय शास्त्री जी कलकत्ता विधानसभा के सदस्य थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर तो थे ही। तब 'दस्तावेज़' नया नया शुरू हुआ था। मेरे भीतर ग्राहक बनाने और विज्ञापनों के लिए प्रयत्न करने का उत्साह था। शास्त्री जी 'दस्तावेज़' के तीसरे अंक (१९७९) के लिए बंगला कवि जीवनानंद दास, विष्णु दे और शमशुर्रहमान की कविताओं का अनुवाद मुझे दे चुके थे। मैंने उत्साह में उनसे विज्ञापन दिलाने के आग्रह भरे एक दो पत्र लिखे पर उनकी ओर से कोई उत्तर नहीं आया। मैं समझ गया शास्त्री जी शायद इस प्रकार के कार्यों में दिलचस्पी नहीं लेते।

१ अगस्त, १९८१ ई. को रवीन्द्रालय, लखनऊ में शास्त्री जी से भेंट हुई। ऐसे आत्मीय उत्साह से मिले जिसे भोजपुरी में 'धधाकर' मिलना कहते हैं। शास्त्री जी की यह अदा मन को मोहने वाली है। ये अपने पुराने परिचितों से दोनों बाहें फैलाकर लगभग आलिंगन की मुद्रा में मिलते हैं। उस दिन वे साथ ही बैठे। अगले दिन दिन भर साथ रहे। सायंकाल कुंवरनारायण जी उनको, शिवप्रसाद सिंह को और मुझे गोष्ठी से ही अपने घर ले गये। तब कुंवर जी महानगर के अपने मकान में रहते थे जिसका नाम उन्होंने रखा था— 'विष्णु कुटी'। वहाँ भी शास्त्री जी ने शंख घोष की वह कविता सुनाई। कुंवरनारायण ने भी 'अपने सामने' संग्रह से अपनी कई कविताओं का पाठ किया तथा 'इब्नबतूता' शीर्षक अपनी कविता की उन्होंने व्याख्या भी की। उसी समय 'अभिरुचि' (सं० विद्यानिवास मिश्र) के दूसरे अंक में कुंवरनारायण की कविता पर मेरा लेख छपा था। उस लेख से कुंवर जी संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने कहा, "आपने लिखने में मिहनत नहीं की है और मैं आपके निष्कर्षों से सहमत नहीं हूँ।" फिर साहित्यिक गुटबाजी वगैरह की चर्चा होने लगी। कुंवर जी बोले, "मैं मार्क्स की आइडियोलॉजी को आर्थिक लेवल (Level) तक ही ठीक मानता हूँ। रचना का लेवल अलग है।" शास्त्री जी, शिवप्रसाद जी और मैं उनके यहाँ से साथ ही लौटे। तीसरे दिन भी शास्त्री जी से हजरतगंज के सूचनाकेन्द्र में भेंट हुई। वहाँ उन्होंने फादर कामिल बुल्के से मेरा परिचय कराया जिनसे मिलने का मुझे पहली बार अवसर मिला था।

१४ जनवरी से १७ जनवरी १९८४ तक हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय में 'रचना के अनुवाद' पर संगोष्ठी थी। १४ जनवरी को सायंकाल शास्त्री जी ट्रेन से उतरे। उनके साथ कलकत्ते से नाट्यकर्मी डॉ० प्रतिभा अग्रवाल भी आई थीं। अतः स्टेशन पर नाटक से जुड़े लोग भी काफी थे। मैंने जब शास्त्री जी को नमस्कार किया तो अपनी उसी मोहक अदा में दौड़कर गले लग गये। फिर मेरे पैर का हाल पूछा। (कुछ दिनों पहले फिसल कर गिर जाने के कारण मेरे फीमर की हड्डी टूट गयी थी और उसके बाद शास्त्री जी पहली बार मिल रहे थे।) बोले, "तुमसे विश्वनाथ भाई, बहुत दिनों बाद मिल रहा हूँ। लेकिन तुम पहले की अपेक्षा कुछ चिकने-स्वस्थ लग रहे हो।

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाईबोर्ड्स् (इण्डिया) लि०, ६, लायन्स रेंज, कोलकाता-७०० ००१

में कैसा लग रहा हूँ, तुम बताओ।" मैंने कहा, "आप तो पहले जैसे ही हैं।" फिर शास्त्री जी कलकत्ता लौटने के बारे में पूछने लगे। मैंने लौटने के लिए ट्रेन आदि का कार्यक्रम बना दिया। बोले, "भाई विश्वनाथ जहाँ रहें वहाँ कार्यक्रम तुरन्त बन जायेगा और कोई असुविधा नहीं होगी।" उस यात्रा में शास्त्री जी सत्रह जनवरी तक साथ रहे। सत्रह को सुबह मैंने उन्हें बस पर बिठाया। अब इस समय मुझे ठीक ठीक स्मरण नहीं है कि उन्हें कहाँ जाना था और क्यों वे बस से गये। मेरी डायरी में इतना ही लिखा है कि मैंने उन्हें बस पर बिठाया। इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह है कि अपनी ५५ वर्ष की आयु में वे पहली बार गोरखपुर आये थे।

११ से १३ जनवरी १९८७। भारत भवन, भोपाल के 'समवाय' (आलोचना त्रैवार्षिकी) आयोजन में शास्त्री जी आये थे। पता नहीं कौन सी अपरिहार्य परिस्थिति अचानक घटित हुई (शायद भारत के राष्ट्रपति का निधन हो गया था) कि आयोजन एक दिन पहले ही खत्म कर दिया गया और आमंत्रित अतिथियों को पचास रुपये प्रति टाइम के हिसाब से भोजन के पैसे दे दिये गये। अशोक वाजपेयी की उदार और कुशल व्यवस्था में ऐसा निर्णय कैसे हो गया यह आश्चर्यजनक है। अब दिक्कत यह थी कि सब के वापसी आरक्षण तो पूर्वघोषित कार्यक्रम के अनुसार थे और सभी जहाँनुमा जैसे प्रसिद्ध महँगे होटल में टिकाये गये थे जहाँ पचास रुपये में तो दो वक्त की चाय भी मुश्किल से मिल सकती थी। और लेखक नामक प्राणी तो स्वभावतः कंजूस होता है। वह अपने पैसे से भोजन क्या पानी भी नहीं पी सकता। नामवर जी तो इस क्षेत्र में सिरमौर हैं। फिर पचास रुपये में भोजन कैसे हो? 'अब यही समस्या है दुरन्त। वीरों का कैसा हो बसन्त।' सो हम चार लोग शास्त्री जी, निर्मला जैन, परमानन्द श्रीवास्तव और मैं — जहाँनुमा से बाहर पैदल ही शहर में भोजन की तलाश में निकले। रात के आठ-नौ बजे थे। रास्ता पूछते हुए सड़क तक आये जहाँ एक टेम्पो मिला। उसे कहते हैं थ्रीव्हीलर और उसमें सवारियों की जगह भी तीन ही होती है पर दब दुबकर और अंधेरे का लाभ उठाते हुए उसमें बैठे हम चारों लोग। अशरीरी परमानंद जी के कारण कोई विशेष असुविधा नहीं हुई। वे किसी की गोद में सुरक्षित बैठ सकते हैं। अब संयोग देखिए, कि किसी सस्ते होटल की तलाश में सड़कों-गलियों से गुजरता हुआ टेम्पो जिस जगह पर रुका वहाँ सामने टेम्पो में से ही हम लोगों ने पढ़ा — 'कार्यालय भारतीय जनता पार्टी'। हम सबकी आँखें चमक उठीं और अन्तरतम में आशा का हिन्द महासागर लहराने लगा। 'भारतीय जनता पार्टी कार्यालय' का बोर्ड पढ़कर सबसे ज्यादा प्रसन्नता आज के मार्क्सवादी परमानन्द जी को हुई। शास्त्री जी खट खट सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उस कक्ष में पहुँचे जहाँ दो चार पार्टी कार्यकर्ता अब अपने अपने घर रवाना होने वाले थे। शास्त्री जी ने बड़ी शालीनता और मृदुता से अपना परिचय दिया —"मैं विष्णुकान्त शास्त्री हूँ। भारतीय जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यसमिति का सदस्य।" इतना सुनना था कि वे सभी कार्यकर्ता अपनी अपनी कुर्सियों से खड़े हो गये और उनमें से एक अपने से बड़े पदाधिकारी को दौड़कर बुलाने चला गया। उन लोगों ने तत्काल एक कार की व्यवस्था की। हम लोगों को एक ठीक-ठाक होटल में ले गये। भोजन करवाया और उसी गाड़ी से हम चारों को जहाँनुमा होटल छोड़ गये। मेरे पाठक, तो इस प्रकार शास्त्री जी के प्रताप से हम लोगों के पचास पचास रुपये हमारी जेबों में आज तक सुरक्षित हैं।

१३ से १५ दिसम्बर १९८७ ई. केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की व्याख्यान यात्रा के लिए मैंने पश्चिम बंगाल को चुना था और मुझे शांतिनिकेतन, वर्द्धमान और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में तीन तीन व्याख्यान देने थे। मैंने शास्त्री जी को पत्र लिखा। उन्होंने भारतीय भाषा परिषद के अतिथि गृह में मेरा निःशुल्क आरक्षण करा दिया। मैं १३ को

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

कलकत्ता पहुँचा। फोन किया। शास्त्री जी की पत्नी बीमार थीं। उन्हें शायद हार्ट अटैक हुआ था। १४ को वे विश्वविद्यालय आये। हिन्दी विभाग में मेरा व्याख्यान कराया। १५ को भी विभाग आये यद्यपि उनकी नाक पर चोट लगी थी और पट्टी बंधी थी। विश्वविद्यालय से वे मुझे साथ लेकर चित्तरंजन एवेन्यू आये और मुझे मेरे अतिथि गृह पहुँचाकर घर गये। उनकी यह सहजता और सदाशयता ही हर मिलने वाले को मुग्ध कर देती है।

११ मई १९८८ ई.। शास्त्री जी एक पी-एच.डी. की मौखिक परीक्षा लेने गोरखपुर आये। खाली होने के बाद मुझे साथ लेकर गोरखनाथ मंदिर गये। महंत अवेद्यनाथ से मिले। उस समय वे भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष थे। महन्त जी कुछ देर तक रामजन्मभूमि विवाद पर बातें करते रहे। फिर वह मेरे साथ गीताप्रेस गये और उसी दिन कलकत्ता वापस लौट गये। इस यात्रा में मैंने उनकी ठहाकेदार हँसी नहीं सुनी। उनके जाने के बाद इस अभाव का ख्याल आया। १/६/८८ का लिखा उनका पत्र मिला —"प्रिय विश्वनाथ जी, २७/५ को प्रातःकाल पत्नी कार्डिएक अरेस्ट के कारण सोये सोये ही चल बसीं। रामजी की इच्छा।" पिछली बार उनकी हँसी न सुन पाने का कारण समझ में आ गया।

५ - ७ मार्च १९८९ ई.। अज्ञेय प्रसंग में शास्त्री जी भोपाल गये थे। उस गोष्ठी में उन्होंने भारतीय संस्कृति की बड़ी तार्किक और संतुलित व्याख्या की। शास्त्री जी एक विलक्षण वक्ता हैं। न केवल हिन्दी बल्कि अन्य अनुशासनों के विद्वान और सामान्य प्रबुद्ध जन भी उनके व्याख्यान सुनने के लिए जाते हैं। शास्त्री जी इस समय हिन्दी के चार-छः वक्ताओं में एक हैं। वे विचारों की जुगाली नहीं करते, न उद्धरण बहुलता से अपने ज्ञान का आतंक जमाते हैं बल्कि आप्तग्रंथों से जो कुछ उद्धृत करते हैं उसको भी तार्किक और लोकव्यवहार सम्मत बनाकर। उनमें हीनताबोध बिल्कुल नहीं है। जो कुछ बोलते हैं पूरे स्वाभिमान के साथ और जो एक जगह बोलते हैं वही दूसरी जगह भी। नामवर जी की तरह मंच देखकर अपनी स्थापनाएँ नहीं बदला करते। उनके व्याख्यान फूल की तरह भारहीन और सुगंधि बिखेरने वाले होते हैं।

सितम्बर १९९६ ई.। शास्त्री जी उत्तर प्रदेश के आम चुनाव में भारतीय जनता पार्टी के प्रचार में दो दिनों के लिए गोरखपुर आये थे। स्टेशन पर जो राजनीतिक कार्यकर्ता उनके स्वागत के लिए गये थे उनसे उन्होंने मेरा नाम लिया और मिलने की इच्छा प्रकट की। उन लोगों ने फोन पर उनसे मेरी बात कराई। मैं अपने लड़के अनन्तकीर्ति के साथ उनसे मिलने गया। वे हम लोगों को साथ लेकर गोरखनाथ मंदिर गये। महंत जी से प्रसंगवश योगासन पर चर्चा की। उनसे योग पर पुस्तकें प्राप्त कीं। फिर उसी दिन विश्वविद्यालय में कविता के पाठ पर एक व्याख्यान दिया। शास्त्री जी के व्याख्यानों की यह भी एक विशेषता है कि जब वे साहित्यिक संगोष्ठियों में बोलते हैं तो एक शब्द भी पार्टी या राजनीति की चर्चा नहीं करते। जबकि मार्क्सवादी विद्वान बिना मार्क्सवाद और कम्यूनिस्ट पार्टी का पचास बार नाम लिये अपना व्याख्यान समाप्त ही नहीं करते। दूसरे दिन एक छोटी सी काव्यगोष्ठी या कहें कि साहित्यिक मिलन गोष्ठी थी। शास्त्री जी ने उस दिन 'तुलसी के हिय हेरि' तथा 'भक्ति और शरणागति' शीर्षक अपनी पुस्तकें भी भेंट कीं। यह तो सभी जानते हैं कि राम उनके इष्ट देव हैं और वे अति आस्थावान भक्त हैं। 'रामजी की इच्छा' या 'प्रभु कृपा' उनका तकिया कलाम है। उनका शायद ही कोई पत्र हो जिसमें इसका प्रयोग न किया जाता हो। इस बार मैंने लक्ष्य किया कि शास्त्री जी में एक विशेष प्रकार की तटस्थता आ गई है। यद्यपि प्रकृति से वे हृदयप्रधान भावुक व्यक्ति हैं पर वय और परिस्थितियों का प्रभाव भी तो पड़ता है।

सौजन्य : श्री घनश्यामदास बेहरीवाला, १६७, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ००७

१५ सितम्बर १९९८ ई.। संयोग से मैं लखनऊ में था और डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित ने बताया कि शास्त्री जी भी लखनऊ में हैं और उन्होंने मेरे वहाँ होने की भी उनसे चर्चा कर दी है। मैं गोमती होटल में उनसे मिलने गया। उस समय वहाँ नरेन्द्र कोहली बैठे थे। शास्त्री जी उसी तरह उठकर गले मिले। उन दिनों मैं गोरखपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष था। मैंने उन्हें पुनश्चर्या पाठ्यक्रम के लिए आमंत्रित किया। बोले, "अब तो मैं राज्यसभा सदस्य नहीं रहा। लेकिन आने-जाने की सुविधाएँ हैं। दो व्यक्तियों का रेलपास मिला है।" शास्त्री जी को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का लोहिया विशिष्ट पुरस्कार मिला था जिसे लेने ही वे लखनऊ आये थे। मैंने कहा, लोहिया जी ने राम, कृष्ण और शिव की अद्भुत व्याख्या की है। बोले, "मैं तो पुरस्कार के अवसर पर इसे ही कहने वाला हूँ।" उन्हीं दिनों मैंने ईशावास्योपनिषद् पर दिये गये उनके प्रवचनों की पुस्तक 'ज्ञान और कर्म' पढ़ी थी और मुझे वह बहुत अच्छी लगी थी। मैंने उसकी चर्चा की।

सितम्बर १९९९ ई.। मैं विश्व हिन्दी सम्मेलन में लन्दन जा रहा था। दिल्ली हवाईअड्डे पर ही शास्त्री जी से भेंट हो गई। बड़े ही उछाह से मिले। वह भी उसी जहाज से लन्दन चल रहे थे। वहाँ एक सप्ताह साथ रहा। कई बार तो शास्त्री जी के साथ मैं भी सभास्थल तक जो कि हमारे निवास से दो तीन किलोमीटर था पैदल ही गया। मध्य लन्दन की सड़क पर धोती कुर्ता पहनकर पैदल चलना किसी अंग्रेज के लिए कितना कुतूहल पैदा करता होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। शास्त्री जी को जानने वाले जानते होंगे कि उनको पैदल चलना कितना प्रिय है। वे स्वागत में आई हुई सवारियों को छोड़कर कई कई किलोमीटर पैदल ही चल देते हैं। लन्दन में दो दिन उनके साथ शहर भ्रमण भी हुआ। लन्दन की पार्लियामेंट के ठीक नीचे बहती टेम्स नदी के पुल पर हम लोगों के चित्र भी खींचे गये।

अप्रैल २००० ई. में हिमाचल विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० कुमार कृष्ण ने कबीर पर एक संगोष्ठी आयोजित की थी। उस समय शास्त्री जी हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल थे। इस गोष्ठी के पीछे भी उन्हीं की प्रेरणा थी। मैं उसमें जाना नहीं चाहता था। जब मैंने कुमार कृष्ण को फोन करके माफी माँगी तो उन्होंने कहा कि आप महामहिम से माफी माँगिये। उन्होंने आपका नाम खासतौर से लिया है। फिर रात को १० बजे मैंने हिमाचल प्रदेश राजभवन में फोन करके शास्त्री जी से माफी माँगी। तब भी अपनी ओर से उन्होंने कहा कि तुम आओ, पहुँचवाने का जिम्मा मेरा रहेगा।

२५ अगस्त २००० ई. को हिन्दी भवन, भोपाल में शास्त्री जी को पावस व्याख्यानमाला का उद्घाटन करना था। शास्त्री जी मंच पर जाने के पहले आधे घण्टे हम लोगों के बीच में रहे। वे राज्यपाल के रूप में जहाँ कहीं जाते हैं मंच पर चढ़ने के पहले या मंच से उतरने के बाद अपने पुराने परिचितों, मित्रों और वरिष्ठ साहित्यकारों से अवश्य ही मिलते हैं। इस अनिवार्यक्रम में वे अपनी सुरक्षा या प्रोटोकाल की कोई चिंता नहीं करते। सबसे सहज ढंग से सामान्य आदमी की तरह बात करते हैं, हालचाल पूछते हैं, फोटो खिंचवाते हैं। दरअसल उनके भीतर हीनताबोध रत्ती भर नहीं है।

३ नवम्बर २००० ई.। शास्त्री जी को हिमाचल प्रदेश से बदलकर उत्तर प्रदेश का और सूरजभान जी को उत्तर प्रदेश से हटाकर हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया। मैंने सायंकाल शिमला राजभवन फोन किया तो पता चला शास्त्री जी दौरे पर गये हैं। साढ़े नौ बजे रात में बात हुई। बोले, "यहाँ शांति थी, वहाँ तो

सौजन्य : श्री राजेश लाखोटी, १५/२सी, चेतला रोड, कोलकाता

राजनीति ज्यादा है।" मैंने उत्तर प्रदेश के अखबारों का विश्लेषण बताया कि "आपके सौम्य, शालीन और शांत व्यक्तित्व के कारण ही यहाँ बुलाया जा रहा है ताकि आपके और सरकार के बीच सम्बन्ध अच्छे बने रहें। सूरजभान जी की राजनीतिक गतिविधियों से सरकार के लिए शायद कुछ समस्याएँ पैदा हो रही थीं।" बोले, "मेरे यहाँ पहुँचने के पहले ही जाति की चर्चा होने लगी है। अखबारों ने छापा है कि शास्त्री जी कलकत्ते के ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। उत्तर प्रदेश में जाति पाँति की भावना ज्यादा प्रबल लगती है।"

१२ जनवरी, २००१ ई.। शास्त्री जी को उत्तर प्रदेश का राज्यपाल हुए दो महीने बीत गये थे। इस बीच मैंने न कोई पत्र लिखा न उनसे कहीं भेंट हुई। ११ जनवरी को जौनपुर से एक वाइवा (Viva) लेकर सायंकाल वाराणसी लौटा तो पता चला कि वहाँ अगले दिन शास्त्री जी के कई कार्यक्रम हैं। एक कार्यक्रम ठाकुरप्रसाद सिंह की मूर्ति के अनावरण का भी है जिसमें मैं भी निमंत्रित था। सोचा एक दिन रुक कर शास्त्री जी से यहीं भेंट कर ली जाय। उनके राज्यपाल होने के बाद यह पहली भेंट होगी। अगले दिन मैं स्व० ठाकुरप्रसाद सिंह वाले कार्यक्रम में तो न जा सका पर सायंकाल कृष्णचन्द्र बेरी ने अपने यहाँ एक साहित्य सन्ध्या का आयोजन किया था, उसमें गया। बेरी जी शास्त्री जी के प्रकाशक तो थे ही, उनसे उनके पारिवारिक रिश्ते थे। शास्त्री जी कार्यक्रम में साढ़े पाँच बजे पहुँचे। मैं अगली ही पंक्ति में था। मुझे देखते ही पास आकर पूछा, "तुम यहाँ कैसे ?" मैंने कहा, "आप ही से मिलने के लिए आज रुक गया"। फिर और लोगों से मिले। बहुत अच्छा व्याख्यान दिया। बोले, "रूप और स्वरूप में अन्तर होता है। रूप बदलता रहता है, स्वरूप नहीं बदलता। उसके बदल जाने से वस्तु ही बदल जाती है।" शास्त्री जी के पूर्वज जम्मू से वाराणसी आये थे। उनके पिता पं० गंगेय नरोत्तम शास्त्री वाराणसी से कलकत्ता गये। शास्त्री जी ने कहा, "मैं मन से अपने को बंगाल का बुद्धि से वाराणसी का और चित्त से जम्मू का डोगरा मानता हूँ जबकि अहंकार तो पूरे भारत का है।" वैसे शास्त्री जी में यदि कोई एक चीज़ नहीं है तो वह है अहंकार। राज्यपाल जैसा पद भी उनमें यह भाव नहीं पैदा कर सका। वृद्ध और पार्किंसन रोग से ग्रस्त बेरी जी ह्वील चेयर पर बैठे थे। वे शास्त्री जी को माला पहनाना चाहते थे। शास्त्री जी उठकर स्वयं उनके पास चले गये। सिर झुका दिया और माला पहन ली। बेरी जी जब शास्त्री जी के बारे में पुराने दिनों की स्मृतियाँ सुनाने लगे तो शास्त्री जी के चेहरे पर शिशु के समान निश्छल मुस्कान थी और वे बड़ी उत्सुकता से उसे सुन रहे थे। मुझे प्रेमशंकर त्रिपाठी ने शास्त्री जी की कविताओं का एक सम्पादित संग्रह भेंट किया था। मैंने कहा, "अपनी कविताएँ सुनाइये।" पर उन्होंने नागार्जुन की कविता सुनाई। समारोह के बाद फिर मेरी ओर मुखातिब हुए। बोले, "मैं गोरखपुर ३ फरवरी को आ रहा हूँ। थोड़ी देर शिवप्रताप शुक्ल की कन्या के विवाह में रहूँगा और एक औषधालय का उद्घाटन करूँगा।" इन दोनों कार्यक्रमों में वे आये भी पर मुझसे भेंट नहीं हुई। डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने बाद में बताया कि वे तुम्हें पूछ रहे थे। लखनऊ लौटकर ५ फरवरी को मेरे पूर्व पत्र का उत्तर देते हुए शास्त्री जी ने लिखा कि वे १५/१६ फरवरी को गोरखपुर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में रहेंगे और उसमें निश्चित भेंट होनी चाहिए। उस समारोह में मैं प्रथम पंक्ति में ही बैठा था। विद्वत् परिषद का प्रोसेसन मेरे सामने से ही गुजरा और वापस लौटा। शास्त्री जी ने जाते और लौटते दोनों समय हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए अपना विशेष स्नेह दिया जिसे आसपास के लोगों ने भी देखा। गोरखपुर विश्वविद्यालय के २२ दीक्षान्त समारोहों के इतिहास में यह पहला अवसर था जब किसी कुलाधिपति ने लिखित भाषण न पढ़कर मौखिक वक्तव्य दिया था। वक्तव्य इतना प्रभावशाली था कि पांडाल में बैठे सभी लोगों

श्रीजव्य : I. D. Dhayawala, Navjoy Emporium (P) Ltd., 303, Swaika Centre, 4A, Pollock Street, Kolkata-1

ने अपने को धन्य अनुभव किया। कुछ लोग कागज कलम लेकर नोट्स लेते भी देखे गये। शास्त्री जी ने संस्कृत श्लोकों और उर्दू-शेरों के बीच एक संक्षिप्त पर धाराप्रवाह व्याख्यान दिया। उस दिन पूरे नगर में उन्हीं के व्याख्यान की चर्चा थी। अपने व्याख्यान में उन्होंने किसी भी कार्य को सफलता के लिए 'धीरज' और 'सम्यक् दृष्टि' पर जोर दिया। दीक्षान्त के बाद कुलपति के यहाँ भोजन था। भोजन पर मुझे देखते ही मेरे कंधे पर हाथ रखकर थोड़ी दूर चलते रहे। मैंने १५ मिनट का समय अलग से माँगा तो तुरन्त अपने ए.डी.सी. से कार्यक्रम का पता करके अगले दिन प्रातः ९ बजे का समय दिया। अगले दिन नियत समय पर मैं अपने लड़के अनन्तकीर्ति के साथ सरकिट हाउस पहुँचा। शास्त्री जी का यह मिलना इतना अद्‌भुत है कि इसे मैं जीवन भर नहीं भूल सकता। कमरे में मेरे घुसते ही वे सोफे से खड़े हो गये। शास्त्री जी मुझसे उम्र में ग्यारह वर्ष बड़े हैं। मैं उसी विश्वविद्यालय का एक अध्यापक जिसके वे कुलाधिपति। एक राज्यपाल का प्रोटोकाल अलग से। ऐसे व्यक्ति का एक सामान्य आदमी से इस प्रकार मिलना अपूर्व था। परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनमें इतना सम्मान मुझे शायद ही इसके पूर्व कभी मिला हो। मुझे शास्त्री जी का ही एक मुक्तक याद आया :-

बड़ा काम कैसे होता है? पूछा मेरे मन ने
बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय मृदुवाणी।
किन्तु अहं छोटा हो जिससे सहज मिलें सहयोगी
दोष हमारा, श्रेय राम का, यह प्रवृत्ति कल्याणी।।

बड़ा आदमी वह होता है जिससे मिलने वाला अपने को बड़ा महसूस करने लगे। शास्त्री जी सचमुच बड़े हैं। उन्होंने मेरे लड़के से कहा, "तुम भी अपने पिता के चरणचिह्नों पर चलना। मैं तुम्हारे पिता को बहुत प्यार करता हूँ। ये मेरे अत्यन्त प्रिय हैं।" मैंने उन्हें 'आत्म की धरती' और 'कविता क्या है' (१९९९ में प्रकाशित अपनी पुस्तकें) पुस्तकें भेंट कीं। बोले, "अब पढ़ने का समय नहीं मिलता।" मैं उनकी व्यस्तता देखकर पाँच मिनट बाद ही उठना चाहता था लेकिन उन्होंने स्वयं बैठा लिया और कुछ देर और बात करते रहे। 'दस्तावेज' के अगले अंक ९० (पत्र अंक) की चर्चा की और धर्मवीर भारती के पत्रों के बारे में बताने लगे। उसी दिन उनका कार्यक्रम प्रेमचन्द संस्थान में था। मैं श्रोताओं में बैठा था फिर भी शास्त्री जी ने मंच से कृपापूर्वक मुझे भी संबोधित किया। इस मंच से भी उन्होंने सबको अभिभूत करने वाला व्याख्यान दिया। उन्होंने, हिन्दी को जिन लोगों ने बड़ा बनाया उनमें प्रेमचन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल और तुलसीदास का नाम लिया। उन्होंने कहा कि ये लोग अपने तप से बड़े हुए थे। उन्होंने कहा कि 'सफल' होना एक बात है और अपने को 'चरितार्थ' करना बिल्कुल अलग बात। इस संदर्भ में उन्होंने फिराक का एक शेर सुनाया—

जो कामयाब हैं दुनिया में उनको क्या कहिए
है इससे बढ़के भले आदमी की क्या तौहीन।

उन्होंने कहा कि तमाम प्रलोभन छोड़कर प्रेमचन्द ने 'गोदान' लिखना शुरू किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उस समय दो सौ रुपये महीने की नौकरी छोड़कर बीस रुपये महीने की 'सरस्वती' सम्पादकी स्वीकार की। आचार्य शुक्ल ने अलवर नरेश की नौकरी छोड़ी और उस पर एक कविता भी लिखी कि 'चौपट चमार' की चाकरी नहीं करेंगे। तुलसीदास का नाम 'आईने-अकबरी' में नहीं है पर आज वे करोड़ों दिलों में हैं। यदि ये साहित्यकार सफल

सौजन्य : Mohanlal Pareek, C/o. Pareek & Associates, 16-B, Shakespear Sarani, B. K. Market, Kolkata-71

होने के लोभ में रुपयों की लालसा रखते तो आज इनका कोई नाम भी न जानता। उस समय न जाने कितने सफल लोग हुए होंगे पर आज उन्हें कोई नहीं जानता। शास्त्री जी के व्याख्यानों में एक गजब की पारदर्शिता होती है। जैसा भीतर वैसा बाहर। जैसी निर्मल दृष्टि वैसा ही सहज प्रवाह। वाणी में लालित्य और मिठास। कोई अहंकार नहीं, कोई प्रदर्शन नहीं, कोई तनाव नहीं। शांत मुस्कराता चेहरा। यदि कोई पुराना छात्र या छात्रा भी मिल गई तो उसका सबसे परिचय कराने लगते हैं।

२४ मई, २००१ ई. को हिन्दी विभाग में अध्यापकों का चयन होने वाला था। विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति राधेमोहन मिश्र ने दो महीने पहले से ऐलान कर दिया था कि प्रोफेसर पद की चुनाव समिति में प्रोमोशन से चयनित अध्यक्षों को नहीं बैठायेंगे। मैं उस समय विभागाध्यक्ष नहीं था, परन्तु कुलपति का यह निर्णय मुझे विभागाध्यक्षों के सम्मान के विरुद्ध लगता था। २३ मई को ११ बजे दिन में हिन्दी विभागाध्यक्ष कृष्णचन्द्र लाल ने नागेशराम त्रिपाठी को मेरे पास इस संदर्भ में शास्त्री जी से बात करने के लिए भेजा। उसी दिन गोरखपुर विश्वविद्यालय शिक्षक संघ का एक प्रतिनिधि-मंडल भी उनसे राजभवन में मिलने वाला था जिसमें शिक्षक संघ के अध्यक्ष डॉ० चितरंजन मिश्र और तीन अन्य विभागाध्यक्ष गये थे। मैंने टेलीफोन से शास्त्री जी से बात की और उन्हें सारी स्थिति बताई। शास्त्री जी ने आश्वासन दिया कि वे प्रतिनिधि मण्डल से बात करके उचित कारवाई करेंगे। अगले दिन चयन समिति में हिन्दी के अध्यक्ष बैठाये गये। यह बहुत बड़ी विजय थी क्योंकि विश्वविद्यालय के १४ विभागाध्यक्ष प्रोमोशन से थे। राजभवन की इस त्वरित कारवाई पर मुझे आश्चर्य हुआ। इसके तुरन्त बाद २७ मई को लखनऊ टेलीविजन पर मेरा एक कार्यक्रम था। मैं सुबह लखनऊ पहुँचा और १० बजे दिन में शास्त्री जी से फोन पर समय माँगा। उन्होंने उल्टे मुझसे ही समय माँगा कि जब मैं खाली हो जाऊँ, पहुँच जाऊँ। मैंने ६ बजे सायंकाल मिलने को कहा और साथ ही यह भी कि मुझे कुछ विलम्ब भी हो सकता है। शास्त्री जी ने कहा, कोई बात नहीं तुम राजभवन के गेट पर पहुँच जाना, सारी व्यवस्था रहेगी। मैं ५.३० पर ही पहुँच गया। वहाँ गेट का सिपाही मेरे नाम की पर्ची लिये हुए था। उस दिन रविवार था। छुट्टी का दिन। मैं सीधे राजभवन की ऊपरी मंजिल में पहुँचाया गया जहाँ वे अपने अध्ययन कक्ष में कुछ पढ़ रहे थे। तुरन्त अपने ड्राइंग रूम में आये और मुझसे करीब दो घण्टे साहित्यिक बातचीत करते रहे। साहित्य की राजनीति, दलित विमर्श और उत्तर आधुनिकता आदि पर। मैं अभी हाल ही में दिल्ली और पटना से लौटा था। पटना प्रगतिशील लेखक संघ के एक आयोजन में व्याख्यान भी दिया था। उन सब पर चर्चा हुई। मैंने गुटबंदियों से ग्रस्त हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का इतिहास पुनः लिखने की जरूरत पर बल दिया और वे सारी बातें दुहराई जो पिछले दिनों 'दस्तावेज़' के सम्पादकीयों में लिखता रहा था। शास्त्री जी ने सभी बातों की ताईद की। दस्तावेज़-९० तुरन्त छापकर आया था जिसमें शास्त्री जी के नाम अज्ञेय के २६ पत्र छपे थे। उसकी प्रति उन्हें दी तथा अंक ८९ भी दिया जिसमें दलित विमर्श पर मेरा संपादकीय था। शास्त्री जी ने 'धर्मवीर भारती : अनन्त पथ के यात्री' शीर्षक अपनी पुस्तक भेंट की। उनके पत्रों का संग्रह भी दिया जिसे पुनः लौटा देने को कहा। भारती जी के दो तीन पत्र जो आपात्काल में लिखे गये थे और उस पुस्तक में छपे थे, उन्होंने पढ़कर सुनाये। बातचीत में दो घण्टे बीत जाने पर मैंने स्वयं उनसे कहा कि मैं आपका बहुत समय ले रहा हूँ। उन्होंने राजभवन की गाड़ी मेरे साथ लगा दी जिसे मैंने दीक्षित जी के यहाँ पहुँचकर छोड़ दिया। एक राज्यपाल द्वारा इतना सम्मान मुझे कभी नहीं मिलेगा। मेरे लिए राज्यपाल के निजी कक्ष में जाकर बात करने का यह दुर्लभ

सौजन्य : Hindalco Industries Ltd., 10, Camac Street, 'Industry House', 9th Fl. Kolkata-700 017

अनुभव था। वे एक ऐसे व्यक्ति को यह सम्मान दे रहे थे जो उनके विश्वविद्यालय का अभी भी विधिवत कर्मचारी था और जिसका अवकाश ग्रहण अभी एक महीने बाद होने वाला था। उनके वही ठहाके, वही शब्दावली, उसी लहजे में बातें। उन्होंने राजस्थान के एक अल्प ख्यात कवि मदन डागा की एक कविता भी सुनाई। ऐसे कवियों की कविताएँ वे प्रसंगवश सुनाते ही रहते हैं। यह दुर्लभ संयोग इसलिए घटित हो रहा था कि शास्त्री जी मूलतः साहित्यकार हैं। साहित्य उनकी प्राथमिकता है। वे इसके लिए कुछ भी छोड़ सकते हैं और किसी भी ऊँचाई से कितनी ही सीढ़ियाँ उतर सकते हैं। रघुवीर सहाय ने कहीं लिखा है न कि मैं (रघुवीर सहाय) अनेक मोर्चों पर लड़ सकता हूँ मगर मरना उसी मोर्चे पर चाहूँगा जिसे साहित्य कहते हैं।

१८ अक्तूबर, २००१ ई.। गोरखपुर विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष प्रो० अशोक श्रीवास्तव, शिक्षक संघ के अध्यक्ष डॉ० चित्तरंजन मिश्र और उपाध्यक्ष डॉ० योगेश सिंह राजभवन में शास्त्री जी से मिलने का समय निश्चित करने गये थे। राजभवन कार्यालय ने उन्हें बताया कि अगले एक-डेढ़ महीने महामहिम का कार्यक्रम बहुत व्यस्त है। हम लोग लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० पवन अग्रवाल के यहाँ बैठे थे। मैंने वहीं से सीधे शास्त्री जी को फोन किया कि मिलना चाहता हूँ। टेलीफोन पर ही शास्त्री जी दो तीन बार बोले— "आज तो.... आज तो... आज तो...." मानो कहना चाह रहे थे कि आज तो संभव नहीं है मगर अपने अतल शील और स्नेहवश वे कह नहीं सके। फिर बोले, "अच्छा साढ़े पाँच बजे आ जाओ।" बाद में मुझे पता चला कि उस दिन राजभवन में अब्दुल जे. कलाम (वर्तमान राष्ट्रपति) और नानाजी देशमुख को मानद डी.एस. तथा डी.लिट्. की उपाधि दी जानी थी और लखनऊ विश्वविद्यालय में भी शास्त्री जी को एक व्याख्यान देना था। खैर, मैं तो समय पर पहुँच ही गया। वे नियत समय पर उसी सहजता से मिले। न कोई व्यस्तता, न तनाव। मैंने मिलते ही कमलेश्वर की टिप्पणी की चर्चा की जो 'यह बौद्धिक तालिबानीकरण है' शीर्षक से १४ अक्तूबर के 'हिन्दुस्तान' में छपी थी। उन्होंने घंटी बजाकर चपरासी से तुरन्त उसे मँगाया। बोले, इसे तुम्हारे जाने के बाद पढ़ूँगा।" 'आलोचना' सहस्राब्दि अंक-५ जिसमें रामविलास शर्मा पर आक्रमण किया गया था, वे पढ़ चुके थे। बोले, "भाई नामवर को क्या हो गया है।" मैंने कहा, मैं भी अपना सम्पादकीय लिखने जा रहा हूँ। उस दिन की व्यस्तता में वहाँ कार्यालय में मैंने उनका कुछ ज्यादा समय ले लिया था मगर जब समय उन्होंने ही दिया था तो दूसरा कोई हस्तक्षेप कैसे कर सकता था। जब मैं उनके कमरे से बाहर निकला तो उनके ए.डी.सी. उनसे मिलने के लिए तीन चक्कर लगा चुके थे। ऐसा उन्होंने स्वयं बताया। उस दिन अपनी पत्रिका के भुगतान के बारे में पूछा। पिछले दस वर्षों से उत्तर प्रदेश भाषा निधि ने मेरा भुगतान नहीं किया था। बोले, "दो बार कह चुका हूँ। मेरे सचिव (डॉ० शंभुनाथ) आज छुट्टी पर हैं, नहीं तो उनसे तुम्हें मिलवाता। बहुत अच्छे आदमी हैं। उनसे दो बार रिमाइण्ड (remind) कर चुका हूँ।" फिर बोले, "तुम मुझे एक पत्र लिखना, अपनी विशेष निधि से कुछ न्यूनतम मदद कर सकता हूँ।"

२० दिसम्बर २००१ ई.। गोरखपुर विश्वविद्यालय के संवाद भवन में उनका कार्यक्रम था। हाल में मैं भी चौथी पाँचवीं पंक्ति में बैठा था। मुझे बहुत तेज पेशाब लगा था। शास्त्री जी बोल रहे थे। बीच में उठना उचित नहीं था। अतः ज्योंही वे माइक से हटे मैं उठ गया और हाल के बाहर आ गया। मुझे उठते देख शास्त्री जी ने मंच पर बैठे कुलपति से कहा कि विश्वनाथ जी जा रहे हैं, उन्हें बुलवाइये। मुझे उनसे मिलना है। फिर क्या था, कई प्रोफेसर मुझे बुलाने दौड़े। मैं टायलेट से ज्योंही निकला मुझे लेकर लोग ग्रीन रूम में गये और मंच पर शास्त्री जी को सूचित

सौजन्य : Nandlal Singhania, 7B, Kiran Sankar Roy Road, Kolkata-700 001

किया कि मुझे बुला लिया गया है। वे मंच से दस मिनट बाद वापस लौटे तो गले मिले। फिर पूछा, "मेरी चिट्ठी तुम्हें मिली कि नहीं ?" मेरा अंक-९१ का सम्पादकीय वे पढ़ चुके थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि अभी हफ्ते भर पहले ही उन्हें पत्रिका भेजी थी जबकि वे बम्बई और कलकत्ते की यात्रा पर थे। इतनी जल्दी कैसे पढ़ लिया। पर वे शब्दशः पढ़ चुके थे। बोले, "तुमने बहुत अच्छा लिखा है। मैंने भी अभी कलकत्ते में नामवर की उपस्थिति में उस लेख का विरोध किया जो रामविलास जी के बारे में लिखा गया है।" शास्त्री जी ने मुझे अपने बगल में बैठा लिया जबकि कुलपति आदि सभी खड़े थे। मुझे साथ ही चाय पिलाई और बोले, "तुम भागे क्यों जा रहे थे?" इस घटना से सभी लोग चकित थे। महामहिम का इस प्रकार मंच से किसी एक व्यक्ति को बुलाकर मिलना अपने आप में इतना आश्चर्यजनक व्यवहार था कि मैं स्वयं अकुंठ सहजता और महानता का मुरीद हो गया। मैं स्वयं ऐसी परिस्थिति में होता तो इतना कुंठामुक्त शायद न हो सकता था। एक फोटोग्राफर ने इस दृश्य के कई चित्र ले लिये थे जो उसने बाद में मुझे दिये।

१५ जून, २००२ ई.। लखनऊ हिन्दी संस्थान में 'कविता का भविष्य और भविष्य की कविता' पर एक संगोष्ठी थी। हिन्दी संस्थान के जिस अधिकारी ने मुझे फोन करके आमंत्रित किया उसने यह भी बताया कि यह विषय महामहिम ने ही दिया है और वक्ताओं के नाम भी उन्होंने सुझाये हैं। मैं शरीक हुआ। शास्त्री जी बहुत अच्छा बोले। डॉ० अम्बाशंकर नागर और विद्यानिवास मिश्र भी थे। उस दिन 'दस्तावेज' के वर्षों पुराने बकाया भुगतान के बारे में उन्होंने भाषा सचिव श्री चन्द्रा को अपनी मेज के पास बुलाकर स्वयं कहा। इसके लिए मैंने उनसे उस दिन कहा नहीं था, मगर महीनों पहले का अनुरोध उन्हें स्मरण था। अगले दिन उन्होंने सभी आमंत्रित लेखकों को राजभवन में चाय पर बुलाया। सबके साथ डेढ़ घण्टे रहे। साहित्यिक बातें करते रहे। सबको छोड़ने के लिए बाहर पोर्टिको तक आये और सबको गाड़ियों में विदा किया।

१० अगस्त, २००२ ई.। गोरखपुर में उनके तीन कार्यक्रम थे। पहले ही कार्यक्रम में उन्होंने मुझे न देखकर कुलपति से मुझे सूचित करने के लिए कहा। मेरे घर पर फोन आया कि महामहिम मिलना चाहते हैं। दूसरा कार्यक्रम गोरखनाथ मंदिर पर था। योगी आदित्यनाथ की हठयोग पर प्रकाशित पुस्तक का लोकार्पण और 'समन्वय' पत्रिका के पन्त पर विशेषांक का लोकार्पण। मैं इस कार्यक्रम में गया। शास्त्री जी जब भी किसी शहर में जाते हैं अपने पुराने साहित्यिक परिचितों-मित्रों से मिलकर उन्हें आत्मिक प्रसन्नता होती है यही उनका प्रकृत क्षेत्र है अतः इन्हीं लोगों के बीच उन्हें वास्तविक सन्तोष मिलता है। शायद इसीलिए गोरखपुर जब भी आते हैं, मुझे भी याद कर लेते हैं। डॉ० रामचन्द्र तिवारी और परमानन्द श्रीवास्तव के बारे में भी पूछते हैं। जब मैंने नामवर जी के रामविलास संबंधी लेख की कड़ी आलोचना की तब भी उन्होंने चिट्ठी में लिखा कि नामवर जी को वह लेख पढ़ना चाहिए। मैंने उनके सामान्य बातचीत में भी महसूस किया है कि साहित्यकारों को लेकर शास्त्री जी में कोई दुराग्रह या कट्टरता नहीं है जबकि मार्क्सवादियों में शास्त्री जी के प्रति दुराग्रह भी है और कट्टरता भी। वे कभी शास्त्री जी के लेखन की चर्चा नहीं करते जबकि शास्त्री जी बराबर उनका नामोल्लेख करते रहते हैं। हाँ, तो गोरखनाथ मंदिर वाले कार्यक्रम में भी शास्त्री जी ने अपने मंत्रमुग्ध करने वाले अन्य व्याख्यानों की तरह ही योग, हठयोग और सुमित्रानन्दन पंत पर अति संक्षिप्त मगर अति सारगर्भित वक्तव्य दिया। योगी आदित्यनाथ की पुस्तक की कुछ खामियों की ओर भी उन्होंने संकेत किया कि ध्यान, धारणा और समाधि के बारे में इसमें और गहराई से लिखा जाना चाहिए था। गीता

सौजन्य : Nemchand Kandoi, 7C, Kiran Shankar Roy Road, Kolkata-700 001

और मानस के पंडित तो वे हैं ही, उस दिन पतंजलि आदि की भी चर्चा की। सभा की समाप्ति पर जब मैं मंच की ओर बढ़ा तो उन्होंने मुझे ऊपर मंच पर ही बुला लिया। फिर ए.डी.सी. से लेकर कुछ सामग्री 'दस्तावेज़' में प्रकाशन के लिए दी। उसमें श्रीनारायण चतुर्वेदी और अज्ञेय के पत्र भी थे जो 'दस्तावेज़' में पहले ही प्रकाशित हो चुके थे। मंच से मैं उनके साथ भोजन पर गया। भोजन करने के बाद वाशबेसिन पर हाथ धोते हुए उन्होंने कहा— अभी अगले कार्यक्रम में १५ मिनट शेष हैं, चलो कुछ गप शप करते हैं। फिर मैं उनके साथ ही उनके विश्राम कक्ष में चला गया। हालांकि यदि वे मुझे अपने साथ न ले जाते तो कोई मुझे उस कक्ष में न घुसने देता। फिर लगभग १५ मिनट तक हम और वे दो ही व्यक्ति साहित्य पर बात करते रहे। उस समय अंक ९५ छप रहा था जिसमें 'राजेन्द्र यादव के छलात्कार' शीर्षक मेरा सम्पादकीय था। कुछ देर उस पर चर्चा हुई। फिर मैंने अंक १०० की चर्चा की जो गांधी पर केन्द्रित होने वाला था और उसमें उनसे लिखने का आग्रह किया। उन्होंने इस बीच लिखे अपने दो संस्मरणों की चर्चा की —नागार्जुन और जगदीश गुप्त पर। इन्हें मैंने पढ़ा नहीं था। जब मैं राजेन्द्र यादव संबंधी अपने सम्पादकीय की चर्चा कर रहा था तो उन्होंने मन्नू भंडारी के लेख की चर्चा की। मैंने बताया कि उसे पढ़ चुका हूँ और अपने सम्पादकीय का शीर्षक भी मैंने उन्हीं से लिया है। इसी बीच कुछ और लोग जो अपने अपने कामों से मिलना चाहते थे एक-एक कर आने लगे। मैंने उनसे कहा, मैं अब चलता हूँ, मिलने वालों को कष्ट हो रहा होगा। बोले, "बैठो, अब तो अगले कार्यक्रम में ५ मिनट ही शेष है।" फिर अन्य लोगों की ओर मुखातिब होकर कहा— "मेरी असली दुनिया साहित्य की ही है और अपने को मूलतः साहित्यकार ही मानता हूँ। इसीलिए साहित्यिक बातचीत में भीतरी संतोष मिलता है।" मैं तो पहले ही यह लिख चुका हूँ कि यही वह कारण है जो शास्त्री जी को हम लोगों के बीच लाता है। राज्यपाल पद से उतार कर सामान्य लोगों के बीच।

१२ अक्तूबर, २००२। गोरखपुर में हो रहे भारतीय हिन्दी परिषद का उद्घाटन करने आये थे। कुलपति के यहाँ दोपहर का भोजन था। सात आठ लोगों के लिए अलग व्यवस्था थी जिसमें मैं भी था। भोजन के बाद उन्होंने कहा— एक-डेढ़ घण्टे का समय है, सर्किट हाउस चलो और मुझे अपनी गाड़ी में बिठाकर ले गये। सर्किट हाउस की ऊँची सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मैं कुछ पीछे छूट गया और उन्हें सुरक्षा के लोग घेरे हुए थे। वे बीच की सीढ़ी पर खड़े हो गये। फिर जब मुझे अपने साथ ले लिया तब आगे बढ़े। कमरे में मैं ही अकेला उनके साथ था। मैंने उनसे कहा कि आप आराम कर लें पर वे कुर्सी पर बैठ गये और मेरे साथ बातचीत करने लगे। लगभग डेढ़ घण्टे तक बातियाते रहे। इस बार समय ज्यादा था इसलिए उन्होंने साहित्य के अतिरिक्त राजनीति पर भी और अनेक राजनीतिक नेताओं के बारे में भी खुलकर व्यक्तिगत बातें कीं पर उन्हें यहाँ मैं उद्धृत नहीं कर सकता। शास्त्री जी की व्यक्तिगत बातचीत में बहुत ऐसे सूत्र मिल जाते हैं जो मूल्यवान होते हैं। आज की बातचीत में जब अस्पृश्यता की चर्चा आई और मैंने कहा कि यह सफाई और पवित्रता को ध्यान में रखकर चली होगी जो अब विकृत और अमानवीय हो गई है तो उन्होंने कहा कि हम इसके आधार पर दूसरों को छोटा मानने लगे हैं, वह नहीं होना चाहिए। गंदे तो अपने बच्चे भी होते हैं पर उन्हें हम अस्पृश्य नहीं मानते। फिर उन्होंने योगसूत्र का एक सूत्र सुनाया जिसका अर्थ है कि शुचिता की दृष्टि से देखें तो अपना ही शरीर अस्पृश्य जान पड़ता है। फिर समझाया, कि देखो, इस शरीर से जितनी चीजें बाहर निकलती हैं सब गंदगी होती हैं— जैसे मल, मूत्र, थूक, पसीना, श्वास आदि। तो उन्हें आदमी नहीं छूता। अपना ही शरीर अस्पृश्य हो जाता है। लेकिन हम उसे छोड़ थोड़े ही देते हैं। ..... फिर जब तीन बजे

सौजन्य : K. L. Rathi, "Shree Sadan", 615, 7th Main 3rd Stag. 3rd Block, Basweshree Nagar, Bangalore-79

उनके ए.डी.सी. आये तो तुरन्त चलने के लिए खड़े हो गये। एक मिनट भी आराम नहीं किया। यद्यपि यह समय उनके आराम के लिए आरक्षित था पर वे लगातार बातें करते रहे। बोले, पिशाब करके आता हूँ। लौटे तो बोले, तुम भी पिशाब कर लो। यह घटना बहुत छोटी है पर बहुत बड़ी भी। उन्हें मेरी भी सुविधा का इतना ख्याल रहा कि कहीं यह संकोच में किसी प्रकार की असुविधा न महसूस करे। फिर अपने साथ ही अपनी गाड़ी में लेकर मुझे समारोह स्थल तक आये। यह उनकी महानता है। आखिर वे राज्यपाल भी तो हैं। यहाँ तो आई.ए.एस. और पी.सी.एस. तक किसी को अपनी बगल में कौन कहे अपनी गाड़ी में नहीं बैठाते हैं।

२ नवम्बर, २००३ ई.। गोरखपुर में 'दस्तावेज़' के १००वें अंक का लोकार्पण था। यह ऐतिहासिक अंक मैंने महात्मा गांधी पर केन्द्रित किया था और इसके लोकार्पण के लिए शास्त्री जी से कई महीने पहले अनुरोध कर दिया था। मैंने फोन से ही पूछा, "क्या आपको निमंत्रित करने के लिए लखनऊ आना पड़ेगा?" शास्त्री जी ने सहज स्नेह से कहा, "नहीं जी, तुम एक पत्र लिखकर भेज दो। आने की जरूरत नहीं।" इतनी सहजता से उनका कार्यक्रम मुझे मिल गया। वे केवल इसी कार्यक्रम के निमित्त हवाई जहाज से आये और वापस लौटे। समारोह में बतौर मुख्य अतिथि दिल खोलकर बोले। मंच से मेरे साथ अपने पुराने संबंधों को स्मरण किया। १९७६ की जबलपुर और राजस्थान यात्रा की चर्चा की। कलकत्ते की काव्यगोष्ठी की चर्चा की जिसमें मेरी कविताओं का कुमारसभा पुस्तकालय में पाठ हुआ था और जिसकी अध्यक्षता शास्त्री जी ने की थी। मेरी माँ संबंधी कविताओं की मर्मस्पर्शिता की प्रशंसा की। 'दस्तावेज़' की प्रदर्शनी में उन्होंने उसका तीसरा अंक देखकर कहा कि देखो, मैं इस पत्रिका के साथ पहले ही वर्ष से जुड़ा हूँ। उस अंक में उनका अनुवाद प्रकाशित था। मैं उन्हें हवाई अड्डे से ले आया और हवाई जहाज पर विदा किया। उनके कारण दस्तावेज़ के १००वें अंक के लोकार्पण का आयोजन एक ऐतिहासिक आयोजन बन गया। गोरखपुर में ऐसा साहित्यिक आयोजन इसके पहले नहीं हुआ था जिसमें ६०० लोग उपस्थित थे। मैं यदि उनके इस स्नेह के प्रति कृतज्ञ न होऊँ तो शब्दकोष में 'कृतघ्न' शब्द मेरे अलावा और किसके लिए होगा ?

शास्त्री जी के साथ मेरी इतनी ही मुलाकातें नहीं हैं। और भी हैं। कलकत्ते में, दिल्ली में, गोरखपुर में। और भी बहुत से संस्मरण हैं। कहने को बहुत कुछ है। मगर अभी इतना ही। शास्त्री जी अपने कर्ममय, निष्कलुष, यशस्वी जीवन के ७५ वर्ष पूरे कर रहे हैं। उन्हीं की कविता में अपनी मंगल कामना व्यक्त कर रहा हूँ :—

तुममें अब भी बाकी है सहज सरल उत्साह
तुममें अब भी हिलोरती है जीवन की चाह
तुम अब भी हँस सकते हो खुब ठठाकर
तुम अब भी मुसका सकते — चोट उठाकर
अब भी जीवन के प्रति विश्वास नहीं टूटा है
भले लगें आघात सैकड़ों
मन का दरपन नहीं अभी फूटा है। ●

सौजन्य : Shashikant Narsaria, Agent LIC & Oths, 10, Clive Row (7th Fl.) R. No. 11, Kolkata-1

डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र

पाँकाल माछ

पं० विष्णुकान्त शास्त्री की राजनीतिक उपलब्धि पर मैंने पहली बार बधाई दी थी, जब उनकी राजनीति निष्ठा हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल पद की प्राप्ति के रूप में पुरस्कृत हुई थी। वानप्रस्थ काल में उत्तरापथ की प्रवास यात्रा के विशेष अभिप्राय का संकेत भी किया था। शास्त्रीजी को मेरे पत्र ने प्रीत किया था और फिर उनके भक्तों ने जब कोलकाता में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन-समारोह आयोजित किया था, शास्त्रीजी के विद्याकुल से मुझे वक्ता के रूप में आमंत्रित किया था। अपने सम्मान्य बन्धु पं विष्णुकान्तजी के शील-संस्कार की मृदुता को रेखांकित करते विशिष्ट विद्याव्रती को भारतीय राजनीति के आधुनिक प्रतिमान रूप में महामना मालवीयजी, महर्षि श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी की जीवन-चर्या और आदर्श से जुड़े मार्मिक संदर्भ का स्मरण दिलाया था।

पर हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल का जब उत्तर प्रदेश में तबादला हुआ, आज की राजनीति के घिनौने चरित्र को देखते, उन तमाम अन्तरंग लोगों की तरह, जो शास्त्रीजी के शील से परिचित हैं, मेरे मन में भी आशंका जगी थी कि इतने बड़े सूबे की राजनीतिक सनक का आचारनिष्ठ विद्याव्रती का सौम्य संस्कार कैसे मुकाबला करेगा, और यह कि अपने शील के पानी की कैसे रक्षा कर पायेगा। किन्तु कुछ वर्षों के बाद ही उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री विष्णुकान्त शास्त्री को जिन जटिल प्रशासकीय चुनौतियों से जूझना पड़ा और जिन अश्लील प्रसंगों के बीच शीर्ष पर खड़े होकर अक्षत सौम्य मुद्रा में समाधानमूलक मार्ग रचने का गुरुतर दायित्व वहन करना पड़ा, वैसी विकट परिस्थिति अच्छे-अच्छों को विचलित कर देती है, पर शास्त्रीजी का मानसिक अनुशासन अशिथिल, औचित्य-केन्द्रित और जागरूक बना रहा। 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' और 'भारतीय जनता पार्टी' के प्रति उनकी निष्ठा जगजाहिर तथ्य है। पर राज्यपाल-पद की मर्यादा के प्रति सचेत रहते उन्होंने अपने विचक्षण व्यवहार-पाटव का परिचय दिया। और तब आत्मीयजन के मन में जगी सहज आशंका पुष्ट आश्वस्ति में बदल गयी।

कांम्य और आनुकूल्य से वंचित दलों के मेठों ने सारी मर्यादा का तिरस्कार कर राज्यपाल महोदय के लिये जिस अशालीन भाषा का प्रयोग किया, वही आज की राजनीति का सर्वस्वीकृत मुहावरा है। और इसे उच्चारने में जो कच्चा है, वह राजनीति की अगवाह राह की दौड़ में पिछड़ जाता है। राज्यपाल शास्त्रीजी की न्याय-भित्तिक व्यवस्था से असंतुष्ट दल-विशेष के नायकों ने अभद्र भाषा में चित्कार जरूर किया, पर सनकी राजनीति को भी शास्त्रीजी के शील पर अंगुलि-संकेत करने का साहस नहीं हुआ।

परमहंस श्री रामकृष्णदेव अपने गृहस्थ भक्तों को निर्देश किया करते थे, "संसार में पाँकाल माछ की तरह रहो। पाँक में रहते पाँक से अप्रभावित, पूरी तरह स्वच्छ। संसार छोड़ोगे क्यों, पर संसार के पाँक में डूबो मत। बस, इतना होने से ही हुआ, यही उद्धार की राह है?" उद्धार की राह को सटीक कोण से देखने वाले पं० विष्णुकान्त शास्त्री के संस्कार-चक्षु सदा सचेत रहते हैं। प्रदूषित राजनीति के बीच रहते उन्हें उस कुल की मर्यादा का सदा ध्यान

सौजन्य : Shri Brij Sewa Samiti T. B. Sanatorium Trust, 16/2, Lord Sinha Road, Kolkata-71

रहता है, जिसने उन्हें मर्यादा का मोल समझा कर उज्ज्वल संस्कार की भित्ति रची है। प्रशासकीय माया की गुत्थियाँ अपने सौम्य तरीके से सुलझाते, प्रादेशिक प्रशासन के सर्वोच्च आसन पर बैठे कृती अध्यापक विष्णुकान्तजी को अपने संरक्षणशील संस्कारी पिता पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री के अनुशासन की सदा सुधि बनी रहती है और विचलित कर देने वाली विकट परिस्थितियों में भी उन्हें अपने दीक्षा गुरु, महामनीषी स्वामी अखण्डानन्दजी से उपलब्ध मंत्र का ध्यान रहता है। यह सुधि और संस्कार-सजगता उनके शील का सुरक्षा-कवच है। और पाँक में रहते स्वच्छता को बेदाग बनाये रहने की सिद्धि साधारण उपलब्धि नहीं है। 'पाँकाल माछ' की कमाई किसी भी गाजे-बाजे के साथ आयोजित होने वाले रंगीन अभिनन्दन समारोह से बड़ी उपलब्धि है।

महात्मा गाँधी के देश के शीर्ष प्रशासन-आसन पर बैठे लोगों की जीवन-चर्या की विजातीय आभा भारतीय संस्कार को तीखा धक्का देती है। ऐसे तमस में एक विरल आश्वासन के रूप में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री विष्णुकान्त शास्त्री दिखाई पड़ते हैं, जिनसे वैमत्य रखनेवाले भी उनके शीलनिष्ठ आचार-पक्ष की प्रशंसा करते हैं। किन्तु संसार के व्याकरण का आदर्श अपनी पटरी और अपनी गति से चलता है। और जगत्-ख्यात घिनौना तथ्य है कि पद-विशिष्ट लोगों के आसपास हीन प्रयोजन से गरिमारहित लोगों का मोहक मेला खड़ा हो जाता है। पं. विष्णुकान्त शास्त्री देश के सबसे बड़े सूबे के सर्वोच्च प्रशासन-पीठ पर आसीन हैं। अस्वाभाविक नहीं है कि स्वार्थसिद्ध अवांछित लोगों का मेला उन्हें घेर ले। शास्त्री जी के बात-व्यवहार की आत्मीय ऊष्मा और उनकी सहज शराफत से अन्तरंग रूप में परिचित लोग मेरी ही तरह यह महसूस करते होंगे कि सारे राजकीय तामझाम और कठोर पद-मर्यादा की बन्दिशों के बीच रहते उनके आचरण में राजसत्ता नहीं बोलती, अर्जित व्यवहार-मृदुता अक्षत और सहज है। मगर करीबी लोग यह भी जब-तब अनुभव करते हैं कि महामहिम शास्त्रीजी के अन्तरंग पार्षद लाट साहब की मुद्रा में बड़े फूहड़ तरीके से इतराते जरा भी नहीं सकुचाते।

मेरे पूज्य गुरु आचार्य पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने गहरे छोह के साथ एक दिन शास्त्रीजी को टोका था, 'राजनीति साथ नहीं देगी। इसलिये अपने धर्म-धरातल पर क्रियाशील रहिये।' मगर उनकी राजनीति-सुमुखता संकुचित नहीं हुई। और राजनीति ने उनका साथ दिया। राज्यपाल शास्त्रीजी के साथ एक दिन सभा-मंच से उतरते उनके कान में मैंने सहज आत्मीय भाव से कहा था कि 'हीन प्रयोजन के भार से दबे लोगों की अशुभ संगति के प्रति सतर्क रहें।' और मैं आश्वस्त हूँ कि उनके व्यावहारिक विवेक ने मेरी भाषा सुनी थी। यद्यपि 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' के अनुशासन में सयाने हुए बन्धुवर पं. विष्णुकान्तजी जैसे लोक-प्रवीण व्यक्ति को मेरे जैसा अनाड़ी-अव्यावहारिक व्यक्ति चौकन्ना करे, यह एक विडम्बना ही है। आश्वस्त हूँ, शास्त्रीजी उस पानी की रक्षा के प्रति, जो उनके संस्कारी माता-पिता ने पिलाया है, और उस दीक्षा के प्रति जिसके माध्यम से स्वामी अखण्डानन्दजी ने उनके शील में मृदुता और पोषण रचा है, सदा संवेदनशील रहेंगे।

जो सरोजनी नायडू, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, आर. आर. दिवाकर और सम्पूर्णानन्द की जीवन-चर्या से परिचित हैं, वे जानते हैं कि राज्यपाल-पद को वहन करने के बाद भी अपने स्वधर्म के प्रति वे सचेत रहे, और अनावश्यक आलंकारिक औपचारिक आयोजन से स्वयं को यत्नपूर्वक विरत रखकर अध्ययन-लेखन में लगे रहे। पं. विष्णुकान्त शास्त्री से भी यही अपेक्षा रहती है कि जैसे उनकी पूजा-निष्ठा अशिथिल है, वैसे ही विद्या-चर्या भी क्रियाशील रहे। एवमस्तु। ●

सौजन्य : P. R. Churiwala Lok Kalyan Trust, 'Fortuna Bldg.' 234/3A, A.J.C. Bose Rd, Blk-A-II, Kolkata-20

डॉ० चमनलाल गुप्त

सुरभित पलों से गुजरते हुए

दो दिसम्बर १९९९ को घोषणा हुई कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, हिमाचल प्रदेश के तेरहवें राज्यपाल नियुक्त किए गए हैं। हृदय आनन्द से भर गया और लगा कि हिमाचल को संभवतः पहली बार ऐसा राज्यपाल मिल रहा है जिसके व्यक्तित्व से राज्यपाल के पद की गरिमा कई गुना बढ़ेगी। आदरणीय शास्त्री जी ने शिमला में शपथ ग्रहण की। मैं उस समय हिमाचल प्रदेश स्कूल बोर्ड के अध्यक्ष पद का दायित्व निभाते हुए धर्मशाला में रह रहा था। इससे पूर्व शास्त्री जी को निकट से देखने और उनसे मिलने का एक अवसर प्राप्त हुआ था। ४ दिसम्बर, १९९२ को शिमला के काली बाड़ी हॉल में रामभक्त जनता अयोध्या में राममन्दिर की सेवा के लिए गए कार सेवकों की दीर्घायु की कामना करने के लिए और राममन्दिर निर्माण हेतु पूजा-अर्चना के लिए वहाँ एकत्र हुई थी। श्रद्धेय शास्त्री जी का मार्गदर्शन मिला। शास्त्री जी की विद्वत्ता, धर्मनिष्ठा एवं सामाजिक सांस्कृतिक प्रतिबद्धता की चर्चा पाटी में अनेक बार हुई थी परन्तु सरस्वती के इस वरद पुत्र को पहली बार धाराप्रवाह रामवृत्त पर बोलते हुए सुना तो लगा भारतीय संस्कृति साकार हो उठी है। उपस्थित रामभक्तों ने रामवृत्त की गंगा में स्नान किया और राम का पूजन किया। शास्त्री जी से बड़ा सिद्ध पुरोहित इस अवसर पर हमें कहाँ मिलता। अनायास ही लगा था कि स्वामी विवेकानन्द जी ने भारतीय संस्कृति की जो दो विशेषताएँ बतलाई हैं उनका मूर्तिमान रूप हमारे सम्मुख उपस्थित है। स्वामी जी ने कहा था कि भारतीय संस्कृति की दो विशेषताएँ हैं — धारदार उस्तरे सा सूक्ष्म बौद्धिक विवेचन और काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि। शास्त्री जी में दोनों हैं। विचारों को सुनकर लगा कि रामवृत्त की ऐसी तर्कपूर्ण व्याख्या और साथ ही ऐसा काव्यात्मक वर्णन शास्त्री जी के सिवा दूसरा कौन कर सकता है। शास्त्री जी हमारी संस्कृति के मूर्त-कवि हैं।

शास्त्री जी हिमाचल के राजनैतिक जीवन में बसन्त की बहार बनकर आए। उनका सरल, सहज व्यक्तित्व पद की गरिमा से युक्त होकर सहज सान्त्वना और आश्वासन देने वाला बना। अपने से छोटों पर अहैतुक स्नेह बरसाने वाले शास्त्री जी धर्मशाला आए। जिला के अधिकारियों की बैठक प्रातः सर्किट हाऊस में आयोजित की गई थी। शास्त्री जी ने सभी अधिकारियों से विभागानुसार गतिविधियों का परिचय लिया। बैठक समाप्ति पर उनके निकट जाकर स्नेहाशीर्वाद लिया तो एकाएक बोले 'आपको तो इन सबके साथ नहीं आना चाहिए था।' स्नेहपूर्वक उन्होंने अपने साथ नाश्ता करवाया। जिला के अधिकारी ऐसे सरल हृदय राज्यपाल की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। धर्मशाला से विदा होते समय शास्त्री जी ने पुलिस अधीक्षक और उपायुक्त आदि से कहा कि जिले की सीमा तक छोड़ने आने की आवश्यकता नहीं, जनता के काम में बाधा पहुँचती है। इतने कम वाहनों और अंगरक्षकों के साथ हिमाचल के एक कोने से दूसरे कोने तक ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तों से यात्रा करके जनता तक पहुँचने वाला राज्यपाल मेरी स्मृति में हिमाचल को पहली बार मिला था। हिमाचल के मन्दिरों में पूजार्चना के लिए गए और जहाँ भी पूजार्चना में कमी देखी उसे दूर करने का प्रयास किया। संस्कृत शिक्षा के प्रसार के लिए उनके प्रयास सदा याद किए जाते रहेंगे।

सौजन्य : Manraj Jayatri Trust, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-700 001

२६ मार्च, २००३ को धर्मशाला से कुछ दूरी पर स्थित परागपुर में 'सरस्वती विद्या मन्दिर' के एक समारोह में पधारे। छोटा सा स्कूल, थोड़े से अध्यापकों और उपस्थित लोगों के बीच बैठ सहज भाव से शास्त्री जी ने संस्कृत के महत्त्व पर बोलना प्रारम्भ किया और संस्कृत और संस्कृति का सम्बन्ध बच्चों को समझाया। भारत जगत् गुरु था, कैसे बना था यह समझाते हुए वे भारत की महान् गुरु परम्परा पर धारा प्रवाह बोल रहे थे। आकाश धर्मी और शिलाधर्मी अध्यापकों का अन्तर सरल उदाहरणों से समझाते हुए उन्होंने धुरि प्रतिष्ठा के अधिकारी आचार्यों की विशेषता कालिदास का श्लोक उद्धृत कर स्पष्ट की। 'स्वाध्याय' ही श्रेष्ठ तप है यह बताते हुए नाकमौद्गल्य ऋषि का मत उद्धृत किया। शिष्य से पराजित होने की कामना करने वाले महान् गुरुओं के शिष्यों के गुणों पर जब आए तो बुद्धि के विकास के सातों सोपानों का सुन्दर विवेचन किया। ऐसा मनोरम, गम्भीर, मार्मिक और विचारोत्तेजक भाषण सुनकर हम धन्य हुए। सोचता हूँ शास्त्री जी जैसा मनीषी राज्यपाल ही इतने छोटे से आयोजन के लिए इतना समय दे सकता है। शास्त्री जी के भीतर का अध्यापक कितना सचेत रहता है यह उनके विषय-प्रतिपादन के ढंग से समझा जा सकता है। शास्त्री जी गम्भीर बात, सरल और सहज भाषा में ऐसे कह जाते हैं मानों घर की बात समझा रहे हों।

३० अप्रैल, २००० की मधुर स्मृति जब कभी स्मृति पटल पर कौंधती है तो आनन्दातिरेक से मन भर आता है। धर्मशाला के पुलिस-ग्राउंड में परमपूज्य दलाई लामा जी के सार्वजनिक अभिनन्दन हेतु 'भारत तिब्बत सहयोग मंच' की ओर से एक बड़ा आयोजन किया गया था। मंच पर परम-पूज्य दलाई लामा जी के साथ श्रद्धेय शास्त्री जी विराजमान थे। केन्द्रीय मन्त्री शान्ता कुमार जी, मुख्य मन्त्री प्रेम कुमार श्री धूमल के साथ अनेक सम्मानित लोग मंच पर थे। दलाई लामा और विष्णुकान्त शास्त्री का मिलन, अद्भुत था। दोनों विद्वान, तत्त्वयेता और विनम्रता की साकार प्रतिमा बने एक दूसरे का अभिनन्दन कर रहे थे मानों बिछुड़े बौद्ध धर्म की सरिता हिन्दू धर्म के सागर के गले मिल रही हो। शास्त्री जी ने स्पष्ट किया कि दलाई लामा ने बौद्ध धर्म की रक्षा के लिए तिब्बत से पलायन किया और भारत में रहकर भी वे धर्मप्रचार का कार्य कर रहे हैं। पद से व्यक्ति को आदर पाते तो देखा है परन्तु व्यक्ति के कारण पद की गरिमा को शतगुणा होते उस समारोह में देखा गया। अपने सार्वजनिक जीवन में खुली किताब की तरह रहने वाले शास्त्री जी राजभवन के छोटे-से-छोटे कर्मचारी की श्रद्धा के पात्र थे। राजभवन की लिफ्ट का उन्होंने कभी प्रयोग नहीं किया, सदा सीढ़ियाँ चढ़कर या उतरकर आते जाते थे। उनकी विदाई पर सभी को लगा कि कोई अपना बिछुड़ रहा है, दूर जा रहा है। सबकी आँखें नम थीं। सोचता हूँ छल-कपट, षडयन्त्र और कूटनीति को राजनीति कहने वालों के बीच शास्त्री जी जैसी पारदर्शिता और विश्वसनीयता अपवाद स्वरूप ही है।

शास्त्री जी प्रदेश की साहित्यिक और शैक्षिक गतिविधियों में निरन्तर शामिल होते रहे, उन्हें बढ़ावा देते रहे। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के मन्त्रणा-कक्ष में उन्होंने अनेक गोष्ठियों की अध्यक्षता की, भाषण दिए। साहित्यिक-सांस्कृतिक विषयों पर उन्हें सुनने के लिए विश्वविद्यालय के प्रबुद्ध अध्यापक व्यग्र रहते थे, उन्होंने भी हमें निराश नहीं किया। एक ऐसी ही राष्ट्रीय संगोष्ठी इतिहास विभाग की ओर से गुरु गोविन्द सिंह जी के अवदान पर आयोजित की गई थी। देशभर से पंजाब के इतिहास और साहित्य के विद्वान एकत्र थे और शास्त्री जी समापन सत्र की अध्यक्षता कर रहे थे। सिख, हिन्दुओं से अलग हैं, उनकी विरासत अलग है इस विषय पर कुछ विद्वान बोल चुके थे। हम सोच रहे थे कि शास्त्री जी क्या बोलेंगे ? क्या राजनीतिज्ञ की तरह दो मुँही-गोलमोल बात करके समस्या को टाल जाएंगे

सौजन्य : Mamraj Agarwal Foundation, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-1

अथवा इस विषय पर मौन रह जाएंगे। शास्त्री जी ने गुरु गोविन्द सिंह जी के साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक अवदान पर विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया और तर्कपूर्ण ढंग से तथ्य रखते हुए सिखों को हिन्दू धर्म की व्यापक धारा का अंग सिद्ध किया। फिर भी विनम्र भाव से कहा कि तथ्यों का विवेचन विश्लेषण कर सिख ही स्वयं तय करें कि हिन्दू धर्म से उनका रिश्ता क्या है, कैसा है। अपनी बात को निर्भयता, तार्किकता और सटीक ढंग से कहने की कला तो उनके पास है ही, वैचारिक उदारता, निष्पक्षता और स्पष्टता भी उनमें खूब है। अपनी बात को आग्रहपूर्वक कहना, दुराग्रह नहीं रखना यह उनसे सीखा जा सकता है। २१ जून, २००३ को उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रहते हुए भी 'उच्च अध्ययन संस्थान' शिमला में कबीर पर भाषण देने पधारे। मन्त्रमुग्ध कर देने वाले भाषण के पश्चात् प्रश्नोत्तर सत्र में आदरणीय डी. पी. चट्टोपाध्याय और श्रद्धेय गोविन्द चन्द पाण्डेय जैसे दार्शनिकों, विद्वानों की उपस्थिति में जिस प्रकार से उन्होंने कबीर की साधना को निर्गुण-सगुण का समन्वित रूप सिद्ध किया, वह देखते ही बनता था।

शास्त्री जी पूर्णतावादी हैं। किसी भी काम में अधूरे मन से शायद वे नहीं लग पाते चाहे लेखन हो अथवा सार्वजनिक जीवन का कोई कार्य। हिन्दी के प्रखर आलोचक बच्चन सिंह जी ने बात-बात में एक बार कहा था, 'विष्णुकान्त जी की प्रतिबद्धता का कायल हूँ।' रामजन्मभूमि के प्रति प्रतिबद्धता है तो कारसेवकों के साथ चल रहे हैं। वे वामपंथी मित्रों की तथाकथित जनचेतना के दावों से क्षुब्ध थे क्योंकि उनकी कथनी और करनी का अन्तर उन्हें कहीं साल रहा था। शास्त्री जी— नामवर सिंह, रामविलास शर्मा, अज्ञेय और भारती के साथ अपने वैचारिक टकराव और हार्दिक लगाव की बात भी स्वीकार करते आए हैं। साहित्य के क्षेत्र में ऐसा अजातशत्रु ढूँढे नहीं मिलेगा।

शास्त्री जी के साथ उनके हिमाचल प्रवास के दौरान अनेक कार्यक्रमों में साथ रहने का अवसर मिला। बेटे की शादी का निमन्त्रण देने राजभवन पहुँचा। संध्या का समय, बादल छाए थे, शास्त्री जी लॉन में परिजनों के साथ बैठे हल्की फुहारों का आनन्द ले रहे थे। वहीं बुला लिया। निमन्त्रण पत्र अंग्रेज़ी में छपा देख एकाएक नाराज़ होकर कहने लगे, आपको ऐसा नहीं करना चाहिए था। यदि बेटे का आग्रह था तो साथ में हिन्दी में भी निमन्त्रण छपना चाहिए था। मुझे अपनी गलती का अहसास हुआ। शास्त्री जी कृपापूर्वक शादी में पधारे, वर-वधू को स्नेहाशीर्वाद दिया। अत्यन्त सादा भोजन किया और बतियाते रहे। अहैतुक स्नेह देना उनका स्वभाव है और मुझे यह प्रभूत मात्रा में मिला है। सोचता हूँ मैं तो किसी भी तरह इसका पात्र नहीं था।

शास्त्री जी के शिमला प्रवास की असंख्य मधुर यादें हैं जो यदा-कदा स्मृति पटल पर उभर कर भाव-विभोर कर जाती हैं। शास्त्री जी अपने यशस्वी, सार्थक एवं साधनापूर्ण जीवन के ७५ वर्ष पूरे करने जा रहे हैं यह हम सबके लिए परम आनन्द का विषय है। इस उपलक्ष्य में अमृतोत्सव मनाने का जो पुण्य संकल्प 'श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय' ने किया, है वह प्रशंसनीय है। शास्त्री जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर भव्य अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना आह्लादकारी है क्योंकि सरस्वती पुत्र के चरणों में अपने भाव-सुमन अर्पित करने का अवसर इसके माध्यम से उनके प्रशंसकों को मिलेगा। शास्त्री जी की यादों से सुवासित और सहज आत्मीयता में भीगे क्षणों को शब्दों में बाँधकर संस्मरणों के रूप में पिरोना अनाधिकार चेष्टा लगती है। सोचता हूँ हरी दूर्वा पर बालसूर्य की लालिमा युक्त किरणों से दमकती ओस की बूँदों का सौन्दर्य क्या अंजुली में भरकर किसी पात्र में उंडेला जा सकता है ! ●

सौजन्य : Mamraj Agarwal, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-700 001

पुरुषोत्तम दास हलवासिया

सर्वभूत हिते रता

मन, वचन और कर्म से जिसने रामजी की इच्छा को सर्वोपरि माना; जिसने सारे कार्य रामजी की इच्छा मान कर किये; राजनीति में प्रवेश को भी जिसने राम जी की इच्छा ही माना; जिसके मन में राम समाया है और राम जी की इच्छा जिसके जीवन का मंत्र है उस व्यक्ति का नाम है विष्णुकान्त शास्त्री। शास्त्री जी के परिवार से मेरा दो पीढ़ियों का सम्पर्क रहा है। मुझे स्मरण है बचपन में मेरी माता जी मेरी बहन के साथ उनके घर परिवार से निरंतर मिलती थीं। उन दिनों कुछ परिवार की महिलाओं ने मिलकर पं० राधेश्याम कथावाचक लिखित कृष्ण सुदामा नाटक करने की योजना बनाई उसमें परिवार के बच्चों ने भाग लिया था। मेरी बहन भी उसमें भाग ले रही थी। उस नाटक की पूरी योजना शास्त्री जी के घर पर ही चलती थी।

शास्त्री जी के पिताश्री पं० गांगेय नरोत्तम जी शास्त्री स्थानीय श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय में संस्कृत के आचार्य थे। अत्यन्त ही सौम्य पर दबंग स्वभाव के थे। बच्चे ही नहीं सभी अध्यापक और संस्था के संचालक भी उनका बहुत सम्मान करते थे। ऊँचा ललाट, ऊँचा कद, भरा बदन, गौरवर्ण। जब बोलने को खड़े होते तो मानो सरस्वती की वाणी हो। भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में उनका जीवन था।

ऐसे परिवार के वंशज श्री विष्णुकान्त जी ने अपने पिताश्री का अनुगमन करते हुए जीवन में अध्यापन को ही अपना क्षेत्र चुना और एक सफल आचार्य के रूप में समाज में आज उनकी मान्यता है। अध्यापन, स्वाध्याय, लेखन के साथ कवि हृदय की भावना भी शास्त्री जी में सदैव प्रगट होती है। गुरु शिष्य परम्परा में आस्था रखने वाले शास्त्री जी के शिष्य इनके प्रति अत्यधिक सम्मान के भाव से इनमें "गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः" का साक्षात्कार करते हैं और शास्त्री जी भी उनके प्रति सन्तान की तरह अपना स्नेह बनाये रखते हैं। उनका मार्गदर्शन करते हुए उन्हें जीवन की सार्थकता को प्रमाणित करने के लिये "धृति, दृष्टि, मतिर्दाक्ष्य" का विवेकपूर्ण आचरण करते रहने की प्रेरणा देते हैं।

अपने देश के सबसे बड़े प्रदेश के प्रतिष्ठित राज्यपाल रहते हुए भी निरभिमानी, मिलनसार और अपने व्यवहार से सबों को आकर्षित करने वाला व्यक्तित्व इनकी विशाल सहृदयता को प्रगट करता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित दुःख भाग्भवेत्।।

सब की मंगल कामना ही उनके जीवन का लक्ष्य है।

भारतीय संस्कृति के विषय में उनके विचारों में अत्यन्त ही मौलिकता है। अभी हाल ही में भारतीय संस्कृति के विषय में चर्चा के समय उन्होंने कहा कि हमारी संस्कृति विश्व संस्कृति है। यह केवल भारतीयों का ही नहीं, प्राणीमात्र के हित चिन्तन का आधार लेकर चलती है। 'सर्वभूत हिते रता' सब प्राणियों के हित के लिये कार्यरत रहना, यह हमारी संस्कृति का मूल है। यह विश्व विकासशील है उसके विकास में सहयोग देना सब का कर्तव्य है।

मुद्रक : National Printing Works, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-700 001

मनुष्य ही सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना है। "नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित"। अन्य प्राणियों से इसकी श्रेष्ठता इसके विवेकपूर्ण चिन्तन और कर्म के कारण ही प्रमाणित होती है। इसके विवेकपूर्ण कर्तव्य को ही धर्म का रूप उसके स्थायित्व के लिये दिया गया और उसे सनातन माना गया। मनुष्य पर ही सृष्टि की चिरंतनता को बनाये रखने का उत्तरदायित्व है। समय समय पर उसमें विकृतियाँ आती हैं और उनका परिमार्जन भी होता रहता है। आज की समाज व्यवस्था पर चिन्ता होनी स्वाभाविक है किन्तु इसे इसी प्रकार चलता रहेगा यह मानना भूल होगी। इसमें सुधार अवश्य होगा यह विश्वास लेकर चलना ही उचित है। उसके लिये सबों को यथाशक्ति, यथा संभव प्रयत्न करते रहना चाहिए यह आज की आवश्यकता है।

शास्त्री जी ने अपने इन्हीं विचारों को सभी स्थानों पर व्यक्त करने का संकल्प ले रखा है। प्रभु उन्हें स्वस्थ रखते हुए दीर्घायु प्रदान करे जिससे वे समाज का मार्गदर्शन करते रहें। ●

विश्वंभर सुरेका

एक विरल व्यक्तित्व

विष्णुकान्त जी से सर्वप्रथम मेरा परिचय १९६२ ई० में हुआ। पहले मेरा निवास स्थान सलकिया था, अतः कलकत्ता आने जाने के बावजूद यहाँ के साहित्यिक और सांस्कृतिक जगत से मेरा विशेष परिचय नहीं था। पर इस ओर रुझान होने के कारण मैं तत्काल ही अनामिका से जुड़ गया। उन दिनों अनामिका एक घरेलू सी संस्था थी, जिसमें शास्त्रीजी पूर्णतः सक्रिय थे। अधिकतर कार्य और कार्यक्रम सब आपस में मिल बैठकर तय कर कार्यान्वित कर लेते थे। ऐसे में स्वाभाविक था कि हमलोगों का मिलना-जुलना काफी अधिक हो। समयानुकूल शास्त्रीजी की कविताओं की प्रस्तुति, उनके ठहाके, उनके संबोधन, हम सभी को प्रिय थे। मैं उनकी विनम्रता और सहजता का विशेष कायल था। कहाँ उनकी विद्वत्ता, कहाँ मेरा सीमित ज्ञान! पर वे जिस आत्मीयता से बातचीत करते उससे ऐसा लगता, जैसे वे हममें से ही एक हैं— एकदम अपने। शास्त्री जी से तब का परिचय जिसे आज लगभग ४२-४३ वर्ष हो गए हैं, वैसा ही है— अपनत्व से भरा! और इसका श्रेय शास्त्री जी को ही जाता है। कभी ऐसा नहीं सुना, कि शास्त्रीजी ने किसी के लिए कोई बात कही हो, या किसी और ने कभी भी उनके विपरीत कुछ कहा हो। सरल, सच्चे, सहज शास्त्रीजी किसी के दुख के हिस्सेदार बनने से नहीं चूकते लेकिन किसी से भी कभी कुछ नहीं चाहते।

उनके राजनीति प्रवेश पर सब चौंक पड़े थे पर वहाँ भी वे वैसे ही विष्णुकान्त जी बने रहे जैसे पहले थे। न ही हिमाचल और न ही उत्तर प्रदेश के राजभवन से उनके हावभाव और तौर तरीकों में कोई अन्तर आया। मेरे जीवन और अनुभव में जितने भी व्यक्ति आए उनमें शास्त्रीजी सरीखे व्यक्तित्व विरले ही होते हैं।

उनके अमृत महोत्सव पर मेरा प्रणाम। ●

सौजन्य : Shree Chand Nahata, P. R. N. House, 177, M. G. Road, Kolkata-700 007

राकेश ओझा

आस्तिकता एवं विनम्रता के हिमालय

कीरति भनिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी की छवि मन में उभरने के साथ ही गोस्वामी जी की यह चौपाई भी अनायास ही अन्तर में ध्वनित होने लगती है। सचमुच "सब कहँ हित" का भाव ही उनका सहज स्थायीभाव और समूचे व्यक्तित्व का पर्याय बन गया है और विशेष बात यह है कि यही उनका बिल्कुल स्वाभाविक स्वरूप है, जिसके लिए उन्हें कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। उनके शिष्यों एवं स्नेहीजनों को प्रायः उनसे ईश्वर के कृपामय होने के प्रमाणस्वरूप यह सूक्ति सुनने का सौभाग्य मिला है कि जैसे पीतल निर्मित मूर्ति से पीतल ही प्राप्त हो सकता है वैसे ही कृपा मात्र से निर्मित होने के कारण ईश्वर सदैव केवल कृपा ही करते हैं। मुझे लगता है कि कुछ ऐसी ही उक्ति स्वयं उनके व्यक्तित्व के विषय में भी चरितार्थ होती है जो कि केवल सद्भाव और सर्वमंगल जैसे तत्त्वों से निर्मित होने के कारण सभी को सदैव केवल सद्भाव एवं मंगल ही प्रदान करता है।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के गरिमामय पद पर आसीन महामहिम आचार्य शास्त्री जी के साथ विगत तीन वर्षों से अधिक समय से सहयोगी के रूप में कार्य करना वस्तुतः एक सुखद और सौभाग्यपूर्ण अनुभव है। अपने संवैधानिक दायित्वों के प्रति पूर्णरूपेण सजग आचार्य शास्त्री सदैव अपने मानवीय एवं अभिभावकीय दायित्वों के प्रति भी सहज रूप से सजग रहते हैं। पद का कोई अधिकार-बोध उनमें परिलक्षित ही नहीं होता, हाँ, जो सदैव ही झलकता है वह है विशुद्ध कर्त्तव्यबोध। अपनी विशिष्ट जीवनशैली के द्वारा तन और मन को सदैव स्वस्थ रखते हुए तथा केवल सकारात्मक ऊर्जा ग्रहण एवं निस्सृत करते हुए शास्त्री जी कभी कर्त्तव्याकर्त्तव्य की दुविधा में नहीं पड़ते हैं तथा 'प्रभु की कृपा' अथवा 'प्रभु की इच्छा' के सम्बल के सहारे अपना मार्ग तत्काल चुन लेते हैं। यदि कुछ अपने मनोनुकूल घटित होता है तो 'प्रभु की कृपा' और उसके विपरीत होने पर 'प्रभु की इच्छा', लेकिन दोनों ही समान रूप से शिरोधार्य। वे कहते हैं कि जब भी दो अलग-अलग कर्त्तव्य-स्थितियों के बीच संशय उत्पन्न हो तो यह देखना चाहिए कि उनमें कौन सा कर्त्तव्य बड़े, अथवा पुण्य उद्देश्य की पूर्ति करने वाला है, फिर अपना रास्ता चुनने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

अपनी अत्यधिक व्यस्त दिनचर्या के अनुरूप तत्परता और ओजस्विता के साथ कदम से कदम मिलाते हुए वे अक्सर मुस्कुराते हुए कहते हैं— 'इंच-इंच साँस-साँस नपी तुली जिन्दगी।' अपनी कर्मठता एवं समयशीलता के साथ सुबह से शाम तक साँस-साँस समय का सदुपयोग करते हुए सभी आवश्यक कार्यों को करने के बाद भी, वह इतने सहज एवं तनावमुक्त रहते हैं कि ऐसा लगता है जैसे उनके पास समय की कोई कमी नहीं है। चाहे साहित्यिक लेखन हो या पत्रावलियों के निस्तारण का कार्य हो, या फिर परिचितों-अपरिचितों के पत्रों के उत्तर देने अथवा भेंट

व्यौरा : Bijni Dooars Tea Co. Ltd., 'Shantiniketan' 8, Camac Street, 4th Fl. Suit No. 1B, Kolkata-17

या समारोह हेतु समय देने का, अपने को क्षण-क्षण की व्यस्तता में बाँधते हुए भी वे समय निकाल ही लेते हैं और यथासम्भव किसी को निराश नहीं करते।

शिक्षण, समीक्षा, कविता, धर्म, दर्शन, अध्यात्म एवं राजनीति के विविध क्षेत्रों से उनका निष्ठा एवं मनोयोग के साथ जुड़े रहना वस्तुतः अपने आप में एक दुष्कर साधना है। धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के विविध गूढ़ से गूढ़ विषयों पर उनका गहन अध्ययन उनकी वक्तृताओं को इतना सहज एवं हृदयग्राही बना देता है कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। अपने विराट व्यक्तित्व एवं उदार चिन्तन के कारण ही वे सभी प्रकार की स्थितियों-परिस्थितियों में निर्लिप्त भाव से अपनी निष्ठापूर्ण और जीवन्त उपस्थिति की अनुभूति सहज रूप में कराते हैं और उसके बाद सब कुछ राम पर छोड़ देते हैं। यही कारण है कि वे छोटे-बड़े सभी लोगों के श्रद्धास्पद एवं आदरणीय होने के साथ ही उत्तरोत्तर बढ़ते यश एवं कीर्ति के भागी भी हैं और इन सबसे बढ़कर सदैव आत्मतोष और ईश्वर के प्रति कृतज्ञता-भाव से ओत-प्रोत रहते हैं।

साहित्य और कविता को वे व्यसन या रुचि नहीं बल्कि 'जीवन-ऊर्जा' के रूप में स्वीकार करते हैं। कविता को मनोरंजन की वस्तु कहना उन्हें बहुत ओछी बात लगती है। जीवन के सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव एवं आशा-निराशा की स्थितियों में श्लोकों अथवा कविताओं से स्वयं भी शक्ति और ऊर्जा ग्रहण करते हैं, साथ ही दूसरों को भी प्रेरणा एवं सम्बल प्रदान करते हैं। उपनिषद्, गीता और रामचरितमानस का उनका अध्ययन अत्यंत गहन एवं विशद है। गीता में वर्णित योग और तप के विभिन्न स्वरूप उनका प्रिय प्रतिपाद्य विषय हैं। तप और योग के अलग-अलग स्वरूपों एवं परिभाषाओं को वे इतनी स्पष्टता और जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करते हैं कि सुनने वाला भावविभोर हो जाता है। गीता में अध्याय दो के अन्तर्गत योग की दो सुपरिचित परिभाषाओं 'समत्वं योग उच्यते' तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अतिरिक्त छठे अध्याय में वर्णित तीसरी कम प्रसिद्ध परिभाषा 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' को वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा इस परिभाषा की अत्यंत मर्मस्पर्शी व्याख्या करते हैं। इस परिभाषा में कहा गया है कि दुःख के संयोग के वियोग को योग कहते हैं। 'संयोग के वियोग' को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह वैसा ही है जैसे कटहल को चाकू से काटते समय हाथों में उसका दूध अनायास ही चिपक जाता है और छुड़ाए नहीं छूटता किन्तु हाथ में पहले सरसों का तेल लगा लेने के बाद यदि कटहल को काटें तो कटहल से दूध तो निकलता है लेकिन वह हाथों में चिपकता नहीं है। ऐसे विचारमौक्तिक एवं सूक्तियाँ आचार्य शास्त्री मात्र अभिव्यक्त ही नहीं करते वरन् अपने आचरण से चरितार्थ भी करते हैं।

उनकी वक्तृता और रचना-संसार दोनों ही इस बात के साक्षी हैं कि उन्हें सुन्दर विचार और रचनात्मक ऊर्जा, जहाँ भी देखने को मिली, उन्होंने विशुद्ध मन से आगे बढ़कर उसे अंगीकार किया है। सचमुच "आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः" के आर्षवचन को उन्होंने मूर्तिमान कर दिया है। वाल्मीकि, भर्तृहरि, कालिदास, वेदव्यास और विदुर आदि से लेकर हिन्दी के संत कवियों से आधुनिकतम काव्यशिल्पियों तक, गालिब, अकबर इलाहाबादी से लेकर बशीर बद्र तक जहाँ-जहाँ उन्हें उत्तम विचार मिले, उसे न केवल ग्रहण किया बल्कि अपनी रचनाओं और वक्तृताओं में ऐसी मनोरम शैली में प्रस्तुत किया कि अधिक से अधिक लोग उससे लाभान्वित हो सकें। वे सदैव अपने को एक विनम्र अध्येता के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा उनकी जिन उक्तियों पर श्रोता या पाठक मंत्रमुग्ध हो जाते हैं, उन विचारों के लिए वे कभी अपने गुरु स्वामी अखण्डानंद जी महाराज तथा कभी अन्य संतजनों, चिन्तकों एवं

सौजन्य : Narendra Shah, Powerflow Securities Co., 336, Marshall House, 33/1, N. S. Road, Kolkata-1

साहित्यकारों को उसका पूरा का पूरा श्रेय देना नहीं भूलते। अपने सम्बोधनों के मध्य नये से नये रचनाकार का नाम लेकर उसकी मनभावन काव्य-पंक्तियों को बड़े से बड़े मंचों से उद्धृत करना उनके जैसे असीम बड़प्पन वाले व्यक्ति द्वारा ही सम्भव है। उनके इस प्रकार के सद्भाव और स्नेहाशीष से कितने लोग दिन प्रतिदिन ऊर्जा एवं प्रेरणा प्राप्त करते हैं, यह हिसाब रख पाना कठिन है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को निकट से देखना व सुनना विनम्रता, स्थितप्रज्ञता और आध्यात्मिकता की नित नयी ऊँचाइयों की अनुभूति कराता है। अपनी विलक्षण स्मरणशक्ति, ऊर्जावान् जीवन दृष्टि, कर्मठता तथा सक्रियता के साथ वे किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में खड़े समाज को योगेश्वर श्रीकृष्ण की भांति निरंतर कर्म एवं प्रेम के संदेश से लाभान्वित करने का प्रयास करते हुए भगवान से यही प्रार्थना करते हैं—

शुभाशीष दो, करूँ राम मैं केवल काम तुम्हारा,
अहंकार हर लो, हो सम्बल केवल नाम तुम्हारा।
जग के नाना रूपों में मैं देखूँ नाथ तुम्हीं को,
अखिल विश्व को समझ सकूँ मैं केवल धाम तुम्हारा।

समाज के ऐसे शुभैषी महामनीषी आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को उनकी अमृत जयंती के पुनीत अवसर पर शत-शत नमन करते हुए हम परमपिता परमेश्वर से उन्हें शतायु एवं चिरंजीवी बनाने हेतु प्रार्थना करते हैं। ●

शुभकामनाएँ

विष्णुकान्त जी शास्त्री, जियें हजारों वर्ष
पाएं वे हर क्षेत्र में, नव-नवीन उत्कर्ष।
नव-नवीन उत्कर्ष, चले अनवरत साधना
राजनीति, साहित्य-सृजन या प्रभु अराधना।
कह 'प्रशांत' है 'राष्ट्रधर्म' का बस यह कहना
राजनीति में कमल पुष्प बन कर ही रहना।।

—विजय कुमार 'प्रशांत'

सौजन्य : Shree Kishan Shanti Devi Agarwal, 117, B. K. Paul Avenue, Kolkata-5

डॉ० धर्मपाल मैनी

शास्त्री जी : व्यक्तित्व की एक झलक

'काम एष क्रोध एष' आदि के माध्यम से अन्तः स्फूर्त व्यक्ति सहजता से बोलता चला जा रहा है और मंत्रमुग्ध जन-समाज इस अभूतपूर्व धारा-प्रवाह अभिव्यक्ति में तल्लीन है— इतना शांत-जैसे वहाँ कोई हो ही न। गीता और उपनिषदों के अन्यान्य उद्धरणों से अपनी बात को पुष्ट करते हुए और रामकृष्ण परमहंस के जीवन पर उसे घटाते हुए इतनी स्वाभाविकता, सरलता, सरसता और स्पष्टता से अपनी बात कहते चले जा रहे थे कि उनके धारा-प्रवाह वक्तृत्व में चिन्तन का कोई स्थान ही न था- हृदय से निकली हुई वाणी श्रोताओं के अन्तर्मन में इतनी सहजता से प्रवेश कर रही थी—और उनके सहृदय का श्रद्धावान् भक्त अनायास ही आत्म-विभोर होता जा रहा था। नारी-मात्र में मातृ-शक्ति के दर्शन करने वाले रामकृष्ण ने किस प्रकार शारदा माँ की आराधना कर अपने इस भाव का उदात्तीकरण किया- इसका उल्लेख हृदयस्पर्शी था। तब क्रोध की व्याख्या आरंभ हुई- 'क्रोधाद्भवतिसम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।' गीता के दूसरे अध्याय के उद्धरणों से अपनी बात की पुष्टि करते हुए बोले- कामना की पूर्ति न होने पर ही तो क्रोध उपजता है और वह कितना भयावह है, इसका विस्तृत विवेचन करने के बाद लोभ से परिचय करवाना आरंभ किया। मानव की अनंत एषणाओं की आधार-भूमि यह कामना ही तो लोभ में परिणत हो जाती है और वह परिग्रह के चक्कर में सभी कुछ तो संजो लेना चाहता है। 'मैं' और 'मेरा' यह सब है—इस अहंकार से अनायास ही वह पतन के गर्त की ओर अग्रसर हो जाता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से बचने का एकमात्र साधन है—प्रभु से निश्चित वैयक्तिक रागात्मक संबंध। माँ हो, पिता हो, भाई, सखा—कुछ भी हो सकता है, पर वैयक्तिक रागात्मक संबंध होना चाहिए। श्रोताओं का दुर्भाग्य कि घड़ी अबाध गति से चलती जा रही थी— और उन्हें रुकना पड़ा—शीघ्र लौटना जो था।

मैं सोचता रहा— रामकृष्णदेव को पढ़ने-गुढ़ने वाले तो बहुत हैं, समझकर समझाने वालों की भी कमी नहीं, लेकिन उन्हें अनुभव कर, आत्मसात् कर उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाला कोई विरला ही विष्णुकान्त है--शायद कलकत्ता की महानगरी में दक्षिणेश्वर के संत के अंतर्मन के निनाद को उसने अनायास ही हृदयंगम कर लिया हो। विगत २५-३० वर्षों से उनके संपर्क में आते हुए यह अनुभव होता रहा कि उनका रामभक्त जिस अनन्यता, तल्लीनता और एकाग्रता से सतत प्रगति-पथ का पथिक रहा है— उससे यह महामहिम पद कितना छोटा है। अस्तु ! बहुत बार 'सांस्कृतिक भारतीय' का आदर्श या मानकीकृत रूप का सृजन करने में प्रयत्नशील रहा हूँ, अब लगने लगा— इन्हें ही क्यों न उसमें फिट कर दिया जावे।

यह मेरी विवशता थी कि उन्हें सुनकर मुझे जाना पड़ा और बाद में पता चला कि वे मुझे ढूँढने में प्रयत्नशील थे— अपने महत् का परिचय देते हुए। महापुरुषों की छोटी-छोटी बातों से ही उनके महत् का परिचय मिलता है। किं बहुना ! मंगलमय से प्रार्थना है, ऐसे महापुरुष को शतायु करें, ताकि अपने उज्ज्वल मानस से वे अधिकाधिक लोक-कल्याण करते हुए जीवन को सफल व सार्थक कर सकें। मेरा सश्रद्ध नमन। ●

सौजन्य : Rang Rez, 45/1, Rafi Ahmed Kidwai Road, (2nd Fl.) Kolkata-700 016

डॉ० शीला मिश्र

वैष्णव जन तो तेने कहिए.....

जीवन में कभी कभी कुछ ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जिनकी सुरभि चन्दन के समान वातावरण में फैलती रहती है और मन प्राण को सुरभित कर जाती है। इस यात्रा में चलते-चलते जीवन पथ पर कुछ ऐसे फूल खिल जाते है जिनकी सुगन्ध साथ चलती है दूर तक। इस सागर में ऐसे मोती मिल जाते हैं जिनकी आभा हमें सत्यपथ पर चलने हेतु मार्ग दर्शन देती रहती है। एक ऐसा ही विरल व्यक्तित्व है परम श्रद्धेय पं० विष्णुकान्त शास्त्री का। प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, सहजता, सरलता, विद्वत्ता की जीवित प्रतिमूर्ति हैं वे।

बात वर्ष १९९९ की है। १४ सितम्बर, १९९९, लन्दन में आयोजित छठा विश्व हिन्दी सम्मेलन —हम सभी उसमें भाग लेने हेतु जा रहे थे। एयर इन्डिया का विमान "अशोक" और उसमें बैठे हुए भारत के मूर्धन्य साहित्यकार— हंसी, ठहाके, मुस्कुराहटें, प्रेम का आदान प्रदान करती नजरें, गर्मजोशी से मिलते हाथ और दस घंटों की लम्बी उड़ान को सीमित करने के उद्देश्य से आयोजित एक कवि सम्मेलन—गगन में। संचालन कर रहे थे कॉकपिट में बैठे श्री कन्हैयालाल नन्दन। कवियों में जिसके नाम की घोषणा की जाती वह भी कॉकपिट की सीढ़ियाँ चढ़ता, काव्यपाठ करता और विमान में बैठे सभी यात्री कविता की सराहना करते। सचमुच ये दस घंटे कब सिमट कर दस मिनट बन गये—पता ही नहीं चला।

आकाश से जमीन पर आना कैसा लगता है यह सुना तो था लेकिन अनुभव हुआ लन्दन के हीथ्रो हवाई अड्डे पर उतरते ही, जहाँ से मेरा सारा सामान ट्राली सहित खो गया। सामान ढूँढ़ने की चेष्टा में मैं साथ आये हुए इस दल से भी बिछड़ गई और अकेले ही लन्दन की ट्यूबट्रेन में बैठ कर जब 'सोएस' के होस्टल पहुँची तो सभी मेरी कुशलता जानने हेतु व्याकुल थे। मेरा सारा सामान खो गया—केवल पर्स बचा है यह सूचना बेतार के तार की भाँति सब तक पहुँच गयी। "कैसे खो गया सामान, ठीक से नहीं रखा था?"

स्वर में बड़ा वात्सल्य था, करुणा, प्रेम सब कुछ। चौंक पड़ी मैं, किंकर्तव्यविमूढ़ता की उस स्थिति में ऐसा लगा जैसे तप्त रेगिस्तान में खड़े किसी प्यासे को जल की कुछ बूँदे मिल गयी हों।

"पासपोर्ट है या वह भी सामान में ही था, पैसे हैं आपके पास ?" इस संवेदना से आँखों में भर आये आँसुओं को रोकते हुए मैंने देखा—शास्त्री जी सामने खड़े थे—उनकी आँखों में जिज्ञासा के साथ-साथ करुणा भी थी, स्नेह भी। घुंघराले बाल, उज्ज्वल ललाट, ऊँचा कद, धोती कुर्ता और गले में तिरंगे कोर वाला श्वेत दुपट्टा। आकृति बड़ी भव्य, गरिमापूर्ण, दिव्य, परन्तु सरल, सहज और करुणापूर्ण। मैंने चरण स्पर्श किये और बताया कि कुछ पाउंड मेरे पास हैं—धन की चिन्ता तो नहीं है परन्तु सामान के नाम पर तो टूथपेस्ट या एक कंघा भी शेष नहीं बचा है।

शास्त्री जी ने कहा— "विदेश में सबसे आवश्यक पासपोर्ट ही होता है। वह बच गया, ईश्वर को धन्यवाद दो। शेष काम तो चल ही जायेगा।"

प्रोफेसर : सेन्चुरी प्लाईबोर्ड्स (इण्डिया) लि०, ६, लायड्स रेन्ज, कोलकाता-७०० ००१

तब तक पं० विद्यानिवास जी, माननीय केशरीनाथ त्रिपाठी, हिमांशु जोशी, कमलेश्वर जी, शिवानी जी सभी मेरे पास आ चुके थे। सारा सामान खो गया है यह जान कर सभी चिन्तित थे। हीथ्रो एयर पोर्ट पर ऐसी घटनायें पहले भी हो चुकी हैं— यह सभी कह रहे थे। सभी गुरुजनों ने मुझे अपने अपने ढंग से सान्त्वना दी परन्तु शास्त्री जी का वात्सल्य मुझे अन्तर तक छू गया। पाँच दिनों के लन्दन प्रवास में उन्हें कई बार देखने व सुनने का सौभाग्य मिला। अनेक सत्रों में वे अध्यक्ष रहे और विदेशों में हिन्दी की स्थिति पर अपने अमूल्य विचार रखे। उन्हें सुनना अपने आप में एक अद्भुत अनुभव है। वे प्रत्येक शब्द को गरिमा प्रदान करते है— कोई भी शब्द बिना उनसे अनुमति लिये उनकी जिह्वा पर नहीं आ सकता। शब्द ब्रह्म है, इस बात का तो पूरा ध्यान रखते हैं। बोलते समय उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य सहज ही दिखाई दे जाता है— अनायास। वे अत्यन्त सहज भाव से बोलते हैं, अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में अपनी बात कहते हैं और ये बातें सीधे हृदय में उतरती चली आती हैं।

विश्व हिन्दी सम्मेलन के एक सत्र में उन्होंने कहा था— "हिन्दी अनुरोध की भाषा कभी नहीं रही—वह प्रतिरोध की भाषा है। वह कभी दयनीय नहीं रही–हो भी नहीं सकती। केन्द्रीय सरकार–हिन्दी प्रेमियों को भरमा कर हिन्दी को उसके प्राप्य से वंचित करती रही है। विश्व सम्मेलनों के प्रदर्शनों से नहीं, लोक सम्मेलनों के निर्णयों के क्रियान्वयन से ही हिन्दी को वास्तविक शक्ति मिल सकती है"।

इन सत्रों के बाद शाम को सभी साथी छोटे छोटे समूहों में बैठ कर काव्य पाठ या कहानी गोष्ठी आयोजित करते थे। कवि गोष्ठी तो कहीं भी किसी बरामदे में, किसी प्रकोष्ठ में या किसी बगीचे में आरम्भ हो जाती थी। आजकल मुख्य रूप से कवि अतुकान्त रचनाएँ लिखते हैं। शास्त्री जी सदैव लयबद्ध रचनाओं पर जोर देते—कहते काव्य में छन्द की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इन्हीं गोष्ठियों में उन्होंने अपने विचार स्पष्ट रूप से रखे थे— "हिन्दी की आधुनिक कविता में छन्द की स्थिति से मुझे तीव्र असन्तोष है। मुझे लगता है कि मुक्त छन्द की अतिशयता काव्य सौष्ठव को क्षतिग्रस्त कर रही है। बहुतेरे नये कवियों में छन्दोज्ञान का शोचनीय अभाव है, इसीलिए अधिकांश समकालीन कवियों के मुक्त छन्द अनगढ़ गद्य बनते जा रहे हैं। मुक्त छन्द भी अपनी आन्तरिक लयवत्ता विविध मात्राओं, वर्णों के छन्दों का आधार लेने पर ही अधिक प्रभविष्णु बन सकते हैं। पूरी काव्य रचना मुक्त छन्द में ही हो, यह विकल्पहीन स्थिति काव्य को वांछित नहीं हो सकती। अतः नये कवियों को भी छन्दों की विविधता के द्वारा अपनी कविता को समृद्धतर बनाना चाहिए।"

इसी आयोजन के मध्य यू. के. की हिन्दी संस्थाओं ने एक कवि सम्मेलन का आयोजन भी किया था। हिन्दी के सुपरिचित कवियों के अतिरिक्त वहाँ सर्वश्री नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, हिमांशु जोशी, कन्हैयालाल नन्दन, कमलेश्वर, महीप सिंह, राहुल देव जैसे शीर्षस्थ साहित्यकार उपस्थित थे। डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जो यू. के. में भारतीय उच्चायुक्त का पद सुशोभित कर चुके हैं, उन्होंने भी भारत तथा विदेशों में हिन्दी की स्थिति पर प्रकाश डाला था और शास्त्री जी के साथ ही सभी का यह मत था कि हिन्दी की स्थिति स्वदेश में ही बदतर हो गयी है। हिन्दी वालों को यह सोचना है कि हमने अपने आवेग को खो कर अपनी निष्ठा को असुरक्षित कर दिया है। विशेष रूप से सच की निष्ठा तभी तक सुरक्षित रहती है जब तक उसके लिए आवेश रहता है। नदी तभी तरण तारिणी रहती है जब तक उसमें तेज धार होती है। सभी अवसरों पर मैंने शास्त्री जी को हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर चिन्तित होते देखा है।

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

इन आयोजनों के बीच आते जाते वे मुझे बराबर खोये हुए सामान के बारे में पूछते रहते थे। कैसे काम चल रहा है, यदि धन की आवश्यकता हो तो यहाँ के उच्चायोग से बात की जाये आदि। मुझे लगता रहा कि सच्चे पिता समान वे विदेश में मेरी इस स्थिति पर अवश्य चिन्तित हैं। किसी तरह पाँच दिनों का यह प्रवास पूरा हुआ। मेरे सभी साथी तो वहाँ से स्विटजरलैंड, जर्मनी, फ्रांस आदि की यात्रा पर चले गये परन्तु मैं विस्थापित शरणार्थी सी स्वदेश लौटने को बाध्य हो गयी। हीथ्रो एयरपोर्ट पर सम्मेलन से लौटने वाले सदस्य एक बार पुनः एकत्रित हुए। उसमें कुछ तो समय का सदुपयोग करने लंदन की गलियों में विचरण करने चले गये परन्तु कुछ वहीं आराम करने के उद्देश्य से रुक गये। आदरणीय शास्त्री जी भी वहीं आराम कुर्सी पर बैठ गये थे। मुझे देखते ही पूछा—

"लन्दन की सैर कैसी रही ?"

"मुख्य मुख्य स्थान तो देख लिये सर", पार्लियामेंट, म्यूज़ियम, बाकिंघम पैलेस, हाइड पार्क आदि। बाहर जाना नहीं हो सका।"

"यहाँ के लोगों को अपनी संस्कृति पर गर्व करना आता है। मादाम तुशाड का म्यूज़ियम देखा ? एक से एक कलाकृतियाँ बनी हैं— मोम की मूर्तियाँ पर ऐसा लगता है जैसे छू दो तो बोल उठेंगी। स्टेनफोर्ड देखा— शेक्सपीयर जहाँ रहते थे उस स्थान को कितने सुन्दर ढंग से रखा है—उनकी टेबल, कुर्सी, उनका पेन, चश्मा सभी कुछ सुरक्षित है। हमारे यहाँ तो सूरदास, तुलसीदास कहाँ पैदा हुए थे उस स्थान को लेकर भी भ्रान्तियाँ हैं— स्थान सुरक्षा की तो बात ही छोड़ें। शेक्सपीयर के नाटकों के नाम पर वहाँ कितनी ही रंगशालायें हैं—मैकबेथ, ऐज़ यू लाइक इट, टेम्पेस्ट सभी सदा हाउसफुल रहते हैं। हमारे देश में तो....."

शास्त्री जी के स्वर में कहीं निराशा झलक रही थी। वे वर्तमान में आते हुए बोले—

"यहाँ की चाकलेट बहुत प्रसिद्ध है। आप अपने लिए ले रही हों तो एक दो पैकेट मेरे लिए भी लेती आइयेगा— नाती पोतों के लिए लेता जाऊँगा— सब प्रसन्न हो जायेंगे।"

उनके स्वर में फिर से नेह छलक आया था। मैंने चाकलेट ला कर उन्हें दिया और उनसे भी चखने का अनुरोध किया जिसे वे टाल गये—फिर पैकेट्स देखते हुए बोले—इन नामों की चाकलेट तो वहाँ भी मिलती हैं--कहीं बच्चे यह न कहने लगें कि नाना जी ठगे गये।

इसके बाद वे हँस पड़े—दूधिया हँसी बच्चों जैसी मासूम।

हिन्दी की न जाने कितनी कविताएँ उन्हें कंठस्थ हैं —निराला, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, सोहनलाल द्विवेदी, फिर सूर, तुलसी, मीरा के पद उनके कंठ से प्रवाहित होते रहे। बैठे बैठे दो घंटे का समय व्यतीत हो गया और हमारे वापस लौटने की बेला आ गयी। आदरणीय शास्त्री जी ने आशीर्वाद स्वरूप मेरे सर पर हाथ रखते हुए कहा—

"लन्दन प्रवास में आपको बहुत कष्ट हुआ—मैं पूरे यू. के. की ओर से आपसे क्षमा मांगता हूँ।"

मेरे नेत्र छलक आये—मैंने उनके चरण स्पर्श किये और मेरा रोम रोम कह उठा—"पराई पीर को जानने वाले शास्त्री जी केवल वैष्णव हैं।" मैं इस सच्चे वैष्णव को शतशः नमन करती हूँ। ईश्वर करे उनका वरद् हस्त हम सबके सर पर यूँ ही रखा रहे, उनका आशीर्वाद हमें ऐसे ही प्राप्त होता रहे और इस वैष्णव के चरणों में हमारा मस्तक यूँ ही झुका रहे। ●

सौजन्य : शंकर ट्रेडिंग कम्पनी, १५८, जानकीलाल बजाज स्ट्रीट, कोलकाता-७

डॉ० योगेश प्रवीन

निर्मल मानस-आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी

गहरे सागर की तह में बैठी हुई चुम्बकीय पत्थर की चट्टानें जहाज की कीलों को पुकारती हैं तो वो कीलें जहाजों के जिस्म तोड़कर, सारे बन्धन छोड़कर उन चट्टानों तक पहुँच जाती हैं, यही मोहब्बत का मौन संवाद है। प्रेम की इस से बढ़कर और कौन सी परिभाषा हो सकती है, इंसान के प्रति हो या भगवान के संदर्भ में। यह प्रेम ही है जो मनुष्य में छिपे सर्वश्रेष्ठ को सबके सामने लाता है, सर्वहित में लाता है। इसी सत्य को साकार करते हैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी। जिनके जीवन चरित्र में मानव से महामानव तक की यात्रा निहित है। स्निग्ध मन अजातशत्रु आचार्य के विचार, वचन और व्यवहार सदा एक लकीर में मिलते हैं और कहना न होगा कि उनकी यही अनमोल साधना उन्हें अद्वितीय बनाये हुये है।

उनके सारस्वत संस्कार उन्हें वीणापाणि का वरदपुत्र प्रमाणित करते हैं, गोस्वामी तुलसीदास की अमरकृति रामचरित मानस के दोहे—

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुनगन चुनइ राम बसहु हिय तासु।।

के अनुसार राम ही उनका अन्तर्मन है जिन्हें रेखांकित करती है उनके अधरों की वरद् निश्छल मुस्कान जो किसी भी सच्चे इन्सान का दिल जीत लेने में सक्षम है।

मेरे जीवन की वह एक अप्रतिम घटना थी, वह एक अविस्मरणीय दिन था जब 'अभिव्यक्ति' संस्था के संदर्भ में राजभवन में मेरा उद्‌बोधन था। गांधी सभागार के उस वृहत समारोह में पाँच मिनट से अधिक का वक्तव्य किसी के लिए नहीं था।

राज्यपाल के विशेष सचिव श्री राकेश ओझा मुझे सांकेतिक पर्चा दिखाने के लिए जब-जब आगे बढ़ते, शास्त्री जी उन्हें मना कर देते और हाथ के इशारे से कह देते इन्हें और बोलने दो। बाद में आशीर्वाद देते हुए बोले "योगेश तुम्हारा अभिभाषण बड़ा सुन्दर, बड़ा अद्‌भुत था, तुम बुद्धि से नहीं हृदय से बोलना जानते हो यह देवदत्त गुण है, यह एक बड़ी बात है, यही स्वाध्याय है" उसी क्षण मुझे पहले पहल समझ में आया कि हृदय की ध्वनि क्या होती है और उसका वास्तविक धनी कौन है।

समय बीतता गया और शब्दों का संबंध संस्कारों का रिश्ता बन गया। फिर तो मेरी चार पुस्तकों "डूबता अवध", "लक्ष्मणपुर की आत्मकथा", "आपका लखनऊ" और "देवता हमारे प्राण" का लोकार्पण शास्त्री जी के पारसमणि हाथों से ही हुआ। "देवता हमारे प्राण" में मेरे मन के शाश्वत स्वर हैं और फिर इस पुस्तक को समर्पित करने के लिए मेरे संसार में, मेरे संज्ञान में उनसे उपयुक्त, उनके सिवा कोई और नहीं था। मैंने इस पुस्तक के प्रारम्भ में कहा है—

सौजन्य : ईस्टर्न कन्क्रीट इंडस्ट्रीज, लिक्को हाउस, २, हेयर स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००१

जो निर्मल मन हैं, दिव्य तन हैं और गरिमा जीवन है।
जो इस तामस युग के त्रस्त परिवेश में भी अपने
वचन और शुभाचरण से देवत्व को रेखांकित कर
देने में सदा समर्थ हैं—उन्हीं परम विज्ञ
'आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी'
के कर कमलों में
'देवता हमारे प्राण'
श्रद्धा सहित, सादर समर्पित

शास्त्री जी की जीवन शैली, उनका नैसर्गिक बोध, मृदुल उदार चरित्र और सशक्त साहित्यिक अवदान ने उनको अमर संस्कृत साहित्य के एक धीरोदात्त नायक की सी गरिमा से अभिमण्डित किया है। इस आधारहीन आधुनिकता और पतनशील आडम्बरी समाज संकट में उनकी अर्थवान दर्शनमयी रचनायें बड़ी ऊर्जा प्रदान करती हैं। अध्ययन एवं अनुशीलन से सम्पृक्त उनका शब्द संसार मनुष्य को उसका खोया हुआ मनुष्यत्व सौंपता है, जो अपने आप में एक भरोसा है। वह स्वयं अपनी एक रचना में कहते हैं "गहि न जाइ अस अद्‌भुत बानी, को स्वीकारते हुए तुलसी साहित्य के अनुशीलन और विवेचन में मेरी मति, रति और कृति पवित्र होती रही है।"

मन की आदत है कि वह अपना कागज कोरा नहीं रखता, कोई न कोई रंग अपने लिए छीन लेता है यह रंग माया के हों या मोहन के हों। भुवन मोहन के रंगों में जो आत्ममुग्धा होती है वो आचार्य विष्णुकान्त जी के विमल व्यक्तित्व में अधिकाधिक है.....

ध्यान में डूबा हुआ मन और तप करता हुआ तन
सब समर्पित है तुम्हें, पर तुम भी मेरी लाज रखना
मान मेरी भावना का आज रखना।

शास्त्री जी का रचना संसार बड़ा विस्तृत है, अत्यंत व्यापक है। आध्यात्मिक लेखों में, साहित्यिक समीक्षाओं में, उनका हृदयलोक प्रतिबिंबित है तो उनके सुन्दर संस्मरणों में जीवन स्पंदित मिलता है।

मेरे साहित्यिक जीवन के सभी सम्मान उन पाँच सम्मानों से बढ़ कर नहीं हैं जो मुझे आदरणीय शास्त्री जी के कर कमलों से मिले। मेरठ विश्वविद्यालय की ओर से २३ जून २००२ को जब कुलाधिपति के नाते आचार्य जी ने डी. लिट् (साहित्य वारिधि) की सम्मानार्थ उपाधि मुझे प्रदान की तो मैंने मंच पर अपने विचार प्रकट किये। वापसी में उन्होंने मुझे अपने पास रोका, बड़े अनुराग से मेरे-शब्दों को सराहा, आशीर्वाद दिया और तब आगे जाने दिया।

एक बार किसी भक्त ने देखा कि देवर्षि नारद एक पुस्तक लेकर नारायण की ओर बैकुण्ठ जा रहे हैं। भक्त ने पूछा "इसमें क्या लिखा है ?" मुनि नारद ने कहा "उन सभी के नाम लिखे हैं जो भगवान की भक्ति करते हैं"। भक्त ने फिर पूछा "क्या मेरा नाम है?" नारद ने कहा "नहीं"। वापसी में नारद जी के हाथ में दूसरी, मगर छोटी पुस्तक थी। भक्त ने पूछा "इसमें क्या लिखा है ?" देवर्षि ने कहा "उनके नाम, भगवान जिन की भक्ति करते हैं और इसमें आपका नाम है।" मेरा मन कहता है कि वही नाम है — श्रीवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री। ●

सौजन्य : जय गोपाल गुप्ता, पी-४१, प्रिंसेप स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ०७२

विजय बहादुर सिंह

सहृदयता उनकी पहचान है

लखनऊ पहुँच मैंने अपनी भतीजी शशि के यहाँ से शाम चार के आसपास राजभवन फोन किया तो वे किसी मीटिंग में थे। फिर भी मेरा नाम सुनते ही उन्होंने अपनी सहायिका से फोन ले लिया और मेरे प्रणाम करने पर आशीर्वाद देने के बाद लखनऊ आने का प्रयोजन पूछा। जवाब में मैंने उन्हें सूचना सी दी– 'मेरे घर में एक दुर्घटना हो गई है।'

'क्यों तुम्हारे पिताजी तो पहले ही गुजर चुके थे ? अब क्या माताजी..... ।' उनकी आवाज़ में एक चिन्ता भरा सवाल था।

'नहीं। माँ को गुजरे भी चार-पाँच साल हो गए। मेरा बेटा भाजपा में चला गया और अब अंबेडकर नगर जिले का महामंत्री है।' मैंने उन्हें सूचित किया।

'तुम्हीं एक नालायक निकले उस परिवार में। तुम्हारे पिता ठीक थे और बेटा तो ठीक है ही।' उनकी आवाज़ में स्नेह भी था और नसीहत भी। किंचित खुशी भी। तभी मैंने कहा– 'वो भी मेरे साथ आया हुआ है, गाँव से। आज रात की गाड़ी से ही मैं भोपाल लौट जाऊँगा। आपसे मिलना चाहता है।' मेरी बात सुन उन्होंने थोड़ी कश्मकश महसूस की। फिर भी राजभवन की उस व्यस्तता के बीच दस पन्द्रह मिनट का वक्त देते हुए कहा —'अच्छा आ जाओ। मीटिंग चल रही है, दस पाँच मिनट की मुलाकात हो जाएगी।' फिर उन्होंने यह भी पूछा कि कितने लोग हो यहाँ गेट पर पहले से कहना पड़ेगा। वाहन है कि नहीं ?' मैंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा —'गाड़ी है, हम दो ही लोग रहेंगे। तो कहा —'अच्छा आ जाओ, मैं सहायकों से कहे देता हूँ।

हम दोनों ड्राइवर सहित पहुँचे तो राजभवन के द्वार पर हमारे पहुँचने की सूचना पहले से मौजूद थी और हमें गाड़ी सहित अन्दर ले लिया गया। थोड़ी बहुत औपचारिकताओं के बाद कुछ देर प्रतीक्षा हाल में इन्तज़ार भी करना पड़ा। लगभग बीस-पच्चीस मिनट बाद हमें उस कक्ष में ले जाया गया जहाँ उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल अपने प्रियजनों से मुलाकात किया करते हैं। एक बड़ा सा शीशम का टेबुल, तीनों ओर खूबसूरत कुर्सियाँ और एक ओर वह कुर्सी जिस पर स्वयं महामहिम बैठते हैं। हमें वहाँ भी दो चार मिनट की प्रतीक्षा तो करनी ही पड़ी और इस बीच मन ने कहा कितना मुश्किल है यह जीवन, जहाँ अपने मिलनेवालों से, अपने स्नेहियों से मिलने की प्रक्रियाएँ भी बेहद जटिल और औपचारिकताओं से तंग हैं। याद आता रहा 'आषाढ़ का एक दिन' का वह संवाद जिसे मातुल कश्मीर से लौटकर मल्लिका से शेयर करता है– 'मुझसे कोई पूछे तो मैं कहूँगा कि राज-प्रासाद में रहने से अधिक कष्टकर स्थिति संसार में हो ही नहीं सकती। आप आगे देखते हैं तो प्रतिहारी जा रहे हैं। पीछे देखते हैं, तो प्रतिहारी आ रहे हैं। सच कहता हूँ, मुझे कभी पता ही नहीं चल पाया कि प्रतिहारी मेरे पीछे चल रहे हैं या मैं प्रतिहारियों के पीछे चल रहा हूँ.....।'

सौजन्य : जवाहर लाल चौपड़ा, १०७, ओल्ड दीघा बाजार स्ट्रीट, कोलकाता-१

यह सब सोच ही रहा था तभी पीछे के एक और बड़े कक्ष से किसी के उठने और चलकर हमारी ही तरफ आने की पदचाप सुनाई देने लगी। हम दोनों पिता-पुत्र अपनी अपनी कुर्सियों से उठकर खड़े हो गए। धोती-कुरता, गले में लिपटा और घुटनों तक लहराता उत्तरीय, पाँवों में जूते किन्तु चेहरे पर वही जानी-पहचानी सहजता, आत्मीय मुस्कान से भरी, जैसे यह भी कह रही हो कि 'यार ! यह भी होना था। तुम किसी अपने से उन्मुक्त होकर मिलना भी चाहो तो लगभग असंभव है।' शास्त्री जी, जिन्हें मैं अपने छात्र-जीवन से अभी तक इसी संबोधन से याद करता हूँ कुछ-कुछ हड़बड़ी और कुछ-कुछ उलझन में जैसे थे। उनके आते ही हम दोनों ने झुककर प्रणाम किया। उन्होंने अपनी कुर्सी पर बैठते हुए हमें भी बैठ जाने का इशारा किया। किंचित आश्वस्त हो, जैसे कि थोड़ी देर के लिए सारी झंझटें दरकिनार कर बेटे से उसका नाम पूछा और याद सा करते हुए कहा— 'इसको वहाँ कलकत्तावाली दूकान आर्य पुस्तक भवन पर बैठे देखा है न ? अब कौन चलाता है, वह दूकान ?' मैंने जवाब दिया— इसका चाचा, मेरा छोटा भाई बुद्धदेव। इसका स्वास्थ्य उधर ठीक नहीं रहा करता था तो यही सोचा गया कि कलकत्ता छोड़ दे और इधर आ जाए। अब ठीक है। पर आप इसे देख तो रहे हैं।' इस बीच मेज़ पर बंगाली मिठाइयों की एक प्लेट लाकर रख दी गई थी और पानी से भरे हुए साफ झक-झक काँच के गिलास भी। उन्होंने हमसे मिठाई उठा लेने का आदेश देते हुए कहा— 'ये तो ठीक ही चल रहा है, तुम्हीं भटके हुए हो। तुमने अपने पिता से भी कुछ नहीं सीखा। वे तो आर्य समाजी थे और तुम कम्यूनिस्टों के साथ चले गए।' मैं मिठाई खाता हुआ, उनकी डाँट का मजा लेता रहा पर यह भी कि वे बगल के कमरे में कुछ लोगों को विचार-विमर्श करते छोड़ आए हैं और उन्हें दुबारा फिर जल्दी ही उसी बैठक में लौट जाना है। जानबूझ कर मैंने बात आगे नहीं बढ़ाई पर इतना तो उन्हें आश्वस्त किया ही कि वे मेरे बेटे के राजनीतिक भटकाव पर चाहें तो खुश हो सकते हैं क्योंकि उसने मेरी ही तरह अपने पिता की राह छोड़कर अपनी स्वाधीनता को उपयोग करते हुए स्वतन्त्र पथ का वरण किया है। अब वह उनकी राजनीतिक लाइन पर चूँकि स्वेच्छा से आ गया है तो यह सूचना मुझे देनी ही थी। मैंने देखा कि वे बार-बार घड़ी देख रहे थे और समय की कमी कचोट भी रही थी उन्हें इसलिए हमारी वह मुलाकात जल्दी ही खत्म हो गई। कुर्सी से उठते हुए उन्होंने अरविन्द से कहा— 'तुम जब चाहो, समय लेकर आ सकते हो। यहाँ राजभवन में बगैर पहले से समय लिए आना जरा मुश्किल है।' हम भी उठ खड़े हुए तो उन्होंने बात का रुख बदला और पूछा —'इस बीच क्या कर रहे हो?' मैंने उन्हें भवानी भाई की रचनावली के आठ खण्डों में प्रकाशन की सूचना दी तो उनके चेहरे पर चमक सी आ गई और उन्होंने आशीर्वाद सा देते हुए कहा— 'यह तुमने काफी बड़ा काम किया। भवानी भाई बहुत बड़े कवि थे। खूब काम करो।' कहते हुए उनकी भाषा में अपनत्व था और एक अध्यापक की वत्सलता भी।

हम दोनों वापस होने के लिए पलटे कि वे जैसे झपट कर फिर उसी बैठक-कक्ष में लौट गए जिसकी कुछेक आवाजें बीच-बीच में हमारे कमरे तक सुनाई दे जाती थीं। मैंने महसूस किया कि सचमुच वे बहुत उलझे हुए थे, फिर भी मेरे लिए बगैर किसी पूर्व सूचना के मिलने की अनुमति दे दी —यह केवल वह व्यक्ति तो नहीं हो सकता जो उत्तर प्रदेश जैसे बड़े प्रदेश का सिर्फ महामहिम राज्यपाल हो। निश्चय ही, इस प्रकार की उलझनों में आदमी कुछ से कुछ अधिक ही असहज हो उठता है और कभी-कभी तो अप्रत्याशित व्यवहारों और भाव-मुद्राओं को जीने लगता है पर उनकी आँखों में वही जानी-पहचानी आत्मीयता, वैसा ही अपनत्व और वैसी ही तरलता, सब की सब जानी-पहचानी और महसूस की हुई। लगा कि 'आषाढ़ का एक दिन' का वह कालिदास जो उज्जैन की राजकुमारी

अरुंजत्य : Dev Kumar Saraf, C/o. Anandlok, DK-7/3, Salt Lake City, Kolkata-91

प्रियंगु मंजरी के साथ कश्मीर के शासक के रूप में गया था, पर बदला बिल्कुल भी नहीं। तीसरे अंक में विलोम की हो तो यह टिप्पणी है —'वर्षों से छोड़ी हुई भूमि आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है?' कालिदास मल्लिका से कहते हुए सुनाई देते हैं— 'कश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया है। परन्तु मैंने संन्यास नहीं लिया। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ जिससे पुनः कालिदास के कलेवर में जी सकूँ। एक आकर्षण सदा मुझे उस सूत्र की ओर खींचता था जिसे तोड़कर मैं वहाँ से गया था। वहाँ की एक-एक वस्तु में जो आत्मीयता थी वह वहाँ से जाकर मुझे कहीं नहीं मिली। xx जाने के दिन तुम्हारी आँखों का जो रूप देखा था, वह आजतक मेरी स्मृति में अंकित है।'

यह 'स्मृति' क्या शास्त्री जी के जीवन के पास अब भी होगी या फिर सब की सब धुल-पुँछ चुकी है ? क्या उन्हें यह भूल गया होगा कि वे भी कभी इसी 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास को अनामिका (कलकत्ता) के श्यामानंद जालान और प्रतिभा अग्रवाल के साथ किसी रंगमंच पर पुनराविष्कृत करते होते थे। साहित्य का खुला फैला वन-प्रान्तर और राजनीति के घुमावदार गलियारे, नकली मुद्राएँ और बेभरोसे की भाषा के बीच आवाजाही करते हुए क्या वे भी कभी यह जरूर महसूस करते होंगे, ठीक कालिदास की भाषा में कि —'एक राज्याधिकारी का कार्यक्षेत्र मेरे कार्यक्षेत्र से भिन्न था।' इसका अनुभव मुझे तब हुआ जब अपने आत्मीय संबंधों के आधार पर मैंने उन्हें तिबारा विदिशा आकर जैन दर्शन की सार्वभौमिकता और प्रासंगिकता पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित करना चाहा। कई एक कोशिशों के बाद जब फोन पर उधर से उनकी आवाज़ सुनाई पड़ी तो जो वाक्य भूलता ही नहीं वह यही था कि 'पढ़ना लिखना तो छूट ही गया है। फाइलें पढ़ने से ही छुट्टी नहीं मिलती। उनसे मिलो भी तो अखबार पढ़ते-पढ़ते थक जाता हूँ। वहाँ आकर मैं बोलूँगा क्या ?' उनकी आवाज़ में निश्छलता तो थी पर असंतोष का भाव भी कुछ कम नहीं था। मैंने भी उन्हें व्यर्थ ही जहमत में नहीं डालना चाहा। मन ने कहा, चलो, अभी तो इंतज़ार करो। सत्ता की ये झंझटें भी थोड़े दिनों में कट जाएँगी। आखिर हमारे शास्त्री जी कितने दिन राज्यपाली करेंगे। एक न एक दिन तो उन्हें उन्हीं शब्दों की तरफ वापस आना होगा, जिन्हें मल्लिका और उसके ग्राम-प्रान्तर की तरह किसी मोहवश वे अभी चले गए हैं। क्योंकि उनकी असली जगह वह तो बिल्कुल नहीं है, जिस पर वे आज हैं। उनका कार्यक्षेत्र तो साहित्य है। मेरी पहली भेंट उनसे इसी ज़मीन पर हुई थी।

वह नेहरू युग का सातवाँ दशक था जब मैं बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का छात्र हो चुका था। मेरी अपनी कोई विचारधारा नहीं थी। अगर तब भी कहना और बताना पड़े तो नेहरूवादी कांग्रेसी विचारधारा। तब तक मुझे यह बिल्कुल पता नहीं था कि शास्त्री जी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की शाखाओं में आते-जाते रहे हैं और जनसंघ से जुड़े हैं। विभागाध्यक्ष प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा तथा अन्य कई अध्यापकों के बावजूद जिस एक अध्यापक को हम अपनी कक्षा में बेहद उन्मुक्त, उत्फुल्ल, स्मृति-समृद्ध और एड़ी से चोटी तक सहृदयता में रसा-पगा पाते थे, जो कक्षा को बकौल शुक्ल जी —'स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर एक ऐसी लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाता था कि समूची कक्षा को कुछ काल के लिए अपना पता ही नहीं रहता था। वह कोई और नहीं वही एक अध्यापक था, जिसे हम 'शास्त्री जी' कह कर संबोधित किया करते। उन दिनों भी वही धोती कुरता, सुडौल शरीर, चंपकवर्ण और कवित्वपूर्ण चेहरा। हम सब छात्रगण देखते ही मुग्ध हो जाते। जाड़े के दिनों में जब वे काली शेरवानी और सफेद चूड़ीदार पायजामा पहन विश्वविद्यालय की

सौजन्य : गणेशप्रसाद हरीप्रसाद जाहेश्वरी स्मृतिन्यास, २३३/१, ए. पी. सी. रोड, कोलकाता-२०

सीढ़ियाँ चढ़ अध्यापक कक्ष की ओर बढ़ते या उससे निकल कक्षाओं की ओर रुख करते, छात्र-छात्राओं का मन हरा-भरा हो उठता। पर तब भी मैंने शायद ही कभी अन्य अध्यापकों की तरह उनके बारे में कोई रोमानी कथा सुनी हो। वे सबको घर-परिवार की तरह इतने सहज सुलभ और सबके सन्दर्भ में समान रूप से स्नेहिल थे कि किसी को उनसे दूर रहने का अभाव महसूस ही नहीं होता था।

कलकत्ता के जिन दो अध्यापकों को आज भी मैं बिना याद किए नहीं रहता उनमें से पहले थे हमारे विद्यासागर कालेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री रघुनंदन मिश्र जो आचार्य केशव प्रसाद जी मिश्र के छात्र रह चुके थे और जिनकी निबंधों की पुस्तक 'निबंध-निचय' पढ़कर मैंने निश्चय सा कर लिया था कि जीवन तो हिन्दी साहित्य के अध्यापक के रूप में जीना है। यह किताब भीतर से तो सुन्दर थी ही, उसका मुख पृष्ठ भी कम सुन्दर नहीं था। एक जवान, योगलीन मुद्रा में डूबा गहरा गुलाबी कमल समूचे पृष्ठ पर अपनी आभा के साथ। मुझे वह पहली ऐसी किताब है जो नहीं भूलती। दूसरे अध्यापक स्वयं शास्त्री जी थे जिन्हें सामने मिलने पर हम 'सर' और आपस की बातचीत में 'शास्त्री जी' कहते।

उनकी कक्षा में रहने का मौका जल्दी ही हाथ से छूट गया और मैं आचार्य वाजपेयी के आकर्षण-पाश से खिंचकर मध्यप्रदेश के सागर विश्वविद्यालय आ गया। फिर भी स्मृति गई नहीं। जब कभी आचार्य वाजपेयी के साथ कलकत्ता (अब कोलकाता) जाना होता, शास्त्री जी से भेंट होती ही होती। विश्वविद्यालय के वे अकेले अध्यापक-लेखक थे जिनका जीवित और नेहपूर्ण संबंध हिन्दी के लेखकों —राजेन्द्र यादव, नामवर सिंह, धर्मवीर भारती, नागार्जुन आदि से बना हुआ था। विश्वविद्यालय के अध्यापक होकर रह जाना उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। हम अक्सर उन्हें भारतीय संस्कृति संसद, शिक्षायतन, राम मन्दिर या फिर अन्य किन्हीं भी साहित्यिक समारोहों कवि-सम्मेलनों और गोष्ठियों में उपस्थित पाते और महसूस करते कि वे ही अकेले ऐसे सृजनशील आचार्य हैं, साहित्य जिनके लिए आजीविका का सोपान नहीं बल्कि समूचे जीवन का प्रमुख वास है। किन्तु इस मन्तव्य को वे जिस कौशल से किसी कृपण की तरह छिपाए रहते कि बड़ी मुश्किल से पता चल पाता कि वे सचमुच यही हैं।

मेरे पास कलकत्ते की ढेर सारी यादें नहीं हैं पर एक अध्यापक को, खास तौर से साहित्य के अध्यापक को कितना स्मृति-समृद्ध, उदार, तरल और विवेकी होना चाहिए, यह तो मैंने जाने-अनजाने उन्हीं से सीखा। हमें यह तो बहुत बाद में पिताजी ने यूँ ही बातचीत में बताया कि शास्त्री जी शाखा में जाते रहे हैं और वह मुहम्मद अली पार्क में लगती रही है पर नागार्जुन और नामवर सिंह से बगैर किसी झिझक के मिलते-जुलते, उठते-बैठते तो मैंने अपनी इन्हीं आँखों से देखा था। रामविलास शर्मा जैसे साहित्य-मनीषियों की आवभगत करते पाया था। ये वे लोग थे जो अपने लेखन और विचार में हिन्दू राष्ट्रवाद और कट्टरतावाद के प्रचण्ड विरोधी थे, पर शास्त्री जी से इन सबके गहरे आत्मीय संबंध अगर रहे हैं तो उसका आधार क्या रहा होगा–इस पर विचार किए बिना न तो शास्त्री जी की बनावट का अंदाज़ लगेगा, न इन घोषित और धुरन्धर वामपंथियों को लेकर हम किसी साफ-सुथरे निष्कर्ष पर पहुँच पाएँगे।

याद करता हूँ तो सरदार वल्लभ भाई पटेल विश्वविद्यालय, आणंद का वह सेमीनार याद आता है जिसमें शास्त्री जी, आज के जनवादी लेखक संघ के महासचिव और सागर में मेरे शिक्षक और अभिभावक से रहे डॉ० शिवकुमार मिश्र द्वारा आमंत्रित किए गए थे। वहीं एक बातचीत में उन्होंने कहा था कि मुझे रामविलास शर्मा के मार्क्सवाद से कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वे अपनी परंपरा और राष्ट्रीयता की चिन्ता से भी जुड़े हुए हैं। स्पृश्यतावादी

सौजन्य : मुनीश चन्द्र भार्गव, पी-४३ ब्लॉक, ५२, सी. आई. टी. रोड, कोलकाता-१४

बौद्धिकों और अतिवादी मार्क्सवादियों से अलग जाकर वे इतिहास और परंपरा से संवाद करते हैं। उनके चिंतन की धुरी अपनी है केवल बंद किताबी नहीं। इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कह डाला था कि वे ऋषिवत् हैं।

मार्क्सवादियों से उनके प्रेम का रहस्य नागार्जुन पर लिखे गए संस्मरण (अकार-९) के इन वाक्यों से समझा जा सकता है— "परम्परा में पले बढ़े, उससे उत्कट विद्रोह भी किया, परन्तु फिर भी उससे नाता बनाये रखा। xx मार्क्सवादी होते हुए भी राष्ट्रीय गरिमा पर आघात करनेवाले मार्क्सवादी (माओवादी-लेखक की ओर से) चीन का उग्र विरोध करने में वे झिझके नहीं। जुझारू कम्युनिस्ट होते हुए भी उन्होंने विवेक को बंधक रखकर पार्टी के नेताओं की चाटुकारिता तो कभी की ही नहीं, उनके अतिरेकों का बोलकर, लिखकर प्रतिवाद भी किया। वे कब द्रवित हो जाएँगे, कब क्रुद्ध, कहना मुश्किल था। वे जितने अक्खड़ थे, उतने ही संवेदनशील भी थे। सूक्ष्मता से देखा जाए तो यह उनकी हृदयधर्मिता ही थी जो इन दोनों छोरों पर अभिव्यक्ति होती रहती थी।' शास्त्री जी यहीं रुकते नहीं आगे बढ़ यह भी कहते हैं— 'अपनी सामान्य जनता के साथ, विशेष कर उसके शोषित, पीड़ित, वंचित वर्ग के साथ समरस होकर उन्होंने उसके सुख-दुख व्यथा-वेदना-संघर्ष को वाणी दी थी। .... उनकी जनपक्षधरता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। वैचारिक मतभेद के बावजूद हृदयधर्मी जनकवि के रूप में मैंने उनका सदा सम्मान किया। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उनका भरपूर स्नेह, सद्भाव मिला।'

शास्त्री जी ये पंक्तियाँ तब लिख रहे हैं जब तमाम तत्ववादियों और सम्प्रदायवादी बजरंगियों के साथ उन्हें भी सम्प्रदायवादी, जड़ कट्टरवादी वामपंथियों द्वारा उसी सूची में डाला जा रहा है, आँख मूँद कर। शायद इसका एक कारण उनका प्रतिष्ठित भाजपाई होना हो। या फिर उनकी वे सांस्कृतिक चुप्पियाँ जो वे कभी-कभी अपनी पार्टी लाइन के चलते साध लेते हों। पर ऐसी चुप्पियाँ साधनेवाले, पार्टी लाइन के चलते दूसरे भी हैं। वे 'दूसरे भी' जो जनता की बात करते करते लाभ-लोभ के चलते सरकार के पाले में जा खड़े होते हैं। तब किसी लेखक की चारित्रिक जाँच की कसौटियाँ क्या हों? क्या उसकी व्यावहारिक राजनीति और संबंधित विचारधारा कोई कसौटी हो सकती है? साहित्यिक मूल्यांकन का क्या यह कोई वैज्ञानिक तरीका माना जा सकता है ? क्या साहित्यिक-लेखन की प्रक्रिया और व्यावहारिक राजनीति की प्रक्रिया में कोई बुनियादी अन्तर नहीं होता? क्या विचारधारा के बैनर या मुखौटों के पीछे विचारशून्य यथास्थितिवाद का यथार्थ हमारे अनुभवों का हिस्सा नहीं है? क्या सामाजिक परिवर्तन और क्रांति के लिए किसी लेखक संगठन की कोई बड़ी कुर्सी हथिया लेना ही परम पुरुषार्थ है या फिर भाषायी मुहावरों, नारों के वाग्जालों से आगे बढ़कर लोक में उन अर्थों की अगवानी करना भी है जिनसे मनुष्यता का भविष्य बदलता है? फिलहाल इन प्रश्नों के लिए यहाँ कोई अवसर नहीं है, फिर भी उन्हें उठाने का अवसर तो यहाँ था। खास तौर से विष्णुकान्त शास्त्री जी से हिन्दी के उन विद्वानों और लेखकों के सन्दर्भ में जो नागार्जुन, रामविलास शर्मा, यहाँ तक कि हिन्दी ग़ज़लों से इन्दिरा शासन में साहित्यिक भूचाल सा ला देने वाले दुष्यन्त कुमार के न केवल पाठक रहे हैं बल्कि उनके शब्दों को अपने आस-पास के प्रेमियों तक संदेश वाहक के रूप में पहुँचाते भी रहे हैं।

एक सचेत बौद्धिक के रूप में वे अपने लगावों को छिपाने का पाखण्ड शायद ही कभी करते हों। मेरे जैसे उनके छात्र जो उनकी पार्टी लाइन से हमेशा विपरीत रहे आए, उनके स्नेहपात्रों में बने रह सके तो संबंधों की वह आजादी ही थी, जिनका निर्बन्ध भोग करते हुए हम हर बार एक दूसरे के और भी करीब होते चले गए। यादें तो इतनी सारी हैं कि उन्हें एक साथ, इस सीमा में सहेज और बाँध पाना मुश्किल है पर समकालीन साहित्यिक मित्रों

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स (इण्डिया) लि०, ६, लायब्रेरी प्लेन्स, कोलकाता-७०० ००१

और पाठकों को मेरी उन यादों के बारे में जरूर खबर होनी चाहिए जिनसे वे चाहें तो शास्त्री जी की भावुकता, निश्छलता, अहिंसक आस्तिकता और अछोर सहृदयता का कम से कम अनुमान तो कर ही सकते हैं। इस सिलसिले में जो पहली घटना याद आती है वह आडवाणी जी की प्रथम रथयात्रा को लेकर है जिस पर काफी गरमागरम बहस भोपाल के रवीन्द्र भवन में हुई थी। हम सब लोग दो दिनों तक लगभग साँस रोके इन्तज़ार करते रहे कि भाजपा का बहुमत क्या रुख अपनाता है और निर्णय लेता है। शास्त्री जी से मिलने और हाल-चाल लेने में विदिशा से भोपाल पहुँचा तो वे मुझे उस भीड़ में दूर से दिखाई पड़ गए। प्रणाम करने के तत्काल बाद मैंने उत्सुक हो जानना चाहा तो बगैर किसी विलंब के वे उछाह में बोल पड़े —आडवाणी जी की रथयात्रा पर बहुत विवाद होता रहा। वाजपेयी जी आखिरी दम तक इसके विरोध में अड़े रहे पर आखिर में उनका आशीर्वाद भी हमें मिल गया। वे इस फैसले को जिस तरह सुना रहे थे वैसा तो कोई विजयी मुकदमेबाज भी नहीं सुनाए। मैंने महसूस किया कि वे इसके आसन्न सामाजिक-कुप्रभावों के प्रति आँखें मूँद चुके हैं और अब कुछ भी कहना, इस सन्दर्भ में व्यर्थ है। वह विश्वनाथ प्रसाद सिंह का प्रधानमंत्रित्व काल था। मंडल आयोग लागू किया जा चुका था, मधुलिमये जैसे सांसद दुहरी सदस्यता का प्रश्न उठाकर जनता पार्टी में शामिल जनसंघियों को बेनकाब कर चुके थे और भाजपा इसके शिल्पियों के विचार-गर्भ में आ चुकी थी। याद यह भी है कि वाजपेयी जी दूरदर्शन पर यह बयान दे रहे थे कि सत्ता राजनीति में आने के लिए हम भी अपना ट्रंप कार्ड क्यों नहीं चलें। मैं इस खबर से अस्त-व्यस्त ही नहीं भयभीत भी हो उठा था। याद नहीं शास्त्री जी ने मेरे चेहरे पर उभर आए भावों को पढ़ा भी या नहीं। वे तो इतने उत्साह और उमंग में थे कि मेरी हथेली अपनी हथेली में पकड़े हुए कुशाभाऊ ठाकरे, सुन्दर सिंह भंडारी और लालकृष्ण आडवाणी के पास ले गए। सबसे मेरा परिचय कराया, कांफ्रेंस तो एक बड़े फैसले के बाद समाप्त हो चुकी थी और सब अपना-अपना तनाव ढीला करते हुए चाय-समोसे पर जुटे हुए थे। ऐसा लगता था जैसे यह कूच से पहले का दृश्य हो। शास्त्री जी शायद ही यह अंतर तब कर पाए हों कि मैं उनका एक भूतपूर्व छात्र नहीं, उनसे राजनीतिक तौर पर सिरे से असहमत स्वतन्त्र भारत का एक जवान नागरिक भी हूँ। अपने उद्वेगों को छिपाए हुए मैं आशंकित भयभीत, और भारी मन से विदिशा लौट रहा था उस दिन शास्त्री जी को लेकर मैंने क्या-क्या सोचा, सब का सब याद नहीं, पर यह जरूर याद रहा कि वे अभी शाखा वाले मन से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए हैं। नागार्जुन को 'विवेक स्वतन्त्रता' की वे चाहे जितनी प्रशंसा करें' पर उनके खुद के लिए यह स्वतंत्रता अभी काफी दूर है। मुझे भी, यह क्यों भूल जाना चाहिए कि नागार्जुन सत्ता राजनीति से ऊपर थे और शास्त्री जी सत्ता राजनीति के हिस्से हैं। नागार्जुन के लिए देश और उसकी जनता का पक्ष ही सर्वोपरि था, किसी राजनेता के लिए यह अब शायद ही सर्वोपरि रह पाया हो। पार्टी-हितों और व्हाया पार्टी ही यह सब सोचा जाने लगा है। सत्ता-राजनीति की शायद यही नियति हो। नागार्जुन ही तो थे जो यह कहा करते थे कि चुनावी राजनीति में उतरने के लिए हजारों पाखण्ड करने पड़ते हैं। यह वे क्यों कहते थे, अब समझाने की जरूरत नहीं बची।

बचपन से जो संस्कार मुझे मिले थे, आर्य विद्यालय और आर्य समाज द्वारा दूसरे पक्ष से बौद्धिक संवाद बनाए रखने की जो ट्रेनिंग थी मेरी, तमाम तरह की विविधताओं के बीच अपने अलावा दूसरों के लिए गुंजाइशें छोड़ने का जो नैसर्गिक स्वभाव था मेरा, वह शास्त्रीजी के साथ भी इसलिए सहज बना रहा कि पिताजी कट्टर आर्य समाजी और माँ सनातनी। माँ ही क्यों, ताऊ, काका, ताई, चाची सबके सब। आधे से ज्यादा परिवार, सारे नातेदार

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

रिश्तेदार सब पिताजी को 'महाशय जी' कहते और आदर देते पर चलते उसी सनातनी ढर्रे पर। एक दूसरे को वैसा ही प्यार करते हुए, एक दूसरे के सुख-दुख में हिस्सा बँटाते हुए। शास्त्री जी के प्रति भी अन्ततः मुझे इसी तरह निभना और निभाना था। इस सन्दर्भ में जिस एक प्रसंग की याद मुझे भूलती नहीं, वह प्रसंग सचमुच है भी ऐसा। तुलसी अकादमी मध्य प्रदेश के संचालक सिद्धनाथ शर्मा जी के बुलावे पर मैं भी चित्रकूट पहुँचा था। शास्त्री जी भी तुलसी पर विशेष वक्ता के रूप में बुलाए गए थे। वे तो तुलसी में रमे हुए हैं। पर दीपावली की उस शाम हजारों की भीड़ उमड़ी हुई थी। चित्रकूट की पहाड़ियाँ जगमगा रही थीं। मैं शास्त्री जी के साथ मंच पर था पर ग्रामीण जनता की ऐसी विशाल उपस्थिति देख मेरे हाथ-पाँव फूलने लगे। होश गुम हवास गुम जैसी स्थिति। मैंने उनसे अपना संकट कहा– 'सर। मैं तो इस भीड़ में नहीं बोल पाऊँगा। मेरे पास तो जो कम्युनिकेशन है वह इस जनता के बीच काम नहीं आएगा। आप ही बोलें।' तो उन्होंने मेरी हिम्मत बढ़ाते हुए कहा— 'नहीं ! तुम बोलो। एक बार हिम्मत बाँधकर बोलना शुरू कर दोगे तो बोल लोगे।' पर ऐसी भक्ति भाव वाली विपुल, सो भी बुन्देली जनता के बीच बोलने का मेरा यह पहला अवसर था। मन ने कहा– तुम आए ही क्यों, पर बोलने के सिवा कोई चारा भी नहीं बचा था। पाँच सात मिनट के बाद मैंने अपना कहना समाप्त कर दिया। माइक अब शास्त्री जी के सामने था और वे विभोर होकर बोले। सुनने वाले भी विभोर हुए। आखिर वे क्यों कर उस जन-बिरादरी से भयभीत नहीं हुए और मैं क्यों संवाद स्थापित नहीं कर सका। उन्हें तो अवधी और बुन्देली नहीं आती थी, न ही वे चित्रकूट या अवध के हैं फिर भी वे उस जन समुदाय की भाषा-चेतना के सहज अंग हो सके जबकि वे भी उसी उच्च शिक्षा के सदस्य थे जिसका कि मैं। वे तो कलकत्ता जैसे महानगर में पले बढ़े, मेरा बचपन तो अयोध्या-फैजाबाद के पास के ठेठ गाँव में बीता। आज भी यह बात मन को कचोटती है कि मेरे जैसे बौद्धिकों और लेखकों की, इस सनातन भारतीय ग्रामीण-मन के सन्दर्भ में प्रासंगिकता क्या है? क्या हमारे पास वे औजार हैं जिनके मार्फत हम कथित जनवादी विशाल भारतीय मन तक पहुँच सकें जो पारंपरिक है।

उसी शाम एक और घटना भी घटी। व्याख्यान के बाद शास्त्री जी ने कहा— 'चलो, कामदगिरि की मेरे साथ परिक्रमा करो।' मैंने पहले तो अपनी अनास्था जतायी पर जब वे स्नेहभरा दबाव डालने लगे तो मैंने ड्रस्ट एलर्जी का तर्क भी उनके समक्ष रख दिया पर वे किसी भी तरह से मानने को तैयार नहीं थे। उनका तर्क था— 'रामजी! तुम्हें कुछ भी होने नहीं देंगे।' मुझे प्रत्येक स्थिति में अड़ा हुआ देख उन्होंने बीटो की भाषा में कहा— 'मैं क्या अकेले जाऊँ, मेरा साथ देने के लिए तुम्हें चलना होगा, तुम थकोगे नहीं, यह भरोसा मैं तुम्हें दिलाता हूँ।' कृष्ण की तरह अन्ततः वे जो चाहते थे, मुझे करना पड़ा। कामदगिरि की परिक्रमा का पथ काफी लम्बा है और कई-कई बार इसे सम्पन्न करना पड़ता है। हजारों लोग एक साथ दौड़ते-भागते, एक-दूसरे का पीछा करते, एक दूसरे को पीछे छोड़ते पुण्य-लाभ की छद्म मानसिकता से यश कमाते रहे हैं। यही कामदगिरि, कल्पतरु सा समस्त कामनाओं की पूर्ति करनेवाला, वहीं जहाँ भरत-राम मिलाप हुआ था और भरत कामना-असफल होकर लौटे थे, मैं शास्त्री जी के साथ उस गहराती शाम धूल भरे पथ को नंगे पाँव परिक्रमा कर रहा था। वे शायद मुझे यह बोध कराना चाहते थे कि लो अपनी आँखों देख लो, लोगों की आस्था क्या चीज़ होती है। धर्म तर्क का विषय नहीं है। पर मैं समझ पाता तब न? मैं तो डरा हुआ था कि कहीं मेरा स्नोफीलिया न उभर जाय। और हुआ भी यही कि मंदिर का प्रसाद ले खाना खाकर मैं दो घण्टे भी नहीं सो पाया, साँस भरने लगी और उसे खींचने की तमाम नाकाम कोशिशों से घबरा कर

सौजन्य : श्री घनश्यामदास बेरीवाला, १६७, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ००७

मैंने बगल के कमरे में गहरी नींद में डूबे शास्त्री जी को उठा दिया। वे मेरी वह दशा देख घबरा उठे। रात बहुत देर तक हम दोनों जागते रहे, उनकी हथेलियाँ उपचार की तरह मेरी पीठ सहलाती रहीं। किसी तरह सुबह हुई तो उन्होंने आयोजकों के साथ मुझे डॉक्टर के पास भेजा और बार-बार पछतावा जताते रहे। मैंने उनके चेहरे पर पश्चाताप का प्रभाव भी देखा जिसके पीछे उनकी भूल का एहसास काम कर रहा था। मैं उसी स्थिति में डॉक्टर की दवाओं के भरोसे ट्रेन पर बैठ जाना चाहता था पर वे थे कि मुझे अनुमति देने को तैयार नहीं हो रहे थे जब-तक कि आश्वस्त न हो लें। मेरी जिद इस बार जीत गई और मैं उन्हें आश्वस्त कर सका कि झाँसी पहुँच उन्हें जरूर फोन करूँगा। अंततः वे वहाँ मेरे अभिभावक थे। उनका अधिकार अगर मुझे कामदगिरि की परिक्रमा में साथ ले चलने का था तो मेरी परेशानियों को लेकर चिंतित हो उठने और जिम्मेदारी निभाने का भी था। उस रात मैंने यह अनुभव किया कि वे हमारे ही परिवार के एक वरिष्ठ सदस्य हैं और उसी भाव से संबंधों को जीते और निभाते भी हैं। तटस्थ वे शायद ही कभी हो पाते हों। लगाव और आस्था उनके स्वभाव के बुनियादी हिस्से हैं। यह जान लेने पर भी कि मैं कई बुनियादी प्रश्नों पर उनसे असहमत रहा करता हूँ, उनके स्नेह में मेरे प्रति कोई कमी आई हो इसका कोई एक भी उदाहरण मेरे पास नहीं है। अपने बेलौस और मुँहफट स्वभाव के चलते एकाध बार मैंने उनके प्रति कुछ अप्रत्याशित व्यवहार भी किया जरूर पर उन्होंने बगैर किसी दावेदारी के मुझे क्षमा कर दिया शायद इस भाव से कि मेरे समस्त निर्माण में उनकी भूमिका भी तो होगी।

मेरे सेवा-निवृत्त होने पर उन्हें जब यह खबर मेरे मित्र जगमोहन सिंह राजपूत से लगी कि विदिशा के तमाम लोग मेरा लोक सम्मान कर रहे हैं और मेरी इच्छा है कि शास्त्री जी उस मौके पर खास मेहमान हों तो उन्होंने मध्य प्रदेश शासन के प्रोग्राम को बदलते हुए पहले विदिशा पहुँचना तय किया और हवाई अड्डे से सड़क मार्ग होते पहुँचे। सर्किट हाउस पहुँच उनके मुँह से सोफे पर बैठते जो पहला वाक्य असुविधापूर्ण यात्रा और थकान के बीच निकला वह बहुअर्थी था। उन्होंने कहा— 'अब समझ में आया कि दिग्विजय सिंह हार क्यों गए।' इसमें यह अर्थ कहीं निहित था कि शासक समुदाय को अपने नागरिकों की सुख-सुविधाओं का कितना ख़याल रखना चाहिए। अंततः शासन का धर्म तो यही है। पर शास्त्रीजी केवल शासक नहीं हैं। वे लेखक भी हैं अध्यापक भी। विदिशा वे राज्यपाल की हैसियत से नहीं अध्यापक होने के अपने अधिकार भाव से भी आए थे और समूची सभा यह देखकर चकित हुई कि मुझे अपनी ओर से सम्मानित करने के लिए वे सबके सामने अपने सहयोगी की मदद से अटैची खोल ईषत् पीताभ ऊनी शॉल मुझे उढ़ा रहे थे। अपने उद्‌गारों से उन्होंने यह प्रमाणित भी कर दिया कि मेरे प्रति उनके मन में बरसों से कितना स्नेह भरा है। सहृदयता और स्नेह का यह संसार अगर उनके पास न होता तो हम जैसे लोग रेगिस्तान हो जाते। यह तो वे हैं, उनके जैसे अन्य कुछ और हैं जो हम जैसों को मरुद्यानों में बदलते रहते हैं। रेगिस्तान होती जाती इस दुनिया को ऐसे लोगों की कितनी जरूरत है, इसे यह बेचारी दुनिया कब जान पाएगी। ●

सौजन्य : I. D. Dhayawala, Navjoy Emporium (P) Ltd., 303, Swaika Centre, 4A, Pollock Street, Kolkata-1

डॉ० चंद्रकांत बांदिवडेकर

गन्ध चन्दन की

पंडित विष्णुकान्त शास्त्री को विलक्षण प्रभावित करने वाली पुस्तक है "सुधियाँ उस चन्दन के वन की"। उसको पढ़ते समय और पढ़ने के बाद कई दिनों तक मेरी भी हालत उस व्यक्ति की तरह हो गयी कि जो किसी पुस्तक की गन्ध में, सुखमय मानसिकता में झूलता रहा हो और कहीं अन्तर्मन में अपनी तुलना उस लेखक के लेखकीय व्यक्तित्व से करता रहा हो; अनजाने उस व्यक्तित्व की गंध से, पवित्र स्पर्श से, निश्छलता की सुखद गरमाई से, भाव-समृद्ध विदग्ध सहृदयता से अपनी आत्मा को निखारता रहा हो। वैसे यह स्थिति केवल एक पुस्तक का परिणाम नहीं थी। इधर दो तीन महीनों में विष्णुकान्त जी की चुनी हुई रचनाओं के दो खण्ड लगातार पढ़ते रहने से तथा उनकी एक दमदार पुस्तक "..... पर साथ-साथ चल रही याद" को भी पढ़ने का सौभाग्य मिलने से यह मानसिकता रही है। कुछ कविताओं का या साहित्यिक रचनाओं का पारस स्पर्श मन की भीतरी तह पर अनजाने निखार लाता रहता है। कुछ रचनाओं का प्रभाव अधिक जागरूक अवस्था में बुद्धि के साहचर्य में मानसिकता को ऊपर उठाता रहता है तो कुछ रचनाओं के रचनाकार के व्यक्तित्व का कुल प्रभाव अनजाने मन को श्रीमन्त बना देता है। विष्णुकान्त शास्त्री के गद्य लेखन ने मुझे कविता की तरह सजग रूप में भी और कहीं अनजाने भीतर भी प्रभावित किया। ऊपर लेख का शीर्षक दिया है 'गन्ध चन्दन की'। यह भी उनकी पुस्तक 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' का ऋण है।

यहाँ विष्णुकान्त जी की पुस्तकों की समीक्षा नहीं करनी है, उनके व्यक्तित्व के बारे में कुछ अपनी वैयक्तिक बातें कहनी हैं । लेकिन हर समर्थ लेखक की बात करते समय उसकी रचनाओं का प्रभाव लेखकीय व्यक्तित्व का प्रभाव और उसका वैयक्तिक प्रभाव, इन में अंतर करना मुश्किल हो जाता है।

पंडित विष्णुकान्त शास्त्री के संबंध में लिखते समय मुझे अपनी विपन्नता का बोध होता रहता है। असल में 'पंडित' विशेषण लगाना उनके बारे में अधूरा परिचय देना है। कुछ लेखक अपने पांडित्य से इतने प्रभावित करते हैं कि उनके सान्निध्य में हम उनकी पंडिताई से प्रभावित भले ही हों; व्यक्तित्व की स्नेहसिक्त गरिमा से, अहंशून्य खरीखरी विनम्रता से, मनुष्य के प्रति आंतरिक अपनत्व से, निरुद्देश्य भिन्नता की गरमाई से अछूते रहते हैं। विष्णुकान्त जी के प्रत्यक्ष सान्निध्य में भी और उनके लेखन-संसार में भी हमें एक आरपार स्वच्छ, संवेदनशील, मूल्य समर्पित, आस्थावान, वैदिक ब्राह्मण का ठोस रूप प्रभावित करता रहता है। यहाँ 'ब्राह्मण' उनकी चोटी या पोशाक को या जाति को ध्यान में रख कर नहीं कहा गया है बल्कि एक ऐसे व्यक्तित्व की परिकल्पना में कहा गया है जो अन्तर्बाह्य मन्त्रपूत हो, ज्ञानेश्वर की भाषा में 'हे विश्वचि माझे घर' (यह समूचा विश्व मेरा घर है) की आंतरिक धारणा ने जिसे समस्त संकुचित विचारों, विश्वासों, श्रद्धाओं के परे ले जाकर एक विराट मानवीय स्तर पर स्थापित किया है। कभी कभी लड़कपन का चुनौतियाँ देनेवाला मेरा रूप उभरता है और चुनौती देना चाहता है-

---

सौजन्य : Ravi Poddar, CHENNAI KITCHEN, P-15/1, Chowringhee Square, Kolkata

— "तुमने कभी विष्णुकान्त शास्त्री को गुस्से में देखा है ?" "तुमने कभी विष्णुकान्त शास्त्री को किसी की निन्दा करते हुए देखा है ?" "तुमने कभी विष्णुकान्त शास्त्री को अपनी प्रशंसा करते हुए देखा है ?" "तुमने कभी विष्णुकान्त शास्त्री को अपनी नाराजगी व्यक्त करते हुए वैयक्तिक स्तर पर उतरते देखा है ?" "तुमने कभी विष्णुकान्त शास्त्री को अपने स्वार्थ के लिए झूठ का सहारा लेते हुए देखा है ?" "तुमने कभी विष्णुकान्त शास्त्री को ईर्ष्या में बोलते हुए देखा है ?" विंदा करंदीकर की एक शिशुओं के लिए लिखी कविता याद आयी— छिले नारियल की चोटी को देख कर एक बच्चा दूसरे को ललकारता है— "रॉझस मारनिस गांठ, तर तुझा चिंया पैईन साठ–बसिस।" (नारियल की चोटी को गाँठ मारोगे तो तुम्हें साठ इमलियाँ दूँगा—बख्शिश।

विष्णुकान्त शास्त्री जी से मेरी प्रत्यक्ष मुलाकातें बहुत कम हुई। हो सकता है इसलिए उनके और प्रतिकूल वैशिष्ट्य मेरे अनुभव में न आये हों लेकिन मेरा आंतरिक विश्वास है कि मेरे मूल्यांकन में गलती नहीं हुई होगी।

पं० विष्णुकान्त जी से मेरी पहली मुलाकात कब हुई, कहाँ हुई यह तो याद नहीं। (यहाँ मुझे उनसे ईर्ष्या होती है कि वे अपनी मुलाकातों की तारीखें, घटनाएँ, वार्तालाप के शब्द अपनी स्मृति में आश्चर्यजनक रूप से संग्रहित करते हैं।) लेकिन उस समय का उनका सात्त्विक, सौवन में चमकता हुआ रूप, अपनी शुभ्रदंतपंक्ति की गरिमा बिखेरते हुए किंचित फैलने वाला स्मित हास्य, इसके विपरीत आश्चर्य डालने वाला ठहाका, चुटकुले सुनकर और सुनाकर निर्मल आनंद लेने वाला गपोड़िया स्वभाव आज भी मेरे मन पर दर्ज है। संभवतः कोलकाता में ही किसी संगोष्ठी के बाद हम तीन चार युवक बैठकर बतिया रहे थे। विष्णुकान्त जी ने अक्षरशः सैकड़ों काव्य पंक्तियों को बड़े उत्साह में प्रस्तुत करते हुए आनंद लिया भी और भरभर कर हमें दिया भी। मुझे उनकी कम्प्यूटर सदृश स्मृति देखकर सुखद आश्चर्य हुआ था और कुल पाँच कविताओं की बीस पचीस पंक्तियों को भी उद्धृत करने में अपनी अक्षमता को देखकर कुछ लज्जित भी हुआ था। लेकिन ईर्ष्या नहीं हुई क्यों कि ईर्ष्या की तह में रहने वाला द्वन्द्व भाव मुझमें था ही नहीं—आज भी शायद नहीं है। लेकिन इतना याद है कि विष्णुकान्त जी सुनाने में जितना रस लेते हैं उतना ही दूसरों की बात सुनने में भी आंतरिक धैर्य दिखाते हैं जिसके मूल में उनकी दूसरे के प्रति स्नेह की उसकी प्रतिष्ठा की नींव तो होती ही है, सहृदय जिज्ञासा भी होती है और अपने को स्थापित करने की प्रवृत्ति का पूर्ण अभाव रहता है। उनके साथ बातें करने में लगता है कि हम काव्य-यज्ञ में बैठे हैं जिसके प्रधान पुरोहित विष्णुकान्त जी हैं—हम भी कविता की समिधा डालने को स्वतंत्र हैं। (लेकिन इस तपःपूत ब्राह्मण के सामने कौन क्या करेगा? उसके सान्निध्य में सुनते रहने में ही सार्थकता है।) विष्णुकान्त जी से कविता पंक्तियाँ सुनते समय वे पूरी अर्थवत्ता के साथ अधिक समृद्ध बनकर सामने आती हैं। उसके बाद अनेक बार मिलना हुआ, कविताओं की उद्धरणा हुई लेकिन शायद ही कभी कोई कविता दुबारा कही गयी हो और केवल कविता की चंद पंक्तियाँ नहीं पूरी की पूरी कविता। स्मृति केन्द्रित वैदिक परंपरा और शिक्षा का रहस्य खुलता है ऐसी घड़ियों में।

विष्णुकान्त जी कविता पर बातें करेंगे, तो कभी कवियों की बातें भी होती ही थीं। हिन्दी के कतिपय लेखकों की चर्चाएँ होती थीं। लेकिन कभी कभी यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता था—इस व्यक्ति ने कभी किसी से कुछ शाब्दिक विवाद किया कि नहीं, विवाद किया तो किसी वैयक्तिक न्यूनताओं, दोषों, अप्रिय प्रसंगों, घटनाओं से इनका सामना हुआ कि नहीं। कभी यह भी संदेह मन में उभरता है कि यह राजनयिक पुरुष कभी किसी से नाराज़ भी हुआ है परंतु उस नाराज़गी को, अप्रियता को, कटुता को व्यावहारिक दृष्टि से छिपा कर तो नहीं रखता ? लेकिन इस

सौजन्य : बजरंगलाल चूड़ीवाल, १/२, लार्ड सिन्हा रोड, कोलकाता-७०० ०७१

संदेह के मूल में हमारी अपनी कमजोरी साफ झलकती है—हम किसी के पूर्णतः निश्छल होने की सौ प्रतिशत सात्विकता की कल्पना भी नहीं कर सकते। श्री विष्णुकान्त शास्त्री सांस्कृतिक राष्ट्रवादी हैं, जनसंघी हैं लेकिन उनके अनेक प्रतिष्ठित मित्र जो विचारों के दूसरे ध्रुव पर हैं (उदाहरण के लिए साम्यवादी) शास्त्रीजी के मित्र हैं। शास्त्री जी के विरोधियों के प्रति आश्चर्यजनक सद्भाव की प्रतीति लेनी हो तो उनके और डॉ० नामवर सिंह के संबंधों को देखा जाय। नगेन्द्र जी और विष्णुकान्त जी में स्वभावगत जमीन-आसमान का अंतर है। लेकिन विष्णुकान्तजी ने नगेन्द्रजी के व्यक्तित्व का जो चित्र खींचा है उससे पता चलता है लगभग दूसरे छोर पर स्थित व्यक्ति का चित्र भी कितनी गंभीरता से, आदरसंपृक्त विरोधभाव से देखा जा सकता है। मतवैभिन्य की बड़ी दीवारें रहते हुए भी एक दूसरे के प्रति स्नेहभाव बनाये रखते हुए सार्वजनीन मंच पर विरोध करने की गरिमामय पद्धति का आदर्श मैंने देखा जब एक सभा में पंडित विष्णुकान्त जी ने डॉ० नामवर जी के विचारों का विरोध किया था। इसी व्यक्तित्व का बहुत बड़ा उदाहरण 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' में "रणनीति की वरीयता : नामवर सिंह" लेख में मिलता है। खैर लेख तो सार्वजनीन वस्तु होता है और उसमें कुछ सहूलियतें भी होती हैं लेकिन वैयक्तिक गपशप में भी जब वही मन की निश्छलता दीखती है तो विश्वास होता है— प्रतीति होती है कि यह व्यावहारिक मुखौटा नहीं है, शास्त्री जी का गहरा मानवीय सरोकार है। उनके विभागाध्यक्ष रहे कल्याणमल लोढ़ा। वैसे लोढ़ाजी भी आरपार निश्छल व्यक्ति हैं और बड़े कर्मठ और कुछ मुँहफट भी। लेकिन बड़े प्यारे भी—मुझे उनसे मिलने बतियाने के अवसर कम मिले। फिर भी एक विभागाध्यक्ष और उसके साथ एक असिस्टेंट प्राध्यापक में कार्यरत पंडित विष्णुकान्त जी। सामान्यतः ऐसे संबंधों में सरलता, एक दूसरे के प्रति आदर की भावना विरल रहती है। लेकिन लोढ़ाजी और विष्णुकान्त जी के आपसी संबंध विलक्षण आत्मीयता के रहे हैं— मेरा ऐसा अनुमान है यह दोनों के लिए एक गौरव की बात है। कभी कभी एक बच्चे की तरह मन में विचार आता है कि पण्डित विष्णुकान्त शास्त्री जी से एक लेख लिखवाया जाय "मेरे शत्रु"। मुझे लगता है इस परीक्षा में पंडित विष्णकान्त जी बुरी तरह से फेल होंगे—क्यों कि लेख को विस्तारित करने के लिए उनको सामग्री मिल ही नहीं सकती। कुछ दिन पहले मेरे घर विष्णुकान्त जी आये थे। मैंने उनके सामने जिक्र किया एक महाभारत की कहानी का। (महाभारत का संदर्भ उस क्षण मैं भूल गया था लेकिन कहानी के बाद विष्णुकान्त जी ने बता दिया तो मैं लज्जित हो गया।) मैंने कहा कि एक व्यक्ति से कहा गया कि वह जमा हुए लोगों में से किसी सब से अच्छे व्यक्ति की खोज करे और दूतों से कहा कि वह उसी समूह से सबसे बुरे व्यक्ति की खोज करे। दुर्योधन को अच्छा व्यक्ति नहीं मिला और युधिष्ठिर को बुरा व्यक्ति नहीं मिला। पंडित विष्णुकान्त जी युधिष्ठिर की राह पर चलने वाले व्यक्ति हैं। और आश्चर्य होता है कि ऐसा व्यक्ति राजनीति में कैसे गया और राजनीति में एक विशिष्ट सीमा में सफल कैसे हुआ, चुनाव में जीत कैसे गया! राजनीतिक अखाड़े में (यू.पी. में भी!!!) एक सफल राज्यपाल के रूप में कार्यरत कैसे रहा? मैंने उनसे कहा, "पंडितजी, आपका आय. क्यू. बहुत ही बड़ा होगा जो आपने कभी अपने ऊपर दाग भी नहीं लगने दिया, विरोधियों की चाल का सामना भी मुस्तैदी के साथ किया!" पंडितजी ने यह तो स्वीकार किया कि वे सुखी नहीं थे और अपने सहज विश्वास के साथ यह थी कहा "प्रभु ने निभाया।' कभी भी अपनी चतुराई का वर्णन-विवरण नहीं, विरोधियों के दाँवपेंच का जिक्र नहीं, अपनी समस्या का विवरण नहीं। लगता रहा राजनीतिक उठापटक को लेकर हमें मिले सान्निध्य सुख के चार क्षणों का मजा वे बिगाड़ना नहीं चाहते थे। लेकिन यह उत्सुकता अवश्य है कि आज की

सौजन्य : विनोद कुमार अग्रवाल, GEL Church Complex, Main Road, Ranchi-1

राजनीति में एक सात्विक व्यक्ति अपना दामन साफ रख कर कैसे सफल हो सकता है। हो सकता है कि हमारी अपनी कमजोरी या पलायन-वृत्ति ही प्रकाश में आ जाय।

पंडित विष्णुकान्त शास्त्री के व्यक्तित्व का एक रूप स्मृति में उभरता है। बांगला देश के युद्ध के अवसर पर डॉ० धर्मवीर भारती के साथ प्रत्यक्ष रणभूमि पर सक्रिय रह कर दोनों ने अपने जीवन को दाँव पर लगाया। उसके चित्रमय विवरण धर्मयुग में छप चुके हैं। इन दोनों का तमाम विरोध करते हुए भी दोनों की यह समर्पित कर्मनिष्ठा और अद्‌भुत धैर्यशीलता का एवं जान को कुर्बान करने का जोखिम उठाने की सामर्थ्य के बारे में कोई जन्मांध ही विसंवादी स्वर में बोल सकता है। यह एक कृति ऐसी है कि दोनों के व्यक्तित्व को अद्‌भुत ऊँचाई देती है। इसमें बाध्यता नहीं थी, यह उनका अपना चुनाव था— बाध्यता थी तो अपने अंदर की साहसिक देशभक्तिपरक अंतःप्रेरणा की। दोनों को वाणी का और लेखन का वरद हस्त मिला था लेकिन प्रत्यक्ष रणभूमि पर सक्रिय होने का चुनाव उनका अपना था। इनके बारे में लिखने बैठते समय हमेशा हम लिखने पढ़ने में मशगूल लोगों को यह ध्यान में रखना होगा कि दोनों ने हमारे वर्ग को गौरवान्वित किया है। विष्णुकान्त जी ने तो अनेक अवसरों पर अपने सौजन्यशील, मृदु, सौम्य व्यक्तित्व में छिपी रोशनी को प्रकट किया है। लेकिन यहाँ एक और बात का जिक्र करना चाहता हूँ। वह यह है कि राज्यपाल विष्णुकान्त जी जब भी अपने मित्रों से मिलते हैं अपनी महामहिम राज्यपाल की पोशाक दूर उतार करके ही मिलते हैं। राज्यपाल बनने के बाद विष्णुकान्त जी एक बार बंबई में किसी सभा में आये थे (मेरी स्मृति यहाँ भी दगा दे रही है—स्थान, समय, अवसर कुछ भी ध्यान में नहीं है।) श्रोताओं में मैं भी था—उन्होंने संभवतः मुझे देखा भी था। भाषण तो अद्‌भुत हुआ ही। विष्णुकान्त जी का भाषण कभी निष्प्रभावी हुआ, ऐसा तो अनुभव वे ही बता सकते हैं। भाषण के बाद उन्होंने देखा ! पूछा—बांदिवडेकरजी कहाँ हैं ? मैं कुछ संकोच से उनको कष्ट न देने के इरादे में कुछ चुप-चाप खड़ा था। लेकिन वे मिले, दो चार मिनट बड़े स्नेह से बातें हुईं। फिर जब भी राज्यपाल की हैसियत से बंबई आये, कम से कम फोन पर मुझसे बात किये बिना वापस नहीं गये। कुछ दिन पहले राज्यपाल पद रिक्त करने के बाद बंबई आये, मेरे घर आये, पुस्तकें दे कर गपशप कर, ठहाके लगा कर प्रेम से चले गये। अपनी लौकिक गरिमा को, राजनयिक छवि को ताक पर रख कर अपनी सहजता में विचरने वाले और उसमें ही अपने आत्मिक सुख को भोगने वाले कितने लोग होंगे ? मैंने तो बहुत ही कम देखे हैं। ऐसे ही क्षणों में लगता है यह व्यक्ति कितना महान है, कितना निश्छल है, सरल है, कितना सौ प्रतिशत एक आदर्श मनुष्य है। इसको आज की राजनीति ने जरा भी नहीं बिगाड़ा— यह अद्‌भुत उदाहरण इस बात का है कि राजनीति में भी कैसे अपनी महात्मता के साथ रहा जा सकता है। ●

सौजन्य : नवल किशोर व्यास, ३१, बैरेंगी रोड, कोलकाता-७०० ०१६

श्रीराम तिवारी

"जनु मरुभूमि कल्पतरु जामा"

महानगरों के चाक-चिक्य से दूर कर्मनाशा नदी के तट पर अवस्थित बिहार प्रदेश के कैमूर जनपद तथा रामगढ़ प्रखण्ड का बड़ौरा ग्राम प्राकृतिक दृष्टि से मोहक एवं ग्रामीण सौन्दर्य से परिपूर्ण, किन्तु विकास से वंचित है। ऐसे ग्राम में किसी महापुरुष की उपस्थिति शुष्क मरु-स्थल में उग आये कल्प-वृक्ष के समान ही मानी जा सकती है। बड़ौरा ग्राम स्थित "शिक्षायतन" (बड़ौरा उच्च विद्यालय) के तत्त्वावधान में श्रीमद्भागवत एवं श्रीरामचरित मानस के मर्मज्ञ पंडित श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास' के व्यासत्व में आयोजित नौ दिवसीय सुमधुर एवं संगीतमय "श्रीराम-कथा" समारोह का उद्घाटन करने के लिए तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञ और परम श्रीराम-भक्त उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री की उपस्थिति ऐसा आभास करा रही थी जैसे घोर अनास्था और अविश्वास के युग में सहजता, सरलता और सहृदयता की साकार उपस्थिति कल्प-वृक्ष के रूप में चरितार्थ हुई।

यद्यपि मैं गुरुवर शास्त्रीजी की कक्षा का विद्यार्थी नहीं रहा हूँ फिर भी उनके प्रति मेरे हृदय में जितनी अगाध श्रद्धा है उतनी श्रद्धा पढ़ाये हुए किसी गुरु के प्रति नहीं है। गुरुवर आचार्य शास्त्री जी के प्रति असीम श्रद्धाभाव मेरे कोलकाता आगमन के काल से ही रहा है। कोलकाता महानगर में आयोजित विभिन्न साहित्यिक समारोहों में भाग लेने का सुअवसर प्रायः मुझे मिलता रहा है। महानगर का ऐसा कोई भी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आयोजन नहीं होता जिसमें गुरुवर शास्त्री जी उपस्थित न रहते हों। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा विभिन्न आयोजनों तथा सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय द्वारा आयोजित तुलसी-जयन्ती समारोहों में विशिष्ट अतिथि तथा अध्यक्ष पद से दिये गये उनके व्याख्यानों से मैं अत्यधिक प्रभावित रहा हूँ। उनके व्याख्यानों को सुनते-सुनते मेरे मन में यह ललक उठती कि यदि शास्त्री जी जैसे मनीषी को अपने गाँव के किसी आयोजन में ले जा पाता तो निश्चय ही उनके सुचिंतित व्याख्यान से ग्रामांचल की जनता धन्य हो जाती।

अपने गाँव बड़ौरा (जिला-कैमूर) बिहार के 'शिक्षायतन' (बड़ौरा उच्च विद्यालय) की आर्थिक स्थिति सुधारने तथा सुचारु रूप से संचालन हेतु मेरे मन में विचार आया कि श्रीमद्भागवत एवं मानस मर्मज्ञ पंडित श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास' के व्यासत्व में नौ दिवसीय सुमधुर एवं संगीतमय "श्रीराम-कथा" का आयोजन किया जाय। संयोग की बात यह थी कि उस समय गुरुवर श्रद्धेय शास्त्री जी ने हिमाचल प्रदेश से हमारे पड़ोसी राज्य उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल का पद ग्रहण कर लिया था। मेरे मन में यह विचार आया कि "श्रीराम-कथा" समारोह का उद्घाटन गुरुवर शास्त्री जी से कराया जाय। जब अपने इस प्रस्ताव को मैंने श्रद्धेय 'बालव्यास जी' तथा सम्मानीय कसेराजी के सम्मुख रखा तो उन लोगों ने भी इसका हार्दिक समर्थन किया। तत्पश्चात् यह निश्चय किया गया कि उद्घाटन समारोह १ नवम्बर, २००१ को हो।

सौजन्य : संजय कुमार जैन, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, ११ तल्ला, कोलकाता-७०० ००१

कार्यक्रम के उद्घाटन समारोह में श्रद्धेय गुरुवर शास्त्री जी को आमन्त्रित करने के सम्बन्ध में श्रद्धेय श्री जुगलकिशोर जैथलिया तथा सम्माननीय बंधुवर डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी से मैंने अपनी इच्छा व्यक्त की। 'श्रीराम-कथा' के कार्यक्रम को सुनकर दोनों महानुभावों ने अपनी सहर्ष सहमति प्रदान की।

"श्रीराम-कथा" के कार्यक्रम की तैयारी काफी जोर-शोर से प्रारम्भ कर दी गयी। बीच-बीच में गुरुवर शास्त्री जी से दूरभाष पर भी श्रीराम-कथा समारोह में पधारकर उद्घाटन करने का अनुग्रह करता रहा। अक्टूबर माह के प्रथम सप्ताह में अंतिम बार मैं और सम्माननीय डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी जी ने गुरुवर शास्त्री जी से फोन पर बात की। मैंने गुरुवर शास्त्री जी से आग्रह पूर्वक कहा "शहरों में आपके प्रकाश की व्याप्ति तो है परन्तु उसका सर्वाधिक महत्त्व ग्रामीण अंचल के अँधेरे में है। हमारे ग्रामीण अंचल में आपके आगमन से प्रकाश बढ़ेगा जहाँ इसकी नितान्त आवश्यकता है।" डॉ० त्रिपाठी ने गुरुवर शास्त्री जी से कहा कि 'श्रीराम-कथा' का शुभ उद्घाटन आपके कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हो, यही सर्वथा उपयुक्त है।

बड़े-बड़े शहरों तथा महानगरों में प्रायः इस तरह के आयोजन होते ही रहते हैं। किन्तु इतने व्यापक स्तर पर इस तरह का वृहद आयोजन किसी ग्रामांचल में सम्पन्न हुआ हो जहाँ न समुचित आवागमन का साधन हो और न ही नियमित बिजली हो और जिसमें एक दूसरे प्रदेश के महामहिम राज्यपाल तथा प्रदेश के तीन-तीन कैबिनेट स्तर के मंत्रियों को आमंत्रित किया गया हो। यह अपने आप में एक अभूतपूर्व एवं ऐतिहासिक आयोजन था और मेरे जीवन की अविस्मरणीय एवं सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

२८ अक्टूबर २००१, 'श्रीराम-कथा' के उद्घाटन समारोह के चार दिन पूर्व सपरिवार मैं, विद्यालय विकास समिति के कार्यकारी अध्यक्ष एवं आयोजन समिति के अध्यक्ष श्री ओम प्रकाश कसेरा तथा विद्यालय के शुभेच्छु, शिक्षानुरागी और हमलोगों के अत्यन्त घनिष्ठ श्री ओम प्रकाश अग्रवाल गाँव पहुँच गये। गाँव पहुँचते ही कार्यक्रम की तैयारी में पूरे विद्यालय परिवार के सदस्य तथा गाँव के युवक जी-जान से लग गये। पंडाल एवं मंच सज्जा के निर्माण में बलिया के श्री लक्ष्मण सिंह तथा श्री अनिल सिंह एक माह पूर्व से ही लगे हुए थे। माईक की व्यवस्था कोलकाता से की गयी थी। पूज्य पं० श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास' अपनी पूरी शिष्यों की टीम के साथ वाराणसी से, श्रद्धेय श्री जुगल किशोर जैथलिया, छोटीखाटू (राजस्थान) से, प्रो० अवधेश कुमार राय, डॉ० सूरज प्रसाद गुप्ता, डॉ० ईश्वरी प्रसाद तिवारी अपने-अपने गाँव से तथा डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, श्री ओमप्रकाश कुलिश्या तथा श्री विजय कुमार अग्रवाल, 'बालव्यास जी' के साथ रहने वाले संगीतज्ञ तथा माईक मैन आदि कोलकाता से ३१ अक्टूबर, २००१ को पधारने वाले थे। उद्घाटन समारोह में १ नवम्बर, २००१ को महामहिम राज्यपाल गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री तथा बिहार प्रदेश के मंत्रिमंडल के मंत्रियों के आने की स्वीकृति की सूचना मेरे गाँव पहुँचने के साथ ही मिल गयी थी। शुक्रवार, दिनांक १ नवम्बर, २००१ को पूर्व पधारे सभी अतिथि प्रातः ४ बजते बजते अपने-अपने नित्य क्रिया में लग गये। सुबह ७ बजे तक सभी स्नान-ध्यान के उपरान्त चाय-नाश्ता कर निवृत्त हो चुके थे। पं० श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास' जी विद्यालय प्रांगण में स्थापित भगवान श्रीराम, लक्ष्मण, सीता एवं हनुमान जी की प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा तथा हवन आदि कराकर निवृत्त हो गये। चारों ओर से आम लोगों की भीड़ बढ़ने लगी थी। ठीक ११.३० बजे पटना से पधारने वाले मंत्री जी लोगों का हेलीकॉप्टर उतरा जिसमें श्री जगदानन्द सिंह, डॉ० रामचन्द्र पूर्वे, श्री रामलषण राम 'रमण' श्री संजीव कुमार सिंह तथा श्री जितेन्द्र राठौर थे। हेलीपैड पर उनलोगों का

स्वागत कर कथा-स्थल की ओर लाया ही जा रहा था तब तक पश्चिम दिशा से एक दूसरे हेलीकॉप्टर की आवाज सुनाई पड़ने लगी जिसमें उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री आ रहे थे। तत्क्षण पटना से आये सभी मंत्रीजी लोग, श्री जैथलिया जी, डॉ० त्रिपाठी जी, पं० बालव्यास जी, श्री कसेरा जी, प्रो० तिवारी, डॉ० गुप्ता जी, श्री त्रिभुवन तिवारी जी, प्रशासनिक स्तर पर आये सभी पदाधिकारी हेलीपेड की ओर गुरुवर शास्त्री जी के स्वागत के लिए बढ़ने लगे। अपने सभी आत्मीय एवं निकट के लोगों को देखकर गुरुवर शास्त्री जी इतने उल्लसित हुए कि जिसकी कोई सीमा नहीं थी। उन्होंने कहा कि "लगता है पूरा कोलकाता ही यहाँ आ गया है।" महामहिम राज्यपाल पद की सारी सीमाओं को तोड़ते हुए सबसे व्यक्तिगत रूप से मिलकर सबका समाचार पूछते रहे। बिहार प्रदेश के सभी मंत्रीजी लोगों का गुरुवर शास्त्री जी से परिचय कराया गया। तत्पश्चात् प्रशासनिक स्तर पर बिहार पुलिस के जवानों ने 'गार्ड ऑफ आनर' की सलामी दी। गार्ड ऑफ आनर की सलामी लेने के पश्चात् सभी लोग कथा-स्थल की ओर बढ़ने लगे। हजारों लोगों का सैलाब गुरुवर शास्त्री जी के दर्शन के लिए उमड़ पड़ा था। इसी बीच चलते-चलते मैंने कहा 'सर'! आपने इस भूमि पर पधार कर मुझे, हमारे गाँव तथा इस क्षेत्र की जनता पर असीम कृपा की है। आपके पदार्पण से गाजीपुर एवं कैमूर जनपद की जनता तथा भूमि धन्य हो गयी। गुरुवर शास्त्री जी ने तत्काल उत्तर देते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी की ये पंक्तियाँ सुनाते हुए कहा कि "जा पर कृपा राम की होई। ता पर कृपा करै सब कोई।" भला मैं कैसे नहीं आता। यह है गुरुवर शास्त्री जी का महान व्यक्तित्व, सहजता, नम्रता एवं आदर्श। एक दूसरे प्रदेश का महामहिम राज्यपाल होते हुए एक दूसरे प्रदेश के साधारण से गाँव में पधारना अपने आप में एक ऐतिहासिक एवं चिरस्मरणीय घटना है। इसके साथ-साथ आपके आगमन से यह भी प्रमाणित होता है कि गुरुवर शास्त्री जी की पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा है। गुरुवर शास्त्री जी की महानता, विद्वत्ता, सौम्यता, सहजता और आत्मीयता पर हमारे ग्रामांचल के लोग इतने कायल हैं कि हमारे गाँव जाने पर सभी लोग एक ही प्रश्न करते हैं कि अगला आयोजन कब हो रहा है। ये है गुरुवर शास्त्रीजी के प्रति सर्वसाधारण लोगों की आन्तरिक आस्था।

'श्रीराम-कथा' स्थल का विशाल पंडाल और भव्य मंच जिस पर भगवान श्रीराम, श्री लक्ष्मण एवं मातु जानकी को केवट द्वारा वनगमन के समय गंगाजी को नौका द्वारा पार कराने का दृश्य दर्शाया गया था, देखकर गुरुवर शास्त्री जी ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा था कि —"एक ऐसे साधारण से गाँव में इतना बड़ा भव्य आयोजन !" मैंने बड़ी विनम्रता पूर्वक बताया कि "सर ! यह सब आप सबकी कृपा, शुभेच्छा एवं आशीर्वाद के चलते ही सम्भव हो पाया है। नहीं तो मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति की क्या क्षमता है कि इतना बड़ा आयोजन कर सके।" पंडाल के बगल में ही विद्यालय प्रांगण में बने अस्थायी मन्दिर में स्थापित भगवान श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, मातु सीता एवं श्री हनुमान जी की मूर्ति का गुरुवर शास्त्री ने अनावरण किया और उद्घाटन स्थल की ओर बढ़ने लगे। विशाल पंडाल में बने भव्य एवं मनोहारी मंच पर महामहिम राज्यपाल गुरुवर शास्त्री जी के अतिरिक्त बिहार प्रदेश के जल संसाधन विकास एवं सिंचाई मंत्री माननीय श्री जगदानन्द सिंह, संसदीय कार्य एवं प्राथमिक शिक्षा मंत्री माननीय डॉ० रामचन्द्र पूर्वे, उच्च शिक्षा मंत्री माननीय श्री रामलषण राम 'रमण', मानस मर्मज्ञ पं० श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास' आयोजन समिति के अध्यक्ष श्रद्धेय ओम प्रकाश कसेरा तथा बंधुवर जितेन्द्र सिंह 'राठौर' विराजमान थे।

सभी अभ्यागत अतिथियों का स्वागत एवं माल्य प्रदान के कार्यक्रम के पश्चात् नौ दिवसीय सुमधुर एवं

सौजन्य : स्टील कोऑपरेशन ऑफ कैलकटा, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

संगीतमय 'श्रीराम-कथा' का अपने कर कमलों द्वारा दीप प्रज्ज्वलित कर महामहिम राज्यपाल गुरुवर शास्त्री जी ने उद्घाटन किया। अपने सारगर्भित, ओजस्वी एवं हृदयग्राही उद्घाटन भाषण में गुरुवर शास्त्रीजी ने 'श्रीराम-कथा' की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि सबसे श्रेष्ठ 'श्रीराम' हैं। दार्शनिक रूप में विवेचन करते हुए गुरुवर शास्त्री जी ने कहा कि भगवान ने हमें चौदह औजार दिये हैं— पाँच इच्छा हीन, पाँच स्वाधीन और चार अन्तर्निहित। आपने कहा कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम का नाम हीरा है और हम सबका हृदय डिबिया। इस अवसर पर अपने उद्गार व्यक्त करते हुए पंडित श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास' ने कहा कि "पश्चिमी सभ्यता हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती जबतक हमारे घर-घर में 'श्रीराम-नाम' की कथा व्याप्त है।" मुख्य अतिथि के पद से संसदीय कार्य एवं प्राथमिक शिक्षा मंत्री डॉ० रामचन्द्र पूर्वे ने अपने सारगर्भित व्याख्यान में कहा कि "महामहिम राज्यपाल आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी के श्रीमुख से 'श्रीराम-कथा' के स्वरूप को समझने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है, यह हमलोगों का सौभाग्य ही है।" विशिष्ट अतिथि के रूप में पधारे उच्च शिक्षा मंत्री माननीय राम लखण राम 'रमण' ने अपना उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि "आज हमलोग अपना रास्ता भटक गये हैं। ऐसे-ऐसे आयोजन नियमित होने चाहिये तथा उन आयोजनों में महामहिम राज्यपाल आचार्य शास्त्री जी जैसे वरिष्ठ विद्वान का व्याख्यान हो तो रास्ता भटके हुए लोगों को सही मार्ग मिल सकता है।" 'श्रीराम-कथा' के उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता करते हुए बिहार के जल संसाधन विकास एवं सिंचाई मंत्री माननीय श्री जगदानन्द सिंह ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि "महामहिम राज्यपाल आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का नाम तो बहुत सुना था, कभी निकट से दर्शन का तथा साक्षात्कार का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ था। आज 'श्रीराम-कथा' के बहाने आपको सुनने का तथा दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज मैं अपने को धन्य समझता हूँ।" आपने अपने सारगर्भित भाषण में कहा कि "अब तक हमारे देश में अधिकांशतः ऐसे व्यक्ति राज्यपाल हुए हैं या हैं जो राज्यपाल का पद प्राप्त करने के बाद गौरवान्वित हुए हैं किन्तु आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का व्यक्तित्व महान है कि इनके राज्यपाल बनने से राज्यपाल का पद गौरवान्वित हुआ है।" आपने आशा व्यक्त करते हुए तथा महामहिम राज्यपाल गुरुवर शास्त्री जी से अनुग्रह करते हुए कहा कि "आनेवाले दिनों भी अपने व्यस्ततम समय में से कुछ पल हमलोगों को भी देते रहेंगे ताकि हम सभी आपके सम्पर्क एवं संसर्ग से अपने को धन्य कर सकें।" कार्यक्रम के अन्त में श्रीराम-कथा आयोजन समिति के अध्यक्ष श्री ओम प्रकाश कसेरा ने सबका आभार व्यक्त किया।

'श्रीराम-कथा' के उद्घाटन सत्र के समापन के पश्चात् दूसरे सत्र में 'श्रीराम-कथा' का शुभारम्भ होना था। महामहिम राज्यपाल गुरुवर शास्त्री जी ने पं० श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास' को व्यासपीठ पर आसीन कर उन्हें तिलक एवं माल्यप्रदान कर अभिषिक्त किया। कुछ क्षण कथा श्रवण के पश्चात् गुरुवर शास्त्रीजी वाराणसी में आयोजित एक दूसरे समारोह में भाग लेने के लिए प्रस्थान कर गये। सभी गणमान्य व्यक्तियों ने तथा बिहार पुलिस बल के जवानों ने 'गार्ड ऑफ आनर' देकर अपनी भावभीनी विदाई दी।

गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व देश व समाज की अमूल्य निधि है। मेरी हार्दिक आकांक्षा है कि वे समाज तथा देश को शत वर्षों तक अपने प्रकाश-पुंज से आलोकित करते रहें। ●

सौजन्य : श्री बालूराम गुप्ता, त्रिवेणी ट्रेडिंग कं., २३१, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

आनन्द मिश्र 'अभय'

...और राजभवन आश्रम बन गया

देश का हृदय प्रदेश उत्तर प्रदेश— उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ, लखनऊ में राजभवन और राजभवन में एक ऋषिकल्प व्यक्तित्व का पदार्पण राज्यपाल के रूप में। दिनांक २४ नवम्बर, २००० को लखनऊ के राजभवन में राज्यपाल पद की शपथ लेनेवाला यह व्यक्तित्व और कोई नहीं; मनीषी-प्रवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ही थे, जिन्हें हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल पद से स्थानान्तरित कर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद पर भेजा गया था। शपथ लेने के एक सप्ताह के अन्दर ही राजभवन में होनेवाले परिवर्तन समाचारपत्रों में प्रमुखता से प्रकाशित होने लगे; क्योंकि ये परिवर्तन अपने में नितान्त मौलिक, भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतीक ही नहीं, अद्‌भुत भी लगे लोगों को, एकदम कल्पनातीत। यथा—

राजभवन में सामिष पदार्थों का सर्वथा निषेध, यहाँ तक कि विशिष्ट से विशिष्ट अतिथि को ऐसे पदार्थ बाहर से मँगवाकर भी नहीं परोसे जायेंगे, राज्यपाल की रसोई में लशुन, पलाण्डु (लहसुन और प्याज) का प्रवेश वर्जित, इनका प्रयोग किसी भी दशा में नहीं होगा, परन्तु केवल एक छूट कि विशिष्ट अतिथि यदि चाहें, तो उन्हें प्याज पृथक् से कच्चा काटकर परोसा जा सकता है। राजभवन पर राज्यपाल और राज्यपाल पर पारिवारिक संस्कारों का ऐसा प्रभाव और इस प्रभाव का दृढ़तापूर्वक पालन। ऐसी बातें फैलते देर नहीं लगती। फलतः समाचारपत्रों में चर्चा का विषय–अरे ! ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ, देखने-सुनने में भी नहीं आया। ये महामहिम वास्तव में 'महामहिम' हैं। चर्चायें और चर्चायें। परन्तु चर्चा करनेवाले ही नहीं, समाचारपत्रों के धुरन्धरों को भी कौन याद दिलाता कि ऐसे ही एक और राज्यपाल पहले भी हुए थे श्री प्रभुदास पटवारी, मद्रास (अब तमिलनाडु) के राज्यपाल। पक्के गान्धीवादी थे। अतः मद्रास (अब चेन्नई) के राजभवन में भी सामिष पदार्थों का निषेध कर दिया था उन्होंने। तब जनता पार्टी की केन्द्र में सरकार थी। श्री मोरारजी देसाई प्रधानमन्त्री थे और श्री नीलम संजीव रेड्डी राष्ट्रपति। मोरारजी भी पक्के गान्धीवादी, पर श्री रेड्डी आमिषभोजी थे। मद्रास के राजभवन में ठहरने पर उन्हें भी उक्त विधि-निषेध का पालन करना पड़ा। परिणाम, श्री प्रभुदास पटवारी के प्रति उन्होंने मन में गाँठ बाँध ली और जब श्रीमती इन्दिरा गान्धी १९८० में पुनः सत्ता में आयीं, तो रेड्डी जी को अपनी खुन्नस निकालने का अवसर मिल गया। फलतः श्री प्रभुदास पटवारी राज्यपाल-पद से बर्खास्त। राष्ट्रपति संजीव रेड्डी के इस कदम की तब कड़ी आलोचना हुई थी। सत्ता-मद जो न कराये, सो थोड़ा। लेकिन सामिष-निरामिष को लेकर ऐसी स्थिति राज्यपाल शास्त्री जी के सामने कभी आयी ही नहीं, क्योंकि उन्हें अपने ही वरिष्ठ महामनस्वी श्री अटल विहारी वाजपेयी प्रधान मन्त्री के रूप में मिले थे और राष्ट्रपति के रूप में ऋषितुल्य महामहिम श्री अबुल पाकिर जैनुल आब्दीन अब्दुल कलाम। अटल जी तो ठहरे हो ऐसे मर्यादापुरुष जिसने कभी किसी मर्यादा का उल्लंघन किया ही न हो। फिर शास्त्रीजी से तो उनकी पुरानी अन्तरंगता ठहरी।

सौजन्य : डॉ. कुसुम अग्रवाल, ३, लाउडन स्ट्रीट, कोलकाता-१७

अब जरा महामहिम राष्ट्रपति जी के प्रथम बार लखनऊ-आगमन का प्रसंग। राजभवन जब राष्ट्रपति भवन से राष्ट्रपतिजी को भोजन-रुचियों और भोज्य पदार्थों की सूची की जानकारी करता है, तो जानते हैं वहाँ से क्या उत्तर मिलता है–जो खिला देंगे, सो खा लेंगे और राष्ट्रपति जी लखनऊ पधारते हैं, राजभवन के अतिविशिष्ट अतिथि के लिए निर्धारित भाग में ठहरते हैं। उन्हें भोजन परोसा जाता है नितान्त सादा, लहसुन-प्याज रहित। राष्ट्रपति को भोजन में एक अद्भुत स्वाद मिलता है, अद्भुत रसानुभूति। ऐसी रसानुभूति कि राष्ट्रपति-भवन के लिए ऐसा भोजन बनाने की पूरी जानकारी लेने का निर्देश दे देते हैं।

ऐसी ही एक आपबीती भी। 'पाञ्चजन्य' के नचिकेता-सम्मान समारोह में जाने का अवसर। श्रद्धेय पं० वचनेश त्रिपाठी जी के आग्रह पर उन्हीं के साथ नयी दिल्ली जाने और वापस आने का रेलवे आरक्षण। वहाँ हिमाचल सदन के एक ही कक्ष में हम दोनों का ठहरना। कार्यक्रम समाप्ति के दूसरे दिन पता चलता है कि कक्ष आरक्षण तो दो ही दिन (११, १२ तारीख) का था और वापसी १४ तारीख की रात में वचनेश जी के साथ थी। अब क्या हो ? वचनेश जी तो चले गये केशव-कुञ्ज संघ-कार्यालय और मैं कुछ प्राचीन ऐतिहासिक भवन देखने। सायंकाल लौटा, तो देखा महामहिम जी की गाड़ी खड़ी है। ऊपर जाकर पता किया, तो कर्मचारी ने बताया कि कुछ ही देर पहले लौटे हैं और कुछ ही देर में किसी कार्यक्रम में जानेवाले हैं। उसने यह भी पूछा कि क्या आपको उनसे मिलना है ? मेरे हाँ कहने पर उसने परिसहाय (ए.डी.सी.) साहब को बताया, जिन्होंने मेरा कार्ड शास्त्री जी के पास अन्दर पहुँचाया। वह जैसे ही बाहर आये, मैं ने चरण-स्पर्श किये। उन्होंने हाथ पकड़कर कमरे में बैठाया और हाल-चाल पूछा। कहा, तुलसीदास जी पर एक कार्यक्रम में जा रहा हूँ, आप भी मेरे साथ चलिए। मैंने क्षमा माँगी कि दो लोग मुझसे मिलने आने को हैं, उन्हें 'राष्ट्रधर्म' के कार्य से समय दे रखा है। बोले और कोई बात तो नहीं, मैंने दो दिन ठहरने की बात बतलायी, तो तुरन्त वहीं खड़े व्यवस्था-अधिकारी को निर्देश दिया कि 'पण्डित जी मेरे अतिथि के रूप जब तक चाहें, रहेंगे। मैं अभिभूत कि पहली बार भेंट। कहाँ वे एक महामनीषी महामहिम और कहाँ मैं एक सामान्य-सा व्यक्ति ! शास्त्रीजी की महामनस्विता का वह मेरा प्रथम दर्शन था। रात्रि में व्यवस्था-अधिकारी का इण्टरकॉम पर फोन, सर ! खाने में क्या लेंगे ? मैंने पूछा-क्या बना है ? तो उत्तर में चिकन करी आदि की सूची बतलायी। मैंने कहा–भाई ! 'मैं तो लहसुन-प्याज भी नहीं खाता।' तब तो सर ! गवर्नर साहब वाला खाना ही आपके लिए भी ठीक रहेगा, व्यवस्था अधिकारी ने कहा। मेरे यह पूछने पर कि उनके लिए क्या बना है, तो उत्तर मिलता है– 'सर' ! चने की दाल, घिया की सब्जी, घिया के कोफ्ते, दही, चावल और रोटी।' मैंने कहा 'दही और चावल रात में नहीं लेता। बाकी ठीक है।' भोजन आता है। खाते ही लगा मानो अपने घर के चौके में बना खाना खा रहा हूँ। इतना सात्विक और साधारण भोजन वह भी एक राज्यपाल का ! भला कोई कल्पना कर सकता है? परन्तु शास्त्री जी के बारे में जैसा पढ़ और सुन रखा था, वह अक्षरशः प्रत्यक्ष था उस समय।

यह तो रही भोजन-व्यवस्था की बात। लखनऊ के राजभवन में लोगों को अप्रत्याशित लगनेवाला, एक और परिवर्तन होता है— भोजन-कक्ष का नाम-'अन्नपूर्णा' अतिविशिष्ट अतिथि-कक्ष का नाम– 'पारिजात', आगन्तुकों से भेंट करने के कक्ष का नाम– 'परिमल' और विशाल उद्यान का नाम 'धन्वन्तरि-वाटिका'। है न लोगों के चकित होने की बात। शास्त्रीजी की साहित्यिक सांस्कृतिक अभिरुचियों और हिन्दी के प्रति अटूट निष्ठा के ऐसे अनेक प्रसंग उनके उ०प्र० के कार्यकाल के हैं। कोई भी कार्यक्रम कहीं भी होता, तो शास्त्रीजी हिन्दी-सम्बन्धी किसी भूल पर

सौजन्य : जवाहरलाल शाह, २, संडेविला गार्डन्स, बालीगंज, कोलकाता-७०० ०१९

टोकते ही नहीं, यथोचित मार्गदर्शन भी करते, साथ ही दृढ़तापूर्वक उसके पालन का आग्रह भी। कभी-कभी प्रसंगवशात् उनका सात्विक आक्रोश भी अतिशालीन रूप में दृष्टिगत होता। राजभवन तो मानो साहित्यिक गतिविधियों का प्रेरणा-केन्द्र ही बन गया था। हर मिलनेवाला उनसे अपनी बात निःसंकोच कह सकता था। उसे लगता ही नहीं कि वह उ०प्र० जैसे प्रदेश के राज्यपाल से बात कर रहा है।

लेकिन वह राजनीति ही क्या, जो कुत्सारहित, आरोप-प्रत्यारोप रहित हो। शास्त्रीजी जैसे राज्यपाल को भी उस सबसे निपटना पड़ा, जो अनपेक्षित था। एक भूतपूर्व प्रधानमन्त्री लखनऊ में अपनी पार्टी का एक सम्मेलन गोमती-तटवर्त्ती लक्ष्मण-मेला मैदान में करते हैं और एक ज्ञापन राज्यपाल को देने के लिए समय माँगते हैं। उनकी पार्टी के सम्बन्धित अधिकारी को समय की सूचना राजभवन से विधिवत् दे दी जाती है। राज्यपाल महोदय दिये गये समय के कुछ बाद तक प्रतीक्षा करते हैं। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री या उनकी पार्टी का कोई प्रतिनिधि-मण्डल ज्ञापन देने जब नहीं पहुँचता, तो वे तत्कालीन प्रधानमन्त्री का उनके लखनऊ-आगमन पर स्वागत करने अमौसी हवाई अड्डे के लिए रवाना हो जाते हैं। इधर भूतपूर्व प्रधानमन्त्री के दिमाग का पारा चढ़ जाता है, और वे राज्यपाल के लिए चेतावनी भरा वक्तव्य समाचारपत्रों को दे बैठते हैं। जैसे ही राज्यपाल महोदय उस वक्तव्य को पढ़ते हैं, तुरन्त वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हुए राजभवन से उसका प्रतिवाद करते हैं। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री जी बेचारे अपना-सा मुँह लेकर रह जाते हैं कि गलती राजभवन की नहीं, स्वयं उनकी पार्टी के उस पदाधिकारी की थी, जिस पर उन्हें बहुत भरोसा था। साथ ही उन भूतपूर्व प्रधानमन्त्री को यह भी पता चल गया कि अब राजभवन वह राजभवन नहीं था, जिसे इस प्रकार धौंस में लिया जा सके। जानते हैं, वह भूतपूर्व प्रधानमन्त्री कौन था–वही श्री चन्द्रशेखर जी, जो अपनी पार्टी के एकलौते लोकसभा सदस्य तब भी थे और आज भी हैं, वह भी समाजवादी पार्टी के अध्यक्ष श्री मुलायम सिंह की बदौलत।

ऐसा ही एक प्रसंग। विधानसभा चुनावों में समाजवादी पार्टी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरती है, पर पूर्ण बहुमत से काफी दूर। भाजपा व बसपा में से बिना किसी एक के सहयोग के मन्त्रिपरिषद् का गठन असम्भव। उधर श्री मुलायम सिंह सबसे बड़ी पार्टी के नेता के रूप में मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलाये जाने पर अड़े। राजभवन से दो टूक जवाब-बहुमत सिद्ध करने पर ही उन्हें शपथ दिलायी जायेगी। बहुमत बने तो कैसे–बसपा और भाजपा दोनों से ३६ का आँकड़ा। बस क्या था ? 'नेताजी' का राजभवन का घेराव करने का ऐलान। घेराव के लिए कूच करती सपाई भीड़ में सपा के बहेड़ी क्षेत्र के विधायक को कोई गोली मार देता है। घेराव तो गया एक ओर, राजभवन पर षड्यन्त्र में शामिल होने के आरोपों की झड़ी लगा दी गयी। परन्तु राज्यपाल की नियमानुपालन की चट्टानी दृढ़ता के सामने सब बेकार। बाद में स्थिति ऐसी बनती है कि राष्ट्रपति शासन लागू हो जाता है। विधानसभा स्थगित कर दी जाती है।

इसी बीच अयोध्या मामला गरमा जाता है। न्यायालयीन आदेशों के अन्तर्गत विश्व हिन्दू परिषद् के आन्दोलन को प्रतिबन्धित करना पड़ता है। साथ ही राज्यपाल पद की गरिमा की रक्षा के सामने व्यक्तिगत भावनाओं पर कठोर नियन्त्रण रखना पड़ता है। यहाँ तक कि श्री अशोक सिंहल जैसे व्यक्तित्व का भी राज्यपाल से मिलकर उनकी अनुमति प्राप्त होने पर ही अयोध्या जाना सम्भव हो पाता है। कर्त्तव्य कितना कठोर होता है ! इसका वर्त्तमान सन्दर्भों में यह एकमात्र श्रेष्ठ उदाहरण है।

सौजन्य : Sushil Jaju, EVEREST IMPRESSIONS, 113, N. S. Road, 4th Fl., R. No. 61, Kolkata-1

परिस्थितियाँ बदलती हैं। मायावती सरकार अपने ही क्रियाकलापों से ढह जाती है और बहुमत श्री मुलायम सिंह के पक्ष में होते ही वही राज्यपाल उन्हें शपथ-ग्रहण के लिए आमन्त्रित करते हैं, जिनके विरुद्ध अनर्गल प्रलाप पिछली बार सपा अध्यक्ष करते रहे थे। पद की गरिमा के अक्षुण्ण रखने का यह भी एक अनूठा उदाहरण है। ऐसे ही न जाने कितने ऐसे प्रसंग है, जिन्हें लिखने बैठने पर एक वृहद ग्रन्थ ही बन जायेगा।

फिर क्या होता है ? लोकसभा समय से पूर्व भंग, चुनाव घोषित। सत्तारूढ़ राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन का बहुमत समाप्त, उसकी सरकार का त्याग-पत्र, नयी सरकार के गठन का नाटक प्रारम्भ और उसका अप्रत्याशित पटाक्षेप श्री मनमोहन सिंह के प्रधानमन्त्रित्व में सरकार-गठन के साथ। कम्युनिस्टों द्वारा इस सरकार को बाहर से समर्थन। सब कुछ तुम्हारा, पर कुञ्जी-ताला मेरे हाथ। ऐसे में जो सम्भावित था, वही हुआ। उ०प्र० के राज्यपाल सहित चार राज्यपाल बर्खास्त, कारण रा.स्व.संघ के लोग थे।

हद हो गयी निर्मर्याद राजनीतिक कुत्सा की। सर अकबर हैदरी जैसा अंग्रेजों का पिट्ठू रहा लीगी असम का राज्यपाल रह सकता है, नूरुल् हसन जैसा अन्दर से लीगी-ऊपर से मार्क्सवादी प० बंगाल का राज्यपाल रह सकता है, अकबर अली खाँ और आरिफ (दोनों अन्दर से लीगी) उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रह सकते हैं, परन्तु कोई आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री राज्यपाल नहीं रह सकता। क्यों ? क्योंकि रा. स्व. संघ से सम्बन्धित हैं।

उ०प्र० के राज्यपाल की प्रतिक्रिया—"मुझे संघ का स्वयंसेवक होने पर गर्व है।" और उनका कद पहले से कहीं अधिक ऊँचा हो जाता है। केन्द्र-सरकार जनता की निगाह में गिर जाती है।

एक वरिष्ठतर आई.ए.एस. अधिकारी की टिप्पणी थी कि आर.एस.एस. यदि शास्त्री जी जैसे व्यक्तियों का निर्माण करता है, तो उससे अच्छा संगठन तो कोई हो ही नहीं सकता।

राजभवन से विदाई का अवसर (६ जुलाई, २००४) आ गया है। वही मुलायम सिंह, जो कभी राज्यपाल पर आरोप लगाते नहीं थकते थे, शास्त्रीजी के ऐसे मुरीद हो जाते हैं कि स्वयम् उनको विदाई भोज देते हैं, गार्ड ऑफ ऑनर के बाद उन्हें हवाई अड्डे तक छोड़ने जाते हैं उन्हीं के साथ उनकी गाड़ी में बैठकर और प्रदेश सरकार का वायुयान शास्त्रीजी को सपरिवार लेकर कोलकाता के लिए उड़ जाता है। भाजपा, बसपा और सपा दोनों दलों के मुख्यमन्त्रियों के साथ राज्यपाल के रूप में शास्त्री जी का निष्पक्ष, समान एवं शालीन व्यवहार अपने में एक कीर्त्तिमान है। जहाँ मुलायम सिंह जैसा मुख्यमन्त्री अपने निवर्त्तमान राज्यपाल को इतने सम्मानपूर्वक विदा करता है, वहाँ मध्य प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री दिग्विजय सिंह ने अपने निवर्त्तमान राज्यपाल भाई महावीर के साथ चलते समय कैसा व्यवहार किया था, यह भी समझना होगा। भाई महावीर को ट्रेन से दिल्ली भेजा गया, मुख्यमन्त्री उन्हें स्टेशन पर विदा करने तक नहीं आये। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्रियों द्वारा अपने-अपने निवर्त्तमान राज्यपालों के प्रति किये गये आचरण से क्या लोहियावादी समाजवाद और नेहरूवादी समाजवाद का अन्तर स्वतः स्पष्ट नहीं हो जाता ? ●

सौजन्य : Pradeep Agarwal / Deepak Agarwal, 18A, Ramakanto Bose Street, Kolkata-700 003

सिद्धेश

ईश्वर हमारा अन्तिम आश्रय हैं

मैंने तब कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ने के लिए दाखिला लिया था। 'अभिनय' पत्रिका में काम करता था, मगर समय की इतनी बचत हो जाती थी कि उसका उपयोग कैसे करूँ, निरुद्देश्य चहलकदमी और कॉफी हाउस में बैठे रहने के अलावा दूसरी बात समझ में नहीं आती थी। सन् १९५९ का समय, ताजा-ताजा महानगर की संस्कृति से जुड़ने की कोशिश में फुटपाथों पर रेंगता हुआ कभी चौरंगी, तो कभी कॉलेज स्ट्रीट की सड़कों को नापता रहा। इसी जद्दोजहद में मैंने विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एम. ए. क्लास से जुड़ने का मन बना लिया था। बी. ए. में नंबर लगभग ठीक थे, अतः दाखिला पाने में दिक्कत नहीं हुई।

उस समय श्रद्धेय कल्याणमल लोढ़ा जी के अलावा गुरुवर विष्णुकांत शास्त्री, दयानन्द श्रीवास्तव, प्रबोध नारायण सिंह क्लास लेते थे। इसके पूर्व के शिक्षकों से मेरी भेंट-मुलाकात नहीं थी। अकेला शहर में रहते हुए महानगर को झेलने और 'अभिनय' पत्रिका में पार्ट टाइम काम करने के सिवा अपने लेखन की भी चिंता लगी रहती थी। इस बीच मैंने छिटपुट कहानियाँ प्रमुख-पत्रिकाओं में लिखने के साथ एक लघु उपन्यास 'पारो' की संरचना कर ली थी। और ये ही मेरे धरोहर के रूप में अपने वजूद को कायम रखने में सहायक थे।

बहरहाल, इसी मानसिक ऊहापोह और शिक्षा ग्रहण करने के दौरान एक आदर्श शिक्षक के रूप में विष्णुकान्त शास्त्री जी से साक्षात् हुआ था। वे धोती-कुर्ता में बराबर रहते, कभी मैंने उन्हें सूट-बूट में नहीं देखा, न शर्ट-पैंट और न सफारी सूट में। विष्णुकान्त जी को देखकर बंगाल के मनीषी की जो रूपरेखा मन में पहले से बसी थी, उसका सही अक्स सामने आ जाता। मैं मन ही मन उनके प्रति श्रद्धानत तो था ही, उनके क्लास में आते ही हम सभी उनका व्याख्यान सुनने के लिए लालायित रहते। भक्ति पदावलियों की ऐसी व्याख्या करते कि लगता नहीं कि हम उनके सामने मात्र विद्यार्थी हैं, बल्कि सहभागिता का असर होता, जो अन्यत्र दुर्लभ ही था। वे भक्तिकाल के अन्तरंग व्याख्याता के रूप में हमारे सामने होते। व्यक्तित्व और भक्ति की प्रबल धारा के उपासक का ऐसा सम्मिलित रूप कम ही देखने को मिलता है।

मुझे लगता है कि शिक्षण संस्थानों में समुचित परिवेश, आदर्श उपस्थिति और अंतरंग सहभागिता अब दुर्लभ सी हो गयी है, इसलिए आज शिक्षादान देने वाले कठमुल्लेपन का वर्चस्व सर्वत्र दिखाई पड़ता है। आज शिक्षा कलम और कागज के बीच सिमट कर रह गई है। मन में गहरे बैठ जाने वाली शिक्षा, जो जीवन को ऊर्ध्वमुखी और जीने के लिए ऊर्जा प्रदान करती रही है, आज हम उसकी कल्पना भर कर सकते हैं।

एक बार क्लास में विष्णुकान्त जी ने 'ईश्वर हैं या नहीं' विषय पर (संभवतः यही विषय था) हम सब विद्यार्थियों को बोलने के लिए कहा। मुझमें साहित्यिक होने का अहसास तो था ही, साथ ही 'पारो' उपन्यास के बारे में वे सुन चुके थे। क्योंकि कथाकार विष्णु प्रभाकर ने इस उपन्यास की कहीं चर्चा की थी, अतः मैंने भी अकुंठ मन से अपनी बातें कहीं। हममें से कई मित्रों ने विदेशी लेखक नीत्से को उद्धृत करते हुए ईश्वर की अनुपस्थिति दर्ज

सौजन्य : Switching Electronics, 230, S. N. Roy Road, Kolkata-700 038

कराई, कुछ ने दोनों की संभावना का जिक्र किया। मगर मैंने डंके की चोट पर 'ईश्वर हमारा अन्तिम आश्रय है' को स्थापित किया। विष्णुकान्त जी ने मेरे समर्थन में मुझे श्रेष्ठ घोषित किया। आज लगता है, इस अन्तिम शिक्षा के पचपन साल पूरे कर रहा हूँ, मैंने जो कहा वह मेरे लिए जीवन भर का संबल बना। भले ही, आज मैं अपने ईश्वर को इस रूप में देखूँ—

"मन के इस विशाल प्रांगण में
या बालू के कण-कण में
रहने वाले ईश्वर
अब रहते हैं झाऊवन में।"

बंगीय हिन्दी परिषद् में विष्णुकान्त जी की अध्यक्षता में एक कवि सम्मेलन हुआ, जिसमें मैंने भी अपनी एक कविता पढ़ी थी। कविता का शीर्षक था —'ठिठुरती शाम, शरमीली शाम, उदास और खामोश शाम'। वह समय था, हमारे बीच गुरु और शिष्य का व्यवधान मिट चुका था। मैं उन्हें साहित्य के मर्मज्ञ, बुद्धिजीवी और लेखक के रूप में जानने लग गया था। कई बार मुझे सेमिनारों एवं साहित्यिक संगोष्ठियों में उनको सुनने का मौका मिला है। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों, लेखकों के बीच उनके व्याख्यान ने संवेदनात्मक स्तर पर जितना मन को छुआ है, वह चाहकर भी दूसरे व्याख्याता नहीं कर पाए। यह अतिशयोक्ति नहीं, मेरे लेखक मन पर जो प्रभाव उनका है, वह किसी और का नहीं। भारतीय भाषा परिषद के मंच पर कई बार उन्होंने बड़े लिक्खाड़ नामवरी आलोचकों की बड़ी ही मृदुभाषा में धज्जियाँ उड़ाई हैं।

साहित्य उनके लिए मात्र अध्ययन, अध्यापन का विषय नहीं रहा, बल्कि उसे उन्होंने भीतर ही भीतर आत्मसात किया है। मन से निःसृत संवेदित करने वाली भाषा और विषय की अंतरंगता की पहचान कराने वाली विद्वत्ता उनमें है। वे ऋषिवत् आचरण और कवि सुलभ व्यक्तित्व के धनी हैं।

वे सरकारी तबके के सर्वोच्च स्थान पर विराजमान रहे हैं, लेकिन मैंने जब भी उन्हें पाया है, वे मेरे गुरुवर, श्रद्धेय व्यक्ति और संवेदनशील लेखक के रूप में ही मेरे मन में प्रतिष्ठित हैं। मेरा नमन उन्हें। ●

मंगल कामना

विद्याचक्षुः ग्रन्थस्रष्टा
वाग्मी सौम्य उदारधीः।
विष्णुकान्तः यशः प्राप्य,
दीर्घायुः शुभमाप्नुयात्।।

—कृष्णचन्द्र शर्मा

सौजन्य : स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

मृदुला सिन्हा

'ऐसे नर थोड़े जग माहीं'

एक आकृति जो शरीर की अनुपस्थिति में भी आँखों के सामने उभरती रहती है, वह मुस्कुराती, कुछ गुनगुनाती कुछ विचारती, मन को बाँध लेती है। रूप और स्वरूप दोनों ही मन को मोहते हैं। अपने-पराए, अच्छे-बुरे, हित-मित्र, पक्ष-विपक्ष, सबसे मिलते वक्त एक ही छाप छोड़ता है जो व्यक्तित्व, वह है, डॉ० विष्णुकान्त शास्त्री जी का। राम के उपासक, कबीर के भक्त, भारतीय संस्कृति के व्याख्याता शास्त्री जी के लिए तुलसीदास की पंक्ति — "हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ" मात्र पढ़ने-पढ़ाने और सुनाने के लिए नहीं है। मानो सभी संत कवियों की वाणियों की तरह इस पंक्ति को भी उन्होंने आत्मसात कर लिया है, अंतर्मन में उतार लिया है। तभी तो वर्षों से उन्हें देखती, सुनती, निहारती, गुनती, मन ही मन आश्चर्य से भर जाती रही हूँ। एक दिन पूछ ही लिया— "आप इतने शांतचित्त कैसे रहते हैं। आपको कई रूपों में देखने का अवसर मिला। पश्चिम बंगाल भाजपा के अध्यक्ष रहे। राष्ट्रीय स्तर के नेता रहे। साहित्य पढ़ाते और उस पर जगह-जगह व्याख्यान देते रहे। एक साथ कई भूमिकाओं में भी देखा। पर कभी चेहरे पर शिकन नहीं आई। कैसे इतना शांत रहता है आपका मुखड़ा।"

तनावमुक्त चेहरे पर मुस्कान बिखेरते मुख से कहा— "सब राम पर छोड़ देता हूँ। उसी का काम है। वही जानें। अपना क्या है ? सब रामजी की महिमा है।"

और जैसे अक्षर-अक्षर अंतःकरण से निकला हो। इसलिए मेरे अंतर्मन तक पहुँच गया। मस्तिष्क से उत्तर निकला होता तो शायद विवेक की कसौटी पर कसा जाता। उनके राम के प्रति समर्पण की बात सुनकर आगे कुछ जानने की आवश्यकता नहीं थी।

भारतीय जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठकों में एक शांत व हँसमुख सुदर्शन व्यक्तित्व सबसे मिलता चलता था। बैठकों में कभी-कभी कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही होता था। किसी विषय पर मत भिन्नता अपनी मुखरता से सभागार में पसर जाती। अब क्या हो ? दबे पाँव धीमा सा तनाव भी पसरता रहता। समय ठहर जाता। पर समय को ठहरना कहाँ कबूल है। वह तो चलायमान है। और उस बैठक कक्ष में ठहरे हुए पार्टी-जन और समय में गति लाने के भाव लिए शास्त्री जी के मधुर कंठ से कुछ पंक्तियाँ निःसृत हो जातीं। समय की नाजुकता और नज़ाकत को बाँधे हुए, सटीक। मानो किसी राजनैतिक प्रस्ताव पर घंटों चले विचार मंथन का नवनीत हो। पक्ष-विपक्ष में बैठे सभी सदस्यों को ग्राह्य। सबके लिए विचार रूपी स्वास्थ्यवर्धक मधु। समाज के विकास के लिए हितकर तो होता ही था।

पचासों पूर्ववर्ती कवियों के समग्र काव्य उन्हें कंठस्थ हैं। कविता ऐसे सुनाते हैं, मानो एक-एक शब्द को आत्मसात किए हुए हों। कागजों पर अंकित उन कविताओं को स्मरण करते हुए, निश्चितरूपेण उन कवियों की मनःस्थिति में स्वयं आ जाते होंगे। कविता सृजन की मनोभूमि पर खड़े। इसीलिए श्रोताओं को बार-बार भ्रम होता है कि शास्त्री जी की ही कविताएँ हैं। पर वे स्वयं कवि का नाम बताना नहीं भूलते।

सौजन्य : Mohanlal Pareek, C/o. Pareek & Associates, 16-B, Shakespear Sarani, B. K. Market, Kolkata-71

मानो बचपन से पढ़ी, सुनी और स्वयं कंठाग्र की हुई कविताओं से उनका संस्कार बना है। उनका व्यक्तित्व गढ़ने में उन कालजयी रचनाकारों का विशेष महत्त्व रहा है। इसलिए आम लोगों के बीच शास्त्री जी विशेष होते ही हैं। कुछ विशेषों के बीच भी विशेषतर नजर आते हैं।

विश्व हिंदी सम्मेलन में लंदन जा रहे थे हम लोग। मेरे दो बच्चे अमेरिका में हैं। लंदन से मुझे अमेरिका जाना था। उनके लिए खाने-पीने की सामग्रियों से भरी एक अटैची बहुत भारी हो गई थी। जाने से पूर्व घर में ही मैंने उठा कर देखा। मुझसे उठी नहीं। मेरी बहू ने कहा— "एयरपोर्ट पर आपके कई जेठ-देवर होंगे। कोई न कोई उठाकर ट्रॉली पर डाल ही देगा।"

और ऐसा ही हुआ। संगी-साथी तो बहुत थे। पर मेरी दो बड़ी अटैचियाँ देखकर शास्त्री जी मेरे पास आ गए। बोले— "रुकिए मृदुला जी! आप नहीं उठाइए।" उन्हें भी उठाने पर बहुत भारी लगीं। उनके पूछने पर मैंने उसमें भरे खाद्य पदार्थों के नाम बताए। बड़े प्रसन्न हो गए। बोले— "माँ हैं न आप! सालभर से बच्चों ने जो अपनी पसंद के भारतीय खाद्य पदार्थ नहीं खाए, वे सब ले जा रही हैं। माँ होती ही ऐसी हैं।"

इसी बीच माँ से जुड़ी कई कविताएँ भी सुना गए। लंदन के विश्व हिन्दी सम्मेलन में कुछ अव्यवस्थाएँ भी थीं। एक रात भोजन ठीक से नहीं बँटा। वे उसी होटल में ठहरे थे, जहाँ एक कमरे में मैं और चित्रा मुद्गल जी। होटल के स्वागत कक्ष में ही बात हो रही थी। किसे भोजन मिला, किसे नहीं। कई लोग व्यवस्थापकों पर रोष प्रगट कर रहे थे। शास्त्री जी भोजन नहीं मिलने वालों की श्रेणी में थे। पर चेहरा देखने से ऐसा नहीं लग रहा था। वही शांति। अवसर के अनुकूल पंक्तियाँ भी सुना रहे थे। लोग व्यवस्थापकों पर चिल्ला रहे थे। शास्त्री जी ने होटल वालों से कहा— "कृपया इनके लिए भोजन की व्यवस्था करवा दें।" रात्रि के ग्यारह बज रहे थे।

मैंने उन्हें धीरे से कहा— "आप तो हमारे कमरे में आइए।" कमरा नंबर बता दिया। थोड़ी देर बाद वे आ गए। मैंने उन्हें भारत में बहू के द्वारा बनाई पूड़ियाँ, अचार और एक दो मिठाइयाँ खिलाईं। वे खाते-खाते तृप्त हो रहे थे। पेट भरा या नहीं। मात्र दो पूड़ियाँ बची थीं। मन भर आया था और उसी भरे मन से उन्होंने मेरा साधुवाद किया। बहू को आशीष दिया। भारत लौटकर भी बहू को फोन किया— "तुम अपनी सास की बहुत चिंता करती हो। दूध में आटा गूँथा था। चार दिनों बाद भी पूड़ियाँ काम आईं। मैंने भी खाईं। बहुत-बहुत आशीष।"

मैंने उन्हें एक बार कहा— "आप तो मेरे जेठ हैं।" वही प्रश्न भरी मुस्कान थी चेहरे पर। मैंने स्पष्ट किया— "मेरे पति और आप एक ही परिवार (भाजपा परिवार) के हैं। वे आपसे छोटे हैं। दूसरा, जब आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते थे, वे वहाँ अंग्रेजी (एम.ए.) के विद्यार्थी थे। बना न जेठ का रिश्ता।" फिर तो ठहाका लगाकर हँसे। उन्मुक्त हँसी। और उन्होंने जेठ पद को स्वीकार कर लिया। रिश्ते को मान देते रहे हैं।

एक लेखों का संग्रह "आइने के सामने" (१९८२) के लोकार्पण के लिए मैंने उनसे आग्रह किया था। वे सहर्ष मान गए। उसमें सभी लेख महिलाओं के आत्म-निरीक्षणात्मक थे। उन्हें बहुत पसंद आए। एक लेख का शीर्षक था— "नखरे सास के बेटे के।" बोलते समय इस पर भी टिप्पणी की। वे मेरी लेखनी का उत्साहवर्द्धन करते रहे हैं। उन्हीं दिनों "ज्यों मेहंदी को रंग" (उपन्यास) पढ़ने के लिए दिया था। पढ़कर पुस्तक लौटा दी और कहा— "अंत पर सिनेमा का प्रभाव है। चाहें तो अंतिम एक वाक्य बदल सकती हैं।" मैंने उनका सुझाव मान लिया।

सौजन्य : National Printing Works, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-700 001

सहज व सुलभ होते हैं शास्त्री जी। बूढ़े, जवान और बच्चों के लिए भी। जहाँ बैठे, स्नेह की चादर पसार ली। कविताएँ सुना दीं। सब डूबने लगते हैं कविताओं में। जुड़ जाते हैं शास्त्री जी से।

जम्मू में जन्मे, वाराणसी में पले बढ़े, शिक्षा ग्रहण की, कलकत्ता में पढ़ाए, भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष रहे। हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश में राज्यपाल रहे। एक राष्ट्रीय छवि को संभालता व्यक्तित्व अत्यंत सरल है, मानो मिलने वालों के घर के अदना-सा सदस्य हों। अगुआ होने का आग्रह भी नहीं। पर उस अति साधारण आत्मीय व्यवहार में छुपा है, सबके हो जाने का गुण। इसलिए उनसे जो मिलता है, उसी के हो जाते हैं। वह तो उनका हो ही जाता है। उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लगा था। किसी कार्यक्रम में हम दोनों साथ बैठे थे। मैंने पूछा— "मेरी पाँच सौ पृष्ठ की पुस्तक पढ़नी है। समय मिलता है क्या ?"

"अरे कहाँ। फाइलों में उलझा हूँ। उन्हें ही साहित्य पढ़ने के भाव से पढ़ता रहता हूँ। राम जी की कृपा।" अपने काम के प्रति कोई झल्लाहट नहीं। राम जी की कृपा से जो काम मिला है, कर रहे हैं। निश्चय ही इस समर्पण भाव से ही सुखी हैं। भौतिक साधनों से बटोरा सुख, अपने लिए होता है। पर आध्यात्मिक सोच, विचार और वाणी से उपजा सुख, साझा सुख हो जाता है। उनसे जो जब मिलता है, कुछ देर संग-साथ बैठता सांसारिक सुख में डूबा व्यक्ति भी थोड़ी देर के लिए अलग अलग प्रकार के सुख से भर जाता है। शास्त्री जी के आसपास ऐसा ही आनंद पसरा रहता है। वे मिलने वालों को भी स्वयं आकंठ डूबे सुख-शांति में साझेदार बना लेते हैं। इस प्रकार उनके मन का साहित्यिक व आध्यात्मिक सुख साझा सुख बन जाता है।

सामाजिक समस्याओं पर उनका चिंतन मनन चलता रहता है। एक बार उत्तर प्रदेश के राजभवन में मिलने जाने पर बोले— "बहू और बेटी बराबर नहीं होती है। दोनों के प्रति अलग-अलग व्यवहार होता है। दोनों से अपेक्षाएँ भी अलग हैं। हम देते हैं बेटी को प्यार, दुलार; बहू को अधिकार।"

मैंने कहा— "यह तो नारा हो गया। दोनों की स्थिति की बड़ी सटीक व्याख्या है। व्यावहारिक भी। मैं आपके भाव को समाज में फैलाऊँगी।"

कई भाषाओं में धारा प्रवाह बोल सकते हैं। साधु-संत, साहित्यकार, राजनैतिक नेताओं, शिक्षक, विद्यार्थी से घनिष्ठ संबंध रहा है। पर उनके व्यक्तित्व पर अपने पिता के द्वारा मिले संस्कार भी हैं। चार-चार राज्यपालों को वर्तमान सरकार द्वारा बर्खास्त किए जाने पर उनके मुख से निकला था— "आखिर हमारा दोष क्या है ?" इतने सरल हृदयग्राही प्रश्न का जवाब यह सरकार नहीं दे सकती, क्योंकि इन्होंने अपना दोष पूछा है, जो कुछ है ही नहीं। परंतु शास्त्री जी को केवल राजनैतिक वीथियों में घूमता व्यक्ति नहीं समझ सकता। इनको समझने और संभालने के लिए आवश्यक है, राजनैतिक राष्ट्र से निकलकर सांस्कृतिक राष्ट्र में विश्वास करना।

शास्त्री जी के व्यक्तित्व में दोष नहीं है, न वे दूसरों का दोष निहारने के आदी हैं। दुष्टजनों से भी प्यार से ही मिलते हैं। उन्हें भी अपनी सुसंगति में थोड़ी देर के लिए लाते हैं। उनसे स्वयं प्रभावित नहीं होते। "चंदन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग" की स्थिति में। पर चंदन की सुगंध तो लिपटे रहे भुजंग के शरीर में आ ही जाती है। थोड़ी देर के लिए ही सही।

हम गौरवान्वित हैं कि ऐसे व्यक्तित्व हमारे वृहत्तर परिवार के सदस्य हैं। मेरे तो जेठ हैं ही। ●

सौजन्य : श्री घनश्यामदास डेवीवाला, १६७, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ००७

बद्री नारायण तिवारी

स्मृति के वातायन से

सन् १९३७ में फैजाबाद (अयोध्या) में स्थापित उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अध्यक्ष डॉ० सम्पूर्णानन्द तथा स्वागताध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव थे। साहित्यिक गोष्ठी की अध्यक्षता हिन्दी साहित्य के इतिहास-पुरुष पं० रामचन्द्र शुक्ल ने की थी। 'भारतरत्न' राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन ने इसके पूर्व अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का कार्यक्षेत्र अधिक बढ़ने से उसकी स्थापना के कई दशक बाद सन् १९३७ ई. में उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हिन्दी के भीष्म पितामह पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के करकमलों द्वारा करायी थी।

इस हिन्दी संस्था को अनेक बड़े-बड़े हिन्दी मनीषियों ने समय-समय पर अध्यक्ष पद पर अभिसिंचित किया। उसी में एक व्यवधान तब आया, जब हिन्दी सेवी डॉ० प्रताप नारायण टण्डन का कार दुर्घटना में दुःखद निधन होने पर मुझ जैसे लघु हिन्दी स्वयंसेवक पर जबर्दस्ती भार डाला गया। राजर्षि टण्डन की सदैव कामना रहती थी कि सम्मेलन का वार्षिक समारोह महानगरों की अपेक्षा आँचलिक क्षेत्र में हो। संयोग से मैनपुरी नगर से हटकर उसी जनपद से लगभग ११ किलोमीटर दूर 'जागीर' ग्राम में उसके प्रथम संयोजक के रूप में रहीम-रसखान की परम्परा के वाहक कविवर डॉ० दीनमुहम्मद दीन ने १९९८ में बड़ी तन्मयता से सम्पन्न किया। प्रदेश अध्यक्ष पद पर मैं था, इसीलिए उस गाँव में प्रथम दिवस के समारोह के उद्घाटन हेतु आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को कलकत्ता से जागीर गाँव के आयोजन में आमंत्रित किया गया। आपने जिस सहृदयता से उसे स्वीकारा और आत्मीयता से सम्मेलन में भाग लिया वह अविस्मरणीय है। शास्त्री जी उस सफल समारोह में सेवाभाव से भाग लेने पहुँचे और हिन्दी के ऐसे आयोजनों को ग्रामीण अंचल में कराने की सार्थकता पर बल देते हुए मुझे बधाई भी दी। उसके प्रत्युत्तर में मैंने लिखा कि मैं तो नाममात्र का था–उसका सम्पूर्ण श्रेय समारोह के हिन्दी सेवी संयोजक कविवर दीनमुहम्मद को जागीर (मैनपुरी) को है अतः सफल आयोजन हेतु उन्हें बधाई पत्र अवश्य भेजिएगा।

कुछ दिनों बाद जागीर से दीनजी का पत्र आया कि कलकत्ते से आचार्य शास्त्री जी ने आयोजन की प्रशंसा में मुझ जैसे दीन की गाँव की व्यवस्था को सराहा। इस तरह हिन्दी सेवियों का मनोबल बढ़ाना शास्त्री जी की अपनी विशिष्ट शैली है।

इसी अधिवेशन के दूसरे दिन समापन समारोह में पूर्व रक्षामंत्री श्री मुलायम सिंह यादव को रक्षा मंत्रालय में हिन्दी सेवा को साकार रूप प्रदान करने हेतु ताम्रपत्र से सम्मानित करने का निर्णय भी आचार्य शास्त्री जी को सूचित कर दिया गया था। राजनैतिक चश्मे से देखने वालों को लग रहा था कि भाजपा के प्रमुख नेता के नाते ये संभवतः इस समारोह में भाग नहीं लेंगे। किन्तु मैं शास्त्री जी के स्वभाव से परिचित था, आचार्य शास्त्री ने कार्यक्रम को स्वीकार कर पूरी आत्मीयता से भागीदारी की।

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

एक घटना याद आ रही है। महाकवि भूषण कानपुर के टिकवांपुर ग्राम में पैदा हुए, किन्तु ऐसे नरपुङ्गव वीर रस के श्रेष्ठ महाकवि भूषण की प्रतिमा देश में कहीं भी नहीं लगी है। इसी कृतघ्नता को दूर करने के लिए मित्रवर डॉ० यतीन्द्र तिवारी (प्राचार्य-रक्षा मंत्रालय के आर्मापुर स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कानपुर) से चर्चा हुई। उनके गाँव में स्मृति स्वरूप प्रारम्भिक पाठशाला में मात्र महाकवि भूषण का नाम अंकित है। इसके अलावा हमीरपुर रोड पर टिकवांपुर गाँव जाने वाले कच्चे सम्पर्क मार्ग (अब पक्का है) पर तत्कालीन क्षेत्रीय मंत्री श्री बेनी सिंह अवस्थी ने उनके नाम पर एक छोटी सी पट्टिका लगवा दी थी और कालपी रोड के मुख्य मार्ग के चौराहे पर महाकवि भूषण की प्रतिमा की स्थापना की। नगर निगम कानपुर से अनुमति के बाद आचार्य शास्त्री जी को शिलान्यास हेतु आमन्त्रित किया गया। शिलान्यास के बाद उन्होंने महाविद्यालय के सभागार में जिस ओजस्वी शैली में भूषण की अनेक पंक्तियों को उद्धृत कर श्रोताओं को अभिभूत किया, आज भी याद है। अनेक प्रोफेसर यह कहने पर बाध्य हुए कि भूषण की दो-चार अलंकार प्रयोग करने वाली रचनाओं के अलावा हम लोगों को भी उतनी जानकारी नहीं थी। इसके बाद भूषण की प्रतिमा निर्मित होने पर अनावरण माननीय अटल बिहारी जी वाजपेयी ने किया था।

सर्वप्रथम कानपुर में आचार्य शास्त्री को तुलसी रामकथा के मनीषी के नाते ऐतिहासिक नानाराव पार्क में अंतर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन में विद्वानों के सम्मान में आमंत्रित किया गया था। उसके मुख्य अतिथि थाईलैण्ड के राजदूत प्रो० सुचाति स्मित थे, जिनके भाषण का थाई से हिन्दी अनुवाद विदुषी डॉ० कमलारत्नम् जी ने किया था। अध्यक्षता युग-तुलसी पं० रामकिंकर जी ने की थी। इसे लगभग तीस वर्ष हो रहे हैं। 'मानस संगम' वार्षिक पत्रिका में प्रायः प्रत्येक अंक में शास्त्री जी विश्वकवि तुलसी पर अपने सुचिंतित आलेख भेजते हैं।

एक दिन कानपुर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ० कृष्ण बिहारी पाण्डेय का फोन आया कि हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी को यहाँ विश्वविद्यालय में डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की जायेगी। चर्चा के मध्य उन्होंने आपको (मुझे) भी सूचित करने को कहा है। मुझे ग्लानि हुई कि समाचार पत्रों में उनको मानद उपाधि प्रदत्त होने का प्रकाशन होने के बाद भी मैंने बधाई नहीं दी। उसके बाद मैंने शिमला फोन पर उन्हें बधाई दी। उस पर शास्त्री जी ने कहा वहीं आपके कानपुर आने पर स्वीकार करूँगा। कानपुर आने पर जिस प्रकार मेरे निवास पर वे पधारे और जो सहजता तथा आत्मीयता प्रकट की, वह अविस्मरणीय है।

एक व्यक्ति क्या नहीं कर सकता। कथनी-करनी एक होने पर उसके आस-पास का वातावरण भी उसी प्रकार निर्मित हो जाता है। लखनऊ राजभवन में शास्त्री जी ने शपथ समारोह के बाद प्रथम उद्बोधन में महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की बंगला रचना सुनाकर प्रारम्भ करते हुए जगदीश गुप्त की रचना सुनायी। तत्पश्चात् युवा पीढ़ी के यश मालवीय तक की रचनायें सुनाते हुए उन्होंने अपने भावों को साहित्यिक निष्ठा द्वारा प्रकट किया। भारत कोकिला सरोजिनी नायडू के बाद श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और साहित्यमनीषी आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री मनीषी राज्यपाल के रूप में राजभवन को गरिमामण्डित कर चुके हैं। देहरादून के ४० छात्र जो चिकित्सा क्षेत्र से संबन्धित थे उनको तकनीकी कारण बताकर वहाँ के अधिकारी उनका एक वर्ष नष्ट किये दे रहे थे। एक प्राचार्य जी के साथ कुछ विद्यार्थी वहाँ से पता लगाकर मेरे पास आए। उनकी न्यायोचित व्यथा-कथा सुनने के बाद मैंने एक पत्र लिखकर राजभवन लखनऊ भेजा। वहाँ मुख्य सचिव श्री शम्भुनाथ जी ने बात सुनकर आचार्य शास्त्री जी से भेंट कराई तथा जिस प्रकार समस्या का निदान किया, उन सभी विद्यार्थियों का एक वर्ष नष्ट होने से बचा। ऐसी कार्य प्रणाली शास्त्री जी की है।

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स् (इण्डिया) लि०, ६, रायल्स रेन्ज, कोलकाता-७०० ००१

इसी प्रकार एक नेत्रहीन डॉ० राम किशन गुप्त जिन्होंने "रज्जब वाणी" पर डाक्टरेट किया था, उन्होंने कानपुर के निकट घाटमपुर कस्बे में एक विकलांग विद्यालय की स्थापना की। सहायतार्थ एक कार्यक्रम प्रति वर्ष करके किसी विशिष्ट मनीषी से सम्मान वितरित कराते थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी, कि शास्त्री जी के द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो। मेरा एक पत्र लेकर जाने पर डॉ० गुप्त को महामहिम ने स्वीकृति प्रदान की तथा हमारे यहाँ तुलसी जयन्ती पर प्रातः तुलसी उपवन (मोतीझील) में भाग लेने के बाद साधनहीन विकलांग सेवी डॉ० गुप्त के घाटमपुर कार्यक्रम में जिस सहजता से भाग लिया–वर्तमान राजनेताओं को इन सत्कार्यों से शायद प्रेरणा मिल सके।

लंदन के विश्व हिन्दी सम्मेलन में आचार्य शास्त्री भाग लेने गये, किन्तु तन से विदेश प्रवास में भी वे मन से वृन्दावन-चित्रकूट को गुनगुना रहे थे। वही रूप दिखाई पड़ा लखनऊ राजभवन के विशाल परिसर के पग-पग पर। जहाँ अंग्रेजी छाई थी, वहाँ पर जगह-जगह पर हिन्दी की पट्टिकायें माथे पर बिन्दी की भाँति सुशोभित हो रही हैं। ●

श्रद्धा-सुमन

संस्कृति के रक्षक श्रीमान्
सुशासन-सक्षम, महिमावान्,
कर्म के केन्द्र, धर्म के प्राण;
कुशल नीतिज्ञ, न्याय के धाम।
आपको सादर कोटि प्रणाम्।।
धरा पर मूर्त्तिमान् पाण्डित्य,
ज्ञान के ज्योतिर्मय आदित्य,
भाव के, भाषा के लालित्य,
प्रभा से मण्डित मनोभिराम।
आप को सादर कोटि प्रणाम्।।
सहज सारल्य-सादगी-मूर्ति,
मृदुलता और विनय की पूर्ति,
क्षमा - कारुण्य - प्रेम-स्फूर्ति,
शान्त-गम्भीर-सौम्य-निष्काम।
आप को सादर कोटि प्रणाम्।।
राष्ट्र-माता के साधक पूत,
राष्ट्र-भाषा के गायक सूत,
राष्ट्र-गरिमा के जाग्रत दूत;
कीर्ति के स्वर्ण-शिखर द्युतिधाम।
आपको नतशिर कोटि प्रणाम्।।

—अवधेश नारायण मिश्र "दीपक"

सौजन्य : M/s. Shalimar Transport Corporation, 2, Anukul Mukherjee Road, Kolkata-6

डॉ० गिरिजा शंकर त्रिवेदी

स्मरणीय व्यक्तित्व के मनीषी

शालीनता, सौहार्द और विद्वत्ता की प्रतिमूर्ति आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पर लिखना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं है। उनका जीवन ही वैशिष्ट्यता से परिपूर्ण है। जीवन की समग्र साधना के वे प्रतीक हैं। संभ्रान्त, शिष्ट और कर्म को ही पूजा समझने, ईश्वर के प्रति गहरी निष्ठा रखने वाले परिवार में इस अप्रतिम प्रतिभा के धनी व्यक्ति का जन्म २ मई, १९२९ के दिन हुआ था।

सचमुच वे भाग्यशाली रहे हैं कि उन्हें अपने जीवन में साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं राजनीति के क्षेत्रों में विशिष्ट और प्रख्यात मनीषियों का स्नेह-साहचर्य और सान्निध्य प्राप्त हुआ है। कविता तो उनके जीवन की ऊर्जा रही है। वे सैकड़ों कवियों की कवितायें और श्लोक हमेशा याद रखते हैं। वे कहा करते हैं कि मेरी माँ को इसका श्रेय है कि वे बचपन में ही अच्छे श्लोक और कवितायें याद कराया करती थीं। उनकी माँ भी कविता और गीत लिखा करती थीं।

१९६१ में इलाहाबाद में जब वे निरालाजी से मिलने गये, तब निरालाजी ने अपनी दूरदर्शी दृष्टि से इस अति विशिष्ट साहित्यकार और कवि हृदय को पहचान कर अनवरत् हिन्दी सेवा करने का इन्हें आशीर्वाद दिया। वही आशीर्वाद आज फलीभूत हो रहा है। उस समय निराला जी को आपने उन्हीं की कविताएँ सुनाकर आश्चर्य में डाल दिया। फिर निरालाजी ने भी, बीमार होते हुए भी भूषण और पद्माकर आदि के छंद सुनाये। उन आह्लादकारी क्षणों का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है— "मैं अपने सौभाग्य पर गद्‌गद् था। निराला का स्नेह पाकर मैं हर्ष-विभोर हो उठा था। रुग्णावस्था में भी काव्यचर्चा के प्रति स्वाभाविक अनुराग निराला की सहज महत्ता का द्योतक है। उस साकार गंगा का पावन दर्शन, स्पर्श और प्रसाद पाकर मेरा प्रयाग प्रवास सार्थक हो गया।"

डॉ० धर्मवीर भारती से उनकी निकटता बांग्ला देश के युद्ध के समय और अधिक बढ़ी। भारतीजी ने युद्ध क्षेत्र में जाकर बांग्लादेश पर धर्मयुग में काफी लिखा था। शास्त्री जी उन दिनों भारतीजी के सान्निध्य में थे। अनेक साहित्यिक प्रतिभा के धनी महापुरुषों से उन्हें प्रेरणा मिली है। अपने प्रेम और स्नेह की सब पर वर्षा करना उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

मुझे याद है कि कई साल पूर्व अहमदाबाद में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की 'साहित्य-परिषद' के संचालन का दायित्व सम्मेलन के प्रधान मंत्री श्री विभूति मिश्र ने मुझे सौंपा था। मंच पर गिरिराज किशोर, कई मंत्री और अहमदाबाद की मेयर तथा शीर्षस्थ साहित्यकार विराजमान थे। आदरणीय विष्णुकान्त शास्त्री भी उन्हीं के साथ मंच पर बैठे थे। मैं माइक पर एक-एक का संक्षिप्त परिचय देकर बोलने के लिये बुला रहा था। वैसे नवनीत के संपादक के नाते मैं उनसे पत्र व्यवहार करता रहता था। पर चेहरों से हम अपरिचित थे। उन्होंने मंच पर ही बगल में बैठे सज्जन से पूछा— "संचालन कर रहे सज्जन अच्छी साहित्यिक भाषा में बोल रहे हैं। कौन हैं?" तब उन्हें बताया गया कि मुंबई के गिरिजा शंकर त्रिवेदी हैं, नवनीत पत्रिका के संपादक। प्रसन्न हुए।

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स (इण्डिया) लि०, ६, लायन्स रेन्ज, कोलकाता-७०० ००१

कार्यक्रम समाप्त होने पर सभी मंच से उतरकर जाने लगे। मैं भी भीड़ में चलने लगा। तभी पीछे से आकर उन्होंने कंधे पर हाथ रखा और कहने लगे —"बहुत अच्छा लगा आपसे मिलकर —आपको सुनकर। अच्छा बोलते हो। कभी कलकत्ता आना, तो जरूर मिलना।" मैं भाव-विभोर हो गया उनके सहज-सरल व्यवहार से।

उसके कुछ महीने बाद ही वे हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल हो गये। फिर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बने। मैंने जब भी पत्र दिया, तुरन्त उत्तर मिला। आज भी उनका स्नेह-साहचर्य मिलता है।

उनकी मौलिक रचनायें और अनूदित भी कई पढ़ीं, बार-बार पढ़ीं। कलम की जीवंतता के उनमें हमेशा दर्शन होते हैं। उन्होंने इतना अधिक लिखा है कि प्रायः जीवन के सभी आयाम उसमें आ जाते हैं। जिस विषय को उन्होंने अपनी लेखनी का विषय बनाया, उस पर उनकी अमिट छाप पड़ती दिखायी देती है।

राजनीति में उनका जाना ऐसा लगता है कि एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी साहित्यकार को राजनीति ने हमसे छीन लिया है। हिन्दी का एक प्रबल समर्थक, समालोचक, प्रतिष्ठित रचनाकार राजनीति के घने जंगल में कहीं खो गया है। फिर राजनीति के लिए यह शुभ ही हुआ है कि उनके हर कार्य-संपादन में उनकी साहित्य की गरिमा का पालन नजर आता है। जबकि आज की राजनीति तो लफ्फाजी और झूठ का पुलिंदा बनकर रह गयी है।

उनके अमृत महोत्सव पर मैं ईश्वर से कामना करता हूँ कि वह उन्हें शतायु प्रदान करे, जिससे साहित्य और राजनीति दोनों का कल्याण हो। ●

अभिनंदन

"कीरतिकतार करतार कामधेनु की त्यों,
सूरति विचार घनसार को घरसिबो।
परम मनीषी शास्त्री जी महाराज,
बोलिबो तिहारो सुधा-सिंधु को बरसिबो।
सहज सुभाइ मुसुकाइबो मनोहर है,
जगत-प्रसिद्ध आठो सिद्धि को सरसिबो।
दिल सों दया सों देखिबोई देव दरसन है,
रीझिबो रसायन है पारस परसिबो।"

—डॉ० अशोक कुमार उपाध्याय

सौजन्य : Procon Financial & Investment Pvt. Ltd., Nanbhoy Mansion, Sir P. M. Road, Fort, Mumbai-1

प्रज्ञा-पुरुष आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

लम्बा, गोरा, छरहरा शरीर, मुक्त हँसी, सफेद धोती कुर्ता, रेंगत्रयी अंग वस्त्र, सीधा-सादा भारतीय वेश, पाण्डित्यपूर्ण बातचीत, सौम्य स्वभाव, आत्मीय-स्नेहिल मुक्त हँसी, यह सब मिलाकर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का व्यक्तित्व बनता है। उनके साथ मेरा लगभग ४० वर्षों का परिचय रहा है। पहले वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहे, रीडर रहे, हिन्दी-विभागाध्यक्ष रहे, राज्य विधान सभा के सदस्य बने, बड़ाबाजार लाइब्रेरी, श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय में नियमित गीता, प्रवचन देते हुए प्रबुद्ध विचारद्रष्टा रहे। इसके बाद भारतीय जनता पार्टी में सक्रिय रूप से अपनी सहभागिता निभायी और राष्ट्रीय पहचान बनाकर उसके राष्ट्रीय उपाध्यक्ष बने, राज्य सभा के संसद सदस्य बने, हिमाचल प्रदेश और अब उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में अपने राष्ट्र-धर्म का कुशलता पूर्वक निर्वाह कर रहे हैं।

काव्य पाठ करते हुए, मंच संचालन में दक्ष, हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी में धारा प्रवाह बोलते हुए नेशनल लाइब्रेरी के अध्ययन कक्ष में गंभीर भाव से लिखते हुए, विचार-चर्चा में निपुण ऐसे कितने रूप मैंने शास्त्री जी के देखे। उनके साथ कितने सारे विचार सेतु जोड़े, कितनी संगोष्ठियों में हम साथ मिले, साहित्य पर चर्चा की और प्रत्येक स्थान पर उन्हें गरिमामय पाया। जब कभी किसी बात पर वाद-विवाद हो जाता साहित्येत्तर बातें होती, लोग अपनी बाहें चढ़ाकर लड़ने जैसा माहौल बना लेते तब भी मैंने शास्त्री जी को हँसते हुए सौम्य भाव से कहते हुए देखा— "अरे भाई, इन सब बातों में क्या रखा है ? शांत हो जाओ, एक गिलास ठंडा पानी पिओ और मूल विषय पर आ जाओ।" बस, विरोधियों का क्रोध छू-मंतर हो जाता और एक समरसता का वातावरण सहज ही निर्मित हो जाता। शास्त्री जी ने जितना साहित्य, धर्म, राजनीति पर चिंतन-मनन किया है, उतना बहुत कम लोगों ने किया है। जितनी अधिक उन्होंने हिन्दी की कविताएँ पढ़ी हैं, कंठस्थ की हैं और वे संगोष्ठियों में निराला, पंत, महादेवी की कविताओं को जिस प्रकार एक कवि की तरह पाठ करते हैं वह अपने आप में बड़ी उपलब्धि है। निराला साहित्य पर उनका एकाधिकार रहा है और उन्होंने निराला के विषय में जैसा ज्ञान-गहन, चिंतन-लेखन किया है, वैसा बहुत कम विद्वानों ने किया है। शास्त्री जी के पास अपने विचार हैं, ओढ़ी हुई मानसिकता नहीं है। बासी फलसफे नहीं हैं। जो कुछ भी बोलते हैं, हृदय से बोलते हैं और अपने विचारों के तई विषय पर ही बोलते हैं। कभी भी मैंने उन्हें विषयांतर नहीं सुना। उनका कहना है कि "यदि कुछ बोलना है तो विषय पर बोलो और यदि नहीं बोलना है तो कुछ मत बोलो लेकिन विषय को कलुष मत बनाओ, विषयांतर होना विवेकशीलता नहीं है।"

शास्त्री जी के बारे में मस्तिष्क की झोली में अनगिनत संस्मरण हैं, अनगिनत वादे हैं, अनेकों न भूल सकने वाली घटनाएँ है। शास्त्री जी ने जितने मित्र बनाये – पहले और आज भी, वे सब मित्रवत् बने रहे। यह उनके सहज, आत्मीय, स्नेहिल व्यक्तित्व का उदाहरण है। मैंने आज तक उनका एक भी विरोधी नहीं देखा। यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है कि उनके भीतर साहित्य धारा सतोगुणी विचारों के प्रवाह में मिलकर निरंतर प्रवाहित हो रही है, उसमें कोई

डॉ०जय : राज मोहन बाँदे (अध्यक्ष-एक्सीक्यूटिव एडवोकेट्स प्रा० लि०) ४०४, ६ बाटरलू स्ट्रीट, कोलकाता-६९

यदि कंकड़-पत्थर भी फेंके तो वह भी प्रवाह बन जाता है। ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती, अज्ञान की भी कोई सीमा नहीं होती लेकिन पंडित विष्णुकान्त शास्त्री ने विशेष रूप से गीता, उपनिषद, वेद, महाभारत और रामायण की जो व्याख्या अपने नियमित प्रवचनों के माध्यम से की है, वह अद्वितीय है, श्रेष्ठ है, अविस्मरणीय है।

शास्त्री जी जब हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल होकर शिमला आये तो सुखद आनन्द हुआ। मैंने उन्हें बधाई का पत्र लिखा और आग्रह किया कि "आपको तिरूपति में २-४ अक्टूबर-०१ में आयोजित १३वीं अखिल भारतीय राजभाषा सम्मेलन में विशिष्ट अतिथि के रूप में आना है तथा देश-विदेश से पधारे प्रतिनिधियों को संबोधित करना है।" उनका तुरन्त उत्तर आया कि "प्रभु चाहेगा तो मैं आऊँगा।" मैंने मन ही मन सोचा प्रभु तो चाहेगा ही। आपका जवाब नहीं। वे हिमाचल प्रदेश से कार द्वारा चंडीगढ़ आये। चंडीगढ़ से दिल्ली आये, दिल्ली से मद्रास और मद्रास से तिरूपति। ये सभी यात्राएँ उन्होंने २४ घंटे के भीतर की जबकि उनकी उम्र वर्ष २००० में ७३ के आस पास थी। तिरूपति पहुँचते ही उन्होंने सर्किट हाउस से सीधे फोन किया कि मैं आ गया हूँ, बोलो कब आना है ? मैंने पूछा--महामहिम, "दोपहर का भोजन कर लिया" ? इस पर वे बोले— "भोजन भी कर लिया, भजन भी कर लिया, अब तुम्हारे साथ चर्चा करूँगा। कितने बजे पहुँचना है ?" मैंने कहा— "आप थोड़ा विश्राम कर लें। ३ बजे कार्यक्रम आरंभ होगा।" तब लगभग २ बजे थे। ठीक ३ बजे उनका राजकीय काफिला सम्मेलन स्थल पर आ पहुँचा। मुझे आश्चर्य हुआ समय के वे कितने पक्के हैं। सम्मेलन के आयोजन में मैं व्यस्त था, दौड़कर अगवानी की, प्रणाम किया, पुष्प गुच्छ भेंट किया। मुस्कुराकर बोले— 'इसकी क्या जरूरत है ? स्नेह का वंदन ही श्रेष्ठ है।' मैंने कहा— 'वंदन तो कर ही रहा हूँ लेकिन अभिनंदन के लिए पुष्प की आवश्यकता पड़ती है।' वे ठठाकर हँस पड़े तो लगा कि एक साहित्यकार शुद्ध हृदय से हँस रहा है। सभा-कक्ष में आये। वरिष्ठ विद्वानों, लेखकों, प्रतिनिधियों से मिले, बातचीत की, मंच पर आये और लगभग ४५ मिनट तक दीक्षान्त भाषण दिया जिसमें उन्होंने मुख्य रूप से कहा— "बिना भाषा संस्कार के दुनियां का कोई भी देश या व्यक्ति सभ्य नहीं हो सकता और यदि अपनी लंबी मंजिल तक बढ़ना है तो इसके लिए भाषा का संस्कार होना बहुत आवश्यक है। लेकिन यह दुख की बात है कि हमने भाषा को गौण मान लिया है और राजनीति हमारे सिर पर सवार हो गयी है। यह स्थिति कम से कम भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। जिस प्रकार गाँधी जी ने हमें स्वतंत्रता दिलवाने के लिए अपना खून-पसीना एक कर दिया और सफलता प्राप्त की और जिस प्रकार हमें एक राष्ट्रध्वज, एक राष्ट्रगान, एक संविधान मिला, अभी तक एक राष्ट्रभाषा मिलने में बहुत समय लग गया और अब निर्विवाद रूप से हिन्दी ही राष्ट्रभाषा का दर्जा ग्रहण करे, इसके लिए राष्ट्र के सभी वर्गों का स्नेह, सौहार्द्र एवं सहयोग प्राप्त करना चाहिए। कहीं कोई दुविधा या क्लेश की बात नहीं होनी चाहिए क्योंकि जब कभी हम राष्ट्रभाषा के बारे में बातचीत करते हैं तो राष्ट्रीय दायित्व, सामाजिक चिंतन, एक राष्ट्रधर्म, राष्ट्रीयता, एक भाषा संस्कार से जुड़ते हैं।"

शास्त्री जी व्याख्यान देकर नीचे उतरे। उनके सम्मान में चाय का प्रबंध था। लेकिन उन्होंने कहा "चाय मैं पीता नहीं। मैंने अपना वादा निभाया अब तुम लोग भी अपना वादा निभाओ। हिन्दी को राष्ट्रभाषा, विश्वभाषा बनाना है।" इतना कहकर शास्त्रीजी अपने काफिले के साथ उसी समय शिमला वापस लौट गये। उसके एक साल बाद मैंने पुनः संकोच करते हुए उन्हें पत्र लिखा कि १५वीं अखिल भारतीय राजभाषा सम्मेलन २-४ अक्टूबर २००२ को मैसूर में आयोजित किया जा रहा है। अतः आप कृपया सम्मेलन का उद्घाटन करने की कृपा करें। तुरंत उनका उत्तर आया कि २ अक्टूबर को लखनऊ में गाँधी जयन्ती के बहुत सारे कार्यक्रम हैं। तब तक वे हिमाचल प्रदेश

से उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में आ गये थे। इसलिए मेरी असमर्थता समझकर क्षमा करें। मैंने दूसरा पत्र लिखा "यदि आप २ अक्टूबर को गाँधी जयंती के दिन लखनऊ में व्यस्त हैं तो कृपया ४ अक्टूबर, २००२ को सम्मेलन के समापन सत्र पर आयें और प्रतिनिधियों को संबोधित करें। उनका उत्तर आया कि "यदि प्रभु चाहेंगे तो उपस्थित हो जाऊँगा।" और वे ४ अक्टूबर, २००२ को लखनऊ से प्रातः ४ बजे चलकर दिल्ली, दिल्ली से बंगलोर, बंगलोर से ४-५ घंटे सड़क मार्ग से यात्रा करते हुए बड़ी मुश्किल से नियत समय पर सभा स्थल पर उपस्थित हुए। क्योंकि उस दिन कर्नाटक में कावेरी जल विवाद आन्दोलन था और सारे रास्ते आन्दोलनकारियों ने जाम कर दिए थे। सड़कों पर कोई आवाजाही नहीं थी किन्तु महामहिम का काफिला पुलिस के घेरे में बंगलोर से मैसूर कठिनाई से पहुँचा। मिलते ही कन्धे पर स्नेह का बरदहस्त रख दिया—मैंने अपना वादा पूरा किया लेकिन काफी परिश्रम करना पड़ा। वे प्रातः ४ बजे लखनऊ से चलकर शाम को ४ बजे मैसूर पहुँचे। बानी पूरे १२ घंटे की कठिन यात्रा किन्तु उनमें थकान का नामोनिशान नहीं। एक घंटे तक सम्मेलन के समापन समारोह में सम्मिलित होकर पुनः ५ बजे वापस सड़क मार्ग से बंगलोर के लिए रवाना हो गये और फिर बैंगलोर से दिल्ली, दिल्ली से लखनऊ। ऐसा व्यक्तित्व हमें भला कहाँ मिलेगा। जिस प्रकार शास्त्रीजी अपनी कथनी और करनी को निभाते रहे। सहज, सहिष्णुभाव से आज ७५ वर्ष की आयु में भी साहित्य, राजनीति तथा समाज, शिक्षा के रचनात्मक कार्यों में सतत लगे हुए एक युवक से अधिक चुस्ती और कुशलता से कार्य करते हैं वह सचमुच अनुकरणीय है। ज्ञान और कर्म / ईशावास्य-अनुवचन / ग्रन्थ में आचार्य शास्त्रीजी ने ज्ञान और कर्म की विस्तृत विवेचना की है। श्रीबड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता की कौस्तुभ जयन्ती योजना के अन्तर्गत ईशावास्योपनिषद का प्रवचन क्रम अट्ठारह महीनों तक चला और आचार्य शास्त्री ने ईशावास्योपनिषद की जो विस्तृत व्याख्या की वह अन्यत्र दुर्लभ है।

महाकवि तुलसीदास और रामायण पर आचार्य शास्त्री का गहन अध्ययन है। उन्होंने "तुलसी के हिय हेरि" पुस्तक में कुल सत्तरह निबंधों के द्वारा कवि के जीवन, साधना और चिंतन के विविध संदर्भों, रूपों, आयामों पर सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं जो तुलसी और राम को समझने का सफल एवं सार्थक प्रयास है। "भक्ति और शरणागति" पुस्तक में उन्होंने भक्ति की भूमिका, भक्ति के विविध आयाम, सरल भागवत धर्म, और शरणागति की भूमिका, उसकी निरपेक्षता और अंग सापेक्षता एवं विविध सूत्रों को अत्यन्त पांडित्यपूर्ण ढंग से विवेचित किया है जो भारतीय साहित्य के चिन्तन, मनन के लिए अत्यन्त रोचक, ज्ञानगम्य और अनुकरणीय दस्तावेज है।

आचार्य शास्त्री धर्मनीति और राजनीति दोनों के अध्येता रहे हैं। किन्तु इससे भी बढ़कर वे साहित्य से निरन्तर गहन रूप से जुड़े रहने के कारण हमारे बीच सरल, आत्मीय अपने आदमी की तरह आज भी बने हैं। जिन्हें आने वाला समय एक कुशल राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक के रूप में ही नहीं बल्कि समर्थ प्रज्ञा-पुरुष के रूप में जाने मानेगा। ईश्वर से आन्तरिक प्रार्थना है कि आचार्य श्री इतिहास-पुरुष बनें। जीवन के सौवें वर्ष भी इसी तरह समय-प्रवाह से जुड़ें, निरन्तर साधक, स्वस्थ, प्रसन्न, चिंतनशील, प्रज्ञा-पुरुष के रूप में भारतीय मनीषा को प्रभावित करते रहें। ●

सौजन्य : Shree Jain Vidyalaya-Boys (Secondary), 18D, Sukias Lane, Kolkata-700 001

डॉ० सय्यद महफूज़ हसन रिज़वी 'पुण्डरीक'

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : एक अप्रतिम-व्यक्तित्व

'सादा जीवन उच्च विचार' के मानवीकरण हैं श्री विष्णुकांत शास्त्री। इनको मैं गत ३२ या ३३ वर्षों से जानता हूँ। सन् १९७२ में मानस चतुःशती समापन समारोह के अवसर पर इस आयोजन के संयोजक श्री बद्रीनारायण तिवारी के निमंत्रण पर मैं कानपुर गया था, जहाँ देश-विदेश के तुलसी साहित्य के विद्वज्जन पधारे थे। इस आयोजन ने श्रोताओं और वक्ताओं पर इतना गंभीर प्रभाव छोड़ा कि सभी ने तिवारी जी से आग्रह किया कि यह क्रम चलते रहना चाहिए। अब उनके पास समस्या यह थी कि इस समिति का गठन तो केवल मानस चतुःशती समापन को आयोजित करने के लिए किया गया था। इसका उद्देश्य २८ दिसम्बर १९७२ को पूर्ण हो चुका था। परिणामतः तिवारी जी को मानस-संगम के नाम से दूसरी संस्था का गठन करना पड़ा और प्रत्येक वर्ष दिसम्बर मास में, मानस-संगम समारोह कानपुर में होने लगा। मेरी भी उक्त आयोजन में सहभागिता होने लगी। उन दिनों मैं अपने घर रुदौली (बाराबंकी) से और कलकत्ते से आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भी आया करते थे। इस मंच ने मुझे जहाँ देश-विदेश की बड़ी-बड़ी विभूतियों से परिचित कराया वहीं आदरणीय शास्त्री जी के निकट आने का सौभाग्य भी प्रदान किया। इनकी कोमल-कान्त शैली में मानस पर गंभीर चिन्तन युक्त वाणी का रसास्वादन भी प्राप्त करता रहा। उक्त समारोह की अध्यक्षता 'युग-तुलसी', स्वर्गीय पंडित रामकिंकर जी उपाध्याय किया करते थे। उन्हीं दिनों श्री चित्रकूटधाम में स्व. डॉ० राम मनोहर लोहिया के रामकथा द्वारा राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने के स्वप्न को साकार करने के उद्देश्य से "राष्ट्रीय रामायण मेला" संस्थान का गठन श्री गोपालकृष्ण करवरिया की अध्यक्षता में हुआ। इसकी स्थापना के साथ ही मैं, डॉ० भगवती प्रसाद सिंह (गोरखपुर विश्वविद्यालय), आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री, (कलकत्ता वि.वि.), डॉ० भगीरथ मिश्र (सागर वि.वि.), श्रीमती कमला रत्नम (दिल्ली) आदि जुड़ गए थे और हमलोगों को संस्थापक सदस्य घोषित किया गया था। चित्रकूट में हमलोगों को और अधिक निकट आने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं चित्रकूट के सरकारी अतिथिगृह में ठहरता था और शास्त्री जी जानकी कुण्ड के बड़े महन्त के अतिथि हुआ करते थे। एक बार जानकी कुण्ड के बड़े महन्त का एक शिष्य मेरे पास आया और उसने कहा कि महंत जी ने आज सायंकाल श्री जानकी कुण्ड में एक छोटा सा कार्यक्रम रखा है और वह चाहते हैं कि राम कथा के किसी भी प्रसंग पर आप प्रवचन करें। वाहन आपको लेने के लिए आ जाएगा। मैंने सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी। जब मैं वहाँ पहुँचा तो स्वयं महंत जी ने बढ़कर मेरा स्वागत किया। इसे देख मैं रोमांचित हो गया। प्रवचन की सारी व्यवस्था हो चुकी थी। इससे पूर्व कि मुझे आसन ग्रहण करने के लिए कहा जाय, महंत जी ने किसी शिष्य से कहा कि विष्णुकांत जी से कह दो कि पुण्डरीक जी आ गये हैं। कुछ ही पलों में मैंने आचार्य जी को दुमाले के सोपानों से नीचे उतरते हुए देखा। उनके निकट आने पर मैं खड़ा हो गया, चाहा कि चरण-स्पर्श करूँ, किन्तु इससे पूर्व ही उन्होंने मुझे अंक में भर लिया। उनका व्यवहार ही रामकथा का मूक व्याख्यान होता है। उस समय मुझे लगा जैसे श्रीरामचंद्र केवट को अंक भेंट रहे हों। महंत जी से आदेश पाकर मैंने प्रवचन शुरू किया। उस दिन मैंने वैदिक-

सौजन्य : Cargo Transport Services, G. T. Road, Parao, Varamasi (U. P.)

ऋचा "सर्वेभवन्तु सुखिनः" को अपना विषय चुना था। मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि इस विषय पर मैं बोल सकूँगा किन्तु जाने कहाँ से विचारों के झोंके आ रहे थे कि मैं उन्हीं में बहता चला गया, बिना विचलित हुए मानों भूल ही गया कि आचार्य प्रवर सरीखे मानस के गहन अध्येता एवं साहित्य के प्रकांड विद्वान की अध्यक्षता में बोलने का दुस्साहस कर रहा हूँ। लगभग डेढ़ घंटा धारा-प्रवाह बोल गया। इसके उपरांत आचार्य प्रवर ने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि "पुण्डरीक जी को देख कर प्रसन्नता होती है लेकिन सुनकर सबसे अधिक प्रसन्नता होती है।" इसे सुनकर मुझे लगा कि मैं एक ज़र्रा (जर्रेणु) था कि जिसे शास्त्री जी ने आफ़ताब बना दिया।

अगस्त १९७९ में लोक सेवा आयोग की संस्तुति पर राष्ट्रीय परीक्षण शाला, अलीपुर, कलकत्ता में, हिन्दी अधिकारी के पद पर नियुक्त होकर मैं कलकत्ता आ गया। यहाँ श्री विष्णुकान्त जी शास्त्री के अतिरिक्त मेरी किसी से परिचिति नहीं थी। कुछ ही महीनों में मन-विचलित होने लगा था। यहाँ तक कि कानपुर के अपने हितैषी डॉ० बद्रीनारायण तिवारी को मैंने एक पत्र लिखकर कह दिया था कि यहाँ मेरा मन नहीं लग रहा है, मेरे लिए यहाँ कोई साहित्यिक परिवेश नहीं है। मैं त्याग पत्र देकर घर लौट जाऊँगा। उन्होंने कृपा कर तत्काल उत्तर दिया और लिखा- "नहीं, ऐसा मत कीजिए, कलकत्ता में आपके पूर्व परिचित एवं संत प्रवृत्ति के विद्वान विष्णुकान्त जी शास्त्री रहते हैं। आप उनसे मिलें, वे आपको आकर्षक साहित्यिक परिवेश उपलब्ध कराएँगे।" हुआ भी ऐसा ही, मैं इस औदार्य की प्रतिमूर्ति से उनके आवास पर मिला। बड़े तपाक से मिले, मुझे धीरज बँधाया। यहाँ की कुछ संस्थाओं और स्थापित साहित्यकारों से परिचित कराया। जिसका परिणाम यह हुआ कि कलकत्ता में मैं ऐसा रमा कि इससे बाहर जाने की इच्छा ही नहीं होती। इसका बहुत कुछ श्रेय श्री शास्त्री जी को जाता है। विष्णुकान्त शास्त्री एक ऐसा नाम है जिसने साहित्य जगत में अपना एक पृथक् स्थान बनाया है। कवि, लेखक, व्याख्याता, समाज सुधारक, कर्मनिष्ठ राजनेता, एक अध्यापक से लेकर महामहिम राज्यपाल के पद तक को सुशोभित करनेवाले ज्ञान, कर्म और भक्ति के संगम श्री शास्त्री एक बहुआयामी प्रतिभा के प्रतीक पुरुष हैं। जब ज्ञान की सरिता प्रवाहित करते हैं तो विद्वत्-गोष्ठियों में, विश्वविद्यालयों की विचारगोष्ठियों में दी गयी व्याख्यानमालाओं में कलकल नाद अनहद्वत् श्रुति-पुटों से टकराता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की स्थापना है कि "ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है"। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि किस पात्र में संचित ज्ञान राशि को साहित्य कहा जा सकता है। संचय-पात्र दो हो सकते हैं, प्रथम-मानव मस्तिष्क, द्वितीय-अभिव्यंजना। अभिव्यंजना के अनेक पात्र हैं किन्तु विशेष रूप से दो की भूमिका अधिक है– प्रथम है वाणी और दूसरी लिपि। मेरे विचार में स्व० द्विवेदी जी का आशय यही रहा होगा कि 'ज्ञान राशि के कोष' को चाहे जिस पात्र में संचित किया जाय, साहित्य ही होगा। विष्णुकान्त जी की वाणी और लेखनी में साहित्य विराजता है। वाग्देवी की इन पर असीम कृपा है। और क्यों न हो ? उसके साधक जो ठहरे। एक आस्तिक स्वस्थ परंपरावादी एवं राष्ट्रवादी परिवार में जन्म, पिता संस्कृत एवं हिन्दी के विद्वान एवं सुकवि पंडित गांगेय नरोत्तम शास्त्री, माता जो गीत और भजन रचती थीं अर्थात् एक कवयित्री। ये सब ऐसे कारक तत्त्व थे जिन्होंने बालक विष्णुकान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत की। इनके लेख "मेरी रचना प्रक्रिया" से तो यही लगता है कि इनके व्यक्तित्व को गढ़ने में इनके पिता स्व० पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी प्रभाव पड़ा है।

इसमें संदेह नहीं कि पैतृक संपत्ति के रूप में जो अनुवांशिक गुण इन्हें प्राप्त हुए थे शास्त्री जी ने केवल उनकी रक्षा ही नहीं की बल्कि उन्हें उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। ये अच्छी कविता लिखते ही नहीं पढ़ते भी हैं। इनका

सौजन्य : पुलोत आटोमोबाइल्स प्रा० लिमिटेड, जी. टी. रोड, अड़िया, पड़ाव, वाराणसी (उ. प्र.)

कथन है— "काव्य पाठ मेरे लिये संजीवनी है। मुझे कविता से ऊर्जा प्राप्त होती रही है। मैं जब भी अच्छी कविता पढ़ता हूँ, तो उसे याद कर अच्छे ढंग से किसी सहृदय को सुनाता हूँ, इससे मेरी थकावट दूर हो जाती है। मुझे लगता है कि मैं फिर बड़े काम से जूझ सकता हूँ।" शास्त्री जी की यह विशेषता उनके निबंधों में झलकती है। पत्र लेखन की अपनी प्रवृत्ति के विषय में लिखते हैं कि— "शुरू शुरू में मैं पत्र लिखता था अपने परिवार के मुन्शी के रूप में, बाद में मुझे पत्र लिखने की बीमारी सी हो गयी थी।"

इधर मेरे मित्र डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी और श्री जुगलकिशोर जैथलिया के सौजन्य से श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता द्वारा प्रकाशित विवेच्य रचनाकार की तीन पुस्तकें देखने को मिली जिसे देखकर लगा कि इनके अंतस में ज्ञान का एक ऐसा सागर बह रहा है जिसकी गहराई का परिमापन यदि असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

चुनी हुई रचनाएँ खंड-१ में इनका वह स्वरूप जिसमें एक स्वस्थ आलोचक बिम्बायित होता है, इनकी साहित्यालोचन संबंधी स्थापनाएँ, तार्किकता, प्रस्तुति-पूर्णता, पारंपरिकता को साथ में लिए आधुनिकता, न्याय-प्रियता, विश्लेषणात्मकता आदि के दर्शन होते हैं। "कबीर" पर चिंतन करते हुए इन्होंने आलोचना संबंधी निम्न स्थापना की है— "आलोचना आलोच्य को सुबोध्य बनाने के लिए की जाती है दुर्बोध्य बनाने के लिए नहीं।"

(चुनी हुई रचनाएँ/खण्ड-१/पृ.-३१)

इनकी उक्त स्थापना काफी वैज्ञानिक एवं दमदार है। काव्य की उत्कृष्टता के संबंध में इनका विचार है कि रचनाकार के चेतन और अचेतन मन में परस्पर पूर्ण सहयोग होना चाहिए। मैं इसे सही मानता हूँ क्योंकि इनमें परस्पर सहयोग न होने की स्थिति में गूढ़ अनुभूति की अभिव्यक्ति अगूढ़ हो जाती है। मेरे कवि धर्म संबंधी शीर्षकस्थ छन्द की निम्न पंक्तियाँ उक्त विचारों का समर्थन करती हैं—

शिशु कर्म नहीं कवि धर्म प्रिये, दिल और दिमाग का संगम है।
अनुभूति, अगूढ़ जो व्यक्त हुई, उस काव्य का रूप विहंगम है। *-पुण्डरीक*

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी रचना प्रक्रिया के संबंध में अपने किसी लेख में लिखा था— "यात्रा पर निकलती तो रही है बुद्धि किन्तु हृदय को साथ लेकर।" इससे इंगित होता है कि उनके निबंधों में मुख्य भूमिका बुद्धि की होती है जब कि हृदय-पक्ष गौण होता है। ध्यातव्य है कि यह बात उन्होंने गद्य लेखन के संदर्भ में कही है। पद्य लेखन (कविता) के संबंध में स्थिति इसके विपरीत होती है। श्री विष्णुकान्त जी ने बीच का रास्ता निकाला है। उनकी स्थापना है कि— "काव्य की उत्कृष्टता चेतन और अचेतन मन के पूर्ण सहयोग पर निर्भर करती है। जहाँ किसी रचयिता के चेतन-अचेतन मन में द्वन्द्व चलता है, बुद्धि जिसे सही मानती है, हृदय उसका समर्थन नहीं करता, या बुद्धि हृदय की मान्यता का निषेध करती है, तो उसकी रचना में भी दरारें पड़ जाती हैं।

(चुनी हुई रचनाएँ, खण्ड-१/२००३/पृ०-४२)

इस प्रकार की स्थापना वही रचनाकार कर सकता है जिसे स्वयं इस प्रकार के द्वन्द्व से गुजरने का अनुभव हुआ हो जो मूलतः कवि हो बाद में कुछ और। इसलिए शास्त्री जी की रचनाओं में विषय-निर्वाह-पूर्णता और आचार्यत्व के साथ ही साथ व्यवहृत भाषा में कवि हृदय की धड़कनें पाठकों को स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। "कालिदास की विरह व्यंजना" में शास्त्री जी ने प्रेम और काम में अंतर को बड़ी ही तन्मयता और गांभीर्य के साथ विवेचित

किया है। "प्रेम यदि स्वर्ण है तो विरह इसकी कसौटी" वे इस स्थापना के समर्थक लगते हैं। उनकी स्थापना है कि "अप्राप्त प्रिय की प्राप्ति होने के बाद अगर उसके प्रति आकर्षण शिथिल हो जाय, उसमें सातत्य न बना रहे तो यह मानना पड़ेगा कि वह प्रेम न होकर काम ही था।" यह विशुद्ध भारतीय चिन्तन है।

(चुनी हुई रचनाएँ, खंड-१/पृ०-२)

श्री शास्त्री जी की इस प्रसंग में स्थापना को भारतीय संस्कृति की शास्त्रीय विवेचना कहा जा सकता है। "नानापुराणनिगमागमसम्मतम्", जिसके जीवन का प्रत्येक क्षण हो, तुलसी साहित्य में उसकी पैठ कितनी गंभीर होगी, इस तथ्य का निर्धारण कल्पनातीत है। सच बात तो यह है कि तुलसी साहित्य के प्रति आसक्ति ही उस कारक तत्त्व की भूमिका में थी जिसने मुझे इनके निकट आने का सौभाग्य प्राप्त कराया। अंतर है तो बस यह कि मैं तुलसी साहित्य का विद्यार्थी हूँ और वे प्रकाण्ड विद्वान।

तुलसी साहित्य से संबंधित इनके निबंध, साहित्य के विद्यार्थियों के लिए, साहित्य प्रेमियों एवं लेखकों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक हैं। चुनी हुई रचनाएँ-खण्ड-१ में केवल तुलसीदास पर उनके सात निबंधों को संकलित किया गया है।

उपरोक्त निबंधों में लेखक ने तुलसी साहित्य का एकल मंथन किया है और इससे प्राप्त अमृत कलश की बूंदों को जाने कहाँ-कहाँ छलकाया है, कितने साहित्य कुम्भों की रचना की है। प्रत्येक पर अपनी प्रतिक्रिया विस्तार भय के कारण व्यक्त नहीं की जा सकती है। किन्तु "तुलसीदास की विचारणा के कुछ बिन्दु"[1] पर आचार्य प्रवर ने 'ढोल गंवार, शूद्र, पशु, नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ।।" को तुलसी का मत बताने वाले विद्वानों से अपनी असहमति व्यक्त की है। सागर को अधम पात्र बताते हुए लिखते हैं "क्या आज के किसी उपन्यासकार के किसी अधम पात्र की उक्ति को उपन्यासकार का मत बताना बुद्धिसंगत है"[2] उनका यह तर्क मंडनीय है किन्तु इस अर्धाली पर तथाकथित विद्वानों की आलोचना धरी की धरी रह जाएगी यदि "नानापुराणनिगमागम.....मंजुलमातनोऽति" को सामने रखकर सागर के उक्त कथन के प्रयोजन और उसकी उपलब्धि, श्रीरामभद्र के "तथाऽस्तु" के दर्पण में "ताड़ना" की अर्थवत्ता के बिम्ब को प्राप्त करने की यत्किंचित चेष्टा की जाय। मैं इनकी तत्त्वान्वेषी दृष्टि का समर्थक हूँ।

शास्त्री जी जीवन के कर्मपथ पर बाल्यकाल से लेकर आज तक निरंतर चलते ही रहे हैं। इन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। शायद इसीलिए प्रकाशित काव्य संग्रह का नाम ही रख दिया "जीवन पथ पर चलते-चलते"। ये सारे गुण इनको वंशानुक्रम से प्राप्त हुए हैं और इन गुणों के विकास के लिए अनुकूल पर्यावरण भी प्राप्त हुआ। इनके व्यक्तित्व का विकास यहाँ तक पहुँचा कि इन्होंने उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल के पद को सुशोभित किया। इनके जैसी कर्मशील एवं दृष्टिग्राही प्रतिभाएँ यदा-कदा ही जन्म लेती हैं, जिसके लक्षण बाल्यकाल से ही उभरने लगते हैं : 'होनहार बिरवान के, होत चीकने पात'।

विनम्रता के प्रतीक आचार्य प्रवर महामहिम होने के बाद भी आचार और व्यवहार में पहले जैसे ही रहे। इनको देखकर भरतलाल जी याद आ जाते हैं और याद आ जाती है तुलसी की वह पंक्ति—

भरतहिं होंहि न राज मदु, बिधि हरिहर पद पाइ। ●

संदर्भ : (१) चुनी हुई रचनाएँ, खण्ड-१, पृ०-१२, (२) वही-पृ०-१३, (३) वही-पृ०-४३, (४) वही-पृ०-४३।

सौजन्य : रायचन्द सुराणा, ४, क्लिवलैण्ड स्ट्रीट (९ तल्ला), कोलकाता-७०० ००१

परमानंद श्रीवास्तव

लेखकों में सौम्य शांत विष्णुकान्त

अब तो याद करना भी कठिन है कि चर्चित राजनेता, विचारक, संस्कृति-चिन्तक विष्णुकान्त शास्त्री से पहली भेंट कब हुई— 'अनामिका' में 'वंशवृक्ष' के प्रदर्शन पर, जब प्रेम सोंथलिया साथ थीं, या लखनऊ-दिल्ली में या प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा जी के घर या कोलकाता विश्वविद्यालय में! अब जब उम्र बढ़ रही है, तो आसक्ति बढ़ रही है, गुस्सा बढ़ रहा है। भाजपा-राजग की केन्द्र सत्ता की गुजरात हादसों के प्रति उदासीनता चिन्तित करने वाली है। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की समाजवादी सरकार द्वारा दी गयी फेलोशिप (रंगनाथ-फेलोशिप) की शेष राशि जो आठ सालों से बकाया है, लौटाने की इच्छा हो रही है। चकित हूँ कि हिमाचल प्रदेश के बाद अब उत्तर प्रदेश के राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री ऐसे बने हुए हैं कि 'कवियों में सौम्य संत' पंत को दी गयी संज्ञा के कारण यही शीर्षक अर्थवान् लग रहा है— 'लेखकों में सौम्य शांत/विष्णुकान्त'! 'आमार नाम तोमार नाम विपतनाम विपतनाम' के कोलकाता के उत्तेजक नारे को याद कर कहने की इच्छा हो रही है— विष्णुकान्त विष्णुकान्त। न क्रांति फीकी पड़ी है, न बर्बर साम्प्रदायिक तनावों के बीच उनकी वैष्णवता कम हुई है। भारतेन्दु की तरह वैष्णवता और क्रांति एक दूसरे से अभिन्न हो चले हैं—ऐसा स्पर्श विष्णुकान्त के यहाँ मौजूद है। लगता है 'शास्त्री' शब्द भी अतिरिक्त पद है। बेहतर है कहना—जात न पूछो साधु की।

अब यह बात तो स्वयं विष्णुकान्त शास्त्री ही जगह-जगह बता रहे हैं कि कभी मैंने और दस्तावेज़-संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने जयपुर की एक पक्ष तक चलने वाली राष्ट्रीय संगोष्ठी में आधुनिक कविता में भक्ति तत्व की उनकी स्थापना का प्रखर विरोध किया था। और उसी क्षण हम उनके अपने मित्र हो चले थे। यात्रा में हम तीनों साथ, चर्चा में साथ, काव्यपाठ में साथ। उदयपुर, जयपुर, हल्दीघाटी, नाथद्वार-सब कहीं साथ। दूसरे दर्जे में छोटी-मोटी यात्रा भी हुई। कार से नाथद्वारा पहुँचे तो शाम शेष थी। रात्रि पट खुलने में थोड़ी देर थी। हम मुख्य द्वार से प्रवेश कर ही रहे थे कि एक अबोध-सा बच्चा हमें इशारे से ऐसी जगह ले गया, जहाँ पट खुलने पर दर्शन सुनिश्चित था। वही हुआ भी। विष्णुकान्त आर्द्र थे— ऐसी गहरी आस्तिकता कि मार्क्सवादी नास्तिक को भी भिगो दे। 'अनामिका' के नाट्य प्रदर्शन में देखा तो चकित था कि वे गेटकीपर थे, या टिकट वसूलने वाले या स्वागत में उत्सुक और तत्पर। पता चला वे अभिनेता भी थे।

'आलोचना' का अब संपादक हूँ। याद आता है कि विष्णुकान्त शास्त्री कभी 'आलोचना' के लेखकों में थे। आचार्य विश्वनाथ मिश्र पर उनका निबंध है। नामवर सिंह जैसे प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक और आलोचना के प्रधान संपादक पर उनका संस्मरण लगातर चर्चा में है। बहसों की नोकझोंक के बावजूद उनमें सहृदयतापूर्ण मैत्री बनी हुई है। कोलकाता में गुरुसदय रोड़ का अजंता अपार्टमेंट प्रेम का घर था। प्रेम सोंथलिया मेरी शिष्या थीं— दस्तावेज़ संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की सहपाठिनी। थिएटर से जुड़ाव था। राजकुमार (पुरस्कार/जयशंकर

औजस्य : Purusottam Das Mimani, Ganesh Wheat Products (P) Ltd. 88, Burtolla Street, Kolkata-7

प्रसाद) बनी थी, अंजो दीदी की मार्मिक भूमिका में थी। वसंतसेना (मृच्छकटिक) के रूप में अभिनय किया था। वह घर मेरा पता ठिकाना था।

याद आता है प्रेम का अपना ख़ास कमरा—मेरे रहने पर मेरा हो जाता था। मेरे अंतरंग मित्र वहीं आते। जब विष्णुकांत शास्त्री पहली बार आये, तो उनकी नज़र गोदरेज की आलमारी पर लगे स्टिकर 'श्री राम' पर पड़ी। वे मुक्त होकर हँसे। इसी को अकुंठ अट्टहास कहते हैं। बोले—आखिर मार्क्सवादी आलोचक को भी 'यहाँ' बचाते हैं।

लघुपत्रिकाओं के पहले सम्मेलन के समय (जिसमें ज्ञानरंजन और शंभुनाथ ने पूरी ताक़त लगा दी थी) विष्णुकान्त जी का फोन आया— "मैं तुम्हारे रास्ते में ही चुनाव-सभा कर रहा हूँ (तब विधायक चुने गये थे) मिलो"। चुने भी गये वे और विधानसभा की बैठकों में बंगला बोलकर और जीवनानंद दास की कविताएँ पढ़ कर चर्चा में थे) —सभास्थल से मैं किसी की गाड़ी से गुज़र रहा था, पर बाधा देना अच्छा न लगा। मंच पर हम अध्यक्ष मण्डल में थे—काशीनाथ सिंह और मैं। तभी ध्यान गया कि शास्त्री जी आकर पीछे बैठ गये हैं। वे आये और शायद बोले भी—हालाँकि वहाँ से उन्हें किसी दूसरी जगह (भूल नहीं रहा हूँ तो किसी परम आत्मीय की शवयात्रा में) जाना था। जो व्यक्ति एक साथ इतनी मनोदशाओं में शांत सौम्य दिखता हो, उसकी शाब्दिक गर्जना भी मैंने सुनी है।

हम भोपाल में मिले एक साहित्यिक आयोजन में। विष्णुकान्त शास्त्री हिमाचल के राज्यपाल थे। नरेश मेहता अध्यक्ष थे। शायद अस्वस्थ। यह मेरी उनकी अंतिम भेंट थी। रामकमल राय साथ थे। मनोहर श्याम जोशी भी। विष्णुकान्त मेरा हाथ हाथ में लिये। यह जानकर अवाक्, कि प्रेम अब दुनिया में नहीं है। याद आता है कि नरेश मेहता ने कहा था—विष्णुकान्त जितनी जल्दी पद-मुक्त हो जाँय, अच्छा है। वे उसी शब्द और रचना की दुनिया में लौटें, जिसके लिए वे 'विष्णुकान्त' हैं। सहृदय, रसिक, विदग्ध। सब जानते हैं-राजनीति का दूसरा नाम 'दिल्ली' है और जो दिल्ली जाता है, लौटता नहीं। इस अर्थ में 'दिल्ली' की तरह 'राजनीति' भी 'निबहुर देसू' है। यह वही समय था जब 'आलोचना' (पुनर्नवा) का सहस्राब्दी अंक (प्रवेशांक) चर्चा में था। विषय ही था— 'संस्कृति का संकट और फॉसीवाद'। अंग्रेजी हिन्दी में, वामपंथ दक्षिण पंथ में विवाद ही विवाद। संग्रह बने, तो सैकड़ों पृष्ठ बहस-मुबाहिसें में छपें और चर्चा में आएँ। विष्णुकान्त शास्त्री के शब्द थे—'भाई मैं तो तुमसे लड़ने ही आया हूँ। कहाँ है फॉसीवाद' मनोहर श्याम जोशी का कहना था कि जब तक अटल जी हैं, फॉसीवाद आने से रहा।' मेरा उत्तर है (तब भी वही था, जो मैंने जोशी से कहा होगा) अटल जी हैं और फॉसीवाद भयानक है। अब गुजरात हादसों के बाद लोग इसी रूप में भारतीय लोकतंत्र के निरन्तर क्षय को देखते हैं। इस वैचारिक द्वन्द्व से हमारे सम्बन्धों में फर्क नहीं आया।

सब 'फौल गुड' 'रिवल गुड' की नूरा कुश्ती का दौर है। पर विष्णुकान्त जी का निजी फौल गुड वोट बैंक से अधिक हो चला है। बहुतों की अपनी विश्वसनीयता चली गयी है। विपक्ष का भी रीतिवाद है। एकदिन ऐसा आएगा कि पार्टी पार्टी में फर्क करना मुश्किल हो जाएगा। विष्णुकान्त के सौम्य शांत व्यक्तित्व में बहुत कुछ जादुई आकर्षण बचा हुआ है। वे किसी दीक्षान्त समारोह में महामहिम हों तो देखें कि हर विजेता छात्र-छात्रा के कंधे पर उनका हाथ संदेश से अधिक होता है।

विष्णुकान्त शास्त्री स्मृतियों के लोप वाले दौर में स्मृतियों के अकेले संग्रहालय हैं। प्रेमशंकर त्रिपाठी मेरे निकट थे जब मैं बर्दवान में प्रोफेसर था और स्वतंत्र हिन्दी भवन का सपना देख रहा था। तीन दिन बर्दवान तो तीन दिन कोलकाता। प्रभा खेतान की एक मित्र जो अंग्रेजी में प्रोफेसर अध्यक्ष थी, मेरे लिए सप्ताह भर का नाश्ते जैसा

सौजन्य : श्री प्रकाश डाड़ड़िया, १६८बी, जमुनालाल बजाज स्ट्रीट, कोलकाता-७

खाद्य (स्नैक्स आदि) ले आतीं। एक बार विष्णुकान्त जी ने अपनी बेटी के घर जाने के लिए मिठाई का पैकेट खरीदा। हम पहुँचे तो वहाँ ताला था। बोले, "चलो तुम्हारे यहाँ चलते हैं—मिठाई तो किसी को देनी ही है। तुम्हारी बहन तो मेरी बहन।" उस घर में खुद विष्णुकान्त सबसे बड़े अतिथि होते—पुरोहित कहें तो पुरोहित, आचार्य कहें तो आचार्य। ऐसे बंधु बाज़ारवाद के दौर में कितने बचे होंगे।

गोरखपुर आते हैं तो आते ही पूछते हैं— 'मैं कहा हूँ-यहाँ या दिल्ली।' विश्वनाथ प्रसाद तिवारी मानकर चलते हैं कि मैं मौजूद नहीं हूँ तो मुझे दिल्ली में ही होना चाहिए। मैं राजभवन नहीं गया, सर्किट हाउस नहीं गया। पर वही विष्णुकान्त शास्त्री संस्थान (प्रेमचंद साहित्य संस्थान) में आये, तो मेरी ही चालीस साल पुरानी कविता सुना गये— मघ फूल सन के/ किसी के न होने के। सच तो यह कि विष्णुकान्त राजनीति की दुनिया में अपवाद हैं और सबके हैं—सबके अपने। एक दिन उनकी पत्नी नहीं रहीं, वह दुख हम सबका हो गया। ऐसे मेघफूल सबके हों। ●

विष्णुकान्त जी शास्त्री,
हँसमुख मृदु गंभीर।
जनप्रिय नेता, स्वच्छ छवि,
पण्डितवर मतिधीर।।

—डॉ० रमानाथ त्रिपाठी

सौजन्य : अक्षयलाल जिंस, ८२, राजा राजबल्लभ स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००३

शिव ओम अम्बर

क्षीर सागर की हिलोर के श्री-विग्रह : आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री

आचार्य श्री से मेरी पहली भेंट कोलकाता के एक साहित्यिक समारोह में हुई थी। गत शताब्दी के आठवें दशक में कोलकाता की सुप्रसिद्ध संस्था 'भारतीय संस्कृति संसद' ने हिन्दी ग़ज़ल पर एक अनूठा आयोजन किया था। देश के सात रचनाकारों की ग़ज़लों की संस्कृति संसद से सम्बद्ध कलाकारों ने भावपूर्ण सांगीतिक प्रस्तुतियाँ दी थीं। इसी आयोजन की एक गोष्ठी में विशिष्ट विद्वत्-समाज के समक्ष आमन्त्रित रचनाकारों ने अपनी चुनी हुई ग़ज़लों का पाठ किया था और कुछ जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर भी दिये थे। कविवर सूर्यभानु गुप्त की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध संस्कृति-कर्मी श्री विमल लाठ ने इस कार्यक्रम की संयोजना की थी। सर्वश्री डॉ. कुँअर बेचैन, कुमार शिव, रामकुमार कृषक आदि कवि-मित्रों के साथ मंच पर बैठे हुए मुझे जिस व्यक्ति की धीर-गंभीर वाणी, अद्भुत विद्वत्ता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, साहित्य-निष्ठा और इन सबके साथ ही सहज शालीनता तथा सर्वस्वीकारिणी आत्मीयता ने अनायास अभिभूत कर लिया था वह और कोई नहीं आयोजन के अध्यक्ष-पद को दीप्ति दे रहे आचार्य-श्री ही थे। उस आयोजन में वयस् की दृष्टि से सबसे छोटा होने के कारण मैं सहज ही उनके अप्रतिम वात्सल्य का अधिकारी बन गया और तब से निरन्तर जब भी उनसे भेंट हुई है, मुझे महसूस हुआ है कि एक ममतामयी दृष्टि आशीषों की वृष्टि-सी करती हुई मुझे अमृता आत्मीयता का रक्षा-कवच प्रदान कर रही है।

कोलकाता के ही एक अन्य आयोजन की स्मृति भी आचार्य-श्री के व्यक्तित्व के इसी वत्सल तत्व से जुड़ी है। मुझे आयोजक बन्धुओं में से एक के आवास पर ठहराया गया था। कार्यक्रम समाप्त होने के बाद आचार्य जी ने पूछा कि अब मुझे कहाँ जाना है और यह जानकर कि मुझे अब आतिथेय के घर जाकर विश्राम ही करना है, उन्होंने चाहा कि मैं कुछ देर उनके साथ कोलकाता की एक-दो मित्र-संगोष्ठियों में रहूँ, मेरे आतिथेय से अनुमति भी ले ली। रास्ते में वार्ता-प्रसंग में यह जानकर कि महानगरों में पहुँचकर मेरे ऊपर मेरे कस्बाई संस्कार हावी हो जाते हैं, लिफ़्ट मेरे लिये भयदायक होती है, एक-से दिखते प्रासादीय आवासों में मैं विभेद नहीं कर पाता वह सचिन्त रहे कि मैं सही ढंग से अपने आतिथेय के आवास तक पहुँच जाऊँ। दरवाज़े तक छोड़कर ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, टैक्सी से उतर कर वह लिफ़्ट में भी मेरे साथ रहे तथा मेरे आतिथेय की दरवाज़े की कालबेल बजाकर यह कहते हुए उन्हें आश्चर्यचकित कर दिया कि इस समय मैं बैठूँगा नहीं, केवल अम्बर को पहुँचाने आया हूँ, यह महानगरों में असहज हो जाता है। उस समय के मेरे सौभाग्य से तमाम विद्वानों को ईर्ष्या हो सकती है। मेरे आतिथेय ही दरवाज़े पर शास्त्री जी के लिये प्रणति बने अवाक् खड़े थे।

कोलकाता में ही गुरुवर शास्त्री जी के आध्यात्मिक उपदेष्टा के स्वरूप का भी साक्षात्कार मुझे हुआ। 'वनबन्धु परिषद्' के एक काव्य-समारोह में मेरी भेंट आचार्य जी के प्रतिभ शिष्य डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी से हुई। यह

सौजन्य : Arijit Das, (Leader, Capital Service India (P) Ltd.) 26, Hemant Basu Sarani, Kolkata-1

कार्यक्रम चूँकि अपराह्नकाल तक सम्पन्न हो चुका था, मेरी शाम ख़ाली थी। डॉ. त्रिपाठी ने मुझे बताया कि आज शाम शास्त्री जी श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के सभाकक्ष में श्रीमद्भगवद् गीता पर प्रवचन करने वाले हैं। मेरे आकांक्षा व्यक्त करने पर त्रिपाठी जी ने वहाँ मेरे पहुँचने की व्यवस्था कर दी। नियत समय पर गुरुवर शास्त्रीजी ने श्रद्धान्वित सुधीजनों से भरे सभाकक्ष में अपना प्रवचन प्रारंभ किया। गूढ़ तत्त्वों को सरलता से श्रोतावर्ग को हृदयंगम करा देने की कला, वाणी के पीछे विद्वत्ता ही नहीं, कहे जा रहे दर्शन को जीवन में जीने से उपजा आत्मविश्वास और गुरुता की प्रभा के साथ ही सहज विनम्रता की विभा से वलयित अपने सर्वसमावेशी व्यक्तित्व के कारण आचार्य-श्री सबसे ऊपर होने के बाद भी सभी के अति निकट थे। मुझे अनपेक्षित रूप से वहाँ उपस्थित पाकर उनके अधरों पर हमेशा की तरह मृदु मुस्कान दीप्त हुई और जब प्रवचन के समापन पर उन्होंने अपने पास बुलाकर अपने गले को शोभित करने वाली माला शुभाशीषी दृष्टि से मुझे अभिषिक्त करते हुए मेरे गले में डाल दी, मेरी भावचेतना ने उसी क्षण को ढाई आखर के कृष्ण-मन्त्र की दीक्षा-प्राप्ति के क्षण के रूप में स्वीकार कर लिया— कुछ-कुछ वैसे ही जैसे काशी के एक घाट पे ब्राह्म मुहूर्त्त की वेला में एक युवा जुलाहे को अपने गुरु से अनायास राम-मन्त्र की दीक्षा मिल गई थी।

साधनारत प्रतिभाओं को अपने प्रोत्साहन-वचनों से ऊर्जावन्त करना आचार्य जी की उदार प्रकृति में समाविष्ट है। जिन दिनों वह राज्यसभा के सांसद रहते हुए सदन में हिन्दी के वर्चस्व के प्रतीक बने हुए थे, मैं "पाञ्चजन्य" में "गवाक्ष" नाम से एक साहित्यिक स्तम्भ लिखा करता था। अक्सर गुरुवर का पत्र अनपेक्षित रूप से आ जाता था जिसमें कभी मेरी किन्हीं काव्य-पंक्तियों की चर्चा होती थी, कभी किसी आलेख में उठाये गये प्रसंग की प्रशंसा। वे कुछ पंक्तियाँ मेरे लिये स्वस्तिकर पाथेय हुआ करती थीं। अपनी वक्तृताओं में गुरुवर जहाँ उपनिषद् के सूत्र वाक्यों तथा श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों को उद्धृत कर अपने प्रतिपाद्य विषय की गुरुता को सम्प्रेष्य बनाते चलते हैं वहीं वह अनेकानेक कवियों की कविता-पंक्तियाँ समयानुकूल उद्धृत कर उसे सहज ही सर्वजनसंवेद्य बनाने का भी ध्यान रखते हैं। जिन लोगों ने "जीवन पथ पर चलते-चलते" (डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी को साधुवाद कि उनके शिष्योचित हठ के चलते आचार्य-श्री का यह काव्यग्रन्थ साहित्य-संसार को उपलब्ध हो सका) का अध्ययन किया है, वे उनके भाव-जगत् की विराटता, विमलता तथा विलक्षणता की कुछ-कुछ झलक पा सके हैं, उनके जैसे उदात्त व्यक्तित्व का काव्य हिमालय के हृदय में अवस्थित मानसरोवर में खिले शतदली कमल का बिम्ब चित्त में जगाता है।

राज्यपाल के रूप में आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री ने अद्भुत आचरण-मानक स्थापित किये हैं। राजभवन में उन्हें देखकर प्रतीत होता है कि कभी राजर्षि जनक की "रहनि" कैसी रही होगी। उनके प्रभाव परिक्षेत्र में आते ही हर व्यक्ति तेजस्विता के साथ-साथ एक सरल-तरल आत्मीयता की जिन अमृत-रश्मियों में स्नान करने की अनुभूति करता है वह अवर्ण्य है। उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल के रूप में कार्य करते हुए महामहिम ने विषम राजनैतिक परिस्थितियों के मध्य जिस तरह अपना पथ निकाला, राष्ट्रपति-शासन की अल्प-अवधि के दौरान जिस प्रकार एक ऐसे सच्चे अनुशासन पर्व की अवतारणा की जो अधिकारी-वर्ग तथा आम आदमी सभी के द्वारा अभिवन्दित तथा अभिनन्दित हुआ, उसे देखकर उस पौराणिक घटना की याद आ जाती है जिसमें विकराल यमुना श्रीकृष्ण के चरणों का संस्पर्श पाते ही सौम्य तथा शान्त हो गई थी और वसुदेव को मार्ग प्रदान कर दिया था। हिन्दी के प्रति उनकी

सौजन्य : रायचन्द सुराणा, ४, क्लिवलॉन्ग स्ट्रीट (९ तल्ला), कोलकाता-७०० ००१

अनन्य निष्ठा उनके समग्र जीवन-व्यवहार में प्रकट होती है। वह उन पत्र-पत्रिकाओं को आलेख तो क्या आशीर्वचन देना भी पसन्द नहीं करते जो हिन्दी की होकर भी अपनी संज्ञा में अंग्रेजी का आराधन करती हैं। अपने वक्तव्यों में वह अक्सर कहते हैं कि मातृभाषा मात्र होने से हिन्दी हमारी विज्ञात भाषा नहीं हो जायेगी, हमें तप करना होगा। इस तपोसाधना से ही हमारा और हिन्दी का कल्याण होगा।

डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी जी के माध्यम से ईशावास्योपनिषद् पर श्रद्धेय गुरुवर के प्रवचनों का संकलन "ईशावास्य-अनुवचन" मुझे उपलब्ध हुआ और उसका स्वाध्याय करते हुए मैं जैसे भोजपत्रों पर आरेखित आलोक-रश्मियों का आचमन करता रहा।

जिन सहृदय पाठकों ने आचार्य-श्री के "तुलसी के हिय हेरि" तथा "भक्ति और शरणागति" जैसे ग्रन्थों का स्वाध्याय किया है, वे अध्यात्म को हृदयस्थ करा देने की उनकी सामर्थ्य से सुपरिचित हैं किन्तु जिन्हें "जीवन-पथ पर चलते चलते" की मन्दाकिनी में अवगाहन का अवसर मिला है, वे अनायास अनुभव कर सकते हैं कि जब कोई व्यक्तित्व अपने आप में कामदगिरि बन जाता है, कविता स्वयं उसकी परिक्रमा करने लगती है। इस काव्य-कृति के माध्यम से हम आचार्य-श्री के अन्तस् के ठाकुर-द्वारे में प्रवेश करते हैं और वहाँ की दीवारों पर लिखा पाते हैं-

तरी अहल्या जिनके पावन मृदुल स्पर्श से
प्रेम हठीले केवट से जो गये पखारे,
जो जग का दुख हरने काँटों से क्षत-विक्षत,
राम ! तुम्हारे चरण प्रेरणा-स्रोत हमारे।

तथा-

तू अमंगल वेष में मंगलमयी है
क्रोध की तो भूमिका करुणामयी है,
तू कराती तप, रुला उर द्रवित करती
प्रभु-कृपा तू सच बड़ी क्रीड़ामयी है।

राष्ट्रीय चिन्तन को समर्पित रचनाओं से लेकर, प्रीति-भक्ति तथा जीवन की विविधवर्णी अनुभूतियों को शब्दायित करने वाली ये कविताएँ वस्तुतः एक अति संवेदनशील अन्तस् में आकर विराजी वागीश्वरी की वीणा से उठी अक्षरा अमृत-ध्वनियाँ हैं।

इस लघु आलेख का समापन मैं एक लघु-कविता से ही करना चाहता हूँ जिसकी रचना के समय मेरे अवचेतन में आचार्य-श्री की ही छवि रही है, आदर्शों को समर्पित एक अनुशासन प्रेमी अविकम्प व्यक्तित्व जो हर निश्छल भाव-तरलता के लिये पोर-पोर वात्सल्य है—

इक नया अन्दाज़ / जीने का / सिखाता है—
दर्प करता है / दमित / दुर्धर्ष व्याघ्रों का,
वो / सरल / मृगशावकों से / हार जाता है। ●

सौजन्य : Vijay Rai (Leader, Capital Service India (P) Ltd.) 26, Hemant Basu Sarani, Kolkata-1

शरद चन्द्र पाठक

श्री गुरवे नमः

विद्यार्थी अनेक शिक्षकों से ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु कुछ शिक्षकों की अमिट छाया उसके मनः पटल पर अंकित हो जाती है। शास्त्री जी उन्हीं शिक्षकों में एक हैं। १९६२ ईस्वी में मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवेश प्राप्त किया। श्रद्धेय प्रो० कल्याणमल लोढ़ा, डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव एवं श्री पी. एन. सिंह सभी अध्यापकों से मुझे बहुत कुछ मिला, परन्तु 'वे नैना औरे कछु जेहि बस होत सुजान।' शास्त्री जी प्रोफेसर कम टीचर अधिक थे। वे हिन्दी साहित्य का इतिहास, गद्य-साहित्य, विनय पत्रिका आदि की कक्षाएँ लेते थे और पूरी तन्मयता के साथ पढ़ाते थे। विनय पत्रिका के पदों की व्याख्या वे केवल विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, अपनी तुष्टि के लिए भी करते थे। उन्हें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं था कि लोग उन्हें स्कूल टीचर कहा करते थे। वे विषय के साथ पूरा न्याय करते थे एवं छात्रों को अपना शत-प्रतिशत देने का प्रयास करते थे। जहाँ अन्य प्राध्यापक एक घण्टे की कक्षा में १५ मिनट विलम्ब से आते थे वहाँ शास्त्री जी घण्टी बजते ही कक्षा में प्रविष्ट हो जाते थे।

शिक्षा-पूर्ति के उपरान्त भी मुझे उनके सान्निध्य में परीक्षक आदि के रूप में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मैंने अनुभव किया कि उनकी निकटता सदैव ज्ञानवर्द्धक, अतः आनन्ददायक रही। मेधा और स्मरण-शक्ति का विलक्षण सामंजस्य शास्त्री जी में प्राप्त होता है। उन्हें हिन्दी, उर्दू, बंगला, संस्कृत के इतने उद्धरण कंठस्थ हैं कि कभी-कभी हमलोग रोक कर अनुरोध करते थे कि हमें वे कोई श्लोक या कविता की कोई पंक्ति लिखने का अवसर दें। मैं एक प्रसंग का उल्लेख करना चाहूँगा—एक वर्ष माध्यमिक परीक्षा में कुछ ऐसे मुहावरे पूछे गए थे जो हमारे लिए अपरिचित थे, जैसे—ऊँट की पीठ पर तिनका, चील के घोंसले में मांस। हमलोगों ने समस्या गुरुवर शास्त्री जी के समक्ष रखी और उन्होंने बताया कि ऊँट की पीठ पर तिनका अंगरेजी मुहावरे—Last straw on the camel's back का रूपान्तर है। चील के घोंसले में मांस का स्पष्टीकरण उन्होंने एक उद्धरण द्वारा किया—

दैरो-दिरम मेरे पास कहाँ ?
चील के घोंसले में मांस कहाँ।

एक बार श्री विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के प्रांगण में शास्त्री जी किसी कवि सम्मेलन का संचालन कर रहे थे। कुछ दिनों बाद मेरी भेंट उनसे हुई और मैंने पूछा कि क्या इस प्रकार के कार्यक्रमों में भाग लेकर आप समय व्यर्थ नहीं कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि सम्मेलन का संचालन करते हुए भी वे दुष्यन्त कुमार की गजलों का संग्रह 'दरख्तों के साये में धूप' पूरा पढ़ गये। उन्होंने कहा—लो, दो पंक्ति जो मुझे बहुत अच्छी लगी, तुम भी सुन लो–

एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यूं कहो।
इस अँधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।
उनकी अपील है कि उन्हें हम मदद करें।
चाकू की पसलियों से गुजारिश तो देखिए।

सौजन्य : G. Raj & Co. (Consultants) Ltd., 8, Ganesh Chandra Avenue, Kolkata-700 013

शास्त्री जी को असंख्य कविताएँ ही कंठस्थ नहीं है, उनके मुख से काव्य-पाठ सुनना भी एक प्रीतिकर अनुभव है। उनकी पाठ-शैली कविता के अर्थ को उद्‌भासित कर जाती है, अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कविता का अर्थ मुझे उनसे कविता सुनकर ही समझ में आया—

एक बूंद सहसा उछली
सागर के झाग से,
रंगी गई क्षणभर ढलते सूरज की आग से
मुझको दीख गया
हर आलोक - छुआ अपनापन
है उन्मोचन नश्वरता के दाग से।

एक आदर्श गुरु के समान अपने विद्यार्थियों का सदा हित-साधन करने वाले आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को शत-शत प्रणाम। ●

विद्या-वारिधि शास्त्रीजी

शील के समुद्र तुम विद्या के वारिधि हो
नीति नटनागर राजनीति पटु धीर हो।
कला-मर्मज्ञ विज्ञ साहित्य के महारथी,
भक्ति-वेणु-वन बीच राम-कंठ-कीर हो।
दोग्धा उपनिषदों के गीता के व्याख्याता
राष्ट्रहित चिन्तन हित कितने अधीर हो।
कवि हो कुशल गद्य शिल्पी हो रचनागर
वाणी और लेखन में तुल्य महावीर हो।

—राजदेव सिंह 'कौशल'

सौजन्य : Oven Business (P) Ltd., 7, Rabindra Sarani (5th Floor), Kolkata-700 001

विमल लाठ

रंगकर्मी आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

शास्त्री जी के पिताजी, पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री। क्या उत्तुंग व्यक्तित्व, गौरवर्ण, चौड़ा ललाट, कुर्ता-धोती और दुपट्टा, देखने में ही ऋषि जैसे लगे, ज्ञान में तो थे ही। अपने समय के उद्भट विद्वानों में उनकी गणना होती थी। कलकत्ता के विद्वत् समाज के अविभाज्य अंग। कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट हॉल में उन्हें व्याख्यान देते हुए देखने के साथ-साथ एक दिन उन्हें अपने घर पर देखने की भी मेरी बचपन की एक याद है, साथ में गाँधी टोपी लगाये सफेद अचकन में आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल और पैंट-शर्ट में नौजवान प्रो० कल्याणमल लोढ़ा भी थे। मेरे पिता स्व० बजरंगलाल लाठ से पण्डित जी के मधुर संबंध थे। बाबूजी उस प्रकार के आयोजनों में जाते थे, पीछे-पीछे मैं हो लेता था, समझता तो नहीं ही था, देखने से भी क्यों चूकें। इसलिए जब विष्णुकान्त जी को पहली-पहली बार देखा तो सहज ही बड़े शास्त्रीजी का प्रतिरूप दिखलायी दे गया। उन्होंने मुझे छोटे भाई को प्राप्त सहज स्नेह दिया है— साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा दर्शन संबंधी उनके अनेक आयामों ने दिशा-दर्शन दिया है। इस ग्रन्थ में उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की अनेक बातों की चर्चा विद्वानों ने की है। एक अनछुए विषय—नाटक अथवा रंगकर्म की चर्चा तक इस आलेख को मैं सीमित रखना चाहता हूँ।

विष्णुकान्त जी मेरे अग्रज स्व० गोविन्द प्रसाद लाठ के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में सहपाठी थे। सन् १९५५ में हिन्दी नाटकों की संस्था 'अनामिका' बनी। श्यामानंद जी जालान मेरे भैया के मित्र थे, पड़ोसी भी। उनके सान्निध्य से भैया नाटकों में थोड़े सक्रिय हुए, कुछ नाटकों में अभिनय भी किया। पहला नाटक था आर. जी. आनन्द का 'हम हैं हिन्दुस्तानी'। न्यू एम्पायर में मंचन हुआ। सन् १९६० के आसपास तक 'बहुरूपी' आदि के नाटक वहीं मंचित होते थे, रविवार की सुबह। मैं नवीं कक्षा में पढ़ता था, स्कूल के नाटकों में अभिनय करता था, भैया मुझे भी ले गये थे यह नाटक दिखलाने। संभवतः उन्हीं के प्रयास से शास्त्री जी भी २/४ वर्षों में ही अनामिका के अभिन्न अंग बन गये। मुझे याद है १९५९ में जब 'जनता का शत्रु' नाटक में मुझे एक छोटी-सी भूमिका मिली, शास्त्री जी अनामिका में थे। मंच पर तो नहीं, लेकिन मंच से इतर अनामिका में शास्त्री जी की भूमिका तब से आज तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। मंचन-योग्य नाटकों का चुनाव एक जटिल और चैचारिक प्रश्न हमेशा से रहा है। नाटक के इस आयाम में शास्त्री जी के सुझाव और चयन-समिति में उनका दिशा-दर्शन अनामिका के लिए वरदान-स्वरूप रहा है। केवल कला के लिए कला का प्रदर्शन अनामिका ने कभी स्वीकार नहीं किया और यही कारण रहा है कि एक ओर जहाँ अन्य नाट्य-संस्थाएँ दिशा-दर्शन के अभाव में भटक गयीं और स्थूल मांसलता से भी उन्होंने परहेज नहीं रखा, वहीं अपने ५० वर्षों के इतिहास में १०० से अधिक नाटकों के मंचन के बावजूद सामाजिकता और मूल्यबोध से अनामिका कभी हटी नहीं। यह कोई छोटी बात नहीं है। कोलकाता में नियमित या अनियमित प्रदर्शनों के अलावा पूरे भारत से अनामिका आमंत्रित होकर अपने नाटक करती आई है तथा देश की अग्रणी नाट्य संस्था होने का

सौजन्य : Gopal Banka, 107C, Todi Chambers 2, Lalbazar Street, Kolkata-700 001

गौरव हासिल किया है। इसमें नाटकों के चुनाव पक्ष का तथा उसके निरूपण में सतर्कता बरतने का स्थायी महत्त्व रहा है। राष्ट्रीय स्तर के अनेक नाट्य महोत्सवों, शिविरों, संगोष्ठियों तथा प्रदर्शनियों में देश भर के रंगकर्मी तथा साहित्यिक अनेक बार यहाँ भी जुटे हैं, हफ्तों साथ रहकर काम किया है, इन सब में अभिनेता, निर्देशक या पार्श्वकर्मी न होते हुए भी, स्तम्भ-स्वरूप शास्त्री जी का सान्निध्य जिन्हें वर्षानुवर्ष मिला है, वे ही इसका मूल्यांकन कर सकते हैं।

प्रतिभा जी — डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, अनामिका के संस्थापकों में अन्यतम — अक्सर कहा करती हैं कि शास्त्री जी के जिम्मे काम छोड़कर मैं तो एकदम निश्चिंत हो जाया करती थी क्योंकि जानती थी, कि काम समय पर और बिल्कुल जैसा होना चाहिये, उससे भी परिमार्जित रूप में मिलेगा। एक बार वे बहुत चिंतित थीं, शायद किसी महोत्सव के समय किसी प्रकाशन को लेकर, कि सामने से विष्णुकान्त जी आते दिखायी दिये और सारे कागज-पत्तर उनको सौंपकर उन्होंने एक लम्बी साँस ली।

दूसरे शहरों के लिए की जानेवाली अनामिका की कितनी ही छोटी-बड़ी यात्राओं में शास्त्री जी दल के साथ रहे हैं, इसका हिसाब-किताब तो शायद न उनके पास होगा, न हमारे ही पास है, पर उनकी बहुत-सी यादें उनके पास होंगी, हमारे पास तो ढेरों हैं। प्रत्येक नाटक एक रोमांचक अनुभव होता है पर जब उसे करके एक संतुष्टि हासिल होती है, एक आंतरिक आह्लाद होता है। चाहे वह सफलता ढेरों दर्शक जुड़ने को न भी हो, तो भी सर्जन के सुख का आनन्द तो कुछ और ही होता है। इस प्रकार के सुख के अनेक सार्थक क्षणों को हमने शास्त्री जी के साथ बाँटा है। यात्राओं में, रेलगाड़ियों में, रिहर्सल करते हुए, गीतों, शेरो-शायरी और कविताओं को सुनते-सुनाते हुए, वह समय कैसे बीत जाता था और हम तरो-ताजा हो मुकाम पर पहुँच जाते थे। शास्त्री जी के अट्टहास आपने भी सुने हैं तो? बस।

यात्राओं में एक घटना का जिक्र यहां रोचक होगा। कानपुर तथा प्रयाग से निमन्त्रण था। साल संभवतः १९६७ या १९६८ होगा। दो नाटक निमन्त्रित थे, जिनमें एक बादल सरकार का 'एवम् इन्द्रजित्' था। यह नाटक अपने समय का एक 'ट्रेंड सेटर' था— कथा-शिल्प तथा मंच-शिल्प दोनों दृष्टियों से कलकत्ता में कई प्रदर्शन हो चुके थे। पहले दो दिन कानपुर में प्रदर्शन हुए, सराहे गये। परवर्ती दो दिन प्रयाग में होने थे। 'एवम् इन्द्रजित्' के प्रदर्शन में दर्शकों में इलाहाबाद का पूरा साहित्यिक समाज ही मानों सशरीर विराजमान था। जो कुछ थोड़े से नाम मुझे याद हैं, उनमें कविवर सुमित्रानन्दन पंत, प्रणम्य महादेवी वर्मा, डॉ० जगदीश गुप्त, पं० बालकृष्ण राव, श्रीमती शारदा राव, श्री लक्ष्मीकांत वर्मा, पं० केशवचन्द्र वर्मा आदि हैं। नाटक के लिए तैयार होते समय ग्रीनरूम में श्याम भैया ने बताया कि आज परीक्षा कठिन है, ये-ये लोग दर्शकों में हैं। हमारी तो धड़कनें तेज, आज जाने क्या होगा। शास्त्रीजी हाजिर, अरे सब अच्छा होगा, जैसे और दर्शक हैं वैसे ही वे भी हैं, हमलोग किला फतह करेंगे, जैसा करते रहे हो, करना। नाटक शुरू हुआ, दर्शकों से प्रशंसा के स्वर उभरने शुरू हुए। पहले किसी प्रदर्शन में नहीं मिला था, वैसा उत्साह दर्शकों ने दिया। समाप्ति पर पंत जी, महादेवी जी तथा अन्य सब स्वयं मंच पर आकर आशीर्वाद दे गये। हमलोगों के आनन्द का कहना ही क्या। ३० दिसम्बर के आसपास का ही दिन होगा। इलाहाबाद के जाड़े की रात, लगभग ११ बजे के बाद ही। प्रेक्षागृह से अतिथिगृह ज्यादा दूर नहीं था, तय हुआ गाड़ियों से नहीं, पैदल ही चलेंगे। रास्ते में क्वालिटी रेस्तराँ पड़ता था। चाय पी जाये। शास्त्री जी ने फरमान जारी किया— आज हमलोगों की

सौजन्य : Kishan Gopal Soni, 14/6, Sova Ram Bysack Street, Kolkata-700 007

विशेष खुशी की रात है, चाय नहीं, हम सब आइसक्रीम खायेंगे। कड़कड़ाते जाड़े की उस आइसक्रीम का स्वाद क्यों ही भूलेगा।

सन् १९८३ में हम सब मिलकर परिवारसहित नवरात्रि के दिनों में बनारस की रामलीला देखने गये। भाई श्यामानन्दजी जालान, प्रतिभाजी, नतिनी-समेत शास्त्रीजी और मेरा परिवार तथा और भी कुछ परिवार साथ थे। डॉ० भानुशंकर मेहता, प्रसिद्ध रंगकर्मी और बनारस के संस्कृति-पुरुष, हमारे नेता थे। उनकी छत्रछाया में हमने घूम-घूमकर सारी प्रसिद्ध रामलीलाएँ देखीं, जिनमें चित्रकूट मंडली की रामलीला तो न्यारी ही थी, प्रतिदिन बनारस के अलग-अलग स्थलों पर इसके भिन्न-भिन्न दृश्य होते थे। 'बोल रजा रामचन्द्र की जय' नारे लगाते हुए हम भानुशंकर जी के उठे हुए हाथ के पीछे-पीछे भीड़ में घुस लेते थे और मंच के पास तक पहुँच जाते थे। कभी शास्त्रीजी के कंधे पर सवार तो कभी इंदिरा भाभी की गोद में भारती की बेटी अपने को सुरक्षित पाती थी। बनारस में १०० मंडलियाँ इन्हीं दिनों में अपने-अपने अंदाज में रामलीला का मंचन करती हैं। अपने देश की निराली सांस्कृतिक छटा बिखरी पड़ी थी इन चित्र-विचित्र रामलीलाओं में। खोजवाँ की नक कटैया, नाटी इमली का भरत मिलाप, मैदागिन का लक्ष्मण को शक्तिसेल, धोबीघाट का विमान और रामनगर की रामलीला में राम-रावण संवाद की शैली, शहर के हम रंगकर्मियों के लिए एक 'आंखखोलवाँ' अनुभव थी। शास्त्री जी द्वारा कविताओं की कमेंटरी हमारा बोनस था।

आदरणीय शास्त्री जी अनामिका के अध्यक्ष रहे, चयन-समिति के सदस्य के रूप में कार्य किया, या नाट्यवृत्ति-समिति के सदस्य रहे या कार्यकारिणी समिति के सदस्य रहे, हमें किसी रूप में इनकी कार्य-शैली में कोई अंतर नहीं दिखलाई दिया। मित्र-भाव से काम कर लेना और करवा लेना, यही तो इनका स्थायी-भाव है। एक बार 'पगला बाबा' नाटक के लिए मुझे कुछ विशेष प्रकार के पर्दों की आवश्यकता थी। मैंने साहित्य के भण्डार से चुनने का उनसे आग्रह किया। दूसरे दिन स्वयं ही चुने गये पर्दों को लेकर शास्त्री जी मेरे कार्यालय में स्वयं ही उपस्थित हो गये। आप समझ सकते हैं कि मुझे कितना संकोच हुआ होगा। पर शास्त्री जी ने अत्यन्त निस्पृह भाव से कहा कि मुझे क्या दिक्कत हुई, इधर ही आना था, सोचा तुम्हें देता हुआ चला जाऊँगा। ऐसे हैं हमारे शास्त्री जी। पर जहाँ अन्याय-अविचार होता है, वहाँ शास्त्री जी को अडिग रहकर अपना पक्ष रखते हुए भी मैंने देखा है। उस वक्त इनको यह परवाह नहीं होती कि सामनेवाला कितना प्रभावशाली व्यक्ति है या कि भविष्य में उसका सहयोग मिलेगा या नहीं। शान्तभाव से अपना विचार दो टूक कह देने में उनको संकोच नहीं होता। कविमित्र नरेश शांडिल्य का एक दोहा है—

"मैंने 'हाँ' को 'हाँ' कहा, नोवत रखकर नेक
अब यह तेरा काम है, सही गलत तू देख।"

आपको स्मरण होगा शास्त्री जी की षष्टिपूर्ति पर मई सन् १९८९ में एक भव्य आयोजन हुआ था जी. डी. बिड़ला सभागार में। स्थान छोटा पड़ गया था, जितने लोग अंदर थे, उतने-से ही बाहर, भीतर आने को आतुर। हमने प्रार्थना की और सौजन्यपूर्वक काफी सहृदय दर्शकों ने आधे आयोजन के बीच बाहर प्रतीक्षा कर रहे दर्शकों के लिए अपना स्थान खाली कर दिया था। मुख्य अतिथि के रूप में मा० अटल बिहारी वाजपेयी जी ने भाव-भीने उद्गार व्यक्त किये थे। अनामिका ने उस समय कुछ चुनी हुई समसामयिक कविताओं का मंचन भी किया था, जिनमें शास्त्री जी की कविता 'आईने के सामने' का मंचन भी था। आईना कभी असत्य नहीं कहता, जो नहीं है,

---

सौजन्य : Shyam Steel Industries, 115, College Street, Kolkata-700 012

वह नहीं दिखलाता। यह कविता शास्त्री जी ने लिखी तो आश्चर्य क्या? अनामिका की ओर से उनके अभिनन्दन समारोह में फिर से १५ वर्षों बाद कविता-मंचन किया जाता, तो कितना आनन्द आता। पर जो न हुआ, उसका अफसोस क्या? इतना कह कर संतोष कर लें, जैसा शास्त्री जी कहा करते हैं—'जैसी राम जी की इच्छा'।

सबके प्रिय, सबके स्नेहभाजन और सबको स्नेहभाजन बनाने की पात्रता रखनेवाले कितने लोग आपको इस दुनिया में दिखलाई देते होंगे? रोज ही तो उठा-पटक दिखलाई पड़ती है, इसकी उससे, उसकी इससे। नहीं क्या? कहते हैं कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। पिछले ४५ सालों से तो मैं देख रहा हूँ, शास्त्री जी कितनी ही म्यानों में रह आये हैं। और उनमें इनके साथ की तलवारें भी कैसी-कैसी ! ईश्वर बचावे उनकी मारक धारों से। आचार्य शास्त्री जी अपनी मोहक मुस्कान से इन मारक धारों की धार को भी भोथरा बनाकर चले चल रहे हैं, जहाँ भी रहें, जैसे भी रहें— 'चन्दन है तो महकेगा ही.....'।

हम सब की इच्छा है कि आदरणीय शास्त्री जी अकुंठ रहते हुए, सोचते—सिरजते हुए, सुनाम गढ़ते हुए, विकसते-निखरते हुए, सुगन्ध बिखेरते हुए, सौ से अधिक शरद देखें। और हमारी यह इच्छा ही रामजी की इच्छा बन जाये! आखिर, हमारी और रामजी की इच्छा दो कैसे हो सकती हैं—अद्वैत के सिद्धान्त में आस्था रखनेवाले हम और रामजी दो तो नहीं हैं। ●

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

हे आर्य मनीषा के स्वरूप ! हे चिर अकुण्ठ ! प्रज्ञा-चेतन !
शोभाओं की स्वर्णिम उड़ान ! गौरव के सीमाहीन गगन !
हे राष्ट्र अस्मिता के प्रतीक ! अन्यायों पर तीसरा नयन !
वाणी-सर के हे राजहंस ! स्वीकार करो यह अभिनन्दन !
हे वाग्मी, हे वाक्पटु, वाणी के उल्लास ।
धन्य रावरे से हुआ, है साहित्याकाश ।।

—डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी

सौजन्य : एस. एस. ईण्डस्ट्राईज, ७७, नेताजी सुभाष रोड, रूम नं. ३२५, कोलकाता-१

पृथ्वीनाथ शास्त्री

श्री विष्णुकान्त शास्त्री : आदर्श समग्र

आज भी यदि कोई पूछता है कि क्या किसी आदर्श समग्र व्यक्ति को मैं जानता/जान सका हूँ तो मैं स्वतः स्फूर्त एक ही नाम ले पाता हूँ— 'श्री विष्णुकान्त शास्त्री'। इसमें कोई अतिशयोक्ति या चाटुकारिता किसी को लगे, तो लगे...युग की साझेदारी है इसमें, कारण, दूसरा 'आदर्श समग्र' अभी तक (८१वे में भी) नहीं जानता।

अभी तक मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जिसने कभी कोई 'अप्रिय' बात विष्णुकान्त शास्त्री जी के बारे में कही या बताई हो, मेरी जानकारी के दायरे में ऐसा कुछ भी नहीं आया। उन्हें न माननेवालों की संख्या मुझे बहुत कम लगती है लेकिन ऐसे लोग भी सूरज के काले धब्बों जैसा कुछ नहीं बता पाये। वैसे, यह सच है कि हम किसी भी वस्तु या व्यक्ति अथवा 'ज्ञेय' के सम्पूर्ण ज्ञातृत्व का दावा नहीं कर सकते, कारण, हमारी ज्ञानप्रक्रिया, विधि-निषेध, हमारा ज्ञातृत्व संपूर्ण कभी कहीं—कैसे भी नहीं कहे या माने जा सकते; हमें "खण्ड-खण्ड-समग्र" से ही संतोष करना पड़ता है। यहाँ 'समग्र' शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में है। लगभग १६-१७ (१४ शास्त्रीजी की और ३ अन्यों द्वारा लिखित) मुद्रित कृतियाँ, वे 'खण्ड-खण्ड' हैं जो यहाँ इस 'समग्र' के उपादान हैं।

'आदर्श' से मेरा तात्पर्य ऐसे नमूने (मॉडेल) या अनुकरणीय से है जिसे कल्पना में रखते हुए हम अपनी स्वता या कृतित्व में रहबर मान सकते हैं। और, वह भी वर्तमान परिवेश परिस्थितियों में।

हमारी यह एक विशेषता है कि प्रायः हम 'भागवान्' और 'भगवान्' एवं अभागे व दीन-हीन, दलित-शोषित, अन्याय-पीड़ित व्यक्ति एवं समुदायों को एक ही कोटि में रख देते हैं, 'कर्म-फल-भोग' की धारणा हमारी संस्कृति की धारणाओं में से एक है, जाने-अनजाने 'जो जस करिअ सो तस फल चाखा' हमारे लिए अकाट्य-अनिवार्य मानक है— जैसे 'कानून की नाजानकारी माफी पाने के लिए काफी नहीं' यह उसूल वर्तमान न्याय-व्यवस्था में लागू किया जाता है। विष्णुकान्त शास्त्री जी इन बातों को यथायथ जानते हैं, शायद मानते भी हैं— अन्यथा सफलताओं की सीढ़ियों पर लगातार चढ़ते जाना बहुत दूभर होता।

विष्णुकान्त शास्त्री जी विवेकानन्द के इस उपदेश से भली-भांति अवगत हैं, कि 'अपना हित करो और जगत का भी' और चाणक्य से इस बात में सहमत हैं कि 'आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि' और 'ईशोपनिषद्' की इस प्रारम्भोक्ति से भी कि "ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।।" इसे वे जीवन-भर पालते आये हैं।

शायद यही वजह रही है कि वे सारे प्रज्ञापराधों से बच गये और 'ग्रन्थी-ज्ञानी' नहीं— 'व्यवसायी' बने— माने, अध्ययन अध्यापन के साथ 'राजनीति' (माने सर्वोपरि लागू तौर-तरीकों) में शामिल रहे। इसकी बहुत बड़ी कीमत भी चुकायी...।

स्वनामधन्य पत्नी शास्त्रीजी को बनाने में मिटती रहीं लेकिन वे इसे रोक नहीं सके, मोहनदास कर्मचंद

सौजन्य : श्रीप्रकाश डोगाली, १२, सैयद शाली लेन, कोलकाता-७०० ०७३

गांधीजी और जवाहर लाल नेहरू जी के साथ भी यही हुआ था। डा. विधानचन्द्र राव और भूतपूर्व प्रधानमंत्री अटल विहारी वाजपेयी तथा राष्ट्रपति जी इस 'व्यथा-कथा' से बचे थे और हैं, किन्तु वे 'दाम्पत्य-जीवन' तथा पितृत्व से भी तो 'समन्वित' नहीं हुए— 'आदर्श समग्र' वे नहीं कहे जा सकते। (वैसे, हमारे वर्तमान राष्ट्रपतिजी जैसा 'उत्तम व्यक्ति' भी आज की दुनिया में दूसरा कोई है— नहीं मालूम!)

शास्त्रीजी "सच-प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले— कम से कम वार्तालाप में, झूठ प्रिय न बोले, यही सनातन धर्म है", तथा "यतोऽभ्युदय निःश्रेय सिद्धि स धर्मः" (जिसके द्वारा सर्वांगीण उन्नति और परम कल्याण सधे, वही धर्म है) के सचेत परिपालक हैं। जहाँ तक मुझे मालूम है, वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर (ईर्ष्या-द्वेष)— इन छहों शत्रु-भावावेगों के चंगुल में नहीं फंसे, फंसते। किसी भी वर्ण, आश्रम, काम-काज, श्रद्धा-विश्वास, आस्था-अनास्था, मत-विमत, वर्ग-श्रेणी की तारीफों के पुल नहीं बाँधते, और किसी को हेय भी नहीं कहते, यह अवश्य है कि वे नये और पुराने की युगीन व स्थानीय उपयोगिता-अनुपयोगिता को अपने-पराये अनुभवों की कसौटी पर परखते और उपदेश-निर्देश करते हैं। उनके आदेश-परामर्शों का पालन कर बहुतेरे जन लाभान्वित हुए एवं होते रहे हैं।

यहाँ उन सब बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं जो सहज मुद्रित, टेप्डडिस्क आदि संप्रेषण-माध्यमों द्वारा उपलब्ध हैं। "जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।" मुझे दो वर्ष पहले तक उनकी सारी प्रकाशित मौलिक कृतियों के अवगाहन का अवसर मिला था और मैं सचमुच चमत्कृत और लाभान्वित हुआ और होता रहता हूँ। विष्णुकान्त जी के बहुआयामी, बहुपक्षीय व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित होने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त है, और हो सकता है वे अपने अपने भाग्य और प्रयत्नों को सराहें तो कोई अचरज की बात नहीं। वे २ मई, २००४ अपने ७६वें में प्रविष्ट हैं— यह बहुत ही खुशी की बेला है। वे सौ साल जियें, काम-काज एवं दायित्व जो भी उन्हें सौंपे जाँय, उन्हें पूरी निष्ठा और सचाई तथा कुशलता से पूरे करें— जिनके लिए विख्यात हैं। वे हमारे देश, समाज के विभूति-पुरुष हैं, 'आदर्श समग्र' के अन्यतम उदाहरण हैं और एक ज्योतिर्मय भारतीय विश्वजन हैं, यह सच सर्वजन (सदा-सर्वत्र-सर्वथा) स्वीकार्य है। इतिहास विगत और वर्तमान तथा भावी साक्षी है।

प्रमाण-स्रोत :—

१. शास्त्री जी की मौलिक वाङ्मयी कृतियाँ

२. क) "विष्णुकान्त शास्त्री षष्टि-पूर्ति अभिनन्दन ग्रंथ"

ख) "शास्त्रैरपि शरैरपि" (दोनों के सम्पादक : डा. प्रेमशंकर त्रिपाठी)

ग) आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री — व्यक्ति एवं रचनाकार/तारा दूगड़

३. मेरे अपने अनुभव एवं विस्तृत पाण्डुलिपि (प्रकाश्य) — "श्री विष्णुकान्त शास्त्री वाङ्मय विमर्श।"

४. उनसे सम्पर्कित अनेक घटना-क्रम, समाचार, अनेक व्यक्तियों द्वारा वर्णित अनुभव, लेखा-जोखा (यत्र-तत्र प्राप्त) ●

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

डॉ० माताप्रसाद सिंह

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : अप्रतिम व्यक्तित्व

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री प्रतिष्ठित समालोचक, हिन्दी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान, प्रख्यात प्राध्यापक, प्रभावशाली वक्ता, स्वच्छ चरित्रवान राजनेता, प्रबुद्ध आध्यात्मिक चिन्तक और सहृदय कवि के साथ उदारमना, परोपकारी तथा सौम्यता की प्रतिमूर्ति हैं। छात्रवत्सल प्राध्यापक के रूप में उनका यश सर्वविदित है। मुझे भी उनका स्नेह, सद्भाव, सौहार्द तथा आशीर्वाद उस समय प्राप्त हुआ जब मैंने डॉ० दयानन्द श्रोत्रियस्तव के निर्देशन में प्रेमचन्द कथा साहित्य की भूमिका पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के कक्ष में सन् १९८३ में आचार्य शास्त्री ने शोध प्रबन्ध को निरीक्षित परीक्षित कर मुझे पी-एच.डी. होने का गौरव प्रदान किया। वह क्षण आज भी मुझे आत्मविभोर कर जाता है।

अखिल भारतीय प्रगतिशील सुलतानपुर समाज के संस्थापना दिवस पर उन्होंने जो कहा वह अविस्मरणीय इतिहास बन गया। २ मार्च १९७७ को श्री अहिंसा प्रचार समिति प्रेक्षागृह में अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा "सुलतानपुर के निवासी कलकत्ता में अपना एक समाज निर्मित करते हैं, अपनी समृद्धि में सुख का अनुभव करते हैं इसका उन्हें अधिकार है; परन्तु सुलतानपुर जनपद का होते हुए भी उन्हें सम्पूर्ण भारत के साथ जुड़ना है। सच है जो स्वार्थ वृहत्तर स्वार्थ का अंग बनकर नहीं आता, वह सच्चे अर्थ में स्वार्थ भी नहीं। सच्चा स्वार्थ और परमार्थ एक ही है। ठीक उसी प्रकार सुलतानपुर का स्वार्थ भारत के स्वार्थ के साथ जुड़कर ही सुलतानपुर का स्वार्थ हो सकता है। सुलतानपुर, कोलकाता और भारत ये एक सरल रेखा हो जुड़ने वाले तत्त्व हैं। इसलिए अपना परिचय देते हुए हम अखिल भारतीय स्तर पर सोच सकते हैं और नई चुनौतियों को स्वीकार करके आगे बढ़ने का साहस करते हैं तभी हम प्रगतिशील और अखिल भारतीय होंगे।"

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री स्वतंत्रता, स्वाभिमान, जनगौरव और राष्ट्रचेतना के प्रतीक हैं। शास्त्री जी के सान्निध्य में रहने का जब भी अवसर मिला, अपने में आत्मगौरव और नवीन उत्फुल्लता का अनुभव हुआ। पश्चिम बंगाल के तत्कालीन महामहिम राज्यपाल श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के सम्मान-समारोह में शास्त्रीजी की उपस्थिति, उनके ओजस्वी भाषण और उनकी वाग्मिता की छाप हृदय पर अमिट है। पद्मभूषण श्री सीताराम सेकसरिया के सभापतित्व में आयोजित महामहिम राज्यपाल श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के सम्वर्द्धना-समारोह में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने प्रधान वक्ता के पद से समाज को नवीन मार्गदर्शन और प्रेरणा प्रदान करते हुए कहा— "भारत अनेक प्रदेश और अंचलों में विभक्त है, उसकी अपनी आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परायें और विशिष्टतायें हैं। अंचलों और जनपदों के बहुआयामी विकास से ही भारत की समुचित और सुनियोजित उन्नति सम्भव है।"

विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक संस्थाओं के प्रेरणास्रोत आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री रामजी की कृपा और रामजी की इच्छा को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं। उनके भक्तिभाव में विनम्रता तथा आत्म

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

विश्वास है। उन्हीं की पंक्तियाँ हैं —

तुम्हीं काम देते हो स्वामी, तुम्हीं उन्हें पूरा करते हो।
असफलता के दारुण क्षण में, अश्रु पोंछ पीड़ा हरते हो।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री सात्विक संस्कारों से परिपूर्ण हैं, साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक दायित्व को प्रभु की कृपा मानकर कर्मरत रहना उनका स्वभाव है—

जो काम प्रभु ने दिया, नतमस्तक उसे लिया।
जितना कर सका किया, इस तरह अब तक जिया।
आगे भी इस प्रकार सहज झेलूँ गुरुभार,
सबका स्नेह संभार, बने मेरा आधार।

पचहत्तर वर्ष पूर्ति पर ऐसे अप्रतिम व्यक्तित्व को नमन। ●

श्रद्धा-सुमन

अक्षयवट हो कीर्ति, हृदय में क्षीरसिन्धु सा सुख हो
सत्यम् शिवम् सुन्दरम् प्रेरित जीवन लोकोन्मुख हो
रहें सर्वप्रिय सदा, दान दें सबको ज्ञानामृत का
जो पाये सान्निध्य विगत अवसाद हृदय हो उसका
जिया आपने करुणामय कर्मठ योगी का जीवन
हों शतायु श्रीराम कृपा के बरसें नित सितशुभघन।

—नीलम श्रीवास्तव

सौजन्य : रामगोपाल महेश्वरी, महेश्वरी ब्रदर्स लिमिटेड, २३ए, एज. एस. बोस, कोलकाता-१

Arunendu Sarkar

Vishnukant as I know him (Down the memory lane)

Going down the memory lane is not always a cake walk, nor is it that pleasant. But when I turn back to the days gone - the days Vishnukant Shastri and I shared - I simply sigh, and fondly wonder if they could have a come-back.

That day is still fresh in my memory. Time : mid September, 1947. Place : Chemistry Laboratory of Vidyasagar College, Kolkata where I, a B. Sc. student, was doing at my experiments under our Professor's guidance. Suddenly my eyes fell on a fellow student a few desks away. He was tall and quite fair-complexioned, and had an attractive personality to which a majestic top knot on his head added. I got tempted to have a talk with him. But the shy nature of a young man coming from a moffussil town to the metropolitan city soon held me back.

One or two days later, I went to college. As I stepped in, I came to know that there would be no classes that day. Why ? I do not remember now. I did not feel like going back to my residence. I, however, wondered how and where I should kill some hours. Well why not, I said to myself, drop in on the Sangh Karyalaya which stood near our college. Fortunately I had the karyalaya's address with me. I had, while coming down to Kolkata, collected it from my home town's Sangh Karyalaya. I decided to go to the karyalaya and spend some time there while getting acquainted with the members present.

A few minutes' walk brought me to the Karyalaya. A surprise awaited me there. As I entered the hall, I stumbled upon the same young man of my Chemistry practical class, talking with some gentlemen. He, too, was surprised to see me there. In no time we were introduced to each other. Vishnu invited me to come to the Darjipara Sakha. Though a swayamsevak, I was not a regular goer to the sakha in my home town. But I felt drawn to the patriotic songs sung at the sakha. So just for listening to them in particular I used to visit the sakha off and on. Hence about Vishnu's invitation I was rather luke-warm. But the moment I learnt that Shri Mani Karmakar, a good singer and also a B. Sc. student like us, was a

संपर्क : Midnapore Hacheries Pvt. Ltd., FD-307, Salt Lake City, Kolkata-700 091

regular performer at Darjipara Sakha, I felt eager to go specially for the sake of hearing that good singer. The day I went to Darjipara sakha I found Vishnu playing kabaddi with other swayamsevaks. I still remember how he turned out to be the man of the match that day. Later Manida's songs sung with a silver voice were rather a feast for my ears.

1948 was a fateful year for us, swayamsevaks. Mahatma Gandhi was assassinated on the 30th January, 1948. The then Govt. imposed a ban on the R.S.S. on the 4th of February, 1948 and Guruji Golwalkar was arrested. A lot of innocent swayamsevaks were tortured unduly. The Govt. with some particular motive tried to impair the popularity of the Sangh and implicated the Sangh in Mahatma Gandhi's murder. As a matter of fact Mahatma Gandhi was full of praise for the Sangh. He visited the sangh camp at Wardha a few years before his murder, and was astonished to see there was nothing like caste-based distinction between swayamsevaks in the camp and that there was no distinction even between a brahmin swayamsevak and a socalled dalit swayamsevak there and that both were playing, eating and singing together. During those days of the fateful year, swayamsevaks used to guard Mahatmaji's camp in the Bhangi colony of Delhi, lest he would be attacked by the miscreants.

Naturally, we had to maintain low profile during those days. However, there were objections raised by the eminent persons of those days against the ban on R.S.S. Sangha sympathisers pleaded for justice to the court. Media and well-known persons of the country were also publishing news of sacrifice made by the swayamsevaks for the country from Kashmir to Delhi during that critical period.

As far as my recollection goes, in Sept'48 Sangha started satyagraha throughout the country against the ban on R.S.S. Thousands of swayamsevaks offered satyagraha and went to jail defying the ban. One day Vishnu came to my hostel room and told me that he had decided to offer satyagraha and would have to go to jail as a satyagrahi. That whipped up my desire to become a satyagrahi. But the bad health of my mother forced me to give up the plan. Next day I came to know that Vishnu, along with a number of other swayamsevaks, after the sangha prayer at a nearby playground, offered to be arrested by the police officers present there.

By the end of December '48, the Govt started releasing satyagrahis batch by batch. One fine morning of the first week of January,1949, when I was in my room in the hostel, Vishnu bobbed in. I was immensely glad, and asked him when he had come out. "Yesterday. But Atu, I am to appear in the final examination," he replied.

ঋণস্বীকার : Sri Amitava Maiti, GD-365, Salt Lake City, Kolkata-700 091

I told him that we would prepare our lessons together and there would be no problem.

From next day we started to take our lessons together and our preparation for the final examination went on smoothly. Vishnu had to walk a long distance to reach my hostel. I used to make arrangement for his nap, so that he would get refreshed before we could start our lessons. Later in life, Vishnu used to describe this episode in such a way to his friends and even to his daughter and niece that all of them used to burst into laughter.

Barely with four or five months' preparation Vishnu got through the B.Sc examination. Later he changed the stream and duly sat for the M.A. Examination in Hindi which he passed in the First class with a Gold Medal. Late Shyam Mohon De, a dedicated Sanghite and a close friend of Vishnu, took course work in Hindi from Vishnu at C.U. I heard from Shyamda that in the post graduate class of Calcutta University Vishnu was a brilliant success as a teacher. His students, Shyamda reminesced, were simply amazed at his scholarship and delighted by his lectures, often spiced with his robust sense of humour. For him, in the class teaching was before everything else, even though outside he was wedded to a particular political creed.

Vishnu is a poet, orator and a good teacher. Although he was a professor of Hindi, his interest in Bengali literature was extraordinary. When he was a student of M.A. in Hindi, he once thought that he would take Bengali as his special paper. Rabindranath, Bibhuti Banerjee and Sarat Chandra were as dear as Tulsidas, Premchand to him.

Once I mentioned one poem, "Dream Pedlary" to Vishnu. This poem, I had read during my Matriculation days, runs like, "If dreams were to sell. what would you buy?/ Some cost life's fresh crown, some a light sigh / What would you buy?" When Vishnu heard it, he immediately said, "Is it so? I also liked the poem. I even translated it into Hindi." He then recited his Hindi version.

Of Prof. Shastri's unique skill of oratory we all know. His popular talks on Ramkatha and Krishnakatha as well as his scholarly discourses on Hindi literature keep the audience enchanted. His talks on other subjects are not less enchanting. I remember one of them. It was an extraordinary lecture on the occasion of the condolence meeting of late Prof. Haripada Bharati held at Mahajati Sadan. It was so touching that it brought tears to many present at that meeting. A couple of days later when I met Vishnu I said to him, "Vishnu, your lecture on Bharatida was so

सौजन्य : Dr. Jnishree Maiti, GD-365, Salt Lake City, Kolkata-700 091

beautiful and touching!" I added jocularly, "If you promise to give a similar talk at my condolence meeting also, I am ready to die just now." Vishnu felt embarrassed and closed my mouth by putting his palm on it.

In October, 1977 I lost my father. Vishnu came to me and told me that he would recite the Gita during the Shradh ceremony. Vishnu was an M.L.A at that time. In spite of his Assembly and teaching obligations at the University, Vishnu volunteered to take that task during the day of my disaster. It reminded me of the definition of the ideal friend - उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे / राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बांधवः। Again after three months, in January, 1978 I lost my mother, too. Vishnu again stood by me, overwhelmed with grief, and performed Gita recitation during my mother's last rites. Vishnu was very close to both my mother and father. Later on, when Vishnu offered discourses on the Gita, I attended those as one of his students.

I had a long association with the Deptt. of Chemistry, Himachal Pradesh University, Shimla. The late Professor of Chemistry of the said department, Prof B. N. Mishra is my good friend. At his request and his other colleagues' I had to be involved in a particular research project concerning "Conversion of waste into wealth". I had to arrange for the procurement of necessary machinery and other equipment for the said research project and had to make myself available to the Chemistry Department once a year during the tenure of the project. Lest the above costly equipment be not fully utilised and get wasted after the project was over, I was anxious about them. That had happened just before Prof. Vishnukant Shastri came to Shimla as the Rajyapal of Himachal Pradesh. Prof. B. N. Mishra had been introduced to Prof. Shastri by me before he joined his assignment as Rajyapal. And I was thinking to take the help of the new Rajyapal for expanding the small division of the Chemistry Deptt, to a full-fledged laboratory concerned with the development of useful products from waste materials. As I had to go to Shimla during the tenure of the research project in the Chemistry Division, I thought I would arrange Prof. Shastri's visit to the Chemistry Deptt. of the University organised by the staff and students of the University and would explain the progress of our work on the project as well as its importance in the bigger context of the national development. My friend Prof. Mishra met Prof. Shastri at the Governor's house and requested him to visit the Chemistry Deptt, and Prof. Shastri told him that it could be arranged when I would be present there. But I have to admit that my above proposed venture

सौजन्य : Anivirth Maiti, GD-365, Salt Lake City, Kolkata-700 091

was not successful, because of the lack of initiative from the departmental staff and the transfer of Prof. Shastri to U.P, as the new Rajyapal.

Before I conclude I cannot but mention an episode, which underlines another trait of Vishnu's character.

One of my cousins resides in Lucknow. He was a railway employee of lower rank. He booked for a low income group flat by depositing the amount required, more than five years back. But no response reached him, nor did anything come about in such a long period. About two years ago, when Vishnukant was Rajyapal of U.P., my cousin came to me and stuffed me with his problems. He knew that the Rajyapal was my friend and requested me to write a letter to the Rajyapal mentioning the poor man's misfortune caused by the negligence of the higher authorities. He also urged me to request the Rajyapal to grant him an audience. I did not feel inclined to write the letter. I just asked my cousin to directly approach the Rajyapal and told him (cousin) that he could mention my name as one of the Rajyapal's friends in his letter to him. A couple of weeks later I got a phone call from my cousin from Lucknow and he let me know that the Rajyapal had given him an interview in which he heard him patiently. The Rajyapal also gave necessary instructions to the officer present there. My cousin was overwhelmed with the extraordinary sympathetic behaviour of the Rajyapal. It was too much for him to dream of.

I learnt much from Vishnu. This incident only added to my store.

When he was asked by someone important about his origin long back, he replied that by birth he was a Bengalee; and as his grand father and father had been educated in Varanasi, his instinct and feelings were those of a Venarasi. He summed up saying that Bengal was his mind and heart, Varanasi his intellect, Jammu his blood and India with her people and culture his pride. The man whom he told this only said in reply, - "You are indeed a Bengalee and none but a true Bengalee can introduce himself thus,"

Child-like simplicity, profound love, firm faith in God and extraordinary intellect are among many qualities which endeared Vishnu to his near and dear ones. Over and above, for me, his warm embrace cannot be forgotten. It is just like the touch of God that cannot be defined. ●

सौजन्य : Triparna Maiti, GD-365, Salt Lake City, Kolkata-700 091

Prof. Kunal Ghosh

Acharya Vishnukant Shastri : Reminiscence and Recollections

I joined the University of Calcutta sometime in the early seventies. I was too young then and almost all of my colleagues who joined the University at about that time were a decade or two senior to me. The University teaching faculty was then in a process of transformation for socio-political reasons and some of the teachers were trying hard to resurrect the dormant Calcutta University Teachers Association (CUTA). These initiators were unknown entities at that point of time, but later became household names in the political circle. As I was the immediately preceding Secretary of Scientific Research Workers' Association (SRWA), an all Bengal body with membership ranging from Vice-Chancellors to Research Scholars, I became a target of these initiators. I was inclined not to get involved much because I neither liked their all-demand-no-responsibility attitude nor intended to dissipate my energy on anything other than research. However, I never missed a meeting of CUTA and never failed to oppose the authority, if so demanded. One of the important issues on which we fought was the infamous Expenditure Control Act, mooted by the then Congress Government, probably the first step to curb the University autonomy. Anyway, I moved to the other side of the Atlantic for a few years and lost direct touch.

When I retuned in the early eighties, I encountered the first politically appointed Vice-Chancellor on the throne. Somehow I was able to smell the danger in the misrule that is continuing even today; I threw off my black robe and joined as usual the opposition more actively. At this stage, I came to know Acharya Vishnukant Shastri more closely. The CUTA was holding a meeting at the Chemistry Lecture Theatre, Rajabazar campus. At some stage, one person rose to the podium; an erect figure of exceptionally good physique, with a *shikha* and *uttariya* to boot, as if straight out of the classics. One well-known leftie whispered "BJP". When Vishnukant Shastriji finished his speech, I was deeply impressed. Unlike today, there was no dearth of brilliant minds coupled with unflinching

सौजन्य : अहेश मुखालखा, १६१/१, महात्मा गाँधी रोड, कमरा नं.-५७, कोलकाता-७०० ००७

integrity in the University teaching community and each and every meeting was a treat to watch. Even then, Shastriji surpassed the others for his sincerity and erudition; the message was crisp, bold and clear. Later I had the privilege to listen to him at various levels. Shastriji during his service time, always put his foot down in combating the authoritarian misrule. On several occasions, we walked together to the usual destinations like Esplanade East. Once I was just behind him and the picture was printed in the next day's Statesman. He was always with us when we had been taken to the Alipore Jail; of course we were invariably released after a while. All these are reflections of a great man's commitment to just causes and his sacrifices to live with them.

West Bengal has no future. Academic institutions are doomed. People like Shastriji have retired. Positions are filled up by useless persons as dictated by the omnipotents residing at the street named after *Kalimuddin's* uncle. Of course, the anit-Left Front teachers who were in overwhelming majority are a microscopic minority now. But the University of Calcutta that was arguably the best University in India till the seventies, has no position at all in the national map.

The idea to initiate the National Forum for University and College Teachers (later renamed to *Jatiyatabadi Adhyapak O Gabeshak Sangha)* was taken up in a *Chintan Baithak* held at the Haryana Bhavan some time in 1993, a year after Babri Mosque demolition. The meeting was presided by Acharya Shastri. I was not associated with the Forum at that time but I had the opportunity to participate in the First Convention of the Forum held at the Maharashtra Niwas in 1997; Shastriji had inaugurated that function.

Acharya Shastri's active interest in functioning of the Forum is all too well-known. Even when he became a Governor, he quite often called the members of the Forum during his visits to this metropolis. At Raj Bhawan there were always people in waiting but Shastriji in spite of his tight schedule never made us understand his constraints. The conversation continued as long as we wished and he was always a patient listener. As I look out of my window at the streets or at my working place, I miss this grand old generation and their values the most. ●

सौजन्य : शांतीलाल जैन, ३७बी, बर्चा रोड, कोलकाता-७०० ०१९

गिरिराज किशोर

साहित्य, राजनीति और जन का समन्वय

जब मुझे विष्णुकान्त जी पर लिखने के लिए कहा गया तो मेरे एक मित्र ने चेताया 'आपको याद है जब आप साहित्य अकादेमी का चुनाव जीते थे किसी सज्जन ने छद्म नाम से लिखा था कि साहित्य अकादेमी लखनऊ के राजभवन के रास्ते पहुँचे हैं।' उन हमारे मित्र ने राजभवन की दीवार तोड़कर साहित्य अकादेमी में दरवाज़ा खोल दिया था। दो महीने बाद जब शास्त्री जी को मैंने बताया तो वह मेरी तरफ़ आश्चर्य से देखने लगे और पूछा 'तुम वहाँ कैसे पहुँच गए?' राजभवन नियमों का अनुपालन ही देखता है। जिला अधिकारी तक राजभवन की बात सुनकर उसे मुख्यमंत्री के वज़न पर रखकर तोलते हैं। किसका वज़न कितना है। हमने ब्रिटिश राज की परंपराओं और पदविन्यास को तो बरकरार रखा पर उसकी गरिमा को उसी तरह बिगाड़ दिया जैसे किसी वृक्ष की जड़ों में कैमिकल्स डालकर उसे सुखा दिया जाता है। बस उस परंपरा का ठूँठ खड़ा दिखता रहे। इस पद के राजनीतिकरण का नतीजा यह हुआ जो पद का दुरुपयोग कर सकने की क्षमता रखता हो वही सक्षम। विष्णुकान्त जी उन लोगों में नहीं हैं। उन्हें राजनीति से ज्यादा साहित्य पसंद है। शिमला का अनुभव भी यही है। हम लोग वहाँ जाते थे तो घंटों बैठते थे साहित्यचर्चा होती थी। बात बात पर कभी बच्चन की पंक्ति और पंत और निराला की पंक्ति और कभी सूर का पद। एक साहित्यकार मनोवृत्ति का व्यक्ति इस सीमा तक न जा सकता है न जाना पसंद करता है। अब नम्रता और सभ्यता की भाषा का अर्थ समझने में कठिनाई होने लगी। वह फ़ारसी हो गई। भलमनसाहत को लोग अक्षमता भी कहते हैं। यह विद्रूपता ही है।

विष्णुकान्त जी के सामने उनकी कोई तारीफ़ करे तो वे तुरंत रामजी की कृपा कहते हैं। कहीं अहंकार न आ जाए। एक दिन एक सज्जन उनसे कह रहे थे आप अजातशत्रु हैं। आप इस राजभवन में संन्यासी की तरह रहते हैं। 'रामकृपा' राजनीति के कारण बदनाम हो गयी। मुझे आश्चर्य हो रहा था आदमी खुशामद में इतनी ग़लत बातें कैसे कह सकता है। एक राजपुरुष कितना भी सहज हो, अजातशत्रु कैसे हो सकता है। संन्यासी होकर भी संन्यासी कैसे बना रहेगा। जब बीच में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन हुआ और विहिप ने राम मंदिर शिला स्थापना के संदर्भ में आन्दोलन किया। सरकार ने उसे रोका तो विहिप के नेताओं आचार्य गिरिराज किशोर आदि को गिरफ्तार किया गया। आचार्य गिरिराज किशोर ने कहा कि अब विष्णुकान्त जी राम भक्त न होकर रामद्रोही हो गए। विहिप का यह ड्रामा हमेशा रहता है। अपने नेताओं का विरोध भी करते हैं बाद में विरोध वापिस लेकर साथ भी देते हैं। मैंने बानी साहित्य के गिरिराज किशोर ने उन्हें बधाई दी, 'आपने अपना दायित्व बिना भेदभाव के निभाया।' उस समय कुछ हिंदूवादी लोगों ने कहा था कि शास्त्री जी को उन लोगों को गिरफ़्तार न करके त्याग पत्र दे देना चाहिए। मेरा तर्क था कि ऐसा करके वे राज्यपाल की गरिमा को गिराते। कर्त्तव्य लेकर उससे भागना कापुरुषों का काम है। उसी संदर्भ में मैंने उनको कहा था कि 'आचार्य गिरिराज किशोर आपको राज्यपाल का दायित्व निबाहने पर रामद्रोही होने

सौजन्य : C. S. Sales Pvt. Ltd., 154, Jamunalal Bajaj Street, Kolkata-700 007

का शाप द रहे है।' वे बहुत सहजता से बोले 'चलिए एक गिरिराज किशोर शाप दे रहे है तो दूसरे आशीर्वाद दे रहे हैं।' शालीनतापूर्ण जवाब यही हो सकता था। वरना लोग अंट-संट कहने लगते हैं। वे भी आचार्य के ख़िलाफ़ दस बातें कह सकते थे।

उनमें एक साहित्यिक औदार्य है। हम लोग बर्गी में अज्ञेय जी के द्वारा आयोजित वत्सलनिधि कैंप में गए थे। इस तरह के आयोजन तब कम होते थे। मेरी उनसे वह दूसरी भेंट थी। मैं सबेरे मैडिटेशन करता हूँ। उन्होंने मुझसे कहा 'आप मेडिटेशन करते हैं। पूजा भजन तो बहुत करते हैं, मेडिटेशन कम करते हैं। यह आपको आगे ले जाएगा।' जहाँ नर्मदा का बाँध बंध रहा था हम उस स्थान पर गए। ऊपर से धू धू करके प्रपात की तरह नर्मदा का जल गिर रहा था। ऊपर चाँद निकला था। कुछ दूर पर काम चल रहा था वहाँ पर रोशनी थी। हम लोग एक तरफ इकट्ठे बैठे थे। उस रात उन्होंने तुलसी, निराला, बच्चन, मुक्तिबोध, महादेवी, पंत, सुमन, नागार्जुन, अज्ञेय यहाँ तक कि नए से नए कवि की कविताएँ सुनाई। रात को बारह बजे तक उनके द्वारा अलग कवियों का पाठ होता रहा। मैं चकित था कि एक व्यक्ति इतने कवियों की इतनी कविताएँ कैसे याद रख सकता है। बाद में जब संपर्क और बढ़ा तो समझ में आया कि यह भी वाणी की साधना है कि स्मृति सदा जाग्रत रहे। यही संस्कृत साहित्य की स्थिति है। वे स्वयं शास्त्री नहीं, उनके पिता शास्त्री थे। इसलिए उनके नाम के साथ भी शास्त्री जुड़ा है। लेकिन संस्कृत उनके ज्ञान का अविभाज्य हिस्सा है। सामान्यतः दीक्षांत समारोह में गवर्नर को सुनकर लोग बोर हो जाते हैं परंतु उन्होंने अपनी वाक् शक्ति को इतना संवारा और सजाया है कि दीक्षांत समारोहों में उनका भाषण मुख्य अतिथि से अधिक आकर्षण का केन्द्र हो गया है। एक बात मैं यहाँ जोड़ दूँ वे इस तरह की गोष्ठियों में कभी प्रधानमंत्री की कविताएँ नहीं पढ़ते। राजनीतिक बाध्यताएँ कई बार ऐसी होती हैं कि इंसान साहित्यिक और राजनीतिक दायित्वों के बीच भेद नहीं कर पाता। शास्त्री जी का यह विवेक इस दृष्टि से कभी धुंधला नहीं पड़ा।

मैंने सबसे पहले उनके दो संस्मरण पढ़े थे। एक अमृतराय पर दूसरा नामवर जी पर। उन्हें पढ़कर मेरे मन में दो सवाल उठे कि एक आर. एस. एस. के समर्पित स्वयंसेवक के लिए क्या बाध्यता थी कि वह दो कम्युनिस्टों पर इतने आत्मीय और निष्पक्ष संस्मरण लिखे? दूसरा सवाल था कि क्या कोई मार्क्सवादी किसी हिंदूवादी की बात तो अलग है, किसी तथाकथित 'अप्रतिबद्ध' साहित्यकार पर इतनी क्या, उससे भी आधी आत्मीयता से लिखना पसंद करेगा? मुक्तिबोध जैसे लोग अपवाद हैं। शायद यह व्यक्ति व्यक्ति का अंतर हो। राहुल जी की एक पुस्तक थी 'नये भारत के नये नेता'। शायद यही नाम था। उसमें ऐसे अनेक व्यक्तियों के संबंध में लेख थे जो साम्यवादी तो थे ही नहीं, शायद राजनीति से भी कोई रिश्ता नहीं था। ऐसे लोग भी थे जिन्होंने जीवन भर उनका विरोध किया। यह परंपरा अब ख़त्म हो गई। उसके बाद विष्णुकान्तजी का एक संस्मरण डॉ० रामविलास शर्मा पर लिखा हुआ पढ़ा। नागार्जुन पर तो उनका संस्मरण 'अकार' में कुछ ही दिन पहले छपा था। उनके इन संस्मरणों को पढ़ने के बाद मुझे लगा कि साहित्य के सागर में मान्यताएँ ही केवल पार नहीं लगातीं साहित्यिक सहिष्णुता भी महत्त्वपूर्ण होती है, नहीं तो तुलसीदास अन्य वंदनाओं के साथ खल वंदना न करते।

जब मैं शिमला में फैलो था तो उत्तरप्रदेश से पूर्व वे हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल हुए थे। मेरा उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' छपकर आया था। मैंने उसकी एक प्रति शास्त्री जी को भेंट की। मुझे स्मरण है कि उन्होंने 'परिशिष्ट' पढ़कर मुझे सकारात्मक पत्र लिखा था। उसे देखकर उन्होंने कहा कि यह तो बहुत विशाल है। नया-नया पद भार

संभाला है। इतना कहकर चुप हो गए। मैंने कहा मैं समझता हूँ। उन्होंने राजभवन दिखाया। यह कुर्सी मेज़ दिखाई जिस पर बैठकर इंदिरा जी और मि. भुट्टो ने बंगला देश के युद्ध के बाद समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। एक तरह से वे भी बंगलादेश की उस लड़ाई के हिस्सेदार रहे थे। वहीं पर मैंने कस्तूरी मृग का चित्र देखा था। एकदम कल्पना के विपरीत। विषधर कितना सुंदर होता है और कस्तूरी की गंध बिखेरने वाला मृग कितना सामान्य।

तीन दिन बाद रात को ग्यारह बजे फोन आया 'महामहिम बात करेंगे'। उधर से विष्णुकान्त जी बहुत उत्साह के साथ बोल रहे थे 'गिरिराज जी, मैंने आपका उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' अभी पढ़कर समाप्त किया है। दिन में काम करता था और रात के समय पढ़ता था। कई स्थल ऐसे थे कि मैं अपने अश्रु नहीं रोक पाया।' मुझे एक साहब ने कहा था कि आर. एस. एस. वाले गाँधी को पसंद नहीं करते, शायद उन्हें ठीक न लगे। मेरी बुआ के बेटे थे, आर. एस. एस. में सक्रिय थे। जब गाँधी की हत्या हुई तो उन्होंने मिठाई बाँटी थी। मेरे बाबा अंग्रेज़ों के समर्थक थे वे भी गाँधी के ख़िलाफ़ थे पर उन्होंने उन्हें घर से चले जाने को कह दिया था। मेरे मुँह से यही निकला— 'आपको पसंद आ गया तो मेरा परिश्रम सफल हो गया।' उनमें यह उदारता है कि उन्होंने अपनी राय को कभी छिपाया नहीं। एक दिन मुझे श्री कैलाश वाजपेयी ने फ़ोन किया कि दिल्ली के किसी आयोजन में विष्णुकान्त जी ने कहा कि अगर गाँधी को समझना है तो 'पहला गिरमिटिया' पढ़ना ज़रूरी है। साहित्यिक सहृदय वही कहलाता है जो रचना को रचना की तरह पढ़ने की सामर्थ्य रखता है उस पर अपना मत नहीं थोपता। मेरे मित्र राजेन्द्र यादव ने एक दिन कहा कि 'पहला गिरमिटिया' की चर्चा इसलिए नहीं हुई क्योंकि वह गाँधी पर लिखा है। गाँधी को आप जानते हैं, हो सकता है राजनीतिक कारणों से आपके आकर्षण विकर्षण के संबंध हैं। जब वह एक पात्र के रूप में आपके सामने आता है तो आप उसके नकारात्मक पक्ष देखकर प्रसन्न होते हैं। सकारात्मक पक्ष को देखकर आपका विकर्षण सक्रिय हो जाता है। यह साहित्यिक सहृदयता की नकारात्मक पहचान है। उपन्यास पर बात न करके वे व्यक्ति पर बात करने लगते हैं। वह साहित्य का नहीं, व्यक्ति के गुण अवगुण का मूल्यांकन अधिक है। अगर विष्णुकान्त जी इस उपन्यास को पसंद न करते तो उसका राजनीतिक तर्क हो सकता था। लेकिन साम्यवादियों का उस गाँधी पर लिखी किसी कृति को अस्वीकार करना इसलिए तर्क संगत नहीं क्योंकि माओ त्से तुंग तक ने अपनी एक पुस्तक गाँधी को समर्पित की थी। यही नहीं गाँधी ने स्वयं स्वीकारा है कि वे सबसे बड़े समाजवादी हैं। अपने को डी क्लास करने वाले तो वे अकेले हैं।

विष्णुकान्त जी ने कभी किसी के बारे में बुरा या अपमानजनक नहीं कहा। यहाँ तक राजेन्द्र यादव गाहे-बगाहे उनके बारे में अपने संपादकीय में छींटाकशी करते हैं। जब भी कभी राजेन्द्र के बारे में ज़िक्र आता है तो वे हमेशा उनके साथ गुज़रे अच्छे दिनों को याद करते हैं। राजेन्द्र यादव भी कभी-कभी दबी ज़बान से उनके गुणों का उल्लेख करते हैं। वह मानते हैं कि वे किसी को नुकसान नहीं पहुँचा सकते, भले किसी का काम न कर पाएँ। हर साहित्यकार का सम्मान करते हैं। मन्नू जी को वे बहिन मानते हैं। लखनऊ में एक आयोजन में मैं भी गया था। राजेन्द्र यादव भी थे। मैं उनसे मिलने गया तो वे बोले मैं साहित्यिक मित्रों को आमंत्रित करता पर राजनीति ने सबसे अधिक व्यक्तिगत संबंधों को प्रभावित किया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। कभी कभी यह सवाल उठता है कि पुराने संबंधों और भावनाओं का आदर न करना या उससे इसलिए बचना कि कहीं लोग यह न समझ लें कि अमुक ने अपने सिद्धांत बदल लिए; कापुरुषता है या वैचारिकता है? बाद के दिनों में कृपलानी और जयप्रकाश जी के संबंध

सौजन्य : C. S. Sales Pvt. Ltd., 154, Jamunalal Bajaj Street, Kolkata-700 007

जवाहरलाल जी से खराब हो गए थे। लेकिन जब भी वे मिलते थे तो उसी आत्मीयता के साथ। जब जवाहरलाल जी को पक्षाघात हुआ था तो कृपलानी उनके पलंग के पास खामोश बैठे रहे थे। चलते हुए बोले 'जवाहर ने फिर धोखा दिया।' उनकी आँखों में पानी था। साहित्यकारों की तो फिर भी इतनी बड़ी स्टेक नहीं फिर भी वे ज़रा सा मतभेद होते ही व्यक्तिगत संबंधों की बलि सबसे पहले क्यों चढ़ाते हैं? मैं हिंदूवादी नहीं हूँ। हिंदू हूँ। पर हिंदू होना मेरा व्यक्तिगत मामला है। जब गुजरात में वह कांड हुआ तो मैंने विष्णुकान्त जी के सामने अपना क्षोभ और तकलीफ़ प्रकट की। वे चुपचाप सुनते रहे। अंत में बोले कि यह अच्छा नहीं हुआ। हालाँकि उनके पास मेरी बात काटने के लिए अन्य लोगों की तरह अनेक तर्क होंगे। लेकिन उन्होंने मेरे क्षोभ को समझा। मैं बीजेपी, विहिप और हिंदूवादी मानसिकता के विरुद्ध अकसर लिखता रहता हूँ। पर उन्होंने मुझसे कभी न ज़िक्र किया और न कहा।

राजभवन में बैठकर अनके राज्यपालों ने राजनीति की है। अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए गलत सही काम किए हैं। इनके पूर्ववर्ती के बारे में तो गलत या सही यह धारणा बन गई थी कि उन्होंने काफ़ी धन एकत्रित किया। ऐसी कोई बात शास्त्री जी में नहीं है। अगर गलत न समझा जाए तो सही काम करने के बारे में भी उन्हें संकोच होता है। उसका फ़ायदा अधिकारी उठाते हैं। पिछले दिनों जब विधान परिषद के लिए छः लोगों को राज्यपाल द्वारा मनोनीत किया जाना था तो मैंने उनसे कहा कि 'परिषद् में साहित्यकार के लिए एक सीट है। महादेवी के बाद कोई साहित्यकार उस पर नहीं गया। सदा वह सीट राजनीतिज्ञों या पार्टी पत्रकारों को मिलती रही। आप कुछ कीजिए।' उसके लिए मैंने श्रीलाल शुक्ल आदि के कुछ नाम भी सुझाए। उन्होंने कहा भी कि मैं देखूँगा। शायद संभव नहीं हो पाया। वे शांति चाहते हैं। उसमें वे लोग लाभ में रहते हैं जो उस शांति को कमज़ोरी समझकर धींगामस्ती से अपना हित साध लेते हैं। यही स्थिति कर्नाटक में थी। वहाँ के मुख्य मंत्री मनोनयन के लिए बार-बार तीन नाम राज्यपाल को भेज रहे थे, वे बिना कुछ लिखे पत्रावली वापिस भेज देते थे। वह सीट भी लेखक के लिए थी। एक बार उन्होंने हँसकर पूछा क्या आपके राज्य में कोई लेखक नहीं। शायद यहाँ के मुख्यमंत्री से कर्नाटक के मुख्यमंत्री अधिक संवेदनशील हों। अंततः उन्होंने एक नाम भेजा, तब उन्होंने मंज़ूर किया। यह स्थिति उन प्रदेशों में अधिक विषम है जहाँ सब कुछ राजनीतिमय हो गया। वहाँ गवर्नर या तो ख़ामोश रहें और सत्ताधारी पार्टी की बात मानते रहें या फिर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए सत्ता दल से टक्कर लें। शास्त्री जी बिना किसी तरह का विवाद खड़ा किए शांति के साथ राजधर्म निबाहने के पक्षपाती हैं। ऐसा नहीं कि वे सत्ताधारी दल के नेता को सलाह नहीं देते। सलाह देकर वे छोड़ देते हैं। यही जनतंत्रात्मक ढंग है। मायावती जी ने जब राजनीतिज्ञों को पोटा में बंद करना आरंभ किया तो उन्होंने सलाह दी कि जनतंत्र में जनप्रतिनिधियों से अलग तरह व्यवहार किया जाना चाहिए। मुख्यमंत्री पहले सलाह को आदेश मानते थे। अब अधिकतर मुख्यमंत्री ऐसा मानने में हेठी समझते हैं। इसीलिए अब कई बार अन्याय होने की संभावना रहती है।

सामान्य जन के लिए राज्यपाल आज भी एक आशा की किरण है। जब अन्याय होता है तो जन राज्यपाल की तरफ़ देखता है। यह सोचकर अपनी दुख की गाथा लिखता है कि वहाँ से उसे राहत मिलेगी। पहले हर हफ़्ते मुख्यमंत्री राज्यपाल से मिलकर प्रदेश की स्थिति से अवगत कराते थे। फिर महीने में एक बार हुआ। अब केवल संकट के समय या हुआ तो होली-दिवाली। नहीं तो वह भी नहीं। जब वह मीटिंग होती थी राज्यपाल मुख्यमंत्री से लोगों को समस्याओं पर बात करते थे। परंपरा के अनुसार पहले मुख्यमंत्री और उसकी केबिनेट अपने को

सौजन्य : जुगलकिशोर काजड़िया, ११४, ब्रिजेन्ट पार्क, कोलकाता-७०० ०९२

राज्यपाल के आधीन समझती थी। अब वे अपने को उससे ऊपर समझते हैं। राज्यपाल के यहाँ से आने वाले कागजों को वरीयता दी जाती थी। अब भी दी जाती है पर कागज पर। न्याय को अलग रखकर वे पार्टी हित को देखते हैं। सहारा 'श्री' के यहाँ विवाह पर जिस प्रकार सारे नेता, अभिनेता और विभिन्न क्षेत्रों के सितारे टूटे, उससे लगा वह गरिमा अब नहीं रही जो कभी थी। जब प्रधानमंत्री और उपराष्ट्रपति जाएँगे तो राज्यपाल क्या करेगा। उसे तो प्रोटोकोल में जाना ही पड़ेगा। यह स्थिति देश के संवैधानिक पदों के लिए संकट का सबसे बड़ा स्रोत है। इसलिए समझदार राज्यपाल अपने को अलग रखते हैं। मैं शास्त्री जी के माध्यम से राज्यपाल संस्था की समीक्षा तो नहीं, उस पद की गरिमा की, राजनीतिज्ञों के कारण हुए अवमूल्यन की बात कर रहा हूँ। इससे जन मानस धोखे में है। जिस उच्चतम पद को जिला अधिकारी तक मुख्यमंत्री से कम तरजीह देता हो, उस पद को बनाए रखकर आप पदासीन लोगों का सम्मान नहीं कर रहे। वे अपने-अपने क्षेत्र के सम्मानित लोग होते हैं। लेकिन राजनीति ने उन्हें अपना मोहरा बना लिया। यह दुर्भाग्य है। संवेदनशील लोग इस तकलीफ़ को गहराई से समझते हैं।

विष्णुकान्त शास्त्री जी ने राजनीति और साहित्य को अलग-अलग रखने का प्रयत्न किया है। उत्तरप्रदेश का छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा लेखक यह समझता है कि वे हमारे वर्ग के हैं। शास्त्री जी के प्रकाशक बता रहे थे कि संभवतः उनके पचहत्तरवें जन्म दिन पर एक ग्रंथ का विमोचन होना था। प्रकाशक महोदय ने शास्त्री जी से पूछा इस पुस्तक का विमोचन किससे कराया जाए। आज जब स्वनामधन्य साहित्यकार अपनी पुस्तकों का विमोचन कराने के लिए छोटे छोटे राजनेताओं के पीछे दौड़ते हैं। शास्त्री जी प्रधानमंत्री, उपप्रधानमंत्री, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति किसी से भी विमोचन कराने की क्षमता रखते हैं। पर उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा। यह उनके साहित्यिक विवेक का प्रमाण है। उन्होंने जिस व्यक्ति का नाम लिया वे थे डॉ० नामवर सिंह। राजनीतिक विचारधारा और साहित्य को कितने लोग अलग रख पाते हैं। मैंने उनके कमरे में गोलवलकर जी का चित्र देखा है। लेकिन गाँधी पर लिखे उपन्यास को पढ़कर रोने की बात उनकी साहित्यिक सहृदयता का प्रमाण है। जबकि बड़े प्रतिष्ठित साहित्यकार गाँधी पर लिखी रचनाओं को इसलिए तिरस्कारणीय मानते हैं कि वह गाँधी पर लिखी गई है। किसी के इस अधिकार को चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह किसे पसंद करता है किसे नहीं। परंतु साहित्य में अंततः उस संवेदना का सम्मान होता है जो अपनी प्रतिबद्धताओं के बावजूद साहित्य में सकारात्मक दृष्टि का विकास करने की क्षमता रखती है। बीजेपी की मान्यताओं से मेरा कोई संबंध न होने के बावजूद मैं अपनी सीमाओं से शास्त्री जी को इस साहित्यिक सहृदयता का सम्मान करने के लिए बाध्य अनुभव करता हूँ। शैलेश मटियानी इस तरह की इकहरी मानसिकता के शिकार हुए जिसने उनके अद्भुत कथा साहित्य को नज़रअंदाज़ करके उनकी इसलिए उपेक्षा की क्योंकि उनके कुछ लेख हिंदुत्व के पक्ष में करार दिए गए। वे मूलतः साहित्यकार थे; राजनीतिज्ञ या राजनीति चिंतक नहीं। उनके राजनीतिक चिंतन की तो उपेक्षा हो सकती है पर साहित्य की नहीं। शायद यह स्थिति आगे भी होती रहेगी। हम किसी विचारधारा के कारण जीवन से गहरे जुड़ी रचनाओं को नकार कर विचारधारा मात्र को नहीं थोप सकते। तार्किक ढंग से समझा सकते हैं। राजनीति, साहित्य और जन अलग अलग हैं। जन तत्व का अपना महत्त्व है। जन राजनीति के लिए भी अनिवार्य है और साहित्य के लिए भी। जन की उपेक्षा करके राजनीति में दो एक साल भले ही चल जाएँ पर साहित्य में असंभव है। ●

सौजन्य : स्टील कॉरपोरेशन ऑफ कैलकटा, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

गोविन्द मिश्र

भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति

१९८३ में कलकत्ता के हुए कथा समारोह के बाद हम एक हफ्ते के लिए अनामिका द्वारा आयोजित नाट्यशिविर में रुके थे। नाटक परिसंवाद के अन्तरालों में मैं देखता कि एक लम्बे, छरहरे, गोरे व्यक्ति को घेरे लोग खड़े हैं; ध्यान से, करीब करीब डूबे हुए, मुग्ध-भाव से उसे सुन रहे हैं। घेरे में मैं भी शामिल हुआ तो देखा कि वह जीवन की, साहित्य की, संस्कृति की, दर्शन की बातें करता था, लम्बे-लम्बे उद्धरण, श्लोक, खासतौर से कविताएँ निर्झरिणी की तरह मुँह से बहते चले आते। बोलने में बला की मिठास कि श्रोता बँधते चले जायें। गजब की याद्दाश्त.... बड़े बड़े उद्धरण यों झरते चले आते जैसे पढ़ रहा हो.....

वह विष्णुकान्त शास्त्री थे.... प्राचार्य। लगा कि प्राचार्य को ऐसा ही होना चाहिए, महीन-सी इच्छा जागी कि काश मैं उनका विद्यार्थी होता.... लेकिन मेरी क्लास रूम से छुट्टी सालों पहले हो चुकी थी और विष्णुकान्त जी भी अपने कैरियर के अन्तिम पड़ाव पर थे....समय की सुई को न उल्टा चलाया जा सकता है, न ही अपनी सुविधा के लिए बिठाया जा सकता है। पर वैसी एक स्थिति बनी — क्लासरूम की नहीं तो ट्यूटोरियल जैसी तो जरूर। अज्ञेय जी ने बरगीनगर में लेखक शिविर का आयोजन किया था और मैं अपनी अप्रकाशित कहानी 'पगला बाबा' पढ़ रहा था.... घेरे में बैठे पन्द्रह-पच्चीस प्रबुद्ध जन जिसमें विष्णुकान्त शास्त्री भी थे। कहानी-पाठ के बाद एक अजीब तरह का सन्नाटा बिछ गया वहाँ, पता नहीं कितना कहानी की वजह से, कितना उसके विषय के कारण.... जो मृत्यु और कर्म के इर्दगिर्द था। अज्ञेय जी हर रचना पाठ के बाद बहस चाहा करते थे, इसलिए वे इधर उधर लोगों को बोलने के लिए उकसा रहे थे.... लेकिन कोई आगे न आ रहा था, स्वयं अज्ञेय जी भी बहस की शुरुआत न कर सके। आखिर डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा.... 'इस मौन को कहानी का अभिनन्दन मान लिया जाय।'

दूसरे कार्यक्रम पर जाने के पहले विष्णुकान्त जी ने मुझसे कहा—काशी और शिव जी का संदर्भ है तो एक स्थान पर जहाँ 'स्वर्ग' आया है, वहाँ 'मुक्ति' कर लें। आलोचना के पीछे कैसा सद्भाव, रचना के लिए प्रीतिभाव। विष्णुकान्त जी की आलोचना— मौखिक या लिखित—या उनके संस्मरणों में उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष बराबर देखने को मिलता है।

नर्मदा पास में ही थी। बांदा में बचपन के दिनों हर सुबह केन नदी नहाने जाया करता था तो यों ही विष्णु जी के सामने प्रस्ताव कर बैठा कि कल सवेरे नदी स्नान को चलें। औरों ने भी सुना लेकिन सवेरे सिर्फ विष्णुकान्त जी और मैं नर्मदा की तरफ जा रहे थे, बरगी बाँध के बाद छूटती धारा की तरफ का रास्ता पकड़े हुए, पैदल। इधर-उधर की बातचीत। मैंने गौर किया कि जब कभी मैं परनिंदा-रस में उतरता, विष्णु जी ऊपर-ऊपर से उड़ जाते, बात का कोई सकारात्मक पहलू उठा लेते या बात ही बदल देते।

क्योंकि वह बाँध की छूटी धारा थी इसलिए गहराई कम बहाव ज्यादा था। उगते सूरज की पीली-पीली

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

किरणों में नहाती लहरें.... कलकल मेरी तरफ आती हुई जहाँ पानी में मैं बैठा था। लहरों का एक पर एक मेरी तरफ को दौड़ना, पीछे किरणें .... एक पल को मुझे लगा जैसे नर्मदा जी ही सामने थीं, मेरी तरफ आशीष और करुणा की असंख्य धाराएँ छोड़ती हुई। मैं बाहर-भीतर सिहर उठा, मन भीग आया.... पर वह अहसास मेरी चेतना में बहुत देर ठहरा नहीं, जितना जल्दी आया था उतनी ही जल्दी चला गया। मैं फिर कभी उस तरह उसे अपने भीतर अपने रोयों में महसूस नहीं कर सका.... हाँ उसकी याद आज तक है।

किनारे से थोड़ा इधर पानी में ही बैठे हुए, पूर्वाभिमुख, विष्णु जी आँखें बन्द किये पूजा कर रहे थे..... संभवतः नर्मदा जी की पूजा, होठ मन्त्रोच्चार से ऊपर नीचे होते हुए। कुछ समय पहले पूजा के लिए वे मुझसे अलग हो गये थे, अपने लिए एकान्त बना लिया था। अजीब बात कि पूजा उन्होंने की थी और नर्मदा के दर्शन मुझे हुए। नदियों में नहाना कितनी बार हुआ, अकेले और कितने-कितने लोगों के साथ लेकिन वह अनुभूति न पहले कभी हुई थी, न बाद में। श्रेय विष्णु जी के साथ को ही जाता है, क्या पता उन क्षणों में उन्होंने मेरे लिए प्रार्थना की हो।

उस अनुभूति को फिर पाने में असफल मैंने विष्णु जी की तरफ़ देखा। शरीर का अधोभाग जल में निमग्न, ऊपर जनेऊ, चुटिया.... आँखें बन्द.... सूर्य की किरणों से दीप्त मुख, श्वाँस एक नाक से भीतर, दूसरी से बाहर करते हुए.... उस प्राकृतिक परिदृश्य का अविभाज्य अंग। जैसे हमारे देश में यह दृश्य सतत है..... ऋषि अनिवार्यतः वहाँ है जैसे पर्वत, नदी, वृक्ष.... प्रकृति की शक्तियों की पूजा करता हुआ।

विष्णुकान्त जी से तब मुझे ईर्ष्या हुई थी। जिस विलक्षण अनुभूति को मैं एक क्षण को पाकर खो बैठा.... वह, वैसी कितनी अनुभूतियाँ इनके भीतर बैठी रहती होंगी। बाद के दिनों में मैंने जितना उन्हें जाना-समझा तो यह धारणा ही पुष्ट हुई कि वे जीवन से कितना एकरस हैं, 'ईशावास्यमिदम् सर्वम्' में उन्होंने अपने स्थान को भी पहचान लिया है और वे वहाँ हैं..... जैसे काव्य प्रवाह में बहते हुए भी अपने को किस स्वाभाविक ढंग से डालते चलते हैं। निश्चित ही यह सब भारतीय संस्कृति को आत्मसात् करके ही हो सका, लेकिन बहुत लोग भारतीय संस्कृति को विष्णुकान्त शास्त्री से भी अधिक समझते होंगे.... पर उसे अपने जीवन-यापन में, अपनी दिनचर्या में यों उतार लेना.... कि अगर आप किसी से कह बैठें कि मैं आपका परिचय कराता हूँ भारतीय संस्कृति से ..... तो मिलवा दीजिये उसे विष्णुकान्त जी से। वह चलती-फिरती भारतीय संस्कृति देख लेगा।

उन्हें दिल्ली के राजेन्द्र प्रसाद मार्ग स्थित भा. ज. पा. के कार्यालय में ठहरे देखो— कई लोगों द्वारा इस्तेमाल किये जा रहे स्नानगृह से निकलते एक साधारण तौलिया से बाल मुँह पोंछते हुए, मैले से कपड़ों में; या लखनऊ के राजनिवास में — कलफदार उज्ज्वल कपड़ों में लिफ्ट के पास खड़े, फूलों का गुलदस्ता देकर आपका स्वागत करते हुए.... दोनों ही स्थितियों में मुखमुद्रा एक। राज्यपाल होने के पहले, होने पर, न रहने के बाद सभी में एक से। जैसे मुझ जैसों की तरह वे सिर्फ पढ़ते नहीं, जीते हैं गीता को—

"यो न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।" —गीता-१२/१७

पत्नी के विछोह का विषाद तक उनके मुख पर कभी नहीं देखा। लखनऊ में उन्होंने गिरिराज किशोर और मुझे दोपहर में भोजन पर राजभवन को बुलाया। भोजन के पहले, उस दौरान और बाद में भी हम उनकी पार्टी की

सौजन्य : National Printing Works, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-700 001

आलोचना करते रहे, वे खुले दिमाग से सुनते रहे। खाने के बाद जब हम बाहर आये तो मैंने गिरिराज से कहा+ 'यार हम साहित्यकारों की बिरादरी अजीब है, जो हमें खाने पर बुलाता है, उसका खाना खाते हैं और उसी को उसी वक्त गरिया भी आते हैं....' गिरिराज ने कहा— 'राजनेताओं को भी हम जैसे लोगों से मिलने की प्यास रहती होगी, उन्हें तो चापलूस ही घेरे रहते हैं.....'।

पर हम दोनों ही जानते और मानते थे कि विष्णुजी उस मायने में राजनेता नहीं हैं। कर्मयोगी की तरह उन्होंने राजनीति ओढ़ ली.... पर उसे, अपने व्यक्तित्व, अपने जीवन की राह को कभी नहीं रंगने दिया।

सवाल उठ सकता है कि कोई व्यक्ति अपने निजी जीवन में भले ही बहुत शुद्ध या पवित्र रहा हो, उसकी अपनी आध्यात्मिक, आत्मिक ऊँचाइयाँ भी हों.... समाज को उससे क्या मिला, विशेषकर तब जब वह राजनीति में भी था, उसे समाज को कुछ देने का अवसर था। इत्तफाक से इस बात का उत्तर भी लखनऊ में उसी दिन मिला जब हमने विष्णुकान्त जी के साथ खाना खाया था।

शाम को साहित्यकार श्री वल्लभ सिद्धार्थ का सम्मान विष्णुकान्त शास्त्री जी को करना था, समारोह की अध्यक्षता मुझे करनी थी। वल्लभ सिद्धार्थ अपने अटपटे व्यक्तित्व के लिए विख्यात हैं, कम साहित्यकार होंगे जिनसे वे लड़ न चुके हों। समारोह के दौरान मैंने उन्हें विष्णुकान्त शास्त्री के पैर छूते देखा। मुझे इसी लखनऊ में अपने लेखकीय जीवन के शुरू के दिनों की एक घटना याद आ गई। नब्बे वर्षीय स्व. श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के कई पुरस्कार देने थे, उनकी जिद कि वे हर साहित्यकार के पास जाकर उनका बाकायदे टीका कर अक्षत, रोली, लगा, शाल को ठीक से उढ़ाकर सम्मानित करेंगे। इसमें वे थक-थक जाते थे, सुस्ताते फिर चल पड़ते। हम नौजवान लोगों ने आग्रह किया कि हम आपके पास आकर पुरस्कार ले लेंगे। वे नहीं माने.... थकते-सुस्ताते उन्होंने कार्यक्रम पूरा किया। थोड़ी देर में आलम यह हो गया था कि जिनका वे सम्मान कर रहे थे, वे लोग उनके पैर छूते थे। निर्मल वर्मा भी..... जिन्हें पैर छूना नहीं आता था। मैं बुंदेलखंड का था, पैर छूना हमें बचपन में ही सिखा दिया गया था, मैंने उनके पैर तीन बार छुए, धूल माथे पर लगायी। क्या था यह श्रीनारायण जी का व्यक्तित्व ? वह तो पूरा देखने का अवसर ही नहीं मिला था। एक छोटी सी चीज़ ही भारतीय संस्कृति की —विनम्रता, साहित्यकार जो निस्वार्थी हैं उनका सम्मान, अपना अहं ताख में रखकर। जब भी भारतीय संस्कृति का ऐसी कोई मूल तत्त्व साकार रूप में हमारे सामने से गुज़रता है, हमारे भीतर का भी श्रेष्ठ उभरता है..... यह किस समाज-सेवा से कम है।

विष्णुकान्त शास्त्री के सान्निध्य में होना भारतीय संस्कृति के सान्निध्य में होना है। ●

+सौजन्य : Rang Rez, 45/1, Rafi Ahmed Kidwai Road, (2nd Fl.) Kolkata-700 016

डॉ० वसुमति डागा

सत्य-साधना के मूर्त रूप : आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

ध्येयनिष्ठ हो अगर समर्पण, विनयपूर्ण हो प्रतिपद,
सहज साधनामय जीवन हो, राम कृपा हो सम्पद।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा रचित ये पंक्तियाँ उनके समग्र व्यक्तित्व पर पूरी तरह खरी उतरती हैं। विनम्रता उनकी पूँजी है और ओजस्विता उनकी जीवन-शैली में प्रकट होती है। उनका कर्ममय जीवन हमेशा लक्ष्य के लिए ही समर्पित रहा है तथा सम और विषम दोनों परिस्थितियों को वे राम-कृपा के रूप में स्वीकार करते हैं। ये दिव्य गुण अंतश्चेतन के गहन मंथन से ही प्राप्त होते हैं। सत्यान्वेषी साधक ही इसे अर्जित करता है। आचार्य शास्त्री का समग्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व इस सत्य-साधना का ही मूर्त रूप है। आचार्य शास्त्री मेरे श्रद्धेय गुरु एवं प्रेरक व्यक्तित्व हैं। उनके निकट बैठने का, बात करने का जब-जब सौभाग्य मिला, लगा कि तेज-पुंज के कण विच्छुरित होकर मुझे प्रभावित कर रहे हैं। कहते हैं 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' और दृष्टि व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा, मूल्यबोध, पारिवारिक वातायरण एवं संस्कार से निर्मित होती है। जिनकी दृष्टि जितनी स्वच्छ होती है, चित्त जितना परिमार्जित एवं सुसंस्कृत होता है, उनका हृदय सत्य को धारण करने में उतना ही समर्थ होता है। इस तथ्य के आलोक में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की सृजनशीलता आर्ष परम्परा के संवाहक के रूप में उभरती है। उनकी दृष्टि मानवीय चेतना के उदात्त पक्षों को आत्मसात करती हुई लेखनी के माध्यम से प्रस्फुटित होती है। वे कहते हैं — "जीवन जैसा चलता आया है, वैसा नहीं चलना चाहिए। उसमें धर्म, भक्ति और ज्ञान का संयोजन कर उसे आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करना चाहिए।"[1] उनका समग्र रचना-संसार उनकी इसी आध्यात्मिक चेतना को प्रतिबिम्बित करता है। आलोचनापरक निबंध हों या संस्मरण, यात्रावृत्त हों या रिपोर्ताज, कविताएँ हों या अनुवाद—सर्वत्र उनकी चेतना सत्य का संधान करती ही दिखाई देती है। आचार्य शास्त्री हिन्दी भक्ति-साहित्य के अधिकारी विद्वानों में शीर्षस्थ हैं। तुलसी-भक्त के रूप में समादृत हैं। उनकी आध्यात्मिक चेतना का प्रत्यक्ष साक्ष्य प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ हैं— 'तुलसी के हिय हेरि', 'भक्ति और शरणागति', ज्ञान और कर्म'। परन्तु मैंने उनके रचना-सागर से संस्मरणों, यात्रावृत्त और कविताओं की चंद बूँदें लेकर यह आलेख लिखने का लघु प्रयास किया है। अनुभूति जब स्वानुभूति बनती है तभी संस्मरण विधा जीवंतता को प्राप्त होती है। इस विधा में शास्त्री जी सिद्धहस्त हैं। शास्त्री जी कहते हैं —'मरण को चुनौती देता है स्मरण' ..... यह स्मरण ही है जो दूर गए को पास ला देता है।"[2] उनके संस्मरणों में यह प्राणवत्ता है जो पाठक को अभिभूत तो करती ही है साथ ही उसे संस्मरणीय-व्यक्तित्व से जोड़ भी देती है। शास्त्री जी की संवेदनशीलता संपूर्ण भावराशि को स्वयं तक सीमित न रखते हुए उसे लोक में पहुँचाकर लोकचित्त को समृद्ध करना चाहती है। उनका मानना है कि लोक दृष्टि से अगोचर साहित्यकारों के जीवन के ऐसे संवेदनशील प्रसंग, जिनमें उनका व्यक्तित्व अपनी पूरी प्राणवत्ता के साथ उजागर हुआ है, उन व्यक्तियों के साथ विस्मृति के गर्भ

सौजन्य : Harikishan Raghunath Dass Somani Trust, P-16, New C. I. T. Road, Kolkata-700 073

में चले जाएँगे जो उनके साक्षी रहे हैं। अतः संस्मरण लेखक का दायित्व है कि वे उसे पूरी प्रामाणिकता के साथ लिपिबद्ध करें ताकि भावी पीढ़ियाँ साहित्यस्रष्टा की अंतःप्रवाहित भावसलिला में अवगाहन कर सकें।

शास्त्री जी मूलतः भक्त हैं और उनकी भक्ति-भावना में ओजस्विता का संपुट है। सरलता के स्थान पर कायरता, अनासक्ति के स्थान पर अकर्मण्यता और भक्ति के स्थान पर दयनीयता का भ्रम आध्यात्मिक चेतना से संपन्न व्यक्ति में नहीं होता। यही कारण है कि निराला में विजेता योद्धा की भक्ति के दर्शन होते हैं। ..... 'जीवन-भर जो व्यक्ति योद्धा रहा है, उनकी भक्ति भी योद्धा की ही हो सकती है। मुझे बिलकुल लगा कि निराला 'दगादार अपार पातक' के साथ गंगा मैया की शक्ति से शक्तिमान होकर भिड़ गए हैं और वे उसे उसी तरह पछाड़ देंगे जिस तरह अखाड़े में उन्होंने अनगिनत मल्लों को और साहित्य के क्षेत्र में असंख्य अहम्मन्य आलोचकों को पछाड़ दिया है।"[3]

गीता में कृष्ण कहते हैं— मैं विवादों में निर्णायक वाद हूँ — 'अध्यात्मविद्या विद्यानां वादःप्रवदतामहम्' (गीता १०/३२) इस विवेक दृष्टि के अनुसार आचार्य शास्त्री की दृष्टि तत्वग्राही है। वे परस्पर विरोधी मतों में अविरोधी सत्य का अनुसंधान करने में सक्षम हैं। इसीलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी में उन्हें अविरोध की साधना दिखाई दे जाती है। ..... 'परस्पर विरोधी पंथों, विचारों और व्यक्तियों में जहाँ सत्यांश है,तप और निर्माण के संकेत हैं, वहाँ द्विवेदीजी श्रद्धानत हैं, चाहे वह नाथपंथ हो या वैष्णव धर्म, गाँधीवाद हो या समाजवाद, स्टालिन हो या गुरुजी गोलवलकर। उनका धर्म निषेध का कम, स्वीकार का अधिक है। कुछ लोगों ने इसे अपने यौवन सुलभ आवेश में 'धुरीहीनता' कहा है, कुछ ने अपनी स्वार्थी प्रकृति के अनुसार सबको प्रसन्न करने की व्यावहारिकता। किन्तु वास्तव में यह अपने में एक महान गुण है और है हानिलाभनिरपेक्ष आदर्शवादिता।"[4]

शास्त्री जी की सत्यान्वेषी दृष्टि विषय की विलक्षणता को खोज निकालने में सक्षम है। जैसे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का विशेष मर्म उन्हें 'धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी' के रूप में दिखाई देता है। उनकी विषय मर्मज्ञता, विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् ज्ञान कराने की क्षमता, छात्र-वत्सलता, छात्र के भविष्य के प्रति जागरूकता आदि गुण शास्त्री जी को सहज ही अनुभूत हो जाते हैं। मिश्र जी के जीवन और लेखन के बारे में विवेचन करते हुए वे कहते हैं — "अनुभव और तर्क के ही आधार पर हमारे पूर्वजों ने ऊर्ध्वगामी दृष्टि की प्रतिष्ठा की थी, इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा की ओर जा कर ज्योति प्राप्त की थी उस परम्परा का निर्वाह करने की साधना जब-जब अवरुद्ध हुई है तब-तब हमारी दुर्गति हुई है। उस परम्परा को अखण्डित रखने की प्रेरणा देता रहा है मिश्र जी का जीवन, उनका लेखन।"[5]

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती आचार्य शास्त्री के दीक्षा गुरु थे, जिनके सान्निध्य में उन्हें आध्यात्मिकता की प्रगाढ़ अनुभूति का सौभाग्य मिला। परिवार और संस्कार से प्राप्त आध्यात्मिक चेतना स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती के संपर्क से और उदात्तता की ओर गतिशील हुई। स्वयं शास्त्री जी कहते हैं — "जब-जब भवभुजंग के दंशनों से मैं छटपटा उठता था, तब-तब उनके प्रशान्त, प्रफुल्ल मुख का ध्यान, उनके ग्रन्थों का अनुशीलन या उपदेशों का मनन करता था और मुझे शान्ति मिलती थी। मैं अपने जीवन के उन दिनों को धन्य मानता हूँ जो उनकी सन्निधि में बीते।"[6] स्वामी अखण्डानन्द जी की कृपा से शास्त्री जी की प्रज्ञा उस परम सत्य को किस प्रकार हृदयंगम कर पायी इसको स्पष्ट करती हैं ये पंक्तियाँ 'मृत्यु का आघात किसी की भी पंचभौतिक सत्ता को खण्ड-खण्ड कर दे सकता है किन्तु क्या वह चिन्मयी सत्ता को स्पर्श भी कर सकता है? जिसने यह उपलब्ध कर लिया हो, 'न मैं नाम-रूप हूँ, न ये नाम-रूप मेरे हैं, मैं अखण्ड, अद्वैत, सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ', मौत उसका क्या बिगाड़ सकती है ?

सौजन्य : आलोक्य पाण्डेय, १३५जी, एस. पी. मुखर्जी रोड, कोलकाता-७०० ०२६

वह फिर भी ज्यों-का-त्यों, अखण्ड का अखण्ड रह जाता है। घड़े के फूटने से आकाश नहीं फूट जाता। वह न तो घड़े का बन्दी था, न उसका मुखापेक्षी। नाम और रूप की मिथ्या ग्रन्थियों से छूट कर वह अपने अखण्डानन्द-स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही उस ब्रह्मविद्वरिष्ठ के लिए भी सत्य है जिसे जगत अनन्तश्री अखण्डानन्द सरस्वती के नाम से जानता था।"[3]

एक ही शब्द में पूर्ण तत्त्व को उजागर करता यह शीर्षक — 'आलोक छुआ अपनापन : अज्ञेय' शास्त्री जी की व्यासशैली के कौशल को रेखांकित करता है। वे लिखते हैं 'अज्ञेय को जानना अरण्य को जानने के समान ही सहज भी था और दुष्कर भी।' अज्ञेय से पहली मुलाकात की अनुभूति के बारे में शास्त्री जी कहते हैं — 'उनके संक्षिप्त उत्तर और दीर्घ मौन ही हम लोगों के उस दिन के वार्तालाप के प्रमुख अंश थे। उठते समय मैंने उनसे कहा, 'महादेवी जी की हँसी और आपका मौन क्रिया में विपरीत होते हुए भी फल में एक जैसे हैं — औरों से अलग रहने के वर्म जैसे।' उत्तर में मिली एक मधुमिश्रित मुस्कान।'[4]

मायिक सत्य और पारमार्थिक सत्य में से जब किसी एक को ग्रहण करना हो तो विवेकशील व्यक्ति पारमार्थिक सत्य की पूर्ति के लिए मायिक सत्य के अपूर्तिजन्य कष्ट को सहन करता है। १९६२ में एन. सी. सी. शिविर से लिखे गए पत्नी के नाम पत्र की ये पंक्तियाँ शास्त्री जी के मानस की आध्यात्मिक प्रौढ़ानुभूति एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा को दर्शाती हैं। ..... 'परन्तु तुम्हारे आँसुओं से भी अधिक मर्मवेधी कोई और पीड़ा है जो मुझे चैन नहीं लेने देती, व्यक्तिगत सुख-सुविधा को ही स्पृहणीय नहीं समझने देती। वही पीड़ा मुझे यहाँ खींच लाई है, तुमसे दूर ..... इतनी दूर! किन्तु वह पीड़ा केवल मेरी ही नहीं, तुम्हारी भी है..... होनी चाहिए..... और फिर क्यों न हम दोनों मिलकर उसे झेलें। मैं यहाँ और तुम वहाँ..... या जहाँ भी हम लोगों की जरूरत हो, वहीं क्यों न हम दोनों तपस्या करें।"[5]

शास्त्रोक्ति है— 'ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या।' ब्रह्म से जगत है, जगत से ब्रह्म नहीं। ब्रह्म से शरीर है, शरीर से ब्रह्म नहीं। यदि ब्रह्म सिद्ध कर लिया जाए तो शरीर स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। सत्य की आनन्द धारा में अवगाहन करने वाला शास्त्री जी का हृदय एन. सी. सी. शिविर के शरीर केन्द्रित वातावरण को स्वीकार नहीं कर पाता। एन. सी. सी. शिविर से अपनी भाभी को लिखे गए पत्र में उनकी मनोव्यथा उजागर होती है— 'सच, यहाँ आकर जो बात सबसे ज्यादा अखरी है, वह शरीर की प्रधानता है। सुबह से रात तक शरीर के स्तर पर ही जीना पड़ता है। तरह-तरह की कवायद के द्वारा शरीर को साधो, रंग-बिरंगी पोशाकों से शरीर को सजाओ, शरीर को आराम दो, अपने शरीर को बचाने और दुश्मनों का शरीरान्त कर सकने के कौशल सीखो। मस्तिष्क या हृदय की इतनी उपेक्षा इसके पहले कभी नहीं की थी।"[6]

उदात्त चेतना संपन्न व्यक्ति की मानसिकता पल भर के लिए भी उदात्त जीवन मूल्यों से च्युत नहीं होती। उसका आचार-विचार इसी चेतना से प्रभावित रहता है। शास्त्री जी को अपने आस-पास जब मूल्यों का स्खलन दिखाई देता है तो वे मर्माहत हो उठते हैं। प्रोफेसर के शिविर में वैचारिक सस्तापन देखकर वे आहत मन से इसी पत्र में लिखते हैं, "बौद्धिक और भावनात्मक पक्ष की उपेक्षा का परिणाम यह है कि सस्ते मनोरंजन की ओर लोग झुक रहे हैं, बातचीत अत्यन्त निम्न स्तर की होती है, साहित्य, संगीत, दर्शन, वैज्ञानिक प्रगति आदि सुरुचिपूर्ण विषय बिलकुल तिरस्कृत ही हैं। प्रोफेसरों के शिविर की यह स्थिति दुखदायी है।"[7]

आध्यात्मिक चेतना संपन्न व्यक्ति कभी शुष्क नहीं हो सकता। प्रेम की अन्तःसलिला वहाँ निरन्तर प्रवाहित

सौजन्य : राजकुमार बरेडिया, बाबू बैग मेन्युफैक्चरिंग कम्पनी, जी, बलाइव रो, कोलकाता-१

रहती है। प्रेम की यह पयस्विनी शास्त्री जी के अन्तस को तरल बनाए रखती है। उनके यात्रा वृत्तान्त इस तरलता का परिचय देते हैं। वे कहते हैं "साथी भेद से तो 'सारा स्वाद बदल जाता है दुनिया में जीने का।' मैं पत्नी और बच्चों के साथ भी माता के दरबार में गया हूँ, भाभियों और सालियों के साथ भी एवं छड़े छाँट नौजवान दोस्त के साथ भी। सबका रस अलग-अलग है, सबका सम्यक् वर्णन एक ही साथ कैसे हो सकता है। हाँ, सबका कुछ न कुछ मिश्रण इसमें अवश्य मिलेगा। किन्तु इन भेदों में अभेद की स्थापना करनेवाला माता का दरबार अपनी अलौकिक गरिमा और अखण्ड महिमा में सदा वही रहा है। कागभुशुंडिजी का अनुभव याद हो आया—

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेऊँ प्रभु, राम न देखेउँ आन।"[२]

राष्ट्रीय स्तर पर व्यस्त होते हुए भी शास्त्री जी अत्यंत पारिवारिक भी हैं। वे स्वयं कहते हैं, "मैं पारिवारिक व्यक्ति हूँ, महिलाओं और बच्चों के साथ चलने में मुझे खीझ नहीं होती, अच्छा लगता है। पहली चढ़ाई अभ्यास के कारण बहुत जल्दी थका देती है, महिलाएँ और बच्चे तो बहुत जल्दी कातर हो जाते हैं। उस समय उन्हें ढाँढस बंधाना, लतीफे सुनाना और सबसे बढ़कर 'जय माता दी' का जयकारा बुलवाना मेरी ही जिम्मेदारी रहती है।"[३]

रस का यह सोता शास्त्री जी के संपूर्ण व्यक्तित्व का आधार है, उनके ठहाकों और ज़िन्दादिली का राज़ है, उनकी ताज़गी का प्रमाण है। दार्जिलिंग से अपनी पत्नी को लिखे पत्र की ये पंक्तियाँ प्रेम की धारा में पाठकों को भी बहा ले जाती हैं। "इस समय प्राकृतिक वातावरण इतना मोहक और सुन्दर है कि बरबस तुम्हारी याद आ गई और याद आ गई मानस की चौपाई, 'घन घमंड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा।' तीन तरफ ऊँचे-ऊँचे हरे-भरे पहाड़, सामने दूर तक फैला हुआ जंगल (जिसके बीच से मैदानी इलाकों की झलक भी मिल जाती है) बादलों से छाया हुआ आकाश, रिमझिम का मधुर संगीत, जिसमें तबले की थाप के समान मेघगर्जन, ठंडी-ठंडी गुदगुदाने वाली हवा और पूरे बंगले में अकेला मैं। किताबें (जिन्हें तुम अपनी सौत समझती हो) जरूर साथ हैं, किन्तु ऐसे में भला वे कितना सहारा दे सकती हैं .....।"[४]

कांचनजंघा के सौन्दर्य को निहारने वाली शास्त्री जी की आँखें प्रकृति के सात्विक, पावन, निष्कलुष, विराट ऐश्वर्य की शुभ्रता और उच्चता को स्तब्ध भाव से देखती हैं। वे कहते हैं— "बादलों का रंग-बिरंगा अवरोध उसकी झलक तक देखने को तरसा देता था। ईशावास्योपनिषद् के ऋषि की वह कातर प्रार्थना याद हो आती थी 'हे पूषन्, सत्य के मुख को ढाँकने वाले हिरण्मय पात्र को तुम हटा दो, ताकि मैं सत्य के दर्शन कर सकूँ।' शायद इसी पुण्य स्मरण के प्रताप से अपने सात दिनों के निवास काल में दो बार मैं कांचनजंघा के दर्शन कर सका था।"[५]

संस्मरण, यात्रावृत्त की तरह ही कविताओं में भी उनकी चेतना का प्रखर रूप प्रकट हुआ है। कविता शास्त्री जी के लिए जीवन ऊर्जा है। वे कहते हैं, "..... कविता के साथ मेरा ऐसा ही संबंध है। वह मुझे विश्व-ब्रह्माण्ड और समाज से ही नहीं अपने आप से भी जोड़ती है।"[६] सत्य साधना से ऊर्जस्वित शास्त्री जी के व्यक्तित्व में दृढ़ता, विश्वास और आस्था का प्रबल प्रवाह है। भक्ति रूपी शक्ति से समन्वित उनका चित सुनिश्चित विजय के प्रति असंदिग्ध है। उनका भक्त प्रवर दृढ़ हृदय निर्भय घोषणा करता है—

छोड़ देंगी मार्ग तेरा विघ्न बाधाएँ सहम कर
काल अभिनंदन करेगा आज तेरा समय सादर।
विजय है तेरी सुनिश्चित।[७]

सौजन्य : श्यामसुन्दर कमल कुमार मालू, १८, आशुतोष मुखर्जी स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००१

स्वरूप के प्रति सजगता शास्त्री जी को जीवन की उठा-पटक से विचलित नहीं कर पाती। जब चेतन्य विराट से निरन्तर संवाद करता है एवं यह प्रक्रिया तीव्र हो जाती है तब वह साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत् त्वमसि' के धरातल पर खड़ा कर देती है और ऐसे में ही ये शब्द निकलते हैं :

तू वही जिसने कि जग को, तीन पग में माप डाला,
पलक झपते ही न झपते, जलधि तक को लांघ डाला.....
तू वही होगा वही फिर सत्य यह विश्वास भी है।
.....लक्ष्य तेरा पास ही है।[८]

उदात्त चेतना का लक्षण परमार्थ से ही प्रकट होता है। वह दूसरों को समृद्ध करके हर्ष का अनुभव करती है। तुलसीदास जी ने इसीलिए सागर की बड़ाई की है, क्योंकि वह चंद्रमा को बढ़ता देखकर हर्षित होता है—

जग बहु नर सर सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई।।
सज्जन सुकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई।।[९]

शास्त्री जी का मन भी कुछ ऐसा ही असाधारण है। तभी तो वे कहते हैं :

हम बड़े बन जाँय इसकी है नहीं इच्छा जरा भी,
किन्तु यह तो है कि तुमको हम बड़ा कर जायेंगे।[१०]

महत् के प्रति समर्पित चित्त बुद्धि विलास में नहीं रमता। उसकी चेतना विचार को आधार बनाने के लिए प्रतिबद्ध होती है। महापुरुषों का जीवन इस तथ्य का दृष्टान्त है। पुस्तकीय ज्ञान की चादर ओढ़ा हुआ व्यक्ति क्षणिक प्रतिष्ठा तो पा सकता है, किन्तु मौलिक एवं स्थायी प्रतिष्ठा तो अनुभव की पुस्तक से ही मिलती है। शास्त्री जी कहते हैं—

'न हल होंगे किताबों से प्रश्न जीवन के
इन्हें तूफान में पलनेवालों से पूछो।।'[११]

शास्त्रीजी निरंकुश, स्वच्छन्द, येन-केन प्रकारेण तथाकथित बुद्धिजीवी की तरह जीवन जीने में विश्वास नहीं रखते इसीलिए वे अपनी आत्मा के प्रहरी अर्थात् ईश्वर से प्रार्थना करते हैं अटूट आस्था, विश्वास और दृढ़ता की। वैसे भी सत्याग्रही चित्त लोकोपवाद की परवाह नहीं करता। उसकी दृष्टि लक्ष्य पर ही केन्द्रित होती है। शास्त्री जी कहते हैं—

ओ मेरी आत्मा के प्रहरी, मुझको आस्था दो तुम गहरी
करूँ वही जो करना चाहूँ, अपने ही उत्साह पर
पीड़ा पीकर भी मुस्काऊँ, जग से मिलते दाह पर।[१२]

शास्त्री जी की कविता में श्रीराम के प्रति अनन्य भक्ति प्रकट हुई है। सत्यान्वेषी साधक ही परम भक्त होता है। गीता में कृष्ण कहते हैं— '....चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः .....उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' तुलसीदास कहते हैं— '....राम भगत जग चारि प्रकारा....ज्ञानिहि प्रभुहि विशेष पियारा। ..... सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।' कुछ ऐसे ही आत्मोद्गार आचार्य शास्त्री जी के भी हैं—

औरों के हैं जगत् में स्वजनबन्धु धन धाम
मेरे तो बस एक हैं सीतापति श्रीराम।[१३]

सौजन्य : सोमानी इन्जिनियरिंग इन्टरप्राइज, ई-सी, लाला लाजपत राय सरणी, कोलकाता-२०

शास्त्री जी का संपूर्ण लेखन पाठक को भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्वों से परिपूरित करता है। उससे पाठक समृद्ध होता है, संस्कारित होता है तथा ऊर्जा के प्रस्फुटन का अनुभव करता है। शास्त्री जी जो भी लिखते हैं वह उनके अन्तर से मथकर बाहर निकलता है इसीलिए पाठक के भीतर वह सीधे-सीधे प्रवेश करता है। सृजन की दाहकता से तपकर निकले शब्द आस्था के प्रतीक बनकर पाठक के हृदय में गहरी निष्ठा पैदा करते हैं और विश्वास का स्रोत खोल देते हैं। ●

संदर्भ संकेत :

१. सुधियों उस चन्दन के वन की – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ २०।
२. सुधियों उस चन्दन के वन की – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ १८।
३. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ ३-४।
४. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ १७।
५. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ ३३।
६. सुधियों उस चन्दन के वन की – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ १८।
७. सुधियों उस चन्दन के वन की – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ १८।
८. सुधियों उस चन्दन के वन की – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ ४१।
९. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ २४६।
१०. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ २४८।
११. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ २४८।
१२. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ १५९।
१३. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ १६०।
१४. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ २००।
१५. स्मरण को पाथेय बनने दो – आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ २०३।
१६. जीवन-पथ पर चलते चलते – संपादक, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ ३
१७. जीवन-पथ पर चलते चलते – संपादक, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ १९
१८. जीवन-पथ पर चलते चलते – संपादक, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ २०
१९. रामचरितमानस – बालकाण्ड दोहा-७/१३ – गोस्वामी तुलसीदासजी
२०. जीवन-पथ पर चलते चलते – संपादक, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ २२
२१. जीवन-पथ पर चलते चलते – संपादक, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ ३१
२२. जीवन-पथ पर चलते चलते – संपादक, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ ३९
२३. जीवन-पथ पर चलते चलते – संपादक, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, पृष्ठ ६६

सौजन्य : इलेहलना बैद, श्रेयांस क्रियेशन, लोकनाथ आवासन, ८ए, कालुपुकुर रोड, कोलकाता-९२

प्रो० कृष्ण बिहारी पाण्डेय

आचार्य श्री : जिनकी वाणी में सम्मोहन है

प्रवचन आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की मनपसन्द सम्प्रेषण-विधा है। अच्छे प्रवचन-कर्त्ता का गुण उन्हें अपने पिताश्री से विरासत में मिला है। अपने लेख "मेरी रचना-प्रक्रिया" में वे स्वयं लिखते हैं— 'मेरे पिता पण्डित गांगेय नरोत्तम शास्त्री संस्कृत और हिन्दी के बड़े विद्वान थे। अच्छे कवि थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक थे। अपनी किशोरावस्था में ही मैंने यह अनुभव किया कि पिता जी को जो सम्मान प्राप्त होता है, वह उनकी विद्वत्ता के कारण होता है, उनके पाण्डित्यपूर्ण वक्तव्य के कारण होता है। उनकी रचनाओं से तो मैं बाद में परिचित हुआ लेकिन जब मैं उनके साथ सभाओं में जाता था और उनको बोलते हुए सुनता था तो लगता था कि यह बड़ी बात है। बाबूजी जब खड़े होकर बोलना शुरू करते हैं तो सबकी दृष्टि आकृष्ट कर लेते हैं— यह प्रभाव किशोर जीवन में ही मुझ पर पड़ा था।" निश्चय ही किशोर विष्णुकान्त ने प्रारम्भ में प्रवचन-कर्त्ता के रूप में अपने पिता श्री को ही अपना आदर्श बनाया। कालान्तर में देश-विदेश, संसद-विधानसभा, युद्ध-क्षेत्र, मठ-मंदिर, साधु-संत, छात्र-अध्यापक, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय से उन्हें जो व्यापक अनुभव मिला उसने उनके प्रवचन को उच्च कोटि का निखार दिया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक के रूप में उनका लम्बा कार्यकाल उनके प्रवचनों में अवश्य झलकता है किन्तु यह कहना कठिन है कि वे कक्षा में पढ़ाते समय प्रवचनकर्त्ता जैसे लगते थे या प्रवचन करते समय अध्यापक जैसे लगते हैं। मेरा तो मानना है कि उनके अन्दर का अध्यापक और प्रवचनकर्त्ता एकाकार हो गये हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि न तो उन्हें प्रवचन के लिए मंच या श्रोता भरा पण्डाल जरूरी लगता है और न पढ़ाने के लिए क्लास-रूम। उनसे सहज मुलाकात में भी मुलाकाती प्रवचन का लाभ पा जाता है। और यदि मुलाकाती विद्यार्थी है तो हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों के बाबत उसका ज्ञानवर्द्धन होना ही है। कुछ नहीं तो आज के सामाजिक और राजनैतिक विकारों के शमन हेतु मानस की प्रासंगिकता पर तो चर्चा हो ही जाएगी।

आचार्यश्री के अनेक व्याख्यान सुनने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है। किन्तु प्रवचन की कोटि का उनका जो व्याख्यान मैंने पहली बार सुना वह इलाहाबाद नगर निगम के परिसर में तुलसी जयन्ती के उपलक्ष्य में लोक जागरण मंच द्वारा आयोजित था। विषय था **राम कृपा**। प्रवचन सुनने के लिए जाते समय मेरे मन में बड़ा कौतूहल था। इतनी देर तक केवल राम कृपा पर क्या बोलेंगे आचार्य श्री ? किन्तु उनका प्रवचन घण्टे भर से अधिक चला और पूरे समय वे राम कृपा पर ही बोले। प्रवचन के लिए निर्मित पण्डाल पूरा भरा हुआ था। हजारों लोग पण्डाल के बाहर खड़े-खड़े उनका प्रवचन सुन रहे थे। हर श्रोता मन्त्रमुग्ध था। श्रोता को बाँध लेने की आचार्यश्री की अपनी शैली है। वे श्रोता की आँख में आँख डाल कर अपनी बात कहते हैं, और इस तरह कहते हैं कि थोड़ी ही देर में श्रोता स्वयं वक्ता बन जाता है। इस प्रवचन पण्डाल में श्रोता के रूप में बड़े-बड़े अधिकारी और राजनेता से लेकर नगर निगम के चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी और मेरे ख्याल से कुछ रिक्शा चालक तक उपस्थित थे। किन्तु हर किसी पर आचार्यश्री के प्रवचन का प्रभाव एक सा पड़ता दिख रहा था। मंच पर बैठे-बैठे मैं देख रहा था कि नगर निगम

सौजन्य : जयेन्द्र कुमार बाबुरवा, सुराणा निवेतन, १९६बी, विनयेन्द्रन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ००७

का एक चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी जो वेशभूषा से महापौर का अर्दली प्रतीत होता था आचार्यश्री को कही गई हर बात पर अभिभूत हो जाता था और अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे उचक पड़ता था। आचार्यश्री ने कहा कि राम की कृपा से जब हमें सुख मिलता है तभी उसे हम राम की कृपा मानते हैं और जब हमारे लिए दुख के अवसर उत्पन्न होते हैं तब अज्ञानवश हम उसे राम का कोप मान लेते हैं। यहीं हमसे भूल होती है। राम तो कृपा के ही मूर्तरूप हैं। वे कृपा के सिवा और कुछ करते ही नहीं। यदि हम अपने समक्ष उपस्थित दुख के अवसरों में भी राम की कृपा के दर्शन कर सकें तो उसकी अनुभूति अद्भुत होगी। सुनते ही हर श्रोता अपनी पिछली भूलों का एहसास करने लगता है और जीवन में अब तक के दुख के अवसरों में राम कृपा की तलाश करने लगता है। हममें से हर कोई आज जहाँ भी है वहाँ तक हमें लाने में हमारे जीवन में आये दुख के अवसरों का उतना ही योगदान है जितना सुख के अवसरों का। आचार्यश्री जिस समय यह प्रवचन दे रहे थे तब तक डॉ० ए. पी. जे. अब्दुल कलाम हमारे राष्ट्रपति नहीं बने थे, नहीं तो आचार्यश्री उनके जीवन के एक ऐसे प्रसंग का उदाहरण अवश्य देते। ए. पी. जे. अब्दुल कलाम एरोनॉटिक इन्जीनियरिंग की अपनी शिक्षा पूर्ण करके वायुसेना में नौकरी के लिए अभ्यर्थी बने। थोड़े अंकों से वे चयनित होने से वंचित रह गये। दुख और निराशा के इस अवसर में भी उनके लिए इस विशाल राष्ट्र के राष्ट्रपति होने का हेतु था, जो राम कृपा से ही संभव है।

• • •

४ फरवरी, सन् २००० । अवसर था छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर का सत्रहवाँ दीक्षान्त समारोह। उस समय मैं विश्वविद्यालय का कुलपति था तथा उत्तर प्रदेश के तत्कालीन महामहिम राज्यपाल श्रीमान सुरजभान जी कुलाधिपति के रूप में मंच पर विराजमान थे। आचार्य श्री उस समय हिमाचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल थे और दीक्षान्त समारोह के मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित थे। उनके दीक्षान्त भाषण का विषय था 'शिक्षा का भारतीय आदर्श'। दीक्षान्त भाषण की औपचारिकता पूरी करते-करते उनका उद्बोधन प्रवचन की शक्ल लेने लगा। छात्राणां अध्ययनं तपः से उन्होंने अपनी बात प्रारम्भ की और इसकी पुष्टि में उद्धृत किया :—

'स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः।
तद्धितपस् तद्धितपः तद्धितपस् तद्धितपः।।'

आज का विद्यार्थी (और शिक्षक भी) उपदेश अथवा प्रवचन सुनने के लिए कितना धैर्य रखता है यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए जैसे ही आचार्यश्री ने यह श्लोक उद्धृत किया और उसके विस्तार में जाने लगे मेरे मन में चिन्ता उठी ऐसा न हो छात्र और शिक्षक एक-एक कर पण्डाल छोड़कर जाने लगें। उपाधियाँ बँट चुकी थीं, पदकों का वितरण भी हो चुका था। वहाँ छात्रों की रुचि का कुछ शेष नहीं था। मैंने अनेक दीक्षान्त समारोहों में देखा है, दीक्षान्त-भाषण से भागते हुए छात्रों को रोकने के लिए निकास द्वार पर शिक्षकों की फौज खड़ी करनी पड़ती है। किन्तु यहाँ का दृश्य कुछ और था। जैसे-जैसे आचार्यश्री बोलते गये, पण्डाल के बाहर के लोग भी अन्दर आते गये। हर श्रोता मंत्र मुग्ध होकर उन्हें सुन रहा था और निहार रहा था पाण्डित्य से दमकते उनके मुख मण्डल को। कौन सा शिक्षक धुरिप्रतिष्ठा का अधिकारी है, इसके लिये आचार्य श्री ने कालिदास का यह श्लोक सुनाया :—

'श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां, धुरिप्रतिष्ठापयितव्य एव ।।'

सौजन्य : ज्ञानचन्द गुप्त, ९, बलराम दे स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००६

इसी के साथ उन्होंने 'शिलाधर्मी' और 'आकाशधर्मी' गुरुओं की व्याख्या भी की। फिर 'शिष्यवित्तापहारकाः' गुरुओं की निन्दा और 'शिष्यचित्तापहारकाः' गुरुओं की प्रशंसा करते-करते उन्होंने छात्रों को पूरी तरह सम्मोहित कर लिया। इसके आगे का दृश्य कुछ ऐसा बना जैसे समस्त श्रोता समुदाय उनका अनुगामी बनकर उनके पीछे-पीछे चल रहा है। उचित अवसर जानकर उन्होंने छात्रों को मंत्र रूप में गीता के चौथे अध्याय का यह श्लोक दिया—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः।।'

और इस श्लोक की व्याख्या में 'पैसे असीस, लचैये जो सीस, लची रहिये तब ऊँची कहैये' का उपदेश भी दिया। अंत में बुद्धि की सात भूमिकाओं का वर्णन करने वाला याज्ञवल्कीय शिक्षा का यह श्लोक पढ़ा :—

'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थ विज्ञानं तत्वज्ञानं च धी गुणाः।।'

इस श्लोक की व्याख्या में उन्होंने बुद्धि की एक-एक भूमिका को विस्तार से समझाया। एक-एक श्रोता के चेहरे पर संतुष्टि का भाव था। हर कोई कह रहा था— आज पहली बार ढंग से कुछ सुनने को मिला है। अनेक छात्र 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' गुनगुनाते हुए पण्डाल से बाहर आये और लम्बे अर्से तक यह श्लोक विश्वविद्यालय परिसर में बोध वाक्य सा छाया रहा।

• • •

४ जनवरी, सन् २००४। प्रयाग नगर के कुछ किशोरों ने युवा जागृति मिशन नाम से एक स्वयंसेवी संगठन बनाया और अपने पहले ही कार्यक्रम के लिए आचार्यश्री को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया। पथरचट्टी रामलीला कमेटी के परिसर में सजा भव्य पण्डाल। १४-१५ वर्ष के किशोरों के बीच मंच पर मुख्य अतिथि के रूप में विराजमान महामहिम राज्यपाल आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री। कार्यक्रम में महामहिम के हाथों अनेक निर्धन बेसहारों को कम्बल वितरित होना था। नगर के अनेक व्यापारी बन्धुओं ने वितरण हेतु कम्बल उपलब्ध कराये थे। जनवरी की भीषण ठंड में ठिठुरते गरीब महामहिम के हाथों कम्बल पाकर कृतकृत्य हो रहे थे। माघ के महीने में दान का कुछ अधिक ही महत्त्व माना जाता है, और वह भी प्रयाग क्षेत्र में। सो जिन लोगों ने कम्बल उपलब्ध कराये थे उनके चेहरे पर दानी होने का भाव स्पष्ट विराज रहा था। पर महामहिम ने अपने उद्बोधन में जो कहा वह सही मार्गदर्शन था। दान की महिमा बखानते हुए उन्होंने बताया—दीन दुखियों की सेवा सबसे बड़ा धर्म है। हम किसी को कुछ दें यह दान नहीं सेवा है। और फिर हम किसी को क्या दे सकते हैं, हम तो स्वयं ऋणी हैं। मानव की संतान जिस दिन जन्म लेती है उसी दिन से उस पर ऋण चढ़ने लगता है। नौ माह जिसकी कोख में रहे, उस माँ का ऋण। जिस पिता ने अंगुली पकड़कर चलना सिखाया, उसका ऋण। जिस धरती माँ की गोद में लोट कर बड़े हुए, उसका ऋण। जिस गुरु ने ज्ञान का प्रकाश दिया, उसका ऋण। जिन ऋषियों की परंपराओं का सहारा मिला, उनका ऋण। जिस परम सत्ता के रचे विश्व में सांस ले रहे हैं, उसका ऋण। हम तो ऋण के बोझ तले दबे हैं। जब कभी हमको किसी की सेवा का मौका मिले, हमें यह समझना चाहिए कि ईश्वर ने हमें ऋण के इस बोझ को कम करने का अवसर दिया है। सेवा का कोई मौका गँवाना नहीं चाहिए। दीन दुखियों की, गरीबों की और वंचितों की जितना हो सके सेवा करनी चाहिए। फिर किशोर विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा— अच्छा, तुम्हीं बताओ जिस

सौजन्य : मांगीलाल मित्तल, ६७/४९, स्ट्रांड रोड, कोलकाता-७०० ००७

साइकिल, स्कूटर या मोटर साइकिल से तुम स्कूल जाते हो वह जरूर तुम्हारे माँ बाप ने खरीदकर तुम्हें दी है किन्तु सड़क पर तुम्हारी साइकिल-मोटर साइकिल दौड़ती है वह किसने बनवाई है ? सरकार ने बनवाई है न, यानी समाज ने बनवाई है। तुम्हारे ऊपर समाज का ऋण बना कि नहीं। जिस घर में तुम रहते हो वह जरूर तुम्हारे बाप-दादों का बनवाया हुआ है किन्तु जिस विद्यालय-महाविद्यालय में तुम पढ़ते हो उसका विशाल भवन किसने बनवाया है? समाज ने बनवाया है न। देख लो तुम्हारे ऊपर समाज का कितना ऋण है। इसलिए बड़े होकर इस ऋण को उतारने का ख्याल रखना। समाज में जो भी दुखी, बेसहारा हो उसकी भरपूर सेवा करना। किशोर छात्र-छात्राओं के मन पर आचार्यश्री के प्रवचन का जो प्रभाव पड़ रहा था वह उन सब के चेहरे से, हाव-भाव से स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था। मैंने कई अवसरों पर देखा है, आचार्यश्री राष्ट्र की भावी पीढ़ी को इसी तरह दुलरा कर संस्कारित करते हैं।

● ● ●

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के आध्यात्मिक प्रवचनों की दो महत्त्वपूर्ण श्रृंखलायें पूरी हो चुकी हैं। पहली है— ईशावास्योपनिषद् पर उनके अट्ठारह प्रवचनों की श्रृंखला, जो 'ज्ञान और कर्म' शीर्षक से पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुकी है। दूसरी है—श्रीमद्भगवदगीता पर उनके बावन प्रवचनों की श्रृंखला, जो अभी प्रकाशनाधीन है। 'ज्ञान और कर्म' को बार-बार पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। अपनी यह पुस्तक आचार्य श्री ने स्वयं अपने हाथों मुझे दी है। यह पुस्तक मैं सदैव अपने सिरहाने रखता हूँ और सोने से पहले इसके कुछ अंशों का पाठ करता हूँ। पुस्तक का कोई भी पृष्ठ खोल लीजिए और कहीं से भी पढ़ना प्रारम्भ कर दीजिए, आभास होता है जैसे आचार्य श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के सभागार में बैठे हैं और प्रवचन कर रहे हैं। अपने श्रोता को (और पाठक को भी) अपने साथ लेकर चलने का अद्भुत कौशल आचार्यश्री में है। ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। सामान्य पाठक के लिए इसकी विषयवस्तु अत्यन्त कठिन है। किन्तु कठिन से कठिन विषय को सरल बना कर अपने श्रोता को समझाना आचार्यश्री की अपनी शैली है।

श्रीमद्भगवद्गीता पर आचार्यश्री के बावन प्रवचन अभी अप्रकाशित हैं। किन्तु उनके कतिपय अंश दैनिक जागरण के ऊर्जा खण्ड में 'गीता में तप की अवधारणा' तथा 'गीता में योग' शीर्षकों से कई अंकों में प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्यश्री के अनुसार गीता में वर्णित तप के लिए वन में जाना जरूरी नहीं है, न ही पंचाग्नि तापना अथवा सर्दियों में गले-गले तक पानी में खड़े होकर तपस्या करना। बल्कि गीता का तप प्रतिदिन के कार्य व्यापार में जीवन युद्ध में विजय पाने के लिए किया जाने वाला तप है।

आचार्यश्री का जितना मोहक व्यक्तित्व है उतनी ही मोहक उनकी वाणी है। उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों के छात्र और शिक्षक कुलाधिपति के रूप में उनका आशीष-स्वरूप उद्बोधन पाकर धन्य हो चुके हैं। उनकी जीवन यात्रा के अमृत वर्ष पर हम सबकी ईश्वर से प्रार्थना है कि राष्ट्र की युवा पीढ़ी का मानस दीर्घ काल तक उनकी अमृत वाणी का सिंचन पाता रहे और उसमें निरंतर सुसंस्कारों के अंकुर फूटते रहें। ●

सौजन्य : अजय सिंघल, ६७/४९, स्ट्रांड रोड, कोलकाता-७०० ००७

डॉ० कुसुम खेमानी

एक अद्‌भुत व्यक्तित्व

पूज्य 'सर' (श्री विष्णुकांत शास्त्री) का नाम आते ही मन एक सुखद एहसास से भर जाता है। ऐसा लगता है जैसे किसी अत्यधिक भले...दाताभाव के धनी...व्यक्ति का नाम सुन लिया हो। यह कहना बहुत कठिन है कि कब उन्हें पहली बार देखा, कब उनके बारे में कुछ जाना और कब से वे हम सबके श्रद्धा पात्र बन गए।

कुछेक लोग ऐसे होते हैं जिनका अस्तित्व किसी कैनवॉस का ऐसा हिस्सा होता है, जिसका रंग चटक न होकर भी चित्र को संपूर्णता प्रदान करता है, जिनका होना आपको बोझिल नहीं करता बल्कि यह अनुभूति देता है कि यह रंग बिना किसी को आघात पहुंचाये धीमे से अपनी जगह पर स्थित होकर पूरे चित्र को एक सात्विक पूर्णता प्रदान कर रहा है। – बस 'सर' भी ऐसा ही एक रंग हैं। वे अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं कराते पर उनकी अनुपस्थिति आपको खालीपन से भर देती है।

बचपन से ही 'सर' को 'शास्त्रीजी' के नाम से जाना। पूज्य बाबूजी (स्व. सीतारामजी सेकसरिया) ने उन्हें दूर से दिखाकर कहा था— 'ये बड़े गुणी व्यक्ति हैं। पढ़े-लिखे विद्वान हैं, पढ़ाते हैं और बड़ी बात यह है कि बहुत ही 'सज्जन हैं!' —सारे लंद-फंद से अलग।'... 'सज्जन हैं' में ग़ालिब की उक्ति 'बस कि दुश्वार है...ईसा होना' की तरह की एक गहरी ध्वनि थी।

काल की दीर्घ अवधि में इस 'सज्जनता' के प्रमाण मुझे निरंतर मिलते रहे हैं। छोटे से छोटा काम हो या बड़ी मुसीबत.... 'सर' का वरदहस्त और अभय मुद्रा सर्वदा उनके परिचितों का छत्र बनी रहती है। मैंने ही जब कभी दो लाइनें लिखीं या पांच-छह पन्नों का आलेख...कोई रेडियोवार्ता या सभा में दी जाने वाली वक्तृता... 'सर' के दरबार में हमेशा सुनवाई हुई और मैं भी बिना सोचे समझे कि इतने बड़े विद्वान के लिए यह बहुत ही फालतू किस्म का काम होगा, उनके पास पहुँच जाती थी। और सर! ....वे न केवल हल्के से उसे संशोधित कर निखार देते बल्कि हौसला-आफजाई के लिए प्रशंसा भी करते। याद आता है ऐसी ही एक फरमायश पर 'सर' स्वयं घर चले आए 'आत्मजयी' (कुंवर नारायण रचित) पर लिखा मेरा आलेख सुधारने। ...शायद 'आर्त' की पुकार पर वे 'परवश' हो जाते हैं। उस दिन उन्होंने बड़ी मार्मिकता से जीवन जीने की कला, व्यावहारिकता, सहजता आदि से जुड़े ढेरों सूत्र बताए। पैंतीस वर्ष पहले की उस चर्चा की याद आने पर आज भी रोमांच होता है, कि दर्शनशास्त्र के सूत्रों को 'सर' ने कितनी खूबसूरती से सरल बातों में समझा दिया था।

'सर' की स्मित-हास्य से पगी मुद्रा...उन्मुक्त ठहाके...उनके दिये गये समाधान आदि-आदि ढेरों ऐसी बातें हैं जो आपके अंतर को जगमगाती हैं। उनके साथ जुड़ी कई ऐसी घटनाएं आज याद आ रही हैं जो 'सर' की परदुःखकातरता को स्थापित करती हैं...स्थापित करती हैं यह सत्य कि वे सभी का कुछ-न-कुछ भला करना चाहते हैं। स्मृति-सुगंध के दो एक प्रमाण—

सौजन्य : रमेश कुमार दाऊका, ३०, महर्षि देवेन्द्र रोड, कलिकाता-७०० ००७

विवाह के लगभग पंद्रह वर्ष बाद मैंने एम.ए. की परीक्षा देने का साहस किया। कुछ पर्चे विश्वविद्यालय में जाकर पढ़ने जरूरी थे। उपकुलपति समेत हिन्दी के सभी प्राचार्य अनुमति दे चुके थे लेकिन एक विशिष्ट प्राचार्य सहमत नहीं हो रहे थे, इसलिए बात बन नहीं रही थी। 'सर' ने मेरी प्रबल इच्छा और अत्यधिक आग्रह देखकर किसी तरह रास्ता निकाला और मुझे कक्षा में उपस्थित होने की सुविधा उपलब्ध करा दी... और उसी समय दीखिए मेरी ढिठाई की पराकाष्ठा का एक नमूना—

'सर' कक्षा में पद्मावत पढ़ा रहे थे कि मैंने उनकी व्याख्या पर विनम्रता से एक प्रश्नचिन्ह लगा दिया। कोई और तो अलग यदि मैं अज्ञानी भी उनकी जगह होती तो बौखला जाती। पर सर? उन्होंने अपनी सदा विराजित प्राणदायिनी मुस्कुराहट से कहा, 'बेटा! यह अर्थ भी हो सकता है, लेकिन मैं चाहे 'सूर' पढ़ाऊं या 'कबीर' या 'जायसी', मेरी व्याख्या में 'तुलसी बाबा' चले ही आते हैं। यह एक ओर उत्कट विद्वान की कितनी बड़ी स्वीकारोक्ति थी! और वह भी एक अदना सी छात्रा के सामने! पर 'सर' ही ऐसा कर सकते हैं।

लगभग चौदह-पंद्रह वर्ष पहले भारतीय भाषा परिषद में हम कुछ सदस्य एक पत्रिका का प्रकाशन करना चाहते थे। यह तो याद नहीं कि हमने यह हिम्मत किस के बूते पर की थी पर वह दृश्य आज भी आंखों के सामने है।... पत्रिका संबंधी बैठक में अधिकतर कार्यकारिणी सदस्य इसके विपक्ष में थे और इसे एक तरह का 'शेखचिल्ली-स्वप्न' मान रहे थे। एक वरिष्ठ विदुषी सदस्या ने हमें डाँट लगाने की मुद्रा में कहा, 'अंदाज भी है इस पर होने वाले खर्च का? मेहनत का? सूझ-बूझ का? अपने आप में यह एक पूरा तंत्र है। मज़ाक समझ रखा है, पत्रिका निकालना? एक से एक हिन्दी की पत्रिकाएं बंद हो रही हैं और यहां बार-बार पत्रिका निकालने की चर्चा हो रही है।'

'सर' देर तक सबकी बातें चुपचाप सुनते रहे। (शायद वे उस समय परिषद-मंत्री भी थे) फिर कष्ट और क्षोभ से भरे ऊँचे स्वर से बोले, 'बड़े आश्चर्य की बात है कि एक साहित्यिक संस्था में ऐसी बातें हो रही हैं। ये लोग इतने उत्साह से पत्रिका प्रकाशित करना चाहते हैं और आप लोग इनकी सहायता करने की जगह इन्हें फटकार लगा रहे हैं? क्या लाभ है इस भवन का? इस जगह का? इस संस्था का? यह सब कुछ बेचकर भी ढेरों रुपया इकट्ठा किया जा सकता है।'

बैठक में सूई पटक सन्नाटा छा गया। ....सात्विक क्रोध की ऐसी अभिव्यक्ति न किसी ने देखी थी, न किसी ने सुनी। सारे सदस्य सन्नाटे में आ गये। कुछ क्षणों के बाद क्षमा-याचना भरे स्वर में ये शब्द वहां गूंजे, 'हम विष्णुकांत जी के आभारी हैं कि उन्होंने हमें सही मार्ग दिखाया। हम वाकई भूल कर रहे थे।' संयोग से कुछ ही दिनों बाद डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय आ गए और उन्होंने अल्प समय में ही कड़े परिश्रम से 'वागर्थ' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ कर दिया।

कुछ दिनों बाद परिषद में ही एक गुत्थी डॉ. श्रोत्रिय और अन्य सदस्यों के बीच उलझी। 'सर' सांसद बनकर दिल्ली चले गये थे। कलकत्ते आते ही वे दोनों पक्ष के व्यक्तियों से कई बार मिले और ढेरों समय देकर उन्होंने इसे सुलझाने का प्रयास किया। आज यह सोच कर भी हैरानी होती है कि 'सर' इतने समयाभाव में भी इतनी संलग्नता से कैसे इस जंजाल को दूर करने में जुटे? वे सांसद थे, उन्हें क्या लाभ था कि वे परिषद की इन व्यर्थ बातों में अपना समय बर्बाद करें! ऐसा शायद इसीलिये घटा कि वे 'सर' थे।

सौजन्य : रमेश कुमार दाकोका, २०, महर्षि देवेन्द्र रोड, कोलकाता-७०० ००७

उनकी विनम्रता और ईमानदारी का एक निजी अनुभव–

अपने परिवार में होने वाले विवाह के अवसर पर 'सर' दिल्ली से आये थे। मैंने थोड़ी सी मिठाई विवाह की बधाई के उपलक्ष में उनके घर भेजी। थोड़ी देर में ही सर का फोन आया कि मिठाई पहुँच गयी है।

'सर, इस छोटी सी बात पर फोन करने की क्या आवश्यकता थी?'

'अरे बेटा! तुमसे पूछना था कि क्या हम यह गाड़ी विवाह के काम के लिये रोक लें? दूल्हे को ले जाना है।'

'सर, पर यह गाड़ी तो बहुत छोटी है। आप ज़रा सा कह देते तो बड़ी गाड़ी का इंतजाम हो जाता।'

'बेटा, यह गाड़ी चलती है ना? हम इसे रोक लें तो तुम्हें दिक्कत तो नहीं होगी?'

मैं गद्‌गद् ऐसी कि बोल न फूटे...

हिमाचल और उत्तर प्रदेश में राज करते 'सर' इस फरवरी में जब कलकत्ते आए तो उनके पास समय कम था और दबाव ज्यादा। ...फिर भी उन्होंने एक परिवार की घरेलू समस्या का निराकरण करने के लिए परिवार के सदस्यों से अलग-अलग बात की। समाज के अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों से भी अनुरोध किया कि वे इसे सुलझाने का प्रयास करें। मैं इस सारी घटना की साक्षी हूँ...।

अक्सर मैं चकित रह जाती हूं कि वे कैसे दूसरों की मात्र प्रशंसा (पीठ पीछे भी) करते हैं और अपनी अवमानना को भी सहजता से लेते हैं। ....'दूसरा गलत नहीं होता'। ....'यदि कभी कुछ गलत घट जाये तो इसके लिए बहुत सी परिस्थितियां उत्तरदायी होती हैं।' ....'समझ और संवाद का अभाव होता है।' ...आदि सिद्धांतों पर पूर्णतः विश्वास करनेवाले, क्षमाशील, विनयी, उदार और सहज 'सर' का पर्याय यदि कभी किसी को मिल जाए तो मैं भी उस अनोखे व्यक्तित्व का दर्शन कर धन्य होना चाहूंगी क्योंकि मेरी समझ से यह असंभव है। ●

सौजन्य : रामणीपाल गुप्ता, १२८, महर्षि वेदेव्यास रोड, कोलकाता-७०० ००५

डॉ० शिवनाथ पाण्डेय

स्मृतियाँ जो जीवन की पाथेय बनीं

श्रद्धेय गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री से मेरा पहला परिचय कलकत्ता विश्वविद्यालय में नामांकन के समय हुआ। वह संभवतः १९७७ का अक्टूबर महीना था। उस समय से लेकर आजतक के लंबे अंतराल में कई ऐसे संबंध-सूत्र बने, कई ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनकी अमिट छवियाँ 'सर' का नाम सुनते ही मानस-पटल पर उजागर हो आती हैं।

भारतीयता के प्रतीक पण्डित विष्णुकान्त शास्त्री के लिए 'सर' संबोधन भी एक विडंबना ही है। पर मेरे साथ अंगरेजी का यह शब्द आज इस कदर रूढ़ हो चुका है कि अब इसे बदल पाना संभव नहीं लगता। उनके 'बालक' एवं 'बेटा' जैसे वात्सल्य भरे संबोधनों के समानांतर मेरे 'सर' संबोधन में ही श्रद्धा के सारे भाव बस गये थे। एक बार हम साथ-साथ रिक्शा पर महात्मा गाँधी रोड से गुजर रहे थे। इसी 'बालक' संबोधन के साथ उन्होंने कहा था, 'अभी से तुम्हें सीखने की जरूरत है कि एक प्रोफेसर बनने के बाद किस प्रकार साहित्यिक आयोजनों की व्यवस्था करनी होती है। सबसे पहले हॉल बुक करना होगा, फिर कार्ड छपाना.....।' मैं एम. ए. का विद्यार्थी था, कोई बालक नहीं। समझ रहा था कि सर आगे कोई काम देने के लिए स्वप्नलोक की मिठाई खिला रहे हैं। आज स्वयं को वही सब करता हुआ पाकर उनकी भावनागत महानता और अपनी अकिंचनता का अहसास होने लगता है।

मैं शास्त्री जी के प्रति एक समर्पित छात्र था। उनकी शायद ही कोई ऐसी कक्षा हो, जिसमें मैं अनुपस्थित था। हिन्दी विभाग के तत्त्वावधान में एकबार जब बिड़ला व्याख्यानमाला आयोजित होनेवाली थी, शास्त्री जी ने मुझे विश्वविद्यालय की मुहर लाने के लिए यूनिवार्सिटी प्रेस भेजा। मैं आज्ञा पालन करते हुए उनकी कक्षा के समय तक वापस भी आ गया। किन्तु क्लास में प्रवेश करते ही सहपाठियों के सामूहिक ठहाके से अवाक् हो गया। शास्त्री जी उस समय पश्चिम बंगाल विधानसभा के विधायक थे और वे विधानसभा में समय पर पहुँचने के लिए उस दिन एक पीरियड पहले ही क्लास लेकर उठने की तैयारी कर रहे थे। उस सामूहिक ठहाके की यही वजह थी, जिसकी वास्तविकता सिर्फ शास्त्री जी ही जान सके। मुझे बहादुर बालक की उपाधि से विभूषित करते हुए उन्होंने विद्यार्थियों से कहा, 'इसे मैंने ही एक काम से भेजा था।' मैंने पूछा, सर, आपने कक्षा पहले ही ले ली, मेरी उपस्थिति ? उनका जवाब था, 'एक नहीं दो'। पर मैं किसी कक्षा में अनुपस्थित रहूँ तब न वे दो दें; पूरा रजिस्टर छान गए विगत कक्षाओं में मैं कहीं अनुपस्थित था ही नहीं। मेरे सहपाठियों में से किसी ने जब यह पूछा कि आप इन्हें बालक क्यों कहते हैं, तब उन्होंने जाते-जाते जो बताया, वह आज भी मुझे भाव-विभोर कर देता है। उनका कहना था; व्यक्ति चाहे जिस अवस्था में पहुँच जाय, गुरु एवं माता-पिता के लिए बालक होता है। ऐसे छात्रवत्सल हैं श्रद्धेय विष्णुकान्त शास्त्री।

हँसी-खुशी के क्षणों के अलावा कई बार संकट के क्षणों से भी गुजरना पड़ा। दार्जिलिंग की यात्रा के दौरान शास्त्रीजी की वह चिंताग्रस्त मुद्रा बरबस याद हो आती है जब रात के अंतिम प्रहर ट्रेन में रोशनी की बात दूर,

---

सौजन्य : रामगोपाल महेश्वरी, महेश्वरी ब्रदर्स लिमिटेड, २४ए, एस. एस. रोड, कोलकाता-१

शौचालय में पानी तक नदारद था। हमलोग करीब चालीस विद्यार्थी उनके नेतृत्व में भ्रमण पर थे। शीतकाल के ब्रह्ममुहूर्त में प्रायः सभी सो रहे थे। मैं जगा तब देखा, सर धोती के ही आधे हिस्से से शरीर का ऊपरी भाग भी ढके हुए गलियारे में टहल रहे हैं। सुबह पैर छूते हो अंधेरे में भी पहचान गये। आशीर्वचन के साथ ही जो चिन्ता व्यक्त की वह चिन्ता मेरी भी थी। न रोशनी न पानी। उस वक्त ट्रेन कहाँ रुकी हुई थी! चारों ओर घोर अंधकार। मैं साहस करके नीचे उतरा। समतल भूमि पर दो-चार कदम चलते ही समझते देर न लगी कि यह रेल-लाइन से भी फुट-दो फुट नीचे बना किसी लोकल स्टेशन का कच्चा प्लेटफार्म था। एक टिमटिमाती हुई लौ भी मेरी तरफ आ रही थी। उसके पास पहुँचकर पाया कि पान-बीड़ी-सिगरेट बेचनेवाला है। उसी से पता चला कि यहाँ नजदीक में ही नल है। फिर क्या था, वापस आया और झट बाल्टी लेकर निकल पड़ा। इधर गेट पर खड़े होकर सर टार्च से रोशनी दिखा रहे थे। मैं नल ढूँढ़ रहा था। सफलता मिली। मैं जल्दी ही भरी बाल्टी भरकर वापस आ गया। उस दिन एक बार फिर सर ने मुझे बहादुर कहा। मैं कुछ ज्यादा ही उत्साहित हो उठा और उनके मना करने के बावजूद एक जार लेकर दुबारा निकल पड़ा। इस बार नल की तरफ जा ही रहा था कि गाड़ी का गार्ड भी हरी बत्ती दिखाने लगा। इधर सर भी टार्च की रोशनी दिखाकर बुलाने लगे। ट्रेन छूटनेवाली थी। मैं लौटा, लेकिन जार भरकर। तबतक ट्रेन चल पड़ी थी। दौड़ते हुए चढ़ गया। लेकिन सर ने शाबासी देने की बजाय उस वक्त जो डाँट सुनायी, वह आज तक याद है। हालाँकि उनकी उस डाँट में भी कितना स्नेह भरा था आज इसके अहसास से मन पुलकित हो उठता है।

हमारी दार्जिलिंग यात्रा में जल-संकट अंत तक बना रहा। प्रायः पहाड़ी झरने ही सहारा बने। भ्रमण के दूसरे दिन एक भले व्यक्ति ने अपने यहाँ हम कुछ छात्रों को नहाने-धोने की सुविधा उपलब्ध करायी। निकलते समय बहुत हठपूर्वक दबाव डालने के बाद उसने किसी प्रकार पाँच रुपये स्वीकार किये। इस सद्व्यवहार की बात बताते हुए मैंने सर से कहा था कि उस व्यक्ति को बलात्कारपूर्वक हमने पाँच रुपये दिये। इस पर कई साथी हँस पड़े, पर सर ने बड़ी गंभीरता के साथ कुछ शब्दों के रूढ़िगत अर्थ के संबंध में जो विश्लेषणपरक बातें बतायीं, उससे शब्दों के अर्थबोध की एक नई दृष्टि प्राप्त हुई। आज अपने छात्रों के बीच ऐसी घटनाओं की चर्चा करते हुए स्वयं सर के ही शब्दों में यह कहते हुए आत्मबोध होता है, कि 'कक्षा से बाहर रहकर भी किसी से बहुत कुछ सीखा जा सकता है'। हालाँकि लगातार दो वर्षों तक सर की कक्षा में बैठने का भी सौभाग्य मुझे मिल चुका है। किन्तु कक्षा से बाहर मिलनेवाली शिक्षा कम प्रभावकारी नहीं है।

इस यात्रा के दौरान तीसरे दिन हमलोग कालिम्पोंग पहुँचे। यहाँ यूथ हॉस्टल के आसपास कोई झरना भी नहीं था। अतः सर ने सामने घाटी में दीख रहे मिलिट्री कैम्पस में जाने का निर्णय लिया। वे मुझे ही साथ लेकर चल पड़े। वहाँ 'घोरबाटो' के रूप में पहचानी जानेवाली पहाड़ी पगडंडी इतनी घुमावदार एवं खतरनाक थी कि पाँव फिसलने के बाद कहाँ टिकेंगे, अंदाज करना मुश्किल था। सर ने एक उपाय सुझाया, हमलोग जूते उतारकर हाथ में ले लें। फिर पाँव की उँगलियों से जमीन को पकड़ते हुए धीरे-धीरे उतरते जाएँ। हम सही सलामत उतर गए। गंतव्य स्थल पर पहुँचकर मिलिट्री अधिकारी से अँगरेजी में अपना परिचय देते हुए सर ने जिस मुद्रा में बात की, उससे ऐसा जान पड़ता था कि ये एक अध्यापक नहीं बल्कि मिलिट्री के ही कोई उच्च अधिकारी हों। समस्या कुछ घंटों बाद ही दूर हो गयी; पर सर के साथ होने का उस समय जो आत्मीय सुख मिला, उनसे बहुत कुछ सुनने-जानने का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह वर्तमान के साथ-साथ भावी जीवन का भी पाथेय है। अपने अध्यापकीय सहज

सम्पर्क : Mohanlal Pareek, C/o. Pareek & Associates, 16-B, Shakespear Sarani, B. K. Market, Kolkata-71

स्वभाव के तहत रास्ते चलते भी कविता सुनाना, ज्ञान-विज्ञान की बातें बताना आज स्वयं एक अध्यापक के रूप में कितना सहयोगी साबित हो रहा है, यह गूंगे के गुड़ के समान अनिर्वचनीय है।

दार्जिलिंग में अध्यापक बन जाने के बाद भी शास्त्री जी के सान्निध्य-सुख के अनेक अवसर मिले। एक दिन अचानक पता चला कि एक सभा को संबोधित करने शास्त्री जी आ रहे हैं। मैं किसी कार्य-वश कलकत्ता आने का रिजर्वेशन करा चुका था। पर मेरे लिए यह सौभाग्य की बात थी सर के साथ वहाँ मिलने की, जहाँ पहलीबार एक विद्यार्थी के रूप में उन्हीं के साथ आया था। अतः टिकट लौटा दिया। उन दिनों गोर्खालैण्ड आन्दोलन के चलते कभी-कभी दार्जिलिंग की पहाड़ियाँ अचानक गर्म हो उठती थीं। दुर्भाग्यवश ऐसा ही हुआ। सभा नहीं हो पायी। मैं उदास मन घर में जगा हुआ ही सोया था कि किसी ने दरवाजे पर पुकार लगायी। खबर मिली कि शास्त्री जी आये हैं और मुझसे मिलना चाहते हैं। मेरा सोया सौभाग्य जाग पड़ा। काफी समय तक सर के साथ घूमते-फिरते, कई लोगों से मेल-मिलाप कराते अपने निवास तक ले आया। दार्जिलिंग भ्रमण के दौरान उनके साथ ली गई तस्वीरों का एलबम दिखाया। पहला पन्ना उलटते ही कुछ क्षणों के मौन के बाद बड़े उदास स्वर में उन्होंने पूछा; शिवनाथ! तुझे मालूम है तुम्हारी चाची अब नहीं रही। मैंने उसी स्वर में हाँमी भरी। दरअसल एलबम में लगी पहली तस्वीर वह थी, जिसे सर ने दार्जिलिंग भ्रमण के दौरान चाचीजी के साथ तेस्ता नदी में खड़े होकर खिचाई थी। घंटों हमारी बातचीत चलती रही। इसी दौरान सर की नजर सामने दीवार पर टंगी हनुमान जी की भव्य तस्वीर पर पड़ी और कुछ देर तक उनकी महिमा का गुणगान करते रहे। उस दिन से मेरे प्रति शास्त्री जी के मन में एक बात यह जम गई कि मैं हनुमान का बहुत बड़ा भक्त हूँ। मैं जब कभी उनसे मिलता हूँ और वे किसी से मेरा परिचय कराते हैं, तो यह बताना नहीं भूलते कि यह हनुमान जी का भक्त है। कुछ ही दिनों बाद कलकत्ते के घनश्याम दास बिड़ला सभागार में उनका षष्ठिपूर्ति समारोह आयोजित था। संयोगवश उसी दिन मैं कलकत्ता आया था; किन्तु इस आयोजन का पता मुझे नहीं था। पता चलते ही उल्टे पाँव सभा-स्थल पर पहुँचा। इस भारी भीड़ भरे आयोजन में भी सर का उसी रूप में अपनाना तथा कई लोगों से परिचय कराना क्या कभी भुलाया जा सकता है?

गुरुवर शास्त्री जी ने अपने गुरु आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को याद करते हुए लिखा है कि '.....मध्यकालीन साहित्य के क्षेत्र में जब-जब मेरा छकड़ा संशय के कीचड़ में फँसा तब-तब मैंने गुहार लगायी। मेरे प्रत्येक पत्र का उत्तर उन्होंने तुरन्त दिया इस आश्वासन के साथ कि 'आपका छकड़ा कभी कीचड़ में नहीं फँसेगा'।" बहुत कुछ यही बात सर के साथ मेरे विषय में भी लागू होती है। प्रेसिडेंसी कॉलेज में आने के बाद मुझे भी पढ़ाने के लिए मध्यकालीन साहित्य ही मिला। कई अवसर आये जब मेरा छकड़ा भी फँसा। किन्तु मुझे कोई पत्र नहीं लिखना पड़ा। विश्वविद्यालय के पड़ोस में होने के नाते मिलने-जुलने में कभी कोई कठिनाई नहीं आई।

महामहिम राज्यपाल के पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद अब वैसी स्थिति नहीं है; परंतु अभी भी जब कभी मिलना होता है, मैं उनका वह स्नेह उसी रूप में पाता हूँ। राज्यपाल के पद को सुशोभित करने पहलीबार सर जब शिमला जा रहे थे, मैं बन्धुवर डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी के साथ कॉलेज से ही कक्षा समाप्त कर सीधे हावड़ा स्टेशन पहुँचा। जाम में फँसकर देर होने के कारण बस से उतरकर थोड़ी दूर तक दौड़ भी लगानी पड़ी। ट्रेन के पास कई लोगों के बीच खड़े सर की नजर हम दोनों पर पड़ी और बाँह उठाकर बोल उठे, 'तुम्हीं लोगों के लिए तो यह ट्रेन खुल नहीं रही है। भला तुमलोगों से मिले बिना मैं कैसे जा सकता हूँ।' वह दृश्य याद आते ही भक्त कवि तुलसी

सौजन्य : National Printing Works, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-700 001

की यह मान्यता भी धूमिल सी दीखने लगती है, कि 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' और शास्त्री जी के छात्रवत्सल स्वभाव के प्रति आज भी अनायास सिर झुक जाता है।

उत्तरप्रदेश का राज्यपाल बनने के बाद भी श्यामा प्रसाद मुखर्जी पर केन्द्रित एक सेमिनार में शास्त्री जी प्रेसिडेंसी कॉलेज आये। सहकर्मी रहे विवेकानन्द देव के साथ मैं भी उनसे मिलने गया। पास बैठे लोगों से परिचय कराने का उनका एक तरीका यह भी रहा कि मैं इस प्रेसिडेंसी का छात्र हूँ और ये यहाँ के अध्यापक हैं। यह किसी श्रद्धास्पद आकाशधर्मी गुरु की महानता का ही परिचय है। हालाँकि इस नवीन परिचय की स्वीकारोक्ति मैंने इस रूप में की कि मैं अध्यापक रूप में भी यहाँ के छात्र का एक छात्र हूँ। इसी छात्र रूप में आज जीवन की पाथेय बनी अनेकानेक स्मृतियों को संजोये इस अमृत महोत्सव के अवसर पर मैं गुरुवर शास्त्री जी के प्रति प्रणति निवेदन करते हुए उन्हें स्वस्थ एवं सानंद दीर्घायु होने की कामना करता हूँ। ●

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

वही ओज है वही लगन।
आचार्य प्रवर इतना बतलाओ कैसे पाया निर्मल मन।। वही ओज है।
क्या जीवन अवदान किसी का या अर्जुन का घातक शर।
कुछ सुधियों के जागे सपने या वाणी-वीणा का स्वर।
किसी मेनका के नूपुर सा या दैविक वरदान अमर।
तपे साधना शब्द-शब्द में भावों का होता नर्तन।। वही ओज है।
गीता के गायक से लगते कर्ण कुहर संजय बन जाते।
जन जीवन के कुरुक्षेत्र में घुटी श्वाँस को मर्म बताते।
मन मृग छौना भरे चौकड़ी बन विराट अमृत बरषाते।
हर श्रृंगार से सुरभित हैं स्वर घन माला सा है गर्जन।। वही ओज है।
राजनीति की मधुबाला ने नत मस्तक हो नमन किया है।
विष्णुकान्त की वट छाया में संस्कार का जगा दिया है।
खिला कमल हर मानव मन में मातृभूमि का मान जिया है।
विश्वमोहनी मुस्कानों ने जीत लिये है धरा गगन।। वही ओज है।
हर श्वासों के तार गा रहे शत बसन्त जीवन में आये।
आप रहे हर धड़कन के संग त्रिविध ताप को दूर भगाये।
सूख रहा कानन भारत का श्वेद कणों से इसे सजायें।
आबाल वृद्ध हो आभारी करते हैं शत-शत अभिनन्दन।। वही ओज है।

—डॉ० भगवती प्रसाद चौधरी

सौजन्य : पवन कुमार धेलिया, २४, बड़तल्ला स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७

डॉ० सरोज सिंह

बहुआयामी उत्प्रेरक व्यक्तित्व

व्यक्ति जिस प्रकार के परिवेश में जीता है, उसका स्पष्टतः प्रभाव उसके जीवन एवं व्यवहार में दिखाई देता है। व्यक्तित्व वह पारदर्शी आईना होता है, जिसमें व्यक्ति की विशिष्टतायें - अल्पज्ञतायें बिना किसी आवेष्ठन के रूपायित हो उठती हैं। जहाँ व्यक्ति की निजी अभिरुचि एवं स्वयं के पुरुषार्थ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, वहीं व्यक्तित्व के निर्माण में पारिवारिक संस्कार, परिवेश एवं परवरिश की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। माँ सरस्वती के वरद् पुत्र आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भी भारतीय संस्कारों में पले-बढ़े, अभिजात वैष्णव-कुल के संस्कारों से सिंचित, माँ के सत्प्रयासों एवं पिताजी से विरासत में मिली स्मरण-शक्ति का मणिकांचन संयोग दर्शाते हैं। उन्होंने अपनी दीर्घ साहित्य सृजनधर्मिता द्वारा हिन्दी साहित्य एवं आलोचना को नवीनता प्रदान की है। शालीनता, सहजता, आत्मीयता, विनम्रता, विद्वत्ता एवं प्रभावी वक्तृता के साथ ही उनका अप्रतिम व्यक्तित्व सभी को सहज ही आकृष्ट कर श्रद्धेय बन जाता है। धर्म-कर्म, कला-विज्ञान, श्रद्धा-तर्क, परम्परा-प्रगति, समीक्षक-अध्येता, भक्त-कवि, वक्ता-राजनेता इन तमाम विविधमुखी कृत्यों से सुसज्जित श्रद्धेय आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का व्यक्तित्व अत्यन्त सम्मोहक है।

ऐसे बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न गुरु की कक्षा में बैठकर उनकी अध्यापकीय कला से अभिभूत होना तथा उनकी वाग्मिता से प्रभावित होकर जीवन की अमूल्य निधि के रूप में संचित करना मेरा सौभाग्य रहा है। अध्यापक ही वह माध्यम है जो अपनी विशिष्ट कला से छात्र-छात्राओं को अपने गुणों में आबद्ध कर श्रद्धेय बन जाता है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है— "श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य-बुद्धि का संचार है।" (श्रद्धा-भक्ति निबन्ध : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) हर विषय को आत्मसात् कर अपनी संप्रेषण कला से उसे और अधिक जीवन्त एवं रोचक बना देने के कारण वे विद्यार्थियों को सम्मोहित कर लेते हैं। उनका प्रेरणादायक व्यक्तित्व आज भी मेरे जीवन का पाथेय है। हम और हमारी सहेलियाँ शास्त्री जी की कक्षा के सारे नोट्स अक्षरशः बड़ी शीघ्रता से कलमबंद कर लेना चाहते थे, क्योंकि उनके व्याख्यान में अनेकों संदर्भ ग्रंथों का विवेचन ही नहीं होता था, वरन् उनमें जीवन का मर्म और भाषा का व्यावहारिक रूप भी झलकता था। विद्वान होना आसान है किन्तु अपनी विद्वता को शिक्षण पद्धति के माध्यम से विद्यार्थियों को सम्प्रेषित करना अत्यन्त कठिन कार्य है, किन्तु शास्त्री जी के व्यक्तित्व में यह भाव एवं रूप कूट-कूटकर भरा हुआ है। वे जिस किसी भी पद पर कार्यरत हों उनमें एक सच्चे गुरु सी निष्ठा, पुरुषार्थ, धैर्य, औदार्य एवं अनुशासनप्रियता को सहज ही देखा जा सकता है। स्वयं विनीत एवं अनुशासित शिष्य रह चुकने के कारण अनुशासन उन्हें अतिप्रिय है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की छात्र-हितैषिता को रूपायित करती प्रो० शास्त्री जी ये पंक्तियाँ स्वयं उनकी छात्र-वत्सलता को अक्षरशः उजागर करती है— "मेरा एक आधारभूत विश्वास है कि कोई व्यक्ति अच्छा अध्यापक

सौजन्य : श्री अरुण ओसवाल, ६, वाटरलू स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ०६९

केवल विषय के ज्ञान और प्राध्यापन कौशल-मात्र से नहीं हो सकता, उसके लिए अनिवार्य है कि वह छात्र-वत्सल भी हो, अर्थात् छात्रों का भला चेते और करे भी।' (स्मरण को पाथेय बनने दो : विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-२८, १९७७)

शास्त्री जी अपनी अद्वितीय, असाधारण वाक् कला से क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों को भी सहज, सरल उद्धरणों से गंभीर विषय को भी सरस, सुगम बना देते है कि सुनने वाला मंत्रमुग्ध हो जाता है। उनके काव्य-प्रेम ने उनकी वक्तृत्व कला को प्रभावी एवं धारदार बनाया। शास्त्री जी के वक्ता रूप को निखारने में परिवेश की अनुकूलता का भी योग है, पर "परिवेश जैसा भी हो बीज तो अपने को ही अंकुरित करेगा। बीज का वृक्ष में रूपान्तरण अपनी अन्तर्निहित क्षमता के अनुसार ही होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि पेड़ बबूल के बोयें और आम उत्पन्न हो जाय।" ('माध्यम'—अक्टूबर-दिसम्बर २००२, पृष्ठ-३४)

कवि 'सुमन' की इन काव्यपंक्तियों से आचार्यप्रवर प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री के सहृदय कविरूप को समझा जा सकता है—

'याद नहीं कब मिली प्रेरणा कब अनबूझ पहेली बूझी
यह भी याद नहीं कब सहसा मुझको कवि बनने की सूझी'

पारिवारिक कवित्वपूर्ण, विद्वत्तायुक्त वातावरण एवं कैशोर्य और तारुण्य की संधि के बनारस में व्यतीत तीन वर्षों ने उनके कवि-मन को उभारा। शीर्षस्थ कवियों की कवितायें सुनना, उन्हें कण्ठस्थ करना और फिर अपने निराले अंदाज में मित्रों को सुनाना विष्णुकान्त शास्त्री जी का सहज स्वभाव है।

शास्त्री जी के ७० वर्ष की पूर्ति पर उनके शिष्य डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी ने उनके एकमात्र काव्य-संकलन 'जीवन पथ पर चलते-चलते' प्रकाशित किया। उन्होंने लिखा है— "सारे देश में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की ख्याति प्रतिष्ठित समालोचक, प्रभावशाली वक्ता तथा एक स्वच्छ राजनेता के रूप में तो है, परन्तु उनके भीतर एक सहृदय कवि भी है, इसकी जानकारी बहुत कम लोगों को है।"

काव्यपाठ करना शास्त्री जी के लिए संजीवनी है। केवल कक्षाओं, साहित्यिक गोष्ठियों, विविध संदर्भों एवं स्थानों पर ही नहीं, संसद एवं राजभवन तक, सर्वसाधारण से लेकर अतिविशिष्ट लोगों तक, प्रसंगानुकूल कवितायें सुनाकर उन्होंने मुक्त हस्त आनंद को बाँटा एवं पाया है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एक छात्र-वत्सल प्राध्यापक, सहृदय कवि, सम्मोहक वक्ता तथा समर्पित भक्त के रूप में अपनी बहुमुखी व्यक्तित्व की छटा बिखेरते हैं। उनकी सादगी बेमिसाल है। अत्यन्त विशिष्ट पद पर विराजमान होते हुए भी परिधान से अध्यापकीय सादगी से ओत-प्रोत हैं। उनकी साहित्य और अध्यात्म में गहरी पैठ है। 'राम जी की कृपा' एवं 'राम जी की इच्छा' को सर्वोपरि मानकर चलनेवाले शास्त्री जी के बहुआयामी व्यक्तित्व, उदार-चिन्तन, गहन अध्ययन, व्यापक-दृष्टिकोण एवं श्रमशील मनोवृत्ति के पीछे उनकी लोक-जागरण और लोक-कल्याण की भावना ही विशेष रूप से मुखरित हुई है। ●

सौजन्य : संजय इन्क्लेव, ४२, काली कृष्णा टैगोर स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७

श्रीनारायण पाण्डेय

विरुद्धों के सामंजस्य

'विष्णुकान्त शास्त्री : सृजन के आयाम' पुस्तक में हमने लिखा था कि 'प्रगतिशील साहित्य और शास्त्री जी के बहाने एक वैचारिक बहस की जा सकती है।' ऐसा कहने का कारण यह था कि करीब पचास वर्षों में वैचारिक अन्तर के बावजूद बहुतेरे मार्क्सवादियों के साथ शास्त्री जी के आत्मीय सम्बन्ध बने हुए हैं। हमने शास्त्री जी की वैचारिक प्रतिबद्धता की भावात्मकता को भी देखा है एवं उससे युक्त मानवीयता को भी। एक ओर प्रगतिशील चिन्ताधारा पर उनका आक्रोश देखा है, सुना है, पढ़ा है तो दूसरी ओर उसी विचारधारा की प्रशंसा करते भी देखा है। मैं शास्त्री जी के इसी वैचारिक आग्रहयुक्त मानवीय व्यक्तित्व का प्रशंसक हूँ।

हम क्यों, तमाम प्रगतिशील लेखक शास्त्री जी के राजनीतिक विचारों से एकमत न होते हुए भी कहते हैं कि "शास्त्री जी अच्छे आदमी हैं।" इस अर्थ में 'विरुद्धों के सामंजस्य' की उनकी पहचान बनती है। यों तो प्रगतिशील साहित्य और उसके अवदान की उन्होंने कई स्थानों पर चर्चा की है, मगर यहाँ उनका एक ही उद्धरण उद्धृत कर रहा हूँ। 'गीत और नवगीत' पर विचार करते समय उन्होंने कहा है कि "प्रगतिशील साहित्य चेतना के दो शुभ प्रभाव गीत रचना पर पड़े। पहला तो यही कि गीतकारों के लिए भी जिन्दगी की सच्चाई, कल्पना की रमणीयता से क्रमशः अधिक महत्त्वपूर्ण होने लगी। धीरेन्द्र मिश्र की यह पंक्ति 'दूर होती जा रही है कल्पना, पास आती जा रही है जिन्दगी' इस तथ्य की स्वीकृति है। और दूसरा यह कि गीतों के एकरस बासीपन को लोकगीतों का प्राणद स्पर्श मिला। केदारनाथ अग्रवाल का प्रसिद्ध गीत 'माझी न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता' इस प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है।" (विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनायें/खण्ड-१/पृ. ३४९)।

यह तो एक छोटा सा उदाहरण है। प्रगतिशील साहित्य पर उनकी कटूक्तियाँ और सदुक्तियाँ दोनों मिलती हैं। हिन्दी साहित्य के संदर्भ में वे कई बार दुहरा चुके हैं कि मार्क्सवादियों ने साहित्य को खेमों में बाँट कर उसका बड़ा नुकसान किया है। फिर भी मानवीय धरातल पर वे मार्क्सवादी साहित्यकारों से गहरे जुड़े हुए हैं।

"प्रखर मेधा, अडिग विश्वास : रामविलास शर्मा" शीर्षक से उनका एक संस्मरणात्मक आलेख है। उसी से उद्धृत कर रहा हूँ। "तत्त्वबोध के प्रति गम्भीर जिज्ञासा एवं निष्ठा, अपने मत पर दृढ़ विश्वास और छोटों के प्रति स्नेह —मेरी दृष्टि में डॉ. रामविलास शर्मा का यही सहज रूप है। उनका एक रूप और है 'प्रतिवादी भयंकर' का किन्तु उनका परिचय उसे ही मिलता है जो 'लोकमंगल धर्म' के मूल सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हैं, फिर भी वे चाहे किसी भी राजनीतिक दल या विचारधारा के अनुयायी क्यों न हों। मैं उनसे बहुत छोटा हूं, सैद्धान्तिक दृष्टि से मैं उनके मत का विरोधी भी हूँ —वे मार्क्सवादी हैं और मैं सांस्कृतिक राष्ट्रवादी; फिर भी मुझे उनका स्नेह समादर प्राप्त रहा है। इसका मूल कारण यही है कि हम लोगों के मिलन बिन्दु भी अनेक हैं, तुलसी, निराला, रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य में अन्तर्निहित लोकधर्म पर आस्था जिनकी आधारशिला है। मेरा अनुभव यही है कि व्यापक सामान्य आधार लेकर

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स् (इण्डिया) लि०, ६, लायन्स रेन्ज, कोलकाता-७०० ००१

चलने वालों में विचार भिन्नता के रहते हुये भी पर्याप्त मात्रा में सद्भाव रहता है।" (विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनायें/भाग-२/पृ. ७५)। इसी शीर्षक का संस्मरण 'वागर्थ' ५३ (सितम्बर, १९९९) में छपा था। किन्तु यह अंश उसमें नहीं था। 'चुनी हुई रचनाओं' में यह अंश आरम्भ में ही जोड़ दिया गया है। अतएव इसे सुचिन्तित विचार मानना चाहिये। इसमें भिन्न मतावलम्बियों के बीच सद्भाव के कारणों का उल्लेख शास्त्री जी ने खुद ही किया है।

रामविलास जी से भिन्न एक उदाहरण नामवर सिंह सम्बन्धी। शास्त्री जी का एक आलेख 'पहल' में छपा था। वही 'रणनीति की कुशलता' शीर्षक से 'नामवर सिंह व्यक्ति और आलोचक' में संकलित है। निबन्ध का आरम्भ ही वहीं से होता है—

'नामवर सिंह पर लिखना मेरे लिये सहज काम नहीं है। पिछले तैंतीस वर्षों का जीवन सम्बन्ध अपनी समग्रता में मेरे सम्मुख मूर्त हो उठा है। आरम्भिक औपचारिक परिचय भावोष्ण विचार विमर्श, बल्कि वाद विवादों के माध्यम से कब अन्तरंग आत्मीयता में बदल गया, अपने तमाम विरोधों के बावजूद, नहीं कह सकता। ऐसा हो सका इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि विरोध वैचारिक स्तर पर था, वैयक्तिक स्वार्थों के धरातल पर नहीं और हम दोनों दूसरे को स्वीकारते समय हृदय से अधिक जुड़े थे। इस अन्तर्निहित सहमति के साथ ही बुद्धि के स्तर पर अलग अलग मतों का पोषण करने के लिये हम दोनों स्वतंत्र हैं।' (नामवर सिंह) व्यक्ति और आलोचक/पृ. १०६)।

शास्त्री जी की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'पर साथ-साथ चल रही याद' वस्तुतः शिवमंगल सिंह 'सुमन' की पंक्ति है। पुस्तक के लिये उपयुक्त नाम चुनने की उधेड़बुन में यही पंक्ति याद आयी। 'पथ के पहचाने छूट गये, पर साथ साथ चल रही याद'। इस पुस्तक में रामविलास शर्मा, अमृतराय और नागार्जुन पर भी संस्मरण हैं। ये तीनों मार्क्सवादी लेखक हैं। तीनों कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध भी थे। पार्टी की नीतियों से तीनों सहमत, असहमत– दोनों रहे। इसमें दो राय नहीं कि इन तीनों लेखकों की शास्त्री जी ने तारीफ की है। नागार्जुन को 'हृदय धर्मा कवि' कहा है। लिखा है 'वैचारिक मतभेद के बावजूद हृदय धर्मा जन कवि के रूप में मैंने उनका सदा सम्मान किया।' एक पंक्ति और उल्लेखनीय है 'जुझारू कम्युनिस्ट होते हुये भी उन्होंने विवेक को बन्धक रखकर पार्टी के नेताओं की चाटुकारिता तो कभी की ही नहीं, उनके अतिरेकों का बोल कर, लिखकर प्रतिवाद भी किया।' (पृष्ठ-३८) रामविलास शर्मा पर उद्धरण पहले दे चुका हूँ, वही लेख इसमें भी संगृहीत है। रहे अमृत राय। अमृत राय के लिये शीर्षक चुना है 'निश्छलता और स्वाभिमान के पर्याय'। इन शीर्षकों के बीच शास्त्री जी का हृदय झलकता है। एक बात ध्यान देने लायक है। वह यह कि इन संस्मरणों में उन्हें वही प्रसंग ज्यादा याद आये हैं जहाँ या तो कम्युनिस्ट पार्टी के साथ अथवा प्रगतिशील लेखक संघ के साथ उनके विरोध हुये हैं। ऐसा करने से शायद उन्हें अपने राजनीतिक विचारों को सही साबित करने का बल मिला है। उनको कुछ धारणा सी बन गयी है या थी कि मार्क्सवादी विश्वास में सच्चाई का अभाव है, वह विदेश केन्द्रित राजनीतिक दृष्टि पर आधारित है, अराष्ट्रीय है, इसलिये वे अपने पसंदीदा मार्क्सवादी लेखकों के उन्हीं प्रसंगों को उभारते हैं जिससे उन लेखकों के विचारों और मार्क्सवाद के बीच अलगाव बढ़ा है। जहाँ पर रामविलास शर्मा पर अन्य मार्क्सवादी लेखकों द्वारा किये गये आक्षेप पर शास्त्री जी ने क्षोभ प्रकट किया है वहीं अमृत राय द्वारा रामविलास शर्मा एवं नामवर सिंह पर की गई टिप्पणी पर पता नहीं वह क्षोभ क्यों नहीं है।

कुल मिलाकर वे अपनी राजनीतिक चिन्ताधारा पर अडिग रहते हुये भिन्न मतावलम्बियों की अच्छाइयों को

सौजन्य : जय हनुमान ट्रेडर्स, ८, अमरतल्ला स्ट्रीट, (४ तल्ला) रूम नं. ४०३, कोलकाता-१

स्वीकारते हैं। किन्तु व्यावहारिक जीवन में वे उन विरोधों से कोसों दूर नजर आते हैं। अगर निर्विरोधी स्वभाव न होता तो वे मार्क्सवादियों के लिये ऐसा शीर्षक चुन ही न पाते। शास्त्रीजी मानें या न मानें ये सारे विशेषण कम्युनिस्टों के ही पर्याय हैं। सचाई अनचाहे भी उजागर हो जाती है।

राजनीतिक विचारों से इतनी गहराई से जुड़े हुये भी शास्त्री जी भगवान से मनाते हैं कि 'भगवान हमें ऐसी दृष्टि दो कभी न हो कि मुझे अपनी पार्टी का घृणित व्यक्ति भी अच्छा लगे और दूसरी या विरोधी पार्टी का अच्छा काम करने वाला व्यक्ति मुझे दोषयुक्त व्यक्ति दिखायी दे। अपने विश्वासों के प्रति निष्ठावान रहते हुये दूसरों के सद्गुणों से निरंतर सीखते रहना ही मनुष्य के विकास का आधार है।' (आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : व्यक्ति और रचनाकार/पृ. ३३)।

शास्त्रीजी बार-बार दुहराते हैं कि 'मैं देखता हूँ कि किसने अपने विश्वास की कीमत चुकायी है। अगर उसने कीमत चुकायी है तो दूसरी पार्टी का होते हुए भी वह हमारी श्रद्धा और स्नेह का पात्र है। अगर नहीं चुकाया हो तो भले ही हमारी पार्टी का झंडा-बरदार हो वह हमें प्रिय नहीं है।'

यही शास्त्री जी की जीवन शैली है। यही कारण है कि भिन्न मतावलम्बियों के बीच एक 'अच्छे आदमी' के रूप में उनकी पहचान है। पुरानी घटनाओं का जिक्र नहीं कर रहा हूँ। अभी हाल में इलाहाबाद में १८ मई को विष्णुकान्त शास्त्री की पुस्तक 'पर साथ-साथ चल रही याद' का लोकार्पण एवं 'संस्मरण विधा की सृजनशीलता' पर एक संगोष्ठी आयोजित थी। पुस्तक का लोकार्पण नामवर सिंह ने किया, मुख्य अतिथि कथाकार मार्कण्डेय तथा वक्ता दूधनाथ सिंह, रामकमल राय एवं अमरकान्त जी थे। संचालक थे डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र।

आयोजन में शास्त्री जी तो थे ही उनकी पुत्री भारती, भतीजी जया, भाई श्रीकान्त भी मौजूद थे। याद रखिये देश का राजनीतिक मानचित्र बदल चुका था। केन्द्रीय सत्ता में उलट फेर हो गया था। शास्त्री जी के इस आयोजन में वर्चस्व मार्क्सवादियों का ही था। इस पुस्तक की चर्चा पहले की गई है। पुस्तक के संस्मरणों में नागार्जुन, अमृतराय और रामविलास शर्मा के संस्मरण थे। सभी वक्ताओं ने शास्त्री जी के संस्मरण लेखन कला की प्रशंसा की एवं उनकी व्यवहार कुशलता और 'विचारों में विरुद्धों के सामंजस्य' को रेखांकित किया।

'विरुद्धों के सामंजस्य' को चुल बैठाने में सत्यप्रकाश जी का कोई विकल्प नहीं है। प्रयाग को साहित्यिक 'संगम' बनाने का श्रेय उन्हें ही जाता है। वे बराबर क्या साहित्य सम्मेलन, क्या संग्रहालय, क्या विश्वविद्यालय क्या अन्य साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आयोजन सब में विभिन्न मतावलम्बियों को एक मंच पर बैठाते रहे हैं। उस दिन का मंच भी कुछ वैसा ही था।

अपनी बारी में 'पर साथ साथ चल रही याद' पर बोलते हुये नामवर सिंह ने कहा कि विष्णुकान्त जी के ये संस्मरण आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित आलोचकीय परम्परा के संस्मरण हैं। वे अपनी पुरानी यादों की लपेट में इस प्रकार आ गये थे, कि कुछ देर तक तो उनका गला भर आया था। पूरे प्रसंग के पीछे उनके और शास्त्री जी के सम्बन्धों के ५० वर्ष थे। अपना हार्दिक उद्गार व्यक्त करते हुये उन्होंने कहा कि मेरे बहुत से मित्र यहाँ आज आने की मनाही कर रहे थे। लेकिन मैंने उनसे कहा आज तो मैं वहाँ अवश्य ही जाऊँगा। और इस बीच उनके तथा अपने बीच विरोधों की उड़ाई जानी वाली गर्द गुबार को गोसाईं बाबा की एक पंक्ति को कहकर उड़ा दिया कि 'तोहि मोहि नाते अनेक' हैं। शायद लोग इस 'नाते' को नहीं जानते या जानकर अनजान बनते हैं।

सौजन्य : दिलीप कुमार विवाकलिया, ४, सुरेलाल जौहरी लेन, कोलकाता-७०० ००७

संग्रहालय का सभाकक्ष स्मृतियों का संगम स्थल बन गया था। 'मार्क्सवाद' और 'राष्ट्रीय संस्कृतिवाद' की विभाजन रेखा न जाने कहाँ गायब हो गयी थी। शास्त्री जी ने सबका आभार प्रकट करते हुये कहा कि अपनी पार्टी के बेईमान झंडाबरदार से दूसरी पार्टी का विश्वासों का मूल्य चुकाने वाला हमारे लिये बड़ा है। शास्त्री जी का यह उदारवाद साहित्य जगत का है। राजनीति में कुछ और है। साहित्य की उदार समन्वयी धारा राजनीति में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' में बदल गयी है। किन्तु साहित्य में वे एक 'अच्छे आदमी' के रूप में प्रतिष्ठित हैं, राजनीति से उसका रिश्ता कम है।

राज्यपाल पद से बरखास्तगी के पूर्व शास्त्री जी के बहुत से कार्यक्रम तय हो गये थे। उसी में १३ जुलाई को आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी पर एक संगोष्ठी एवं उनकी संस्मरण पुस्तक 'आलोचकथा' का लोकार्पण शास्त्री जी को करना था। आयोजन संग्रहालय सभा-कक्ष में था। मंच पर महामहिम त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी एवं कवि आलोचक अशोक वाजपेयी थे। हाल भरा हुआ था। संचालन सत्यप्रकाश जी के ही हाथ था। मंच से चिरपरिचित मुस्कान के साथ शास्त्री जी अपने आनेवाले परिचितों का अभिनन्दन कर रहे थे। आज वे मुक्त थे। न आगे पीछे पुलिस थी, न सरकारी तामझाम। उनका सम्बोधन भी उनके शुद्ध स्वरूप के अनुकूल आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री किया जा रहा था। राजनीतिक पदाधिकार से मुक्त शास्त्रीजी ने उन्मुक्त भाव से आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचना शैली, उनके मोहक एवं अकादमिक व्यक्तित्व की सराहना की। इससे भिन्न दो अन्य आयोजनों को भी उन्होंने सम्बोधित किया। रामस्वरूप जी के व्यक्तित्व को रेखांकित करते समय सब ने एक स्वर में कहा कि वे वाद, विवाद, संवाद जारी रखने वाले धीर स्थिर आलोचक थे। इलाहाबाद में परिमल और प्रगतिशील संघ के विरोधी सैद्धान्तिक तेवर के बीच भी निजी सम्बन्धों में आत्मीय भाव बोध को बनाये रखना रामस्वरूप जी का स्वभाव था।

हिन्दी साहित्य में 'विरुद्धों के सामंजस्य' की यह अटूट परम्परा उसकी शक्ति है। हम इसी रूप में अपने साहित्यकारों को देखते और समझते हैं। इस समारोह में भी विभिन्न मतावलम्बियों की उपस्थिति के बीच शास्त्री जी की उपस्थिति से लग रहा था, उन्हें सरकारी अदालत ने जरूर बरखास्त कर दिया है मगर साहित्यकारों की अदालत में अभी उनका नाम काबिज है। काबिज है इसलिये कि हम उनके सैद्धान्तिक विचारों पर बहस जारी रखने के पक्षधर हैं। उनका सम्मान उनकी विचारधारा का सम्मान नहीं उनके खुलेपन का सम्मान है। ●

सौजन्य : श्रीमती श्वेता डिडवारिया, ४, सुरेन्द्रलाल चौहरी लेन, कोलकाता-७०० ०७७

शिव कुमार गोयल

सरलता, सात्विकता तथा विद्वत्ता की साकार मूर्ति

मेरे पिताश्री भक्त रामशरणदास जी संत-सेवी के साथ-साथ धर्म और अध्यात्म विषयों के सिद्धहस्त लेखक भी थे। 'कल्याण' (मासिक पत्रिका) में सन् १९३४ से उनके लेख प्रकाशित होने शुरू हुए। वे लोक-परलोक तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी सत्य घटनाओं को खोज कर उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया करते थे।

पिताजी समय-समय पर धर्माचार्यों, संत-महात्माओं तथा देश के शीर्षस्थ विद्वानों को सादर आमंत्रित कर पिलखुवा स्थित अपने निवास स्थान के संग्रहालय का अवलोकन कराया करते थे। सनातन धर्म की महान विभूति महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, विद्यावागीश पं० दीनानाथ शास्त्री सारस्वत, पंडित अखिलानन्द शर्मा 'कविरत्न', महामहोपाध्याय पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री, शास्त्रार्थ महारथी पं० माधवाचार्य शास्त्री आदि शीर्षस्थ विद्वानों को पिलखुवा आमंत्रित कर उनका अभिनंदन कर वे कृतकृत्य हो उठे थे।

कोलकाता के परम श्रीकृष्ण भक्त श्री रामनिवास ढंढारिया जी पिताजी के मित्र थे। उन्होंने 'रस वृन्दावन' मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। एक दिन श्री जयदयाल डालमिया की उपस्थिति में पत्रिका की रूपरेखा पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने बताया कि मेरी प्रार्थना पर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी ने पत्रिका का सम्पादन करना स्वीकार कर लिया है तो पिताजी सहज ही कह उठे 'वे तो सनातन धर्म की महान विभूति महामहोपाध्याय पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री महाराज के यशस्वी पुत्र हैं। उनका स्वयं का धर्ममय जीवन है। ऐसे परमभागवत ही श्रीकृष्ण भक्ति के प्रचार के उद्देश्य के लिए प्रकाशित पत्रिका का कुशल सम्पादन कर सकते हैं।'

बाद में पिताजी ने मुझे बताया कि किस प्रकार पं० गांगेय नरोत्तम जी का जन्म हुआ, किस प्रकार उन्होंने पूरे देश में सनातन धर्म का डंका बजाया। वे दिल्ली से पिलखुवा लौटते समय रेल में शास्त्री जी के संस्मरण सुनाते रहे थे।

'रस वृन्दावन' पत्रिका का प्रत्येक अंक भक्ति-उपासना सम्बन्धी रचनाओं के साथ-साथ ब्रज की कलाओं की जानकारी देने वाली सामग्री से ओतप्रोत रहता था। शास्त्री जी का लिखा सम्पादकीय पढ़ते-पढ़ते तो हम पिता-पुत्र मानो भक्ति भागीरथी में गोते ही लगाने लगते थे।

एक बार श्री ढंढारिया जी ने गाजियाबाद में अपने श्री राधा माधव संकीर्तन मंडल के तत्त्वावधान में आदरणीय शास्त्री जी के भागवत सम्बन्धी प्रवचनों का आयोजन किया तो मुझे भी आमंत्रित किया। उनके रसमय प्रवचन को सुनकर मैं मंत्रमुग्ध हो उठा था। प्रवचन के बाद परिचय हुआ तो वे बोल उठे 'तुम्हारे पिताजी की कीर्ति से सुपरिचित हूँ। हमारी 'रस वृन्दावन' पत्रिका में उनके पुनर्जन्म सम्बंधी लेख मुझे प्रीतिकारक लगते हैं। तुम्हारे लेख भी मैं पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर देखता हूँ। सृजन कार्य में निरन्तर लगे रहो।' यह उनका पहला आशीर्वाद था।

मैं 'हिन्दुस्तान समाचार' (भाषायी संवाद समिति) के दिल्ली स्थित मुख्यालय में समाचार सम्पादक था। संसद की रिपोर्टिंग किया करता था। हिन्दी के पुरोधा प्रकाशवीर शास्त्री जी के १ केनिंग लेन (नई दिल्ली) स्थित

सौजन्य : साधुराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३८, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

निवास स्थान पर उन्हीं के साथ रहता था। 'धर्मयुग' के सम्पादक डॉ० धर्मवीर भारती का मुझ पर विशेष वरदहस्त था। वे कृपा कर मुझसे सम्पर्क कर दिल्ली की गतिविधियों पर आलेख लिखवाते रहते थे। जब कभी भारती जी दिल्ली आते तो अपने अनन्य मित्र प्रकाशवीर शास्त्री के निवास स्थान पर अवश्य पधारते थे।

एक दिन सबेरे उनका फोन आया— 'प्रकाशवीर जी हैं क्या ?' फोन मैंने उठाया, कहा— 'आधे घन्टे में आ जाएंगे।' बोले 'क्या गोयलजी बोल रहे हैं।' मेरे हाँ कहने पर वे बोले 'मैं भारती बोल रहा हूं, आधे घन्टे में पहुँच रहा हूं। आपको भी कई काम सौंपने हैं।'

धर्मवीर भारती की माँ आर्यसमाजी थीं। वे प्रकाशवीर शास्त्री को अपना बेटा कहा करती थीं। भारती जी भी शास्त्री जी के प्रति अत्यन्त स्नेह सम्बन्ध रखते थे।

भारती जी आए। मैंने उठकर उनका अभिवादन किया। प्रकाशवीर जी तब तक गंगाबाबू के घर से लौटे नहीं थे। बातें शुरू हो गईं।

मैंने सहज भाव से पूछ लिया 'कहीं मैंने पढ़ा था कि आपका भगवान में विश्वास नहीं है। मूर्ति पूजा को आप व्यर्थ मानते हैं। लगता है माताजी के आर्यसमाजी विचारों का आप पर प्रभाव है ?'

भारती जी ने जोरदार ठहाका लगाया। इसी बीच प्रकाशवीर जी भी आ गए। उन्हीं की उपस्थिति में बोले— 'एक शास्त्री की संगत ने मूर्तिपूजा में अविश्वास पैदा किया— दूसरे शास्त्री की संगत ने मुझसे विधिवत् मूर्तिपूजा कराकर पुरानी मान्यता को ध्वस्त कर दिया।'

ये शब्द सुनते ही प्रकाशवीर जी उनका मुख देखने लगे। भारती जी ने बताया 'सन् १९७१ के भारत-पाकिस्तान (पूर्व बंगाल) युद्ध के दौरान, बांग्ला देश की मुक्ति के समय मैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी के साथ युद्धरत बांग्लादेश गया था १२ सितम्बर १९७२ को । गौहाटी पहुँचने पर शास्त्री जी ने कहा 'भारती जी, जब यहाँ आए हैं तो लगे हाथों भगवती कामाख्या देवी के दर्शन कर आएँ। कामाख्या देवी को चर्चित शक्तिपीठों में गिना जाता है। मैं सहर्ष उनके साथ भगवती कामाख्या देवी के दर्शनों को गया। मैंने सोचा कि मूर्ति दर्शन की जगह प्रकृति के सौन्दर्य को निहारने का अवसर तो मिलेगा किन्तु शास्त्री जी ने जब मुझे पास बिठाकर विधिवत् पूजा-अर्चना कराई तो, मैं सच कहता हूँ कि मुझे देवी के दर्शन कर समाधि जैसा आनंद प्राप्त हुआ। उस दिन मुझे लगा कि रामकृष्ण परमहंस को अवश्य ही काली की प्रतिमा के समक्ष समाधि लग जाती होगी।' प्रकाशवीर शास्त्री उनका संस्मरण सुनकर हँस पड़े। बोले— "भारतीजी मैं आर्यसमाजी अवश्य हूँ किन्तु सनातन धर्म के मूर्ति पूजा के सिद्धान्त का अंध विरोध कभी नहीं करता। मुझे स्वयं वृन्दावन पहुँचकर रास लीला को देखकर एक विचित्र अनुभूति होती है।'

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्रीजी ने डॉ० धर्मवीर भारती के साथ पूर्वी पाकिस्तान (अब बांग्ला देश) पहुँचकर युद्ध के दौरान अनेक संकटों का सामना करते हुए साहसपूर्वक जो वहाँ की रोमांचकारी घटनाओं की रिपोर्टिंग की, वह उनके लेखन कौशल का उज्ज्वल प्रमाण है।

उन्होंने पूर्व पाकिस्तान के युद्ध क्षेत्र से लौटकर बुद्धिजीवियों को पाकिस्तानी सेना की बर्बरता का परिचय देने के लिए देश का दौरा किया था। वे जब दिल्ली आए तथा संगीत अकादमी (फिरोज शाह रोड) भवन में लेखकों व पत्रकारों के सम्मेलन में उन्होंने पाकिस्तानी बर्बरता तथा पूर्व बंगाल के बुद्धिजीवियों की नृशंस हत्याओं, बलात्कारों तथा उत्पीड़न की अन्य बर्बर घटनाओं का वर्णन अपने भाषण में किया तो अनेक उपस्थितजनों की

आँखें नम हो उठी थीं। मैं स्वयं उस समारोह में उपस्थित था। बाद में शास्त्री जी ने अपने लेख व ग्रंथ में मेरी उपस्थिति को दर्ज कर मुझे अनुगृहीत किया था।

शास्त्री जी भाजपा के वरिष्ठ नेता के नाते दिल्ली भी रहे। वे राज्यसभा सदस्य भी रहे। एक पत्रकार के नाते समय-समय पर मुझे उनके दर्शनों का सुयोग मिलता रहता था। राज्यसभा की रिपोर्टिंग करते समय मैं उनके अकाट्य तर्कपूर्ण भाषण को सुनकर प्रभावित हो उठता था।

शास्त्री जी से जब भेंट होती वे धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादम्बिनी, नंदन या किसी अन्य पत्र-पत्रिका में प्रकाशित मेरे लेख की चर्चा कर मुझे आशीर्वाद देकर मेरा उत्साहवर्द्धन करते। एक बार मैंने जब उन्हें अपनी लिखी स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी की जीवनी भेंट की तो वे बोले 'मराठी में सावरकर जी पर बहुत छपा है। हिन्दी में उनकी जीवनी लिखकर तुमने सुन्दर कार्य किया है।'

एक बार श्री रामनिवास जी ढंढारिया मुझे कविवर श्री हरिवंशराय बच्चन जी के बिलिण्डन क्रीसेन्ट स्थित निवास स्थान पर अपने साथ ले गए। बच्चन जी ढंढारिया जी के मित्र थे। उस दिन शायद किसी पत्रिका में शास्त्री जी का कोई लेख प्रकाशित हुआ था। बच्चन जी ने ढंढारिया जी से शास्त्री जी के उस लेख की प्रशंसा की तो मैं पुलकित हो उठा कि बच्चन जी शास्त्री जी के आध्यात्मिक लेखों को रुचि के साथ पढ़ते हैं।

बड़ाबाजार लाइब्रेरी (कोलकाता) ने मेरा भाई जी श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार राष्ट्रसेवा सम्मान १९९९ के लिए चयन किया। २७ फरवरी सन् २००० का दिन मेरे जीवन का अविस्मरणीय दिन है जब हिमाचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल के नाते श्री शास्त्री जी तथा गुजरात के राज्यपाल श्री सुन्दर सिंह भण्डारी जी के करकमलों से मुझे यह ऐतिहासिक सम्मान प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पूजनीय शास्त्री जी ने उस दिन मुझे, मेरी पत्नी तथा परिवार को जो शुभाशीर्वाद देकर कृतकृत्य किया, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।

उसी दिन सायंकाल हम पिलखुवा निवासियों को कोलकाता में श्री शास्त्री जी के मुखारविन्द से श्रीमद्भगवद्गीता पर मार्मिक प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कोलकाता के अनेक बुद्धिजीवी, लेखक, पत्रकार, उद्योगपति, समाजसेवी शास्त्री जी के श्री मुख से गीता, भागवत तथा अन्य आध्यात्मिक विषयों पर प्रवचन सुनने को लालायित रहते हैं, यह देखकर हम सब आश्चर्यचकित हो उठे थे।

कोलकाता से लौटने के बाद जब एक दिन माननीय अटलबिहारी वाजपेयी जी के साथ कुछ क्षण बिताने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा मैंने कलकत्ता में अपने सम्मान समारोह तथा शास्त्री जी के गीता प्रवचन के बारे में उन्हें बताया तो वे मुस्कराकर बोले —'अरे भाई, हमारे विष्णुकान्त जी तो बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। वे राजनेता तो बाद में बने, मूलतः तो एक आध्यात्मिक और साहित्य साधक ही हैं।'

शास्त्री जी उत्तरप्रदेश के राज्यपाल पद को सुशोभित कर चुके हैं। यहाँ के नागरिकों को इस बात की अनुभूति हुई है कि भगवान श्रीराम, कृष्ण की पावन जन्मभूमि उत्तरप्रदेश में पहली बार राजभवन में एक ऐसी विभूति की नियुक्ति हुई है जो सरलता, सात्विकता, निश्छल हृदयता तथा विद्वत्ता की साकार मूर्ति है। उन्होंने राजभवन को भी ऐश्वर्य तथा पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त कर सात्विकता व सादगी का रूप प्रदान कर एक अनोखा आदर्श उपस्थित किया है।

शास्त्री जी अत्यन्त व्यस्तता में से भी समय निकालकर काशी, मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, चित्रकूट ही नहीं शुक्रताल जैसे प्राचीन तीर्थ के दर्शनों के लिए पहुँचते हैं। साधु-सन्तों, धर्माचार्यों, मनीषियों का सान्निध्य प्राप्त कर

सौजन्य : Bharti Sharma, Fl. No. 102, Bajaj Onyx, 36, Union Park, Khar (West), Mumbai-52

उन्हें अपार शांति का अनुभव होता है। वे राजभवन में राजकाज के कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्य के अध्ययन में रत रहते हैं।

दैनिक 'अमर उजाला' में विगत चार वर्षों से निरन्तर प्रतिदिन मेरा 'धर्मक्षेत्रे' स्तंभ प्रकाशित हो रहा है। इसमें मैं किसी भी महापुरुष के जीवन का प्रेरक प्रसंग देता हूँ। गत दिनों आदरणीय श्री जुगलकिशोर जी जैथलिया ने कृपाकर मुझे आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की चुनी हुई रचनाओं का संकलन भेजा। मैंने उनकी रचनाएँ पढ़ीं, अभिभूत हो उठा। पूज्य शास्त्री जी को पत्र लिखा तो उन्होंने अत्यन्त विनम्रता के साथ २५ फरवरी २००४ के पत्र में लिखा —

प्रिय शिवकुमार जी,

सस्नेह नमस्कार।

आपको मेरी चुनी हुई रचनाओं के दोनों खण्ड प्रीतिकर लगे, यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। बच्चन जी के साथ मेरी बातचीत का जो उल्लेख आपने 'अमर उजाला' में किया है, उसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ। डॉ० भारती का मुझ पर बहुत स्नेह था और उन्हीं की प्रेरणा से बांग्लादेश के सम्बन्ध में मैं कुछ लिख-पढ़ पाया। आपके अमर उजाला में प्रतिदिन प्रकाशित 'धर्म-क्षेत्रे' मैं पढ़ता रहता हूँ और उससे मुझे बहुत आनन्द मिलता है। आपकी पुस्तक "कांग्रेसी छद्म धर्मनिरपेक्षता के घातक परिणाम" मिली। मैं अभी उसे पढ़ नहीं पाया हूँ, पढ़कर बताऊँगा।

प्रभु कृपा से सानन्द रहें, सर्जनारत रहें।

शुभेच्छु,
(विष्णुकान्त शास्त्री)

मैंने पत्र को पाकर अनुभव किया कि पूज्य शास्त्री जी व्यस्ततम समय में से भी समय निकालकर धर्म और अध्यात्म तथा साहित्य सम्बन्धी रचनाओं का न केवल अध्ययन करते हैं अपितु लेखकों को पत्र लिखकर उनका उत्साहवर्द्धन भी करते रहते हैं।

मुझ जैसे अकिंचन लेखकों, पत्रकारों को उनका आशीर्वाद समय-समय पर मिलता ही रहता है। मैं आदरणीय शास्त्री जी को ७५वें जन्मदिवस पर उनके श्रीचरणों में नमन करता हूँ — वन्दन करता हूँ। ●

सौजन्य : पद्मालय्य गोयल, गोयल चैरिटेबल ट्रस्ट, ५५, इजरा स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००१

राजेन्द्र मिश्र

हर आलोक छुआ अपनापन है उन्मोचन नश्वरता के दाग से

राजनीतिक मुहावरों में स्वाधीन होने के बावजूद भारतीय बुद्धिजीवन पर औपनिवेशिक संस्कारों का गहरा दबाव रहा है। पश्चिम अभिमुख आधुनिक जीवन कल्पना उसे लगातार आकर्षित करती रही है। अचरज तो यह है कि पराधीन भारत में प्रतिरोध के जो क्षेत्र बने थे, स्वाधीनता के बाद वे भी लगातार सिकुड़ते गए। विष्णुकान्त शास्त्री उन कुछ अध्येता-अध्यापकों में से एक हैं जिन्होंने मुख्यतः साहित्य को साध्य बनाते हुए, अपनी उन जड़ों को पहचानने का उद्यम किया है जहाँ से भारतीय चित्त अपना मौलिक जीवत्व उपलब्ध करता है। वह पूछते हैं : 'चुनौती क्या आधुनिकता हो परम्परा को दे सकती है, परम्परा आधुनिकता को नहीं दे सकती ?' लेकिन इस प्रश्नवाची द्वैत को शास्त्री जी बहुत अधिक फैलाने के स्थान पर ज़ोर इस बात पर देते हैं : 'परम्परा समाज में अंतर्निहित उन आचारों और सिद्धान्तों की समष्टिगत संज्ञा है, जिन्होंने अपने अटूट सिलसिले द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और नये-नये जातीय अनुभवों में भी समाज को अपनी अस्मिता प्रदान की है और उस क्रम में जो बार-बार व्याख्यायित और मूल्यांकित होती हुई, अपने स्वरूप को खोये बिना रूपांतरित-विकसित होती रही है।' ज़ाहिर है कि यहाँ वह निरंतरता और परिवर्तनशीलता को विरोध के तर्क में नहीं बल्कि अपरिहार्य सम्बद्धता के तर्क में पढ़ने का यत्न करते हैं। 'अपने स्वरूप को खोये बिना' रूपांतरण की यह प्रक्रिया ही आधुनिकता के देशीय चरित्र की सहज प्रक्रिया है। अंततः ही नहीं तत्त्वतः भी आधुनिक बोध जड़हीन नहीं होता, नहीं हो सकता। अपनी सार्थक व्याप्ति में, यह सच है कि वह परम्परा का ही नया संस्कार और विस्तार होता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि विष्णुकान्त शास्त्री ने दूसरी परम्परा की खोज के नाम पर लोक को शास्त्र के विरुद्ध देखने-जानने की नयी कोशिश को पूरी तरह अस्वीकार करते हुए शताब्दियों से उनके वास्ते उपस्थित और अभी भी जीवित संवाद-सूत्रों को रेखांकित करने का बार-बार यत्न किया है।

यह तथ्य अक्सर अलक्षित रह जाता है कि बीसवीं शताब्दी के वैचारिक और रचनात्मक दृश्य पर सांस्कृतिक लय-भंग को समझने और फिर उसे एकतान बनाने में तुलसी के कृतित्व की एक बड़ी भूमिका रही है। महात्मा गाँधी ने आधुनिक सभ्यता को लेकर, ठेठ अपनी ज़मीन और उससे उपजे देसी मुहावरों में जिस साहसी जिरह की शुरुआत की थी, उस पर मध्यकालीन कवियों, और विशेषकर तुलसी का गहरा प्रभाव था। गाँधी, जीवन भर तुलसी को पढ़ते रहे। हिन्दी के अपने संदर्भ में देखें तो क्या यह सच नहीं कि मूर्धन्य आलोचक रामचन्द्र शुक्ल अंत तक तुलसी को अपने लिए उपलब्ध करते रहे। निराला की कोई भी कल्पना तुलसी के बिना नहीं की जा सकती। तत्सम और तद्भव के बीच निरंतर आवागमन का पाठ उन्होंने तुलसी से ही सीखा था। कवि त्रिलोचन हर

सौजन्य : जालान ट्रेडिंग कं०, २६, आमर्हस्ट स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००९

बार भाषा सीखने के लिए उनके पास जाते हैं। इसी क्रम में यह देखा जा सकता है कि विष्णुकान्त शास्त्री का भी तुलसी से एक जीवनव्यापी रिश्ता रहा है।

विष्णुकान्त जी के लिए तुलसी की कविता एक समूची संस्कृति-कल्पना का विराट रूपक है। यह केवल कथित और विचारित का संग्रंथित आख्यान भर न होकर, अकथित और अविचारित का नया आविष्कार भी है। उनके शब्दों में : 'तुलसीदास मध्यकाल में भारतीय संस्कृति के सबसे बड़े सर्जनात्मक पुनर्व्याख्याकार थे। केवल तत्त्व-विवेचन या केवल साधना में प्रवृत्त न होकर उन्होंने 'रामचरित' को, अपने 'कलप-भेद' को दृष्टिगत रखते हुए, अपनी मति, अपनी 'समुझि' निजी 'मानस' के अनुसार प्रस्तुत कर भारतीय संस्कृति का पुनर्नयीकरण कर दिया था। इस क्रम में परम्परा के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने उसमें कितने परिवर्तन कर दिये थे, यह देखकर आश्चर्य होता है।' सर्जनात्मक पुनर्व्याख्या की भूमिका पर तुलसी की कविता अपने समय के तात्कालिक दबावों का भरपूर सामना करती हुई भी उसके घेरे में मनुष्य की नियति का भाष्य नहीं रचती : वह लगातार उसका अतिक्रमण कर उन बुनियादी मूल्यों में स्वयं को एकाग्र करती है जिनके भीतर मनुष्य, मनुष्य होने का गौरव पाता है। दरअसल, विष्णुकान्त शास्त्री अपने समूचे विवेचन में यह बताना चाहते हैं कि तुलसी का कवित्व गति के भीतर स्थिति को खोज का एक ऐसा विराट उद्यम है जिसमें निर्गुण और सगुण, आध्यात्मिक और भौतिक, काल और कालातीत, दृश्य और अदृश्य, रूप और निरूप्य के प्रतिभासित से लगने वाले भेद धीरे-धीरे तिरोहित हो जाते हैं। कलिकाल के आध्यात्मिक भोथरेपन के बरक्स यह एक कृती का गहरा हस्तक्षेप है।

तुलसी की कविता विष्णुकान्त शास्त्री को दूसरे कवियों की उन कविताओं को पढ़ने-गुनने की दीक्षा भी देती है जो मनुष्य-भाव की रक्षा करती है : मनुष्य, समाज और सृष्टि की पवित्रता को बचाए रखने का जतन करती है। अनगिन मतवादों के शोर भरे हमारे इस अभागे समय में विष्णुकान्त शास्त्री जानते हैं कि कविता किसी विचारधारा के सत्यापन का माध्यम नहीं होती। ज़ाहिर है कि इसीलिए उनके प्रिय कवियों की दुनिया बड़ी है। उसमें कबीर हैं तो जायसी भी, रवीन्द्र हैं तो जीवनानंद दास भी, निराला हैं तो त्रिलोचन भी, अज्ञेय हैं तो केदारनाथ अग्रवाल भी।

मुझे बरसों पहले उनके साथ आनंद से भोपाल तक की गयी दिलचस्प यात्रा याद आ रही है। अज्ञेय, बच्चन, कुँवर नारायण आदि की कविताएँ सुनाने के बाद कहने लगे— 'राजेन्द्र जी, आपको बताऊँ, मुझे पता चला कि बाँदा में कवि केदारनाथ अग्रवाल का जन्म-दिन मनाया जा रहा है। कई प्रगतिशील और जनवादी लेखक और कवि हिस्सा ले रहे हैं। मैं भी वहाँ चला गया, कवि को शुभकामना देने। केदार जी के अवदान पर मुझे भी बोलने को कहा गया। वहाँ उपस्थित सारस्वतों को सम्बोधित करते हुए मैंने कहा कि 'मैं व्याख्यान के पहले कवि केदार की उन कविताओं को सुनाना चाहता हूँ जिनमें मैं जीता हूँ।'

विष्णुकान्त शास्त्री केदारनाथ अग्रवाल की बहुत देर तक केदारनाथ अग्रवाल की कविता सुनाते रहे। अन्यों के साथ रामविलास शर्मा भी चकित होकर सुनते रहे।

अपने आदरणीय बंधु के अमृत-उत्सव पर शतायु होने की स्वस्तिकामना के साथ, मैं उनके एक बार फिर रायपुर आकर मेरे सम्मानित अतिथि होने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। ●

सौजन्य : राधाकिशन सुँडसुँडवाला चैरिटी ट्रस्ट, ४, क्लाईव रो (लेक्टोपस) कोलकाता-२२

डॉ० रमानाथ त्रिपाठी

सहजता एवं आत्मीयता की प्रतिमूर्ति

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री से मेरी प्रथम भेंट जून, १९५६ ई० में हुई थी। उन दिनों मैं पी-एच.डी. उपाधि के लिए कृत्तिवासी बांग्ला रामायण के साथ रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन कर रहा था। पुस्तक और सामग्री के संचय के लिए मुझे कोलकाता की यात्रा करनी पड़ी थी। मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रान्तीय कार्यालय में ठहरा हुआ था। संघ के किसी कार्यक्रम में स्वयंसेवकों ने उनसे मेरा परिचय कराया था। बांग्ला भाषा के कई विद्वानों—डॉ० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय, डॉ० शशि भूषण दासगुप्त और डॉ० सुकुमार सेन से मेरा पत्र-परिचय था, किन्तु किसी हिन्दी विद्वान् से मेरा परिचय नहीं हो पाया था। शास्त्री जी ने पुस्तक और सामग्री के संकलन में मेरी सहायता की थी। उन्होंने कुछ पुस्तकालयों के नाम भी सुझाये थे। प्रथम भेंट में वे मुझे कॉलेज के छात्र जैसे लगे थे। कुछ समय पूर्व ही उनकी नियुक्ति कोलकाता विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक के रूप में हुई थी। मैं छह वर्ष से कानपुर के स्नातकोत्तर कॉलेज में पढ़ा रहा था। मैं संघ का दायित्व-पूर्ण स्वयंसेवक था। सम्भवतः मेरे मन में कुछ अभिमान था।

धीरे-धीरे शास्त्री जी उभरते गये और हिन्दी जगत् में अपना स्थान बनाते गये। स्वच्छ छवि के राजनेता, प्रभावशाली वक्ता और विशिष्ट शैली के कृतिकार के रूप में उनकी ख्याति का निरन्तर विकास होता गया। शास्त्री जी से हमारा पत्र-व्यवहार होता रहा, किन्तु भेंट नहीं हुई।

१९७१ ई० के आसपास जब पाकिस्तान से भारत का युद्ध चल रहा था शास्त्री जी ने बांग्लादेश (पूर्वी पाकिस्तान) की यात्रा की थी। घमासान युद्ध के माहौल में एक शिखा और धोती-कुर्ताधारी व्यक्ति का कट्टर मुस्लिम देश में विचरण करना जोखिम से भरा काम था। 'धर्मयुग' में शास्त्री जी ने रोचक शैली में लिखे दुःसाहसपूर्ण संस्मरण या रिपोर्ताज छपाये थे। तब लाखों पाठक शास्त्री जी के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित हुए थे।

एक दिन मैं कक्षा लेने पहुँचा, सारे कक्ष खाली पड़े थे। सभी छात्र एक बड़े कक्ष में एकत्र थे। मैं चुपचाप छात्रों के पीछे बैठ गया। कोई शिखाधारी लम्बे छरहरे सज्जन मोहन राकेश के नाटकों पर धड़ाधड़ भाषण दिये जा रहे थे। मैं सोच में पड़ गया, ये सज्जन कौन हैं, कहीं विष्णुकान्त जी तो नहीं हैं। कार्यक्रम के अन्त में धन्यवाद देते समय नाम स्पष्ट हो गया। सम्भवतः शास्त्री जी किसी शोध छात्र की मौखिक परीक्षा लेने आये होंगे। विभाग के बन्धुओं ने उनकी उपस्थिति का लाभ लेकर उनके भाषण का आयोजन कर दिया था। सब लोग कक्ष के बाहर आने लगे। मैंने आगे बढ़कर कहा, "आमाके चीनते पाच्छेन ?"— मुझे पहचान रहे हैं ?

"मैंने हँय कोथाओ देखेछि।" —लगता है कहीं देखा है।

'मैं रमानाथ त्रिपाठी हूँ।"

उन्होंने उत्फुल्ल होकर मुझे बाँहों में बाँध लिया। हम दोनों लगभग १६-१७ वर्षों के बाद मिल रहे थे।

सौजन्य : श्री त्रिवेणी केडिया, ११७, शरत चटर्जी रोड, कोलकाता-७०० ०८९

अब शास्त्री जी से मेरा सम्बन्ध और भी प्रगाढ़ हो गया। वे दिल्ली होकर पंजाब की ओर की यात्रा पर निकले थे। मैं अपनी प्रिय शोध-छात्रा आयुष्मती रश्मि बहल के साथ उनसे मिलने नयी दिल्ली स्टेशन गया। शास्त्री जी रश्मि के शोध-प्रबन्ध— 'फणीश्वरनाथ रेणु और सतीनाथ भादुड़ी के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन' के परीक्षक भी रह चुके थे। बातों के मध्य उन्होंने बताया था कि यदि कोई युवती खरी गोरी हो और उसके कपोलों पर स्वास्थ्य की लालिमा हो तो ऐसे सौन्दर्य को बांग्ला भाषा में 'दुधे आलता', दूध में आलता कहते हैं। उनकी यह उक्ति मुझे बहुत अच्छी लगी थी। मैंने अपने लेखन में इसका उपयोग किया है।

मध्यप्रदेश तुलसी अकादमी (भोपाल) की कार्यकारिणी के हम दोनों ही सदस्य रहे हैं। इसका एक कार्यक्रम उज्जैन में आयोजित हुआ था। जहाँ तक मुझे याद है, हम दोनों एक ही कमरे में ठहराये गये थे। हम उज्जैन के दर्शनीय स्थान देखने निकले। प्रसिद्ध सिप्रा नदी सूखी पड़ी थी। इसके तट पर खड़े होकर शास्त्री जी धड़ाधड़ नागार्जुन की कविताएँ सुनाने लगे। वे बोले, "वामपन्थी नागार्जुन को अपनी जमात का मानते हैं। उनकी कविताओं में भारतीय संस्कृति के साथ गहरा जुड़ाव है।" हम काल-भैरव मन्दिर के पास आ गये। तभी पास के मन्दिर में वेदमंत्र गूँज उठा। शास्त्री जी लपक कर मन्दिर जा पहुँचे और ब्राह्मणों के स्वर में स्वर मिलाकर मंत्र-पाठ करने लगे।

चित्रकूट में भी तुलसी अकादमी का कार्यक्रम आयोजित हुआ था। हम दोनों कामदगिरि की परिक्रमा के लिए चल पड़े। अन्य लोग लगभग डेढ़ घण्टे में परिक्रमा पूरी करते हैं। हम दोनों लम्बे-छरहरे ठहरे, हमने एक घण्टे में ही परिक्रमा पूरी कर ली। इस बार शास्त्री जी ने पद्माकर के छन्द सुनाने आरम्भ कर दिये। मैं चकित था, इस व्यक्ति को अनेक कवियों के छन्द कैसे कण्ठस्थ रहते हैं। अब राम के व्यक्तित्व से प्रभावित शास्त्री जी पद्माकर के राम-विषयक छन्द का पाठ कर रहे थे, जिसकी अन्तिम पंक्ति थी—

अधम-उधारन न सुनते तिहारो नाम,
और की न जानै पाप हम तो न करते।

मैं इस पंक्ति की पैरोडी बनाता हुआ बोल पड़ा था—

होतो जो न शास्त्री को संग सुखदाई तो,
और को न जानै हम परिक्रमा न करते।

शास्त्री जी दिल्ली आने पर भाजपा के अशोकनगर वाले कार्यालय में ठहरा करते थे। एक दिन मैंने तुनककर फोन पर कहा, "शास्त्री जी, आप दिल्ली आकर मुझसे सम्पर्क क्यों नहीं करते? आपका इतना दुःसाहस? आप जानते नहीं मैं कौन हूँ।"

वे नम्रतापूर्वक बोले, 'त्रिपाठी जी, बताइए आप कौन हैं?"

"मैं भारती का ताऊ हूँ।"

भारती, शास्त्री जी की एकलौती बेटी है। मैं कहना चाहता था कि मैं आयु में आपसे बड़ा हूँ, इसलिए कमसे कम वयस का ध्यान रखकर मुझे इतना सम्मान तो दें कि मुझसे फोन पर सम्पर्क कर लिया करें। शास्त्री जी ने और भी अधिक छद्म नम्रता दिखाते हुए कहा, "त्रिपाठी जी, भारती तो बछिया है।"

मैं हँस पड़ा, "मुझे बछिया का ताऊ कहलाने में कोई आपत्ति नहीं है।"

सौजन्य : मोहनलाल ब्रदर्स, जयश्री प्लास्टिक्स्, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

सम्भवतः नयी पीढ़ी के लोग शास्त्री जी का विनोद न समझ पाएँ। 'बछिया का ताऊ' का अर्थ है—सीधा-सादा, भोंदू व्यक्ति।

कोलकाता के मेरे मित्र श्री जुगलकिशोर जैथलिया ने मुझसे फोन-सम्पर्क कर कहा था, "मैं आपको इस वर्ष का पं० दीनदयाल उपाध्याय साहित्य-सम्मान देना चाहता हूँ। क्या आप इसे स्वीकार करेंगे? यह सम्मान उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री विष्णुकान्त शास्त्री के कर-कमलों द्वारा दिया जाएगा।"

मैंने सहर्ष सम्मति दे दी थी। एक, यह सम्मान मेरे आत्मीय बन्धु जैथलिया जी दे रहे थे। दो, यह मेरे परम श्रद्धेय पं० दीनदयाल जी के नाम पर है। तीन, यह शास्त्री जी जैसे विद्वान् उच्च पदस्थ व्यक्ति के द्वारा दिया जाएगा।

जैथलिया जी ने मुझे सपत्नीक आमंत्रित किया था। हम दोनों जैथलिया जी के जन्मस्थान छोटीखाटू (राजस्थान) पहुँच गये। शास्त्रीजी धूमधाम से आ गये। उन्हें पत्रकारों, कैमरामेन, संघ, भाजपा के कार्यकर्त्ताओं, पुलिसवालों और जनता ने घेर लिया। इसका उसका उद्घाटन करते हुए वे आगे बढ़े और मुझे देखकर मेरे निकट आये। आर्थराइटिस से पीड़ित मेरी पत्नी डगमगाती हुई मेरे साथ चल रही थीं। मैं शास्त्री जी से उनका परिचय कराता उसके पहले ही वे बोल पड़े, "ये बछिया की ताई हैं।"

हम खिलखिलाकर हँस पड़े। लोग चकित थे कि हमारे बीच कूट भाषा में क्या कह दिया गया है। बाद में पत्नी हेम ने कहा था, "शास्त्री जी बिल्कुल नहीं बदले। वैसे ही हँसमुख और सहज आत्मीय बने हुए हैं।"

"यही तो उनका बड़प्पन है।"

इसी कार्यक्रम में कोलकाता से आये विद्वान् डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी से मेरा परिचय हुआ था।

संघ जैसी शुद्ध राष्ट्रभक्त संस्था से सम्बन्ध होने के कारण शास्त्री जी को राज्यपाल के पद से मुक्त कर दिया गया। इससे शास्त्री जी का कुछ नहीं बिगड़ा, निकृष्ट सत्तालोलुप (सेक्युलर ?) राजनेता ही इससे बौने सिद्ध हुए हैं।

अब शास्त्री जी उच्च पद पर नहीं हैं, वे अब और भी सहज हैं। उनसे बहुत अपेक्षाएँ हैं। वे राजनीति के पंक में पंकज हैं तो साहित्य के क्षेत्र में शुभ्र सुगन्ध देने वाले पारिजात हैं। मेरी हार्दिक कामना है कि वे पूर्ण स्वस्थ रहकर दीर्घायु प्राप्त करें और ललित शैली में लिखित अपनी रम्य रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करते रहें। ●

सौजन्य : सतीश चन्द्र अग्रवाल, ९, इंडिया एक्सचेंज प्लेस, कोलकाता-७०० ००१

केशव दीक्षित

श्री विष्णुकान्त शास्त्री – जैसा देखा जैसा पाया

गाँधी हत्या के बाद संघ पर १९४८ में प्रतिबंध लगा था। प्रतिबंध हटाने के लिये सरकार के साथ अनेक पत्राचार के पश्चात् सारे देश में सत्याग्रह करने का आह्वान किया गया। लगभग ८०००० स्वयं सेवकों ने सत्याग्रह कर कारावरण किया था। पश्चिम बंगाल में भी सैकड़ों स्वयंसेवकों ने सत्याग्रह किया था। तब के एक तरुण कार्यकर्ता भी उनमें थे श्रद्धेय श्री विष्णुकान्तजी शास्त्री। तब कौन जानता था ये तरुण स्वयंसेवक एक प्रकांड पंडित सर्वजन श्रद्धेय नेता बनने वाले हैं।

विष्णुजी केवल पुस्तकों में रमने वाले विद्वान नहीं हैं, ज़मीन के साथ घुलमिल कर कार्यकर्ता रह चुके हैं। १९५० में मैं कलकत्ता आया तब बड़ाबाजार ही मेरा कार्यक्षेत्र था। विष्णुजी से परिचय शाखा में कबड्डी प्रतियोगिता में हुआ था। सत्याग्रह में कारावास के समय कार्यकर्ताओं में बहुत भ्रम उत्पन्न हुआ था। कुछ बदल चाहने वाले कार्यकर्ता बीच-बीच में चर्चा करने के लिये कार्यालय आते थे। दूसरी बार साक्षात्कार विष्णुजी से हुआ तब के सरकार्यवाह माननीय भय्याजी दाणी के आगमन पर। उनसे चर्चा करने वालों में अग्रणी के रूप में मैंने श्री विष्णुजी को देखा।

१९७१ में बांग्लादेश की लड़ाई के समय श्री विष्णुकान्तजी बांग्लादेश भी भ्रमण कर आये थे। लड़ाई चलते समय भ्रमण कर आना काफी साहसी कदम था। उस समय का वातावरण भी काफी अनुकूल था। वहाँ के मुस्लिम साहित्यिकों के साथ भी उनका सम्पर्क हुआ। वहाँ से लौटने के बाद श्री विष्णुजी के साथ जकरिया स्ट्रीट में श्री बजरंगलाल जी लाठ के कार्यालय में (कोई एक सर्वोदयी नेता भी साथ में थे) काफी लम्बी चर्चा हुई। थोड़ी बहुत बहस भी हुई थी।

लम्बे अर्से के बाद आपात्काल के पश्चात् निर्वाचन के समय निकट से उनके सम्पर्क में मैं आया। विधान सभा के हमारे दो ही सदस्य थे। श्रद्धेय श्री हरिपद भारती और श्री विष्णुकान्त शास्त्री। दोनों ने ही अपार मान, सम्मान और श्रद्धा प्राप्त की। इसके बाद तो विष्णुजी एक एक कदम ऊँचाई पर चढ़ते गये। दो बार प्रदेश भारतीय जनता पार्टी के सभापति के नाते सफलता के साथ उन्होंने कार्य किया है। हिन्दी भाषी होने के नाते भी बंगाली कार्यकर्ताओं के साथ हिलमिल कर कार्य करने के कारण वे सर्वजन प्रिय हो उठे।

राज्यसभा के सदस्य बनने के बाद उनके साथ न्यू जलपाईगुड़ी से दार्जिलिंग मेल से आना पड़ा। वातानुकूल टू टियर में उन्हीं के साथ आया। एक आसन ऊपर का एक नीचे का। लेकिन बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने मेरे लिये नीचे का आसन छोड़ा और स्वयं ऊपर के आसन पर विश्राम करने गए।

जिस साहस के साथ वे बांग्लादेश में गये उसी साहस का परिचय उन्होंने राममंदिर आंदोलन में भी दिया। सैकड़ों किलोमीटर रास्ता तथा अनेक बाधाओं को पार करके वे अयोध्या में राम दर्शन करने में सफल हुए। लौट कर आने पर उन्होंने अपना अनुभव बड़े रसमय ढंग से प्रस्तुत किया।

सौजन्य : गोविन्द प्रसाद झण्डेलवाल, ११/३/१, गोपीनाथ बोंगशाल लेन, कलकत्ता-१

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कार्यकर्ता की जो व्याख्या की है श्री विष्णुजी उसके साक्षात् उदाहरण हैं। श्री गीता हो या उपनिषद् सरल ढंग से साधारण श्रोताओं को भी समझ में आये, ऐसी व्याख्या करने का कठिन काम सबके साथ मिलते रहने के कारण वे सहजता से करते हैं। फिर भारतीय जनता पार्टी का ध्येयवाद हो या दीनदयालजी का 'एकात्ममानवतावाद' वे समान रूप से व्याख्यायित करते हैं। इसीलिये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तृतीय वर्ष शिक्षावर्ग में नागपुर में उनको एकात्ममानवता पर बौद्धिक देने के लिये निमंत्रण दिया गया था। इस कार्य को उन्होंने यशस्वी रूप से निभाया। उसी प्रकार अंदमान में वहाँ के कार्यकर्ताओं की कार्यशाला में तीन दिन भारतीय जनता पार्टी के पंच सूत्रों को बड़े अच्छे ढंग से कार्यकर्ताओं को समझाया।

ये सब करने के लिये वे कितना परिश्रम करते हैं उसका परिचय एक दिन मिला। उनके साथ गाड़ी में बैठकर हमलोग जा रहे थे उन्होंने तब दो कागज दिखाये जिस में ईशावास्योपनिषद् के प्रवचन के लिये आवश्यक बिंदु थे। पण्डित हैं इसलिये केवल स्मृतिनिर्भर न रह कर परिश्रम से प्रस्तुति करना— यह प्रकृत विद्वान के लक्षण हैं।

ऐसे ही एक समय राष्ट्रीय सिख संगत के कार्यक्रम में आप प्रमुख वक्ता के रूप में आये थे। श्री गुरुग्रंथ साहब का कितना गहन अध्ययन उन्हें है, यह देख कर सिख श्रोता भी दंग रह गये। ऐसे कर्मठ विद्वत्ता से भरपूर कार्यकर्ता का सभी आदर करते हैं।

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान सर्वत्र पूज्यते' इस कथनानुसार संसार भर में, कई देशों में प्रवचन के लिये उनका जाना हुआ है। बाद में वे जब राज्यपाल बने तो ऐसा लगा जैसे राज्यपाल का पद उनके वहाँ बैठने से गौरवान्वित हो गया है। श्री विष्णुजी जैसा व्यक्तित्व जिस स्थिति में हो, चमकता ही रहेगा। क्योंकि जिस स्थान पर वे बैठे हैं, उससे उनका व्यक्तित्व निखरता नहीं है वे स्वयंप्रकाशी हैं। राज्यपाल रहते हुए और अब न रहते हुए भी उनकी गरिमा कम नहीं होगी क्योंकि कहा गया है कि —

उदये सविता रक्तः रक्तश्चास्तमने तथा।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतां एकरूपता।।

उदयकाल और अस्तकाल में सूर्य लालिमायुक्त होता है। महान् व्यक्ति भी वैभव और संकट में एक जैसे ही रहते हैं। ऐसे महान् व्यक्ति को निकट से देखने का, अनुभव करने का अवसर भगवान् ने दिया है इसलिये आनंद होता है। वे निरंतर सबको आनंद देते रहें और हम पाते रहें, यही कामना है। ●

सौजन्य : चिरंजीलाल बाजकुमार, १७४, महात्मा गाँधी रोड, कोलकाता-७०० ००७

नन्दलाल शाह

विद्वद्वर और अपनत्व

१९५६ से मैं कभी पास से कभी दूर से श्रद्धेय शास्त्रीजी से सीखता आ रहा हूँ। मैं उस समय पोद्दार छात्र निवास में रहता था। एक संस्था, मारवाड़ी छात्र संघ के नाम से छात्र निवास के कमरा नं. १ से संचालित होती थी। छात्र निवास में विभिन्न विषयों के १२ छात्र रहते थे और लगभग २००० छात्र मारवाड़ी छात्र संघ के सदस्य थे। शनिवार, रविवार को साहित्यिक गतिविधियों और वादविवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन होता था। श्री शास्त्री जी से सीखने के लिए छात्र लालायित रहते थे। अंग्रेजी साहित्य के क्षेत्र में प्रो० पी. लाल लोकप्रिय थे। इन दोनों विद्वानों से अनेक प्रकार के विषयों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हम लोग सीखते रहते थे। इनके निर्देश के अनुसार, हमलोग कलकत्ता विश्वविद्यालय, बड़ाबाजार कुमारसभा एवं राम मन्दिर पुस्तकालयों से पुस्तकें लाकर पढ़ते रहते थे। यद्यपि छात्र निवास में अधिकांश छात्र सी.ए. और मेडिकल के थे, परन्तु फिर भी कुछ लेख और कविताएँ लिखते ही रहते थे और आपस में सुनने-सुनाने का आयोजन करते रहते थे। उस युवावस्था में भी श्रद्धेय शास्त्रीजी की आँखों में वात्सल्य और गुरु रूप देखकर हम छात्र भाव विभोर थे। इस व्यवस्था में मैं लगातर १९५६ से १९६१ तक शामिल रहा हूँ। यह बड़े गौरव और हर्ष की बात है कि हमारे पाँचों भाइयों रेवतीलाल, नन्दलाल, रतन, शशी शेखर और प्रमोद सभी को शास्त्री जी का स्नेह और मार्गदर्शन निरन्तर मिलता रहा। इन सभी की रुचि विद्यार्थी-जीवन से ही साहित्य में रही है। अतएव श्रद्धेय शास्त्रीजी हम लोगों के लिए और भी अधिक श्रद्धा और आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। एक बार मेरे छोटे भाई प्रमोद ने एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया था। उसमें श्री शर्मा जी अध्यक्ष और श्री शास्त्री जी मुख्य अतिथि थे। उस अवसर ने अल्प समय में ही श्री शर्माजी के लड़के विनोद और शास्त्रीजी की लड़की भारती को विवाह बंधन में बाँध दिया जो बहुत ही सुखद और आनन्दप्रद है। श्री शर्मा जी मेरी बहिन अरुणा खंडेलिया को पुत्री की तरह मानते और विनोद बहिन की तरह। अतएव शर्मा जी के परिवार से भी हमारे पूरे परिवार का घनिष्ठ संबंध था। अरुणा विनोद-भारती के लिए आज भी वही स्थान रखती है। विनोद-भारती की शादी में हम लोग नाचते-गाते बरात लेकर गये थे; बराती-घराती दोनों ही थे। इनके घर मेरी पत्नी सरोज अगर कभी चली जाती थी, तो भारती की माताजी ऐसा आभास करा देती थीं जैसे वह भारती के ससुराल से आई है। हम लोग विद्यार्थी-जीवन से ही श्री शास्त्रीजी को गुरु स्वरूप देखते आये हैं, परन्तु उनके अपनत्व की भावना से युवाकाल से ही अभिभूत हैं। बात हमारे परिवार के साथ ही नहीं है, लगता है जैसे हर परिवार के साथ उनका ऐसा ही संबंध है; "हर दरवाजा राम-दुआरा सबको शीश नवाता चल," या फिर "इसको भी अपनाता चल, उसको भी अपनाता चल, राही है सब एक डगर के, सब पर प्यार लुटाता चल"। शास्त्रीजी का विश्वास है, "संशय, घृणा, आस्था, संघर्ष के इस कठिन युग में भी मनुष्य मनुष्य है और मनुष्यता प्रेम के द्वारा ही अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकती है" (अनंत पथ के यात्री : धर्मवीर भारती, पृ० ९५)

सौजन्य : मोहिनी सिल्कोटेक्स प्रा० लि०, ९५, शीलवाड़ा टेक्सटाईल मार्केट, पुर रोड, शीलवाड़ा-१

बहुत वर्षों पूर्व शास्त्री जी एक बार अमेरिका गए। हमारे पारिवारिक संबंधों के कारण वे मेरे छोटे भाई डॉ० शशि और उसकी पत्नी डॉ० पुष्पा के घर पर न्यूयार्क में ठहरे। डॉ० शशि अमेरिका में नामी-गिरामी युरोलोजी सर्जन हैं। वह 'आल इन्डियन्स इन अमेरिका एसोशियेसन' का अध्यक्ष भी लम्बे समय तक रहा है। उसे कविताओं का बहुत शौक है। वह शास्त्री जी से उस समय पूरा परिचित नहीं था। उसने शास्त्री जी के सान्निध्य का लाभ उठाने की बजाय उनको अन्य कवियों की खूब कविताएँ सुनाई। हिन्दुस्तान आने के पश्चात् शास्त्री जी ने मुझसे उनकी बड़ाई की और अपना आशीर्वाद उन्हें भेजने के लिए कहा। आज तक शशि-पुष्पा शास्त्री जी के अत्यन्त स्नेह-पात्र हैं। इसी प्रकार एक बार वे लन्दन में थे। उन्हें जहाँ ठहरना था, वह व्यवस्था गड़बड़ा गई। अतएव हमारे एक घनिष्ठ पारिवारिक मित्र श्री एस. के. छाजर के घर पर ठहरने की व्यवस्था हुई। श्री छाजर पिलानी से पढ़े हुए इंजीनियर हैं। छाजर जी का परिवार हिन्दी साहित्य का प्रेमी नहीं है। उनकी पत्नी, लड़के, बहुएँ और पोते-पोतियाँ इतने वर्षों बाद भी यह राह देखते रहते हैं कि शास्त्री जी फिर कब आयेंगे। हाँ छाजर-दम्पति जब जब हिन्दुस्तान आते हैं, शास्त्री जी से अवश्य मिलकर ही वापिस लंदन जाते हैं। पिछले वर्ष एक दिन के लिए मिलने वे कलकत्ता से लखनऊ भी गये। शास्त्री जी ने मुझसे कहा था कि आप भी छाजर जी के साथ ही लखनऊ आ जायें परन्तु अप्रत्याशित कारणों से ऐसा हो नहीं पाया।

मेरी पत्नी सरोजिनी अपनी पी-एच.डी. का काम डॉ० प्रबोध नारायण सिंह के निर्देशन में कर रही थी जो उनकी अस्वस्थता के कारण पूरा नहीं किया जा सका। यह कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व पारिवारिक और अत्यन्त निजी संबंधों के कारण एक अन्य विषय लेकर जो किसी कवि पर था, हम दोनों शास्त्री जी के पास सुझाव के लिए पहुँचे। वह विषय सम्भवतः शास्त्री जी की अनुमति के अन्तर्गत नहीं था। उन्होंने कहा कि पी-एच.डी. का अभिप्राय है खोज करना यानि रिसर्च करना। खोजने के बाद यह भी मालूम हो सकता है कि वहाँ कुछ नहीं निकला तो वह भी खोज ही है। अपनी अनुमति न देने का यह शालीन तरीका उनकी विद्वत्ता, व्यक्तित्व और मधुर भाषण का मुझे सदैव अनूठा उदाहरण लगता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उस विषय पर फिर सरोज के आगे बढ़ने का प्रश्न ही नहीं था। तत्पश्चात् अन्य विषय पर सरोज ने अनेक दिनों तक काम किया।

पोद्दार भवन, कैमक स्ट्रीट में एक बार एक गोष्ठी में शास्त्री जी से कविताएं सुन रहे थे। उन्होंने कहा कि जब मैं किसी कवि की कविता पढ़ता हूँ तो उस समय वो कविता मेरी होती है और मैं उस कविता को अपनी कविता की तरह सम्भालकर पढ़ता हूँ। हमलोग भी ऐसा करते तो थे, परन्तु ऐसी अभिव्यक्ति के अभाव में यह दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं था। उस दिन के बाद मुझे कविता पढ़ने में और आनन्द आने लगा।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दूर या पास से, मैं विगत ४८ वर्षों से शास्त्री जी से सीखता और पढ़ता आया हूँ। उसके लिए मैं उनको नमन करता हूँ। विद्वानों के लेखन और कथन से सीखने को तो मिलता ही रहता है, परन्तु जिस अपनत्व के साथ उनकी विद्वत्ता प्रभाव छोड़ती है, इसका वर्णन करना मेरे लिए संभव नहीं है, यह तो अनुभूति की ही बात है। ●

सौजन्य : बजरंगलाल तुलस्यान, एडवोकेट, ६४, स्ट्राण्ड रोड, कोलकाता-७०० ००६

डॉ० हरिप्रसाद दुबे

भारतीयता के पर्याय

राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य साधक, भारती-उपासक आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ऐसे व्यक्तित्व के धनी हैं जो समस्त भारत में ही नहीं अपितु समूचे विश्व में हिन्दी के सारस्वत पुत्रों में अग्रगण्य हैं। बचपन से लेकर आज तक उन्होंने जितनी निष्ठा से हिन्दी और भारतभूमि के प्रति असीम अनुराग रखा, वह अन्य लोगों में प्रायः नहीं है। वे भारतीयता के पर्याय बनते चले गये। आज देश के मूर्धन्य चिन्तक के रूप में इनका विमल व्यक्तित्व जनमानस को अनुप्राणित कर रहा है। आचार्य शास्त्री का प्रसन्नचित्त स्वभाव, तत्काल उत्तर देने की सामर्थ्य के साथ-साथ दूसरे सैकड़ों कवियों की रचनाएं तुरन्त सुना देने की क्षमता की कला किसी भी सहृदय को सम्मोहित कर लेती है। विनम्रता उनमें जन्मजात संस्कार से मानो मिली है। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े का शास्त्री जी सम्मान करते हैं।

आचार्य शास्त्री ने हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल रहने के बाद हिन्दी की हृदय स्थली उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद को सुशोभित किया है। भारत कोकिला सरोजिनी नायडू एवं के. एम. मुंशी के पश्चात् इतने विद्वान और बहुभाषाविद् शास्त्री जी इस पद पर आये। अपनी विद्वत्ता, सरलता और सहृदयता से ओतप्रोत कार्य किया। संस्कृति से इन्होंने राजभवन का कलेवर परिवर्तित कर दिया। उत्तर प्रदेश के राजभवन के कक्षों के अंग्रेजी नामों को परिवर्तित करके हिन्दी, भारतीय संस्कृति और साहित्य से नाम चुनकर हिन्दी में नामकरण करके इन कक्षों को अर्थपूर्ण पहचान प्रदान की। इन कक्षों के परिवर्तित नाम नील कुसुम, अमलतास, तृप्ति, अन्नपूर्णा और प्रज्ञा रखे गये हैं। आयुर्वेद औषधियों के संरक्षण के लिए धन्वन्तरि वाटिका विकसित करके घृत कुमारी, ब्राह्मी, अश्वगंधा प्रभृति पौधों का रोपण स्वयं शास्त्री जी ने किया। मनसा-वाचा-कर्मणा एक रहकर आचार्य जी के व्याख्यान श्रोताओं के हृदय छूते रहे। राजभवन परिसर में ही प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, कथाकार श्री भगवतीचरण वर्मा, महाकवि निराला आदि के जन्ममहोत्सव मनाकर साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा को अनुप्राणित किया।

मूलतः प्रोफेसर रहे आचार्य शास्त्री किसी भी विश्वविद्यालय या शिक्षण संस्थान में स्वयं को शिक्षक के रूप में बताकर पुलकित होते हैं। कुलाधिपति के रूप में एक वर्ष में सत्र नियमन और अनेक मामलों का निस्तारण करके शास्त्री जी ने प्रतिष्ठा प्राप्त की। अपने को विवाद से दूर रखने का पूर्ण प्रयास करते हैं। अनेक विपरीत परिस्थितियों में इन्होंने धैर्य से कार्य किया है। इधर के चुनाव में किसी के सरकार न बना पाने की स्थिति में राष्ट्रपति शासन की संस्तुति करके जाति क्षेत्र की संकीर्णताओं से ऊपर उठने का संदेश इन्होंने दिया है। बेसिक शिक्षा का नाम 'प्रारंभिक शिक्षा' और जनता दरबार का 'जन मिलन' करके आचार्य शास्त्री ने शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया है। किसी के भी दिये गये पत्र का उत्तर सदा देते हैं और अंत में 'प्रभु कृपा' लिखना नहीं भूलते। किसी समस्या का अत्यंत सटीक ढंग से उत्तर देना आप ललित शैली में जानते हैं।

दार्शनिक रूप में शास्त्री जी का चिन्तन अत्यंत उदात्त है। वे लिखते हैं 'यह आवश्यक है जिस स्थिति पर आप हैं उस स्थिति में जो दृष्टि आपकी है, उस दृष्टि के अनुसार ईमानदारी से आप चेष्टा करें। अगर आप अपनी

सौजन्य : राजस्वरूप लोहिया, १०१ए, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ०७३

दृष्टि के प्रति निष्ठावान होकर 'यथासंभव निष्काम भाव से कर्म करते जायेंगे तो आप अवश्य उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करेंगे।..... जो खुद भिखारी है उससे प्रार्थना नहीं की जाती। किसी से मत मांगिये और अगर मांगना ही है तो परमात्मा से मांगिए जिससे मांगने पर याचनावृत्ति ही भस्म हो जाती है।' शास्त्री जी तुलसी की भक्ति से परिपूर्ण अपना चिन्तन अध्यात्मपरक रखते हैं। गतवर्ष तुलसी उपवन, कानपुर में तुलसी जयन्ती पर अपने विचार रखते हुए आचार्य शास्त्री ने कहा 'गोस्वामी तुलसीदास ने समष्टि और श्रीराम को अपने कृतित्व का आधार बनाया जो कण-कण में और क्षण-क्षण में व्याप्त है। तुलसी की कृपा तो अयोग्यों पर भी बरस जाती है। राम तो कठपुतली की तरह सबको नचाते हैं। उन्हीं में से मैं भी हूँ। तुलसी को देखने के लिए विनम्र समर्पण और अपने को मिटाने की शक्ति होनी चाहिए। राम भीतर की कंगाली दूर करते हैं।

अपने 'ईशावास्यमिदं सर्वं' आलेख में आचार्य जी की अभिव्यक्ति है "ईशावास्य उपनिषद् पर प्रवचन मैं करूँ यह नितान्त दुःसाहस है फिर भी मैंने इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया क्योंकि इस क्षेत्र में मुझे अपने गुरु अखण्डानन्द जी सरस्वती का संबल प्राप्त है।"

अधिकतर लोग तो राम के काम का बहाना करके रावण का ही काम करते हैं। 'सादा जीवन उच्च विचार' के संपोषक आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री मानवीय मूल्यों के संरक्षक हैं। यथार्थ, सच्चाई व न्याय के प्रति समर्पित व्यक्तित्व के धनी आचार्य जी को अमृत महोत्सव पर बधाई। ●

अध्यात्म-चिंतक को नमन

जीवन-यात्रा राममय, सर्जन में अध्यात्म।
सब में देखें राम को, सबमें देखें आत्म।।
प्रेरक तथा प्रभावप्रद, इनका सद् व्यक्तित्व।
प्रतिभा बहु आयाममय, रम्य परम कर्तृत्व।।
दक्ष प्रशासक स्वच्छ छवि, नेता हैं विख्यात।
सम्मोहक वक्ता सरस, ज्ञानी भक्त उदात्त।।
चरम शिखर अध्यात्म के, पुरुष संस्कृति दिव्य।
महिमा वर्णन से परे, गरिमा पग-पग नव्य।।
कहाँ विशद व्यक्तित्व अति, कहाँ तुच्छ मम बुद्धि।
कैसे कह पाऊँ सहज, वैभव, सुकृति, समृद्धि।।

—डॉ० अजय शुक्ल

सौजन्य : जगदीराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २१८, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

प्रकाश त्रिपाठी

निष्काम कर्मयोगी

"उसी उदार की कथा, सरस्वती बखानती,
उसी उदार से धरा, कृतार्थ भाव मानती।
मरा नहीं वही कि जो, जिया न आपके लिए,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।।"

हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य धरोहर, भक्तियोगी, ऋषिवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की अन्य-जन दुर्लभ राष्ट्रभक्ति, व्यापक मानवीय चेतना, अटूट सांस्कृतिक अवधारणा, अनुपम गाम्भीर्य, शास्त्रीय ज्ञान तथा साहित्यिक पैठ एवं विलक्षण स्मरण शक्ति: प्रशंसनीय ही नहीं प्रत्युत् सभी जनों के लिए सर्वथा अनुकरणीय भी है। शास्त्री जी का बहुआयामी व्यक्तित्व सर्वजन विदित है। राजनीति, साहित्य, अध्यापन तथा जनसेवा के क्षेत्र में इन्होंने सराहनीय कार्य किया है। हिन्दी, संस्कृत, बांगला, उर्दू तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में शास्त्री जी की समान गति एवं पैठ है। मातृ-भूमि और मातृ-भाषा के प्रति उनकी अगाध आस्था, शतधा संस्तुत्य है।

शास्त्री जी एक ऐसे महामानव हैं जिनमें इल्म एवं इन्सानियत का मणिकाञ्चन योग है। इल्म तो बहुत लोगों में होता है किन्तु इल्म के साथ-साथ इन्सानियत का योग बिरले महापुरुषों में ही पाया जाता है। संस्कृत में ठीक ही कहा गया है कि—

"मनीषिणः सन्ति न ते हितैषिणः ।
हितैषिणः सन्ति न ते मनीषिणः ।।"

शास्त्री जी सरस्वती के वरदपुत्र हैं। इनमें हिन्दी साहित्य की धवल गंगा, राजनीतिक कौशल की श्यामवर्णा यमुना तथा जनसेवा-धर्मिता की अनुरागमयी सरस्वती का विलक्षण संगम दृश्यमान है। बंगाल की पावन धरती पर शास्त्री जी के सदृश नर-रत्न को पाकर 'बहु रत्ना भारत वसुन्धरा' का नाम चरितार्थ तथा कृतार्थ हो गया है।

आचार्य जी सादा जीवन, उच्च विचार के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इस जगत में पर-उपदेशक को बहुसंख्यक विद्वान सुलभ हो जाते हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन में विरले महापुरुष ही कार्य-रूप में दृष्टिगत होते हैं। साधारण जनोचित धोती-कुर्त्ता एवं दुपट्टे में शास्त्री जी को देखकर सभी लोग उनकी आन्तरिक सरलता, ऋजुता तथा तपःपूत जीवन की सदाशयता का अनुमान लगा लेते हैं। मूढ़ लोग पाषाण-खण्डों में रत्न खोजते हैं किन्तु मनीषीजन नर-रत्न को ही सच्चा रत्न मानते हैं। शास्त्री जी का सरल व्यक्तित्व उनकी सादगी का सच्चा प्रतीक है। वे भारतीय संत परंपरा के प्रज्ञा पुरुष हैं। हमारी भारतीय संस्कृति की सर्वोत्तम थाती हमारी आध्यात्मिक आस्था है। जहाँ विश्व के अन्य देश एवं राष्ट्र सांसारिकता की आपाधापी में दौड़ते हैं, वहाँ हम भारतीय आध्यात्मिकता में अडिग निष्ठा रखते

सौजन्य : रामगोपाल सहेश्वरी, सहेश्वरी ब्रदर्स लिमिटेड, २३ए, एन. एस. रोड, कोलकाता-१

हैं। परिष्कारीकरण और पुर्वीकरण में यही विभेद है। शास्त्री जी हमारी अक्षुण्ण संत-श्रृंखला की माला के एक भासमान सुमेरु हैं। शास्त्री जी का सतत प्रफुल्ल मुखमण्डल, उनकी हृदय की निर्मलता एवं धवलता का दिव्य प्रतिबिम्ब है। कहा भी गया है कि मुखाकृति हृदय की भावना का दिव्य दर्पण है।

बहुआयामी व्यक्तित्व के महाधनी शास्त्री जी के व्यक्तित्व में कई गुणों का समुच्चय है। आचार्य जी से कई बातें सीखने को मिलती हैं। सर्वप्रथम बात यह है कि उन्होंने निष्काम कर्मयोगी एवं आधुनिक मनीषी हैं। उन्होंने कभी किसी से कुछ चाहा नहीं और माँगा भी नहीं। साहित्य मनीषी आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने शास्त्री जी को भक्ति साहित्य में डूबे हुये व्यक्ति एवं बेजोड़ संस्मरण लेखक माना है। शास्त्री जी के चरित्र में प्रो० गोविन्द चन्द्र पाण्डे के अनुसार—उनमें राजर्षि का आदर्श चरितार्थ होता है। आलोचक प्रो० रामस्वरूप चतुर्वेदी जहाँ शास्त्री जी को सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का प्रतीक मानते हैं वहीं सुप्रसिद्ध कथा-लेखिका मन्नू भण्डारी अडिग आस्था का प्रतीक स्वीकार करती हैं। कवि एवं भारत के पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी शास्त्री जी को एक समाजसेवी एवं निष्काम कर्मयोगी के रूप में स्वीकारते हैं। राजनीति, साहित्य या कि अध्यापन के क्षेत्र में जिन ऊँची स्थितियों तक शास्त्री जी पहुँचे हैं वह सब स्वयमेव इनको प्राप्त हुआ है। आज की उठापटक की दुनिया में यह एक विलक्षण अपवाद है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री अटूट आस्था के निरुपम प्रतीक हैं। इनकी कर्मयोग में महती आस्था है। कर्म ही इनके लिए पूजा है। राजनीति जैसे विषम क्षेत्र में आकर भी शास्त्रीजी ने अपनी मूल्यवादिता की सदा यथा-शक्ति सुरक्षा करने की पूर्ण चेष्टा की है। जैसे—कमल जल में रहकर भी जल से अछूता रहता है अर्थात् जल के ऊपर रहता है वैसे ही आचार्य शास्त्री राजनीति में रहकर भी उसके विकारों से सदैव दूर रहने का प्रयास करते हैं।

शास्त्री जी महात्मा गाँधी के व्यावहारिक उदाहरण हैं। सन्त महर्षियों की त्याग तितिक्षा की प्रतिमूर्ति हैं। भारतीय आध्यात्मिक अवधारणा के आस्थावान प्रज्ञा-पुरुष हैं। ●

आचार्य शास्त्री

"विष्णुकान्तजी मेरे लिए हमेशा आदरणीय रहे हैं— विद्वान, संस्कारवान, वैचारिक औदार्य के केन्द्रबिन्दु, शब्द के प्रति आस्थावान, अपनी बात के धनी, भाषा के अद्भुत शिल्पी, अच्छी कविता के विलक्षण पारखी। श्रेष्ठ कवियों की उत्कृष्ट कविताओं के उद्धरण शास्त्रीजी के मुख से सुनना एक अनोखे अनुभव से गुज़रना होता है। उनकी वाणी पर माँ शारदा का वरदान है।"

—कन्हैयालाल नन्दन

सौजन्य :

डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'

एक श्रेष्ठ सांस्कृतिक महापुरुष

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री उत्तरप्रदेश के महामहिम राज्यपाल रहे हैं। इससे पूर्व सन् १९९९ में छोटे से प्रदेश हिमाचल के राज्यपाल थे। इनकी योग्यता एवं पात्रता का आकलन माननीय अटल जी ने कर ही तो इन्हें इस पद के लिए प्रस्तावित किया था, पर सच में माननीय अटलजी के मन में भी कसक थी, कि छोटा सा हिमाचल प्रदेश शास्त्री जी की प्रतिष्ठा के अनुकूल प्रदेश नहीं है, इसीलिए उचित अवसर आने पर तत्काल शास्त्री जी को उत्तरप्रदेश भेज दिया गया। उत्तरप्रदेश कई कारणों से शास्त्री जी के अनुकूल सिद्ध हुआ। एक तो उत्तरप्रदेश हिन्दी साहित्य का जनक प्रदेश है और शास्त्री जी हिन्दी साहित्य के निष्णात विद्वान हैं, इस समतुल्यता ने उन्हें हृदय से स्वीकारा। दूसरे उत्तरप्रदेश तीर्थों का कुम्भ है; संस्कृति का आंगन है और शास्त्री जी धर्म और संस्कृति के उद्‌गाता व्याख्याता हैं। इस समैक्यता ने भी शास्त्री जी को स्वीकारा। तीसरे शास्त्री जी मूलतः उत्तरप्रदेश के ही हैं। इस कारण यह घर वापसी होने से अभिनंदनीय हो गई और चौथे शास्त्री जी बहुत सुलझे हुए स्वच्छ हृदय वाले व्यक्ति हैं। अपने पद की गरिमा की परिधि से परिचित हैं, उस कारण टकराहट का तो कोई कारण है ही नहीं। शास्त्री जी ने उत्तरप्रदेश के राज्यपाल पद की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाये।

मैं शास्त्री जी से सबसे पहले उदयपुर में मिला था, जब उन्हें त्रिदिवसीय प्रकाश आतुर व्याख्यानमाला के लिए मुख्य वक्ता के रूप में राजस्थान साहित्य अकादमी ने आमंत्रित किया था। उस समय मैं अकादमी का अध्यक्ष था। आपको विश्वविद्यालय गेस्ट हाउस में ठहराया गया था। मैंने वहीं अपनी पहली भेंट में आपको अपनी कुछ पुस्तकें भेंट की थी। मेरे साथ अकादमी सचिव डॉ० लक्ष्मीनारायण नंदवाना भी थे। शास्त्री जी और मेरे बीच सहज आत्मीयता का एक और संदर्भ था, राजनीति। आप कोलकाता विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष होने के साथ साथ भाजपा के भी वहाँ के अध्यक्ष थे। मैं पुराना जनसंघी था ही। इन्हीं प्रसंगों से वहीं हमारे प्रत्यक्ष परिचय ने मैत्री-सुदृढ़ता की नींव रखी।

तीनों दिन शास्त्री जी के प्रभावशाली भाषण हुए। शास्त्री जी ने अपने कंठस्थ काव्य पदों की प्रस्तुति से न केवल श्रोताओं को प्रभावित किया, अपनी सम्मोहिनी विनम्र वाणी तथा हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा में गूढ़ पैठ ने सबको बाँधे रखा। अन्त में सभी भूरि-भूरि प्रशंसा करते उनसे भोजन के समय नैकट्य बढ़ाने को समुत्सुक दिखे। तीनों दिन प्रातःकालीन सत्र थे। अपराह्न विश्राम या मिलने मिलाने के लिए आरक्षित था। एक दिन उदयपुर भाजपा ने आपको आमंत्रित कर सम्मानित किया। नगर विकास न्यास, उदयपुर के अध्यक्ष, नगर भाजपा के मंत्री एवं पदाधिकारी बड़ी संख्या में थे। मैं भी आमंत्रित था। गया था। वहाँ भी शास्त्री जी का भाषण बड़ा प्रभावकारी रहा। अंतिम दिन आपकी इच्छानुसार नाथद्वारा दर्शन का कार्यक्रम रखा। नाथद्वारा दर्शन का उल्लेख मैं एक और विशिष्ट प्रसंग के कारण कर रहा हूँ। जब हम मार्ग में एकलिंगजी के दर्शन कर रहे थे, तब वहाँ कार्यरत श्री बैरागी मिल गये। वे मुझ से एक बार पहले मिल चुके थे, तथा अपने महाकाव्य 'मंथरा' को सुनाने का आग्रह कर चुके थे। मैं उस समय

सौजन्य : National Printing Works, P-10, New Howrah Bridge Approach Road, Kolkata-700 001

नाथद्वारा समय पर पहुँचने की त्वरा में था। दूसरे श्री बैरागी की आकृति, वेशभूषा तथा आयु मुझे प्रभावित नहीं कर रही थी। मैंने फिर कभी आऊँगा तब सुनूँगा, यह कहकर तब विदा ले ली थी। उस बार हम नाथद्वारा से लौट रहे थे। समय का व्यवधान था नहीं। फिर शास्त्री जी जैसे काव्यप्रेमी, उद्भट विद्वान एवं साहित्य समालोचक साथ थे, उन्हें भी उनके महाकाव्य को सुनवाने का भाव था। ज्यों ही हम एकलिंगजी महाराज के दर्शन कर वापस निकले, उसी परिसर में श्री बैरागी ने हमें फिर पकड़ लिया। इस बार उन्हें टालने का कोई प्रश्न नहीं था। मैं पहले वादा कर चुका था। फिर शास्त्री जी साथ थे। इसलिए उनसे हाँ कर दिया। उनके साथ उनके आवास पर पहुँच गये। उन्होंने एक चटाई बिछा दी। शायद एक दरी या चद्दर भी बिछा दी थी। हम उस पर बैठ गये। मैंने कहा—हाँ अब आप शास्त्री जी को अपना महाकाव्य सुनाइये। उस समय वह महाकाव्य छपा नहीं था। श्वेत पत्रों वाली बाजार में मिलने वाली कच्ची डायरी में ही था। उन्होंने बड़े मनोवेग से अपना 'मंथरा' महाकाव्य का कुछ अंश सुनाया। शास्त्री जी ने महाकवि की प्रशंसा की। बैरागी जी ने अकादमी से उसे छपवाने की बात कही। मैंने बाद में प्रधान अकादमी कार्यालय में मिलने को कहा। शास्त्री जी ने मार्ग में भी उस महाकाव्य की प्रशंसा की। कहा, बहुत अच्छा लिखा है। छपना चाहिए। उस सारी घटना का उल्लेख मैंने अपनी पुस्तक 'राजस्थान के महाकाव्यों में सांस्कृतिक चेतना" में बैरागी जी के प्रकाशित 'मंथरा' महाकाव्य के विवेचन वाले अध्याय में किया है।

शास्त्री जी से इस प्रत्यक्ष भेंट से पहले मैं इन्हें 'धर्मयुग' में यदाकदा छपते आपके साहित्यिक सांस्कृतिक लेखों के माध्यम से जानने लगा था। आपकी विद्वत्ता के प्रति उन लेखों ने मेरे मन पर अपना विशेष प्रभाव छोड़ा था। वैचारिक साम्यता ने आपको निकट से जानने का भाव तभी से जगा रखा था। इसीलिए उदयपुर में मिलने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी। मैंने आपका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए अपना 'आञ्जनेय' महाकाव्य कोलकाता भेजा। आपने उस पर कृपापूर्वक जो मन्तव्य लिख कर भेजा था, उसे बाद में सम्पादकों ने मेरे अमृत महोत्सव पर प्रकाशित अभिनंदन ग्रंथ 'सारस्वत अनुष्ठान के मृत्युञ्जय मंत्र' में उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

'आञ्जनेय' वस्तुतः महत्त्वपूर्ण काव्यग्रंथ है। अपनी परम्परा के मूल तत्त्वों की रक्षा करते हुए आधुनिक वैज्ञानिक विचारों का समादर उसमें किया गया है। भाषा और शैली भी रम्य है। इसके लिए आपको मैं हार्दिक बधाइयाँ देता हूँ।'

यह पत्र दिनांक २७-३-९२ का है जब आप राज्यसभा के सदस्य थे। इसके बाद पत्र सम्पर्क निरन्तर बना रहा। मुझे आश्चर्य तब हुआ जब मैंने पाञ्चजन्य में आपकी अयोध्या में सत्याग्रहों के रूप में अनेकों कठिनाइयों को पार कर पहुँचने और लौटने की दो अंकों में प्रकाशित मर्मस्पर्शिनी गाथा को पढ़ा। लगा, लम्बी, दुबली-पतली उस काया में कर्तव्य एवं ध्येय के प्रति समर्पण होने तथा उस हेतु कष्ट उठाने का कितना जुझारू जीवट है। कोरी मंचीय व्याख्यान कला भर नहीं है। समर्पण के उस जीवन्त उदाहरण ने शास्त्री जी के प्रति मेरे मन में अतीव गहरे श्रद्धा भाव का जागरण किया। तब मुझे और भी प्रसन्नता हुई जब उन्हें हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल बना कर भेजा गया। मैंने तब आपको बधाई सन्देश भेजा था। मुझे उसका उत्तर आपने भेजा था। सचिव ने टंकण में जितना लिखा था, उसमें आपने अपने स्वयं के हस्ताक्षर से ये शब्द बढ़ाये थे। वह पत्र मेरे पास सुरक्षित है।

प्रिय डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय के नीचे 'सस्नेह नमस्कार' तथा अंत में 'आप जैसे मित्रों की मंगल कामना शक्ति देती है। सानन्द रहें, सर्जनारत रहें'। अपने हाथ से बढ़ायी इन पंक्तियों ने मेरे मन में अप्रत्याशितरूप से श्रद्धा

श्रीञ्जय : Mohanlal Pareek, C/o. Pareek & Associates, 16-B, Shakespear Sarani, B. K. Market, Kolkata-71

भाव को और द्विगुणित कर दिया। मित्रवत् मानकर भी आपने मुझे सर्जनारत रहने की जो प्रेरणा दी थी, उसने मेरा सृजन उत्साह बढ़ाया है। अभी मैंने अपना सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'रमता राम' की प्रति भेजी तो उत्तर में जो पत्र आया, उसमें आपने लिखा, व्यस्तता के कारण अभी पूरा पढ़ना सम्भव नहीं है। पढ़ूँगा तब इस पर लिखूँगा। आपने लिखा है तो अच्छा होगा ही। इन शब्दों ने मुझे आनन्दित कर दिया। मेरी लेखनी के प्रति इतनी आश्वस्ति ने सच में मेरे भीतर यह विश्वास सुदृढ़ कर दिया कि शास्त्री जी मुझे और मेरे लेखन को मानते तो हैं, स्वीकारते भी हैं।

मुझे भी न जाने क्यों देश के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों से सम्पर्क बढ़ाने, उनसे मिलने या उन्हें आमंत्रित करने में आनंद आने लगा है। मैं राजनीति में रहा, विधायक भी बना। सन् ४० तक सबके घनिष्ठ सम्पर्क में भी रहा। पर न जाने क्यों राजनेताओं के सम्मान से कम सम्मान का भाव साहित्यकारों के प्रति मेरे मन में नहीं है। राजनेताओं से इसलिए कम होता जा रहा है। अब मुझे कोई आकांक्षा नहीं रही है। एक ही आकांक्षा रही है कि मैं निरन्तर लिखूँ और श्रेष्ठ, वयोवृद्ध, ख्यातिलब्ध साहित्यकारों से प्रशंसात्मक आशीर्वाद पाता रहूँ। इसीलिए शास्त्री जी के प्रति मेरा श्रद्धा भाव अत्यधिक है। वे राजनेता भी हैं और उतने ही ख्याति प्राप्त साहित्यकार भी हैं।

आज के समय में जब राजनेताओं और अपराधीकरण को साथ साथ जोड़कर देखा जा रहा है, तब आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जैसे व्यक्तित्व जिनमें सारल्य, विनम्रता, विद्वत्ता, राजनैतिक सूझबूझ तथा सांस्कृतिक भावभूमि के साथ साथ दर्शन होते हैं, दुर्लभ हैं। ऐसे श्रद्धेय सांस्कृतिक महापुरुष कम ही मिलते हैं। जिन्हें गर्व नहीं, गुमान नहीं, सभी रामजी पर छोड़ देते हैं। ऐसे आस्थावान्, नैतिक पुरुषों की आज आवश्यकता है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री आज राजनीति में नैतिकता के दुर्लभ उदाहरण हैं। मैं हृदय से एक श्रद्धेय के रूप में उनकी प्रशंसा करता हूँ तथा उनकी दीर्घायुष्य की परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ। प्रभु उन्हें स्वस्थ रखे। देश की सेवा का भाव उनमें सतत बनाये रखे। वे इसी प्रकार ख्याति के शिखर छूते रहें। यही मंगल कामना है। ●

सौजन्य : Bharti Sharma, Fl. No. 102, Bajaj Onyx, 36, Union Park, Khar (West), Mumbai-52

सुषमा स्वराज

'बेंच मेट' से 'पिताश्री' तक

[श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा 'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ (खण्ड १ एवं २) के लोकार्पण समारोह (१ अगस्त, २००३) के अवसर पर तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज के वक्तव्य का अंश।]

जिस व्यक्ति को आज का यह कार्यक्रम समर्पित है उनके लिए मेरे मन में केवल आदर का नहीं उससे कहीं आगे बढ़कर श्रद्धा का भाव है।

आदरणीय शास्त्रीजी से मेरा परिचय एक पार्टी के सहयोगी के नाते, वरिष्ठ सहयोगी के नाते तो बहुत पहले से था, लेकिन वह परिचय अंतरंगता में बदला जब हम 'बेंच मेट' बने। आप कहेंगे बेंच मेट क्या होता है? जिन्दगी में बहुत रिश्ते होते हैं मित्रो! बहुत लोग कहते हैं, मेरा क्लास फेलो है, सहपाठी है। एक आईएएस जमात का रिश्ता होता है, 'बैच मेट' का रिश्ता, यानि जिन्होंने एक साथ एकेडमी में ट्रेनिंग की होती है। लेकिन सांसदों के बीच एक रिश्ता 'बेंच मेट' का रिश्ता होता है, जब एक ही बेंच पर बैठने का उन्हें अवसर मिलता है। राज्य सभा में मैं और शास्त्री जी साथ-साथ थे। हम लोगों को एक ही सीट दी गई थी जहाँ मैं और वो साथ-साथ बैठते थे।

कुछ ही दिनों में परिचय स्नेह में बदला, स्नेह आत्मीयता में बदला और थोड़े ही दिनों में आत्मीयता अंतरंगता में बदल गई। और उसी दिन से शास्त्री जी मेरे लिए शास्त्रीजी के बजाय 'पिताश्री' हो गए। तब से लेकर आज तक मैं उन्हें इसी संबोधन से संबोधित करती हूँ।

उनके मन में बेटियों और बहुओं के लिए जितना अविरल प्रेम है, उसे शायद मुझसे ज्यादा कोई नहीं जानता। उनकी रचनाधर्मिता को जितने करीब से मैंने देखा है शायद किसी और ने नहीं देखा है। मैं गवाह हूँ उसकी। मुझे याद पड़ता है, संसद ११ बजे शुरू होती थी, बहुत बार पता नहीं वे १०.३० बजे ही आकर बैठ जाते थे। क्योंकि मैं जब ११ बजे जाती तो वे मुझे बैठे हुए मिलते। और मैं देखती सामने का, वहीं का, कागज उठा रखा है। कलम से छोटा-छोटा लिखते जा रहे हैं। मैं जाकर कहती, पिताश्री क्या लिख रहे हैं? क्या लिखने में निमग्न हैं? वो कहते "बेटा ईशावास्योपनिषद् पर मेरे जो प्रवचन चल रहे हैं उन प्रवचनों पर यहाँ बैठ कर टिप्पणी ले रहा हूँ। यहाँ एकान्त मिल जाता है, न कोई टेलीफोन, न कोई विजिटर, न किसी तरह का व्यवधान! तो यहाँ आकर बैठकर लिखता रहता हूँ।" मैंने सैकड़ों पन्ने वहाँ उनको लिखते हुए देखा। छोटा-छोटा लिखते जाते। और एक बड़ा साधारण सा कलम रखते। शायद २ रुपये का आता होगा। मैं उनसे पूछती कि क्या आप ये कलम इस्तेमाल करते हैं? तो कहते 'बेटा ! एक रहस्य की बात बताऊँ जब तक मेरे हाथ में कलम नहीं आती मेरा विचार प्रवाह बनता ही नहीं। मेरे विचार चलते ही तब हैं जब मैं हाथ में कलम पकड़ता हूँ। अब कहीं यह छूट जाए, कहीं खो जाए तो यह दो-चार रुपये की है, इसका मुझे क्षोभ नहीं होता, मुझे किसी तरह के नुकसान का आभास नहीं होता, इसलिए २ रुपये की कलम पकड़ता हूँ।'

सौजन्य : रामगोपाल लहेश्वरी, लहेश्वरी ब्रदर्स लिमिटेड, २३ए, एन. एस. रोड, कोलकाता-१

एक दिन ऐसे ही मुझे शरारत सूझी। पिताश्री लिख रहे थे। थोड़ा सा उनका ध्यान उधर गया तो मैंने कलम छिपा ली। अब वो तो परेशान, हैरान! कभी तो आगे की मेज थपथपाते, कभी अपने दायें देखें, कभी अपने बायें देखें। ऐसे जैसे दर्जी की कैंची खो जाए तो वो बहुत परेशानी से तरह-तरह से उसे ढूँढता रहता है। थोड़ी देर के बाद मैंने कहा, 'पिताश्री क्या हुआ, क्या ढूँढ़ रहे हैं?' बोले, 'बेटे हमारी कलम खो गई है, कलम ढूँढ रहा हूँ।' मैंने कहा, कहिए कलम नहीं अक्ल खो गई है। विचार-प्रवाह बंद हो गया ना? विचार नहीं आ रहे ना? तो बोले 'हाँ है तो कुछ ऐसा ही।' तो मैंने कलम निकाल कर कहा 'लीजिए' और मैंने कलम हाथ में थमा दी। साथ ही मैं डर गई कि अब ये कहेंगे तुम शरारती भी हो गई हो। लेकिन उन्होंने तुरन्त कहा, 'बेटी तो पहले से कहता था, आज बाल क्रीड़ा का आनन्द भी ले लिया।' इतना स्नेह, मैं कहती हूँ उड़ेल-उड़ेल पड़ता है।

लेकिन एक दिन का उनका रूप मुझे भूलता नहीं है। ६ दिसम्बर की घटना हुई। अयोध्या में ढाँचा गिरा। संसद का सत्र चल रहा था। हम लोग बराबर में, एक ही सीट पर दोनों बैठे थे। उस समय के सत्ता पक्ष की तरफ से बहुत अनर्गल प्रलाप किया जा रहा था, बहुत बातें भाषा की शालीनता को बिल्कुल छोड़ कर कही जा रही थीं। मैंने देखा, अचानक पिताश्री खड़े हुए और बहुत जोर-जोर से बोलने लगे। इतनी उत्तेजना! मुझे समझ में नहीं आया उन्हें क्या हो गया? २-३ मिनट तो मैंने देखा फिर मैंने उन्हें कुर्ता खींच कर बिठाया। 'पिताश्री, बैठिये आपको क्या हो गया है?' उन्होंने कहा, 'अरे क्या बैठें? मेरे प्रभु श्रीराम को ये गाली दे रहे हैं। मुझे गाली दें तो मैं सुनूँ, बैठूँ लेकिन प्रभु श्रीराम को गाली दे रहे है। नहीं बैठूँगा। नहीं बैठूँगा।' मैंने कहा, 'पिताश्री लेकिन संसद की कोई मर्यादा है।' उत्तर मिला, 'अरे वो अमर्यादित हो रहे हैं। तुम मुझे मर्यादा सिखा रही हो। नहीं सीखूँगा। प्रभु राम को कोई गाली देगा तो नहीं सीखूँगा। नहीं रहूँगा मर्यादा में।' मैंने फिर आग्रह किया, 'पिताश्री आपको क्या हो गया है?' लेकिन कोई उन्हें चुप नहीं करा पाया। इतने उत्तेजित और बिल्कुल चेहरा लाल। मुझे लगता है प्रोफेसर रहते हुए अपने शिष्य को डाँटा भी हो इसकी कल्पना भी मैंने नहीं की, लेकिन उस दिन तो लगा जैसे कोई रौद्र रूप उनपर आ गया है। और आज वो पूरे विपक्ष को अकेले हैंडल कर लेंगे।

उस दिन जाकर रात को मैं सोचती रही कि कोई व्यक्ति कितना भी शांत-चित्त क्यों न हो, कहीं न कहीं उसके कोने में कोई एक ऐसा बिन्दु जरूर होता है जिस पर वह कभी समझौता नहीं कर सकता। और वह बिन्दु आचार्य जी के कोने में प्रभु श्रीराम का है। वह शांत मुद्रा में रहने वाला व्यक्ति जो किसी भी बाधा में, कठिनाई में मुस्कराता रहता है। मैंने एक से एक संकट देखा है, उनके सामने। यहाँ पार्टी के चुनावों में आई। जिस समय वे स्वयं अध्यक्ष थे, उस समय की चीजें देखी। चुनाव के समय एक ऐसा वातावरण होता है उसमें एक बाधा से आदमी निकलता है तो दूसरी बाधा आती है। लेकिन वो शांत-चित्त। हर चीज का समाधान शांत-चित्त होकर कर लेते थे। लेकिन उस दिन मैंने देखा कि इस बिन्दु पर वे समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे, किसी को सुनने को तैयार नहीं थे और प्रभु श्रीराम को गाली उनसे बर्दाश्त नहीं हो रही थी। पिताश्री वह रूप का आज भी जब मुझे याद आता है तो मैं काँप जाती हूँ और मुझे लगता है कि ऐसा एक कोना हर व्यक्ति के मन में जरूर होना चाहिए जहाँ वह समझौते न कर सके। वे केवल श्रीराम भक्त ही नहीं हैं, इतने प्रकाण्ड विद्वान हैं कि आप उनसे किसी विषय पर बात कर लीजिए। आप ईशावास्योपनिषद् पर बात कर लीजिए, आप श्रीमद्भगवद् गीता पर बात कर लीजिए, आप श्रीराम पर बात कर लीजिए, आप शिव पर बात कर लीजिए। एक दिन मुझे याद है हम इकट्ठे आ रहे थे हवाई

सौजन्य : Rang Rez, 45/1, Rafi Ahmed Kidwai Road, (2nd Fl.) Kolkata-700 016

जहाज से। कोई बात चली तो मैंने उनसे कहा कि मैं तो कृष्ण उपासिका हूँ, आपको तो मालूम है—तो उन्होंने कहा, 'हाँ मुझे पता है। कृष्ण का कौन सा श्लोक पढ़ती हो?' मैंने बताया तो कहने लगे "देखो एक बड़े आचार्य हुए हैं मधुसूदन सरस्वती, मैं तुम्हें उनका एक श्लोक बताता हूँ। श्रीकृष्ण के संबंध में उससे ज्यादा अच्छा कोई श्लोक मुझे नहीं मालूम। उसके आखिरी शब्द ये हैं कि मैं कृष्ण से बढ़कर किसी तत्त्व को जानता ही नहीं— 'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने !' तो तुम इस श्लोक को याद करो।" और उस दिन से मैं उसी श्लोक को धारण किये हुए हूँ, उसी श्लोक का पाठ करती हूँ।

इतना व्यापक ज्ञान, इतना अथाह ज्ञान, और स्नेह का इतना भण्डार कि उड़ेल-उड़ेल देते हैं। मैं हमेशा कहती हूँ कि पिताश्री आपके सामने कोई समस्या रखो तो आप उसका उपयुक्त समाधान उसी समय कर देते हैं। अभी-अभी हमारे यहाँ ३ दिन पहले एक मीटिंग हो रही थी, हम सारे लोग बैठे थे, तो अटलजी ने कहा कि इस समय या तो कृष्णलालजी होते तो कोई चुटकुला सुनाते या फिर विष्णुकान्त जी होते तो कोई कविता की पंक्ति सुनाते, जो इस मौके के लिए बिल्कुल माकूल होती, उपयुक्त होती।

जहाँ कहीं पार्टी का शीर्ष नेतृत्व बैठता है तो वो याद करता है कि कैसा भी मौका क्यों न हो कुछ न कुछ उपयुक्त कविता वो सामने रख देंगे, उसको पढ़ देंगे।

द्वेष तो उन्हें छू ही नहीं गया। मानव भावनाओं की बात आती है तो ईर्ष्या का कहीं कोई लेश कभी न कभी तो उभरता है। लेकिन नहीं। दूर-दूर तक ईर्ष्या का भाव उनमें है ही नहीं। और मैं तो कई बार कहती हूँ कि पिताश्री आप तो प्रशंसा करने में कंजूसी करते ही नहीं। इतनी सराहना करते हैं, इतनी प्रशंसा करते हैं। आम तौर पर लेखकों के बारे में, पत्रकारों के बारे में, साहित्यकारों के बारे में, कलाकारों के बारे में यह कहा जाता है कि कम से कम अपने समकालीन लेखकों, पत्रकारों के बारे में, यानी अपनी बिरादरी के बारे में कभी भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा नहीं कर सकते। कहीं न कहीं वैमनस्य का भाव, कहीं न कहीं द्वेष का भाव छाया रहता है। लेकिन मैं हैरान हो रही थी जब यह पुस्तक मेरे हाथ में आई। यह पुस्तक 'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ' का खण्ड-२, जिसका विमोचन मुझे करना था, जिसका लोकार्पण मुझे करना था, मैंने इसे पलटकर देखना शुरू किया तो पहले जब अनुक्रम देखा तो मैंने देखा कैसे-कैसे प्रभावी शीर्षक दिए हैं, उन्होंने। जिन व्यक्तियों के बारे में लिखा है उनकी कितने उन्मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

केवल आपको शीर्षक पढ़कर अगर सुनाऊँ तो आप इसको महसूस करेंगे। निराला के लिए लिखा है—कभी न कभी होगा जिसका अंत; हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए लिखा है—अविरोध की साधना का मूर्तरूप; विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के लिए लिखा है—धुरि प्रतिष्ठा के अधिकारी; स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती के लिए लिखा है—खण्ड खण्ड फिर भी अखण्ड; और अज्ञेय के लिए लिखा है—आलोक छुआ अपनापन। धर्मवीर भारती के लिए लिखा है—क्योंकि है सपना अभी भी; रामविलास शर्मा के लिए— प्रखर मेधा अडिग विश्वास; बच्चन के लिए— श्रद्धा और बुद्धिवाद की रस्साकशी। मैं हैरान हूँ, अंदर क्या लिखा होगा, यह केवल शीर्षक भर से आप पहचान सकते हैं, जान सकते हैं। लेकिन इतने मुक्त कंठ से शीर्षक देना उनके पूरे व्यक्तित्व के बारे में इतनी उन्मुक्त प्रशंसा करना, इतनी सराहना करना—यह वही कर सकता है जिसका अपना हृदय बहुत बड़ा हो, अथाह सागर की तरह जिसमें कुछ भी समा जाए लेकिन तो भी वह छोटा नहीं पड़े। उनका एक मुक्तक मैंने पढ़ा था। इस पुस्तक में

सौजन्य : Mohanlal Pareek, C/o. Pareek & Associates, 16-B, Shakespear Sarani, B. K. Market, Kolkata-71

२ मुक्तक लिए गए हैं। मैंने देखना चाहा कि वह मुक्तक इसमें है या नहीं। मुझे वह मुक्तक उसमें नजर आ गया। बहुत सरल भाषा में बहुत छोटी चीज, लेकिन शायद उसके बाद कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। उन्होंने पहली पंक्ति में प्रश्न किया है स्वयं से। बड़ा काम कैसे होता है पूछा मेरे मन ने, स्वयं से पूछा है— बड़ा काम कैसे होता है पूछा मेरे मन ने। अब जवाब देते हैं स्वयं ही, बड़ा लक्ष्य हो बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय मृदु वाणी।

चार चीजें देखिए—

बड़ा काम कैसे होता है पूछा मेरे मन ने।
बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय, मृदु वाणी
किन्तु अहम् छोटा हो, जिससे सहज मिलें सहयोगी
दोष हमारा श्रेय राम का यह प्रवृत्ति कल्याणी।

मित्रो! यह मुक्तक नहीं है, ये उनकी अपनी शैली है। यह उपदेश नहीं है, यह उनकी अपनी जिन्दगी है।

बहुत बार हमने यह कहते सुना है कि महापुरुष बाहर से महान दिखते हैं, जब उनके नजदीक जाओ तो धीरे-धीरे वह महानता घटती जाती है, लघुता में परिवर्तित होती जाती है। कई बार तो बाहर से श्रेष्ठ दीखने वाले लोग इतने छोटे दिखाई पड़ते हैं कि आदमी अश्रद्धा के भाव से भर जाता है और लगने लगता है कि क्या वही था सब? लेकिन एक व्यक्ति मैंने ऐसा देखा, इतने करीब से देखा, पास बैठकर देखा, बरसों-बरसों बातें करके देखा— जिसकी महानता बड़ी-से बड़ी होती गई। जो महान से महानतर होता गया। सिर्फ इसलिए कि उसका लक्ष्य बड़ा था, उसकी तपस्या बड़ी थी, उसका हृदय बड़ा था। उसकी वाणी मृदु थी, लेकिन उसका अहम् बहुत छोटा था, बहुत छोटा था। जो हर चीज का दोष स्वयं लेता था, श्रेय राम को देता था। और ऐसी जिन्दगी का नाम है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, मेरे पिताश्री, मेरे पिताश्री। ●

(सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स् (इण्डिया) लि०, ६, लायन्स रेन्ज, कोलकाता-७०० ००१

डॉ० नामवर सिंह

तोहि मोहि नाते अनेक

(१८ मई २००४ को इलाहाबाद में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की संस्मरणात्मक कृति '.....पर साथ-साथ चल रही याद' के लोकार्पण समारोह पर दिया गया वक्तव्य)

अभी तक मैं ध्यानरस में मगन था। बड़ी मुश्किल से मन को बाहर किया है। यह उस एक दोहे का हिस्सा है जो तुलसीदास का है और इसे पहली बार कलकत्ता में विष्णुकान्त जी के मुँह से सुना था एक गोष्ठी में—

मगन ध्यानरस दण्ड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह।।

इस दोहे की ओर मेरा ध्यान नहीं गया था। यह ध्यानरस क्या होता है? ध्यान तो सुना था लेकिन ध्यानरस में मगन होना! मन पुनि बाहेर कीन्ह! यद्यपि यह दोहा उन्होंने मेरा भाषण सुनने के बाद कहा था लेकिन स्वयं अनेक गोष्ठियों में विष्णुकान्त जी को बोलते हुए सुना है, तो मैंने अनुभव किया है कि वे जिस कोठे से बोलते हैं वहाँ से सचमुच ही ध्यानरस में मग्न होने के बाद ही बोला जा सकता है। कुछ समय तक विचार या भाव में मग्न रहिए फिर मन को बाहर कीजिए और बोलिए, तब तो बोलने का मतलब है। नहीं तो बक-बक करने के लिए तो यहाँ माइक है, बक-बक करते रहिए। आज वही क्षण, वही घड़ी है। युगों बाद मैंने भारती को देखा, छोटी सी थी सफेद फ्रॉक पहने हुए एक शिशु हंसिनी की तरह से आयी थी वो मेरे सामने। मैं इस समय इलाहाबाद में नहीं हूँ, मैं कलकत्ते में हूँ शास्त्रीजी के चित्तरंजन एवेन्यू के मकान में। अनेक बार हमलोग उस घर में बैठे हैं, खाना खाया है। हमारे और विष्णुकान्त जी के संबंधों की यह अर्द्धशती है। हमलोग १९५४ में पहली बार मिले थे। यह २००४ है और शास्त्री जी ७५ के हो गये हैं और ७६ में प्रवेश कर चुके हैं। अपनी उम्र मैं नहीं गिना रहा हूँ। तो ७५ पूरा किया है उन्होंने। कायदे से तो आज चाहिए था कि हम गुलाब के फूलों की माला नहीं, उन्हें हीरे का हार पहनाते। प्रसादजी के शब्द हैं 'और पहनाया हीरक हार'। मेरे पास शब्दों के हीरे हैं, मैं हीरों का व्यापारी नहीं हूँ। आज हीरे का हार पहनाने का दिन है और अर्द्धशती (५० साल) से हमारे इनके सम्बन्ध हैं। तुलसीदास ने कहा है 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिए जो भावै।' मेरे उनके नाते अनेक हैं अब जो भावे उसी को मानिए। ये उनके लिए भी है मेरे लिए भी है। और ये सभी नाते जोड़ने वाले हैं। स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज हमारे कुलगुरु हैं और इनके दीक्षा गुरु हैं। उनके चरणों में साथ-साथ भी बैठे हैं और अलग-अलग भी बैठे हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति उनका भी गुरु भाव है, मेरे तो गुरु हैं ही। इस तरह से हम दोनों उनके शिष्य हैं। संयोग से मैं पढ़ने का अवसर पा सका लेकिन इन्होंने उनका साहित्य पढ़कर उनको अपना गुरु मान लिया। पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र के प्रति उनका भाव मेरा भाव एक जैसा है। डॉ. रामविलास शर्मा के प्रति मेरा भाव उनका भाव एक जैसा है। तुलसीदास, उनका मानस, खास तौर से उनकी विनय पत्रिका के प्रति उनका लगाव मेरा लगाव एक जैसा है। कितनी चीजें

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

हमलोगों को जोड़ने वाली है। हमारे बच्चे एक दूसरे को जिस तरह से याद करते हैं, प्यार करते हैं, पारिवारिक सम्बन्ध है। इसलिए मैंने कहा कि 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिए जो भावै'।

विष्णुकान्तजी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल होकर आये। ठीक उसी समय मैं संयोग से लखनऊ विश्वविद्यालय गया था। किन्हीं कारणों से इन्हें भी आना था परन्तु विश्वविद्यालय में कुछ उपद्रव हो गया था तो कुलपति जी ने हाथ जोड़कर कहा कि आप इस समय न आइए। लेकिन उन्होंने इन्तजाम रखा और कुलपति जी से कहा कि नामवरजी को यहाँ भेज दीजिएगा। मैं इन्तजार करूँगा। राजभवन में बहुत प्रेम से मुझसे मिले। उसके बाद और जगहों पर मिले। दिल्ली में महादेवी वर्मा की रचनावली का लोकार्पण था। पधारे थे शास्त्री भगवान। आते ही तबियत से गले मिले। हमारे उनके बीच नोंक-झोंक तो होती ही रहती है उस दिन उन्होंने एक शेर पढ़ा 'गुलशनपरस्त हूं, नहीं गुल ही मुझे अज़ीज़। काँटों से भी निबाह किये जा रहा हूँ मैं।' और मेरे मुँह से तुरन्त निकला 'गुलों से खार बेहतर हैं जो दामन थाम लेते हैं'। ये रिश्ता जो है वो दामन थाम लेने वाला रिश्ता है, जो बराबर बना रहा। यह नोंक-झोंक हम लोगों में चलती रहती है। दिल्ली में मिले और आज खुशी है कि इलाहाबाद में हम साथ हैं। लखनऊ के बाद इलाहाबाद में मिलना ही चाहिए था। वे अविरोध में रहते हैं, मैं विरोध में रहता हूँ 'केहि विधि मिलनो होई'। लेकिन सूली ऊपर सेज उनकी नहीं है, ये मैं नहीं कहूँगा। भले ही सेज काँटों की बनी हो, लेकिन कोई काँटा उन्हें चुभ नहीं सकता है, मैं जानता हूँ। कोई काँटा हिम्मत भी करे तो भी नहीं चुभ पाएगा। इसलिए आज इलाहाबाद में उनकी नई पुस्तक, संस्मरणों की पुस्तक, के लोकार्पण का अवसर मिला। कई मित्रों ने फोन करके मुझसे कहा कि आप न जाइए वहाँ। ये वे लोग हैं जो नहीं जानते मानवीय सम्बन्धों को और अपनी संस्कृति को।

छोटी उम्र की एक घटना अचानक याद आ गई मुझे। विषयान्तर हो तो क्षमा कर दीजिएगा। सन् १९५१ की बात होगी। आचार्य द्विवेदी, हमारे गुरुदेव शान्तिनिकेतन से आये ही थे और उन दिनों मुझ पर मार्क्सवाद का नया रंग या नशा चढ़ रहा था जो आमतौर पर नये लोगों में होता है; आजकल बूढ़े होने पर भी दिखायी पड़ रहा है। उस समय कुछ चीजों को लेकर विचारों में बड़ी टकराहट चल रही थी अतः मैंने शाम को घूमते समय उनसे तुलसीदास का हवाला देते हुए कहा तुलसीदास तो मानते थे कि 'नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। जाके प्रिय न राम बैदेही। तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।' पण्डित जी ठिठक गये, बोले मैं इसे नहीं मानता। एक सहज सी बात थी। बोले तुलसीदास वैरागी आदमी थे। मैं गृहस्थ हूँ। उनके औरत नहीं, बीवी-बच्चे नहीं, उन्हें समाज में रहना नहीं था। वे नाते सबै राम के साथ चला सकते थे। मैं गृहस्थ हूँ। गृहस्थ में तो इतने अन्तर-वैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं। यहीं नहीं बल्कि जिसे आगे चलकर एक उपन्यास में उन्होंने लिखा है। भागवत का कोई श्लोक सुनाया। फिर गीता का सुनाया और कहने लगे कि देखो मन तो स्वयं पूरा का पूरा किसी से नहीं मिलता। मेघदूत का एक श्लोक उन्होंने उद्धृत किया जो कालिदास के यक्ष की वेदना थी! वह अपनी प्रिया का उपमान ढूँढ़ता है। कुछ नदी में मिल जाता है, कुछ लता में मिल जाता है, कुछ चन्द्रमा में मिलता है लेकिन 'हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति।' अर्थात् ऐसा कुछ भी नहीं है सुन्दरी जिसके साथ तुम्हारा पूरा सादृश्य हो। इकट्ठा एक जगह वे सारी चीजें नहीं मिलती जिनसे मन मिले। इकट्ठा एक आदमी कोई ऐसा दुनिया में नहीं मिलता जिससे आपका पूरा मन मिले। कुछ किसी में मिलता है, तो कुछ किसी में मिलता है। इसलिए भगवान के भी कई स्वरूप होते हैं। कोई सोलह कला के होते हैं तो कोई बारह कला के ही होते हैं। इसके बाद पण्डितजी बोले इसलिए तुलसीदास के लिए उनकी

सौजन्य : Swastik Marbles, Mehtab Road, Cuttack (Orissa)

बात ठीक है लेकिन अपने लिए मेरा सुधर्म यह है— कि जब अपने अत्यन्त निकट से निकट व्यक्तियों से..... मेरी पत्नी से मेरा मन सोलह आने नहीं मिलता, अपने भाइयों से नहीं मिलता, अपने गुरु से नहीं मिलता; तो जितनी दूर तक जिससे मन मिलता है उतनी दूर उससे निभाना यही मानवीय धर्म है। हम देवता नहीं हैं, हम मनुष्य हैं। यह कहकर पण्डितजी ने मुझे व्यवहार की पद्धति समझायी।

मार्क्स को मानने वाली यहाँ छत्तीसों पार्टियाँ बनी हुई हैं। और राम को मानने वाले भी कई तरह के राम भक्त होते हैं। कृष्ण को मानने वाले इतने प्रकार के भक्त हैं कि उनके सम्प्रदाय अलग-अलग बने हैं। जब ये चीजें जीवन्त दिखायी पड़ रही हैं तो कौन सा किताबी सम्बन्ध किससे निभाने में लगा जाये। इसलिए जब लोगों ने मुझसे कहा कि आप वहाँ न जायें तो मैंने कहा कि आज तो मैं अवश्य ही जाऊँगा क्योंकि हमारी संस्कृति की यह परम्परा रही है। किंवदन्ती है, झूठ हो या सच हो लेकिन जिसने समाज में किंवदन्ती प्रचलित की होगी उसके मन में कुछ रहा होगा। कहते हैं कि नाभादास ने भण्डारा किया था तो तुलसीदास को निमंत्रण नहीं दिया गया था। यह रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में लिखा हुआ है। और बिना बुलाये तुलसीदास जी अपने आप पहुँच गये। अन्त में जब पंगत लगी हुई थी तो किसी संत का एक जूता उठाकर वहाँ बैठे हुए थे। जैसे ही नाभादास खीर परोसने गये तो वहाँ बैठे हुए तुलसीदास को देखा और चरणों में गिर गये नाभादास जी। बोले सन्त समागम हो रहा है, नहीं बुलाया तो क्या हुआ साधु ने बुलाया। राम का भक्त है बुला रहा है और चले गये। तो जब शुक्ल जी ने कहा है कि गये होंगे तो जरूर लेकिन जूता हाथ में लिया होगा खीर के लिए तुलसीदास ने ? इस पर शुक्लजी को विश्वास नहीं है। यह किंवदन्ती सत्य हो या नहीं लेकिन हमारी संस्कृति का यह सत्य है। यह निर्विवाद है इसीलिए लोक मानस में यह किंवदन्ती चली आ रही है और इसका सम्मान करना चाहिए। इसलिए राजनीति मात्र पूरा मनुष्य नहीं है। मनुष्य उससे कहीं ज्यादा भरा-पूरा अनेक जटिल भावों और विचारों का पुंज है। इस संदर्भ में मैं समझता हूँ कि यह हमारी संस्कृति विशेषतः सारस्वत संस्कृति है कि जिससे जितना मन मिले उससे उतना सम्बन्ध निभाया जाये। यह सारस्वत सम्बन्ध है हम लोगों का जिससे हम यहाँ इकट्ठे हैं।

हमलोग प्रयाग में हैं जहाँ परिमल और प्रगतिशील लेखकों के बीच तनाव रहे हैं, टकराव रहे हैं, पर साथ-साथ बैठे हैं, बहस होती रही है लिखते रहे हैं, यह संगम की परम्परा है, और संस्कृति की परम्परा है। इसलिए मुझे खुशी है कि प्रयाग ने अपनी परम्परा की रक्षा करते हुए आज इस बहाने शास्त्री भगवान को लखनऊ से बुलाया है। वैसे भी उत्तर प्रदेश के राज्यपालों की बड़ी शानदार परम्परा भी है। यदि मैं भूलता नहीं तो सरोजिनी नायडू यहाँ की राज्यपाल थीं, के. एम. मुंशी राज्यपाल थे और उस परम्परा में मुझे और कोई नाम इस समय नहीं याद आ रहा है। विष्णुकान्त जी भी उस परम्परा के हैं। यह गर्व होना चाहिए उत्तर प्रदेश को। और गर्व है हमें इस बात पर। और फिर यह संग्रहालय है। संग्रहालय है तो संग्रह करना ही चाहिए। संग्रह तुलसीदास का बड़ा प्रिय शब्द है। लोक संग्रह शुक्ल जी का बड़ा प्रिय शब्द है। इसलिए इस आयोजन के बहाने, एक पुस्तक के निमित्त, सभी विचारों के लोगों का संग्रह इलाहाबाद संग्रहालय ने किया है। पुस्तक पर कुछ कहने के पहले इन बातों का उल्लेख करने की अनुमति आपलोगों से मैंने माँगी है। कथाकारों ने संस्मरण अनेक लिखे हैं। कुछ आलोचकों ने भी संस्मरण लिखे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेमघन की छाया स्मृतियों का एक संस्मरण लिखा है। यद्यपि उनके इतिहास में अनेक संस्मरण के टुकड़े हैं। संस्मरण डॉ० रामविलास शर्मा ने भी लिखे हैं। पूरी अर्द्ध विराम नाम की उनकी पुस्तक संस्मरणों की है कुछ बड़े

सौजन्य : स्वाती आर्बल इण्डस्ट्रीज प्रा० लि०, १६४, कटक रोड, भुवनेश्वर-७५१ ००६

लोगों के लिखे हैं, कुछ सामान्य जनों पर लिखे हैं। उस परम्परा में विष्णुकान्त जी अन्यतम हैं। संस्मरणों के बारे में एक बात का मैं विशेष रूप से उल्लेख करूँगा। इस दौड़-भाग के युग में हम लोग, यह पूरा देश और खासकर जब से ये हाइटेक और तुरन्ता भोजनालय वाली संस्कृति चली है, तब से हमलोग स्मृति भ्रंश के शिकार हो गये हैं। यह देश आज और अब को याद करने में इतना बेधा हुआ है कि अतीत की स्मृतियाँ, अतीत को याद करना पलायनवाद माना जाता है। और गीता में कहा गया है कि 'स्मृतिभ्रंशात् बुद्धि नाशः बुद्धि नाशात् प्रणश्यति'।

जिस व्यक्ति का स्मृति भ्रंश हो जाय और जिस जाति का, जिस समाज का, जिस देश का स्मृति भ्रंश हो जाय उसका विनाश निश्चित है। ऐसे दौर में संस्मरण एक विधा नहीं बल्कि ऐमनेशिया यानी स्मृतिभ्रंश, के विरुद्ध एक प्रतिरोध है। कुछ व्यक्तियों को स्मरण करने के बहाने हम यह बराबर जाँचते-परखते रहें कि अभी हमारी स्मृति नष्ट नहीं हुई है। अभी मैं याद कर सकता हूँ। हमलोगों के पास तो यही एक पूंजी है। पूंजी में कैपिटल के अर्थ में कह रहा हूँ। सेठों की पूंजी और होगी। लेखक के पास, बुद्धिजीवी के पास तो स्मृति ही पूंजी है। और स्मृति की पूंजी की यह ताकत है कि ऋक् संहिता को, अपने वेदों की संहिता को स्मृतियों से हमने हजारों साल तक जिन्दा रखा। उन्हें लिखा बहुत बाद में गया। वेद छपा और बाद में, उसे याद रखा लोगों ने। इसलिए अपने पूर्वजों पर हमें गर्व होना चाहिए। इसलिए स्मृति संस्कृति को सुरक्षित रखती है, अपने पुरखों की परम्परा को सुरक्षित रखती है, अपने मित्रों की परम्परा को सुरक्षित रखती है। जब मैं नहीं रहूँगा तो कम से कम मुझे याद दिलाने के लिए विष्णुकान्त जी का संस्मरण तो होगा और ये बताऊँ कि मेरी याददाश्त भी तो बहुत बुरी नहीं है लेकिन शास्त्री भगवान जैसी स्मृति मैंने नहीं देखी। इस मामले में वो हाथी हैं। कहते हैं कि हाथी कुछ भूलता नहीं है। अद्भुत स्मरण शक्ति। एक-एक तथ्य। इस मामले में उनका दिमाग कम्प्यूटर है। बच्चन जी से मैं भी मिला हूँ, मिलता रहा हूँ गुलमोहर पार्क वाले मकान में मैं भी कई बार गया हूँ लेकिन बच्चन जी पर इतना अच्छा संस्मरण, पूर्णतः विश्वसनीय उनके पूरे व्यक्तित्व को उजागर करनेवाला संस्मरण, मैंने और दूसरा नहीं देखा। कहने को भारती वहीं बम्बई में रहते थे, धर्मवीर भारती। परन्तु उन्होंने बच्चन जी पर संस्मरण नहीं लिखा। इलाहाबाद वालों को थोड़ा शर्मिन्दा होना चाहिए, चुटकी भर शर्म यहाँ होनी चाहिए उन लोगों को, कोई बच्चन पर लिखे। जगदीश गुप्त पर जैसा संस्मरण शास्त्री जी ने लिखा वैसा शायद ही किसी और ने लिखा हो, मुझे फिलहाल नहीं याद आ रहा है, क्षमा करें इलाहाबाद के लोग। ऐसी अद्भुत स्मृति के संदर्भ में एक ही शब्द कहूँगा, विष्णुकान्तजी के लिए 'छुआ छल नाहीं' तुलसीदास का शब्द है। हमलोग छलते हैं, छल है, छलावा है हममें से बहुतों में। ऐसा पारदर्शी व्यक्तित्व मैंने नहीं देखा है।

संस्मरणों की इस किताब का बड़ा अच्छा नाम रखा है। अपनी किताबों का नाम बहुत अच्छा रखते हैं शास्त्रीजी। 'तुलसी के हिय हेरि' 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की'। किताबों के इतने सुन्दर नाम रखते हैं कि कवि हृदय भी ऐसा नाम नहीं रख सकता है। सूरीनाम का संस्मरण पढ़ते हुए मुझे लगा कि ये तो कवि हैं। शास्त्रीजी ने अपनी नानी माँ का एक संस्मरण लिखा है। वह संस्मरण ही नहीं है बल्कि आत्मकथा है। अपने जीवन के अनेक तथ्यों को साहस के साथ उन्होंने लिखा है। सत्याग्रह में जेल गये उसके विभाग के प्रमुख रहे। इस तथ्य को ज्यों का त्यों और पहली बार सम्भवतः लिखित रूप में उन्होंने कहा। इस दृष्टि से भी वह संस्मरण महत्त्वपूर्ण है। जम्मू, जहाँ के ये हैं, और जब भी बात होती थी तो बड़े गर्व से वो जब कहते थे कि मैं डोगरा हूँ, मुझे बहुत अच्छा लगता था। अद्भुत संस्मरण है। 'तू मेरी बुलबुल' बड़ी नानी माँ पर लिखा हुआ सबसे मार्मिक

सौजन्य : Banwarilal Soni, Churu & Kolkata

संस्मरण है जिसमें उनके जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंग नानी माँ के बहाने आये हैं। मुझे इनकी सबसे अच्छी पुस्तक 'तुलसी के हिय हेरि' लगती है। विनय पत्रिका पर जितनी गहराई से उन्होंने लिखा है और अपनी सर्वोत्तम पुस्तक उन्होंने समर्पित की है, सुदर्शना इन्दिरा को, अपनी दिवंगता पत्नी को। सचमुच वे सुदर्शना थीं, मैंने उन्हें देखा है। मैं रघुवीर सहाय की एक कविता के साथ समाप्त करूँगा। कविता है—

तुममें कहीं कुछ है कि तुम्हें उगता सूरज,
मेमने गिलहरियाँ, कभी-कभी का मौसम
जंगली फूल पत्तियाँ टहनियाँ भली लगती हैं
आओ उस कुछ को हम दोनों प्यार करें।
एक दूसरे के उसी विगलित मन को स्वीकार करें।

और अन्त में निराला ही याद आते हैं। अनामिका के आरम्भ की वे पंक्तियाँ—

जैसे हम हैं वैसे ही रहें।
लिये हाथ एक दूसरे का अतिशय सुख के सागर में बहें।

इस बुढ़ापे में और राज्यपाल पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद हम दोनों इसी तरह लिये हाथ एक दूसरे का, अतिशय सुख के सागर में बहें। ●

तुमको प्रणाम!

कवि के, कविता के, प्राणों के मर्मज्ञ प्राण
हे प्रज्ञ मनीषी, वाणी के विस्फुरित ज्ञान
तुमको प्रणाम!

सारस्वत प्रतिभा के प्रतीक, भावक ललाम
नव नवोन्मेषशालिनी कल्पना के विधान
तुमको प्रणाम!
चेतनालोक की विमल विभा के व्यक्त गान
हे विष्णुकान्त शास्त्रीय प्रौढ़ता के प्रमाण
तुमको प्रणाम!

—ब्रजनन्दन सहाय 'मोहन प्रेमयोगी'

सौजन्य : सेक्युरी प्लाइवोर्डस (इंडिया) लि०, ६, लायन्स रेंज, कोलकाता-७०० ००१

सीतानाथ गोस्वामी

पश्येम शरदः शतम् : पचहत्तर वर्ष पूर्ति में प्रार्थना

हेइ कबड्डी कबड्डी.....कहते कहते एक दीर्घकाय गौरकान्ति, स्वस्थ, समर्थ तरुण हमारी तरफ आ गया। निश्चित था कि वह कमसे कम दो तीन को अपने लम्बे हाथ से, कभी पैर से छूकर ही लौट जायेगा। मैं तो केशव भाग का स्वयंसेवक और वह अरविन्द भाग का– इसलिये मेरा विपरीत पक्ष में रहना तो निश्चित था, और इसके कारण मैं हमेशा उनसे डरता था कि मुझे मार कर न जा सके। मन में यह स्वप्न सा था कि मैं भी कभी उनको पकड़ूं। एकदिन ये जब 'कबड्डी' कहते कहते लौट रहे थे तब मेरे जैसे दुबले पतले स्वल्पकाय खिलाड़ी की कुछ भी परवाह न करके थोड़ा सा असतर्क हुए तभी मैंने उनके पीछे की टाँग पकड़ी। साथ ही तीन चार स्वयंसेवक कूद पड़े, और विष्णुजी चढ़ाई (mid-line) छू नहीं सके। यह घटना है १९५५ में गोआबगान संघस्थान की।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के कृती छात्र विष्णुजी हिन्दी भाषा साहित्य में एम. ए. पास करने के बाद कुछ समय तक जयपुरिया कालेज में अध्यापक रहे हैं, किन्तु स्वल्पकाल के लिये, क्योंकि कलकत्ता विश्वविद्यालय उनको अध्यापक के नाते पाना चाहता था। १९६७ की एक घटना का उल्लेख करना चाहता हूँ। उस समय मैं स्वामी विवेकानन्दजी के 'प्राच्य ओ पाश्चात्य' इस मूल बंगभाषीय ग्रन्थ का संस्कृतानुवाद करने में संलग्न था। स्वामीजी के ग्रन्थ में बीच बीच में अंग्रेजी भी थी और हिन्दी शब्द तथा वाक्यांश भी बहुत था। संघ के वायुमण्डल में बालक अवस्था से रहने के कारण सामान्य हिन्दी समझना तथा बोलना कठिन मालूम नहीं होता था लेकिन व्याकरण तो कभी सीखा नहीं। इसलिये लिखने में डर लगता था, जो कि आज भी वृद्धावस्था में है। उस समय मैंने विष्णुजी को दो प्रसंग "प्राच्य ओ पाश्चात्य" से उठाकर उसके परिष्करण के लिये लिखा था, जिस में एक है– "उल्टा समझलि राम", दूसरा "भेड़ियाधसान।" ये दो प्रश्न लिखते समय जो पत्र मैंने उनको दिया था वह हिन्दी में लिखा था, बीच बीच में अंग्रेजी भी थी। करीब दस दिन के अन्दर उनका बंगाक्षर में शुद्ध बांग्ला भाषा में स्पष्ट उत्तर मुझे मिला। मैं आश्चर्यचकित हो गया, मेरी कृतज्ञता भी पत्र द्वारा विनीत रूप से स्वीकार की। संघ की तो शिक्षा है कि जहाँ रहना, वहाँ की बोलचाल, खानपान जितना सम्भव हो अपनाना चाहिये।

एक घटना और याद आ रही है १९५३-५४ की। कलकत्ता विश्वविद्यालय में मेरे एक पूज्यपाद अध्यापक महामहोपाध्याय पण्डित चित्रस्वामी शास्त्री ने एकदिन मुझे कहा कि– "देखो सीतानाथ, मैं एक प्रसिद्ध पण्डित गांगेय नरोत्तम शास्त्री जी के घर पर जाऊँगा। वह घर है चित्तरंजन एवेन्यू में। तुम जानते हो?" मैं चुप रहा क्योंकि अनजान था। 'सुनो, यह मुक्तारामबाबू स्ट्रीट क्रासिंग के निकट है, इतना पता है।' 'नहीं कह सकते।'

थैली से पुस्तक निकालकर उसमें से एक काग़ज देख कर बताया २८० नं।

— हाँ, अवश्य जानता हूँ।

— कैसे ?

— उस नं. के मकान पर मैं बहुत बार गया हूँ।

सौजन्य : M/s. Sobha, P-35, Cotton Street, Kolkata-700 007

— क्यों ?

— मेरे मित्र विष्णुकान्त शास्त्री वहाँ रहते हैं।

— तब वह पण्डितजी के ही लड़के होंगे।

हम दोनों शिक्षक और छात्र पैदल चले क्योंकि पण्डितजी (मेरे अध्यापक) कलकत्ता की भीड़ भरी बस में नहीं जा सकते थे। पहुँचे और पता चला कि प्रसिद्ध पण्डित गांगेय नरोत्तम शास्त्री विष्णुजी के ही पिता हैं।

* * * *

यह किस वर्ष की घटना है कहना तो कठिन है, फिर भी हो सकता है कि १९९२ की बात हो। रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान से निकलकर किसी पोस्ट आफिस की खोज में पैदल जा रहा था। महाराष्ट्र निवास के पास जाते समय दो तीन पुराने स्वयंसेवकों ने मुझे 'सीतानाथदा' कहकर पुकारा। बाहर में बीजेपी का एक फेस्टून भी नजर आया। दो कदम जाते ही देखा कि जुगलजी (जुगलकिशोर जैथलियाजी) बैठे हैं। नमस्कार निवेदन किया। जुगलजी विष्णुजी के पास ले गये। विष्णुजी मुझे देखते ही बोले— 'चलिये, आडवाणीजी से बात करा देता हूँ।' संघ के स्वयंसेवक बीजेपी से तो मेरा कभी भी कोई सम्बन्ध नहीं था। विष्णुजी ने मंच पर ले जा करके आडवाणीजी से मेरा परिचय कराया। विष्णुजी तब तो राज्य सभापति थे, फिर भी उनमें थोड़ा भी बड़प्पन का भाव नहीं था। उन्होंने मेरा ऐसा परिचय दिया कि मैं संकुचित हो गया। यह है विष्णुजी की महत्ता और उदारता।

करीब १९९४ की बात होगी। इतना याद है कि विष्णुजी उस समय बीजेपी के केन्द्रीय कमेटी के सहसभापति थे। देशभर में जाते थे। लेकिन रविवार को सुबह बालीगंज पुलिस स्टेशन से नज़दीक 'गोकुल' नाम के एक मकान में आध्यात्मिक विषय पर उनका भाषण होता था। प्रायः पचास-साठ लोग सुनने आते थे। मैं एक दिन उस रास्ते से पड़ोस के एक गृह में गया था। लौटते समय एक दो परिचित मित्रों को देख करके मैंने पूछा— कहाँ जा रहे हो? उत्तर मिला— 'विष्णुजी का प्रवचन सुनने।' मैंने कहा— 'मैं भी चलूँ।' — 'अवश्य।' तब प्रारम्भ हो गया था उनका प्रवचन। शान्त होकर सब लोग सुन रहे थे। मैं भी बैठ गया। उस दिन मुझे पता चला कि विष्णुजी को जीवनरस कहाँ से मिलता है। किससे समृद्ध होकर वे इतना परिश्रम करके भी सहास्य मुख अक्षुण्ण रख सकते हैं।

ऐसा सुना और देखा भी कि उच्च पद मिलने से मनुष्य बदलता है, अहंकार बढ़ता है, अकारण गाम्भीर्य भी देखने को मिलता है। विष्णुजी जब हिमाचल प्रदेश में राज्यपाल के नाते गये तब उनके व्यवहार के विषय में इतना कुछ सुनने में नहीं आया क्योंकि वहाँ से दूरी यथेष्ट है। लोगों के जाने-आने से इतनी खबर नहीं मिलती है। स्वयंसेवक लोग तो जानते ही हैं कि स्वयंसेवक पद पाने से बदलेंगे नहीं। इसलिये चर्चा भी नहीं हुई। एकदिन 'वर्तमान' पत्रिका में राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री के सामान्य निराडम्बर सरल जीवनयापन के सम्बन्ध में पढ़कर अत्यन्त आनन्द मिला था। मैंने प्रातःस्मरणीय डॉ० हेडगेवार और परमपूज्य गुरुजी का स्मरण करके उन दोनों को सम्बोधित कर मन ही मन कहा— आपतो ऐसा ही स्वयंसेवक चाहते थे। आशीर्वाद करें स्वयंसेवक ऐसा ही हो।

उत्तर प्रदेश में राज्यपाल होकर आने के बाद विभिन्न प्रसंगों से मैंने उन्हें पत्र दिया और निरपवाद रूप में प्रत्येक पत्र का उत्तर उन्होंने दिया। अपनी विविध व्यस्तताओं के बीच भी उन्होंने टेलीफोन पर मुझसे बात की।

विष्णुजी का संक्षिप्त परिचय— दीर्घदेही, उन्नतचेता, उदात्तकण्ठ, उदारचरित, निरहंकार, सदाहास्यमय, आदर्श स्वयंसेवक। श्रीभगवान् उनको सुख, शान्ति, यश, निरामय दीर्घजीवन दें। पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। ३७ ●

सौजन्य : Nand Lal Shah, 2, Mandevilla Gardens, Kolkata-700 019

प्रो० सूर्यप्रसाद दीक्षित

'महामहिमा जलरासी'

व्यक्तित्व विश्लेषण के लिए नैकट्य भी चाहिए और अपेक्षित दूरी भी। हम न तो आलम्बन को पूरी तरह सटकर देख पाएँगे और न उससे सर्वथा हटकर। सट जाने से खुला आकाश (अन्तराल) नहीं मिलता, यानी विचार की तरंगें नहीं आ पातीं और परे हट जाने से पूरा क्षितिज ही लुप्त हो जाता है। वस्तुनिष्ठ आकलन के लिए अपेक्षित है, सही कोण, पूरा अवकाश, अच्छी चित्तवृत्ति और विवेचन-क्षमता। वशिष्ठ की जैसी तटस्थता अबलात्व के बिना। इस प्रमेय एवं पूर्व प्रतिज्ञा के साथ आचार्य श्री के व्यक्तित्व-कृतित्व पर विचार करते हुए ही शायद कुछ अच्छे निष्कर्ष-सूत्र स्थापित किए जा सकते हैं।

मैंने यह सदैव अनुभव किया है कि वे 'सर्वतोभद्र' व्यक्ति हैं। संभव है कुंठित जन 'गुड फॉर नथिंग' कहें पर गुड तो हैं ही। सम्प्रति राजनीतिक-प्रशासनिक क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति विरल हैं। शास्त्री जी में बड़प्पन नख-शिख तक विद्यमान है। वे किसी हीन मनोग्रन्थि और संशय, ईर्ष्या, अहंकार, स्वार्थादि मनोवृत्तियों से प्रत्यक्षतः आक्रान्त नहीं हैं। आस्था एवं आस्तिकता की आन्तरिक ऊर्जा से वे सम्पन्न हैं। जब कभी कोई उनकी उपलब्धियों अथवा विशेषताओं की प्रशस्ति करने लगता है तो वे न उसकी चाटूक्ति की वर्जना कदर्थना करते हैं और न उसके कथनों को अंगीकार करते हैं; बस 'नारायण' 'श्रीराम' जैसे महामंत्रों का उच्चारण करके उसे जमा कर लेते हैं। आज के 'दुनियादार' दर्शनार्थियों की प्रशस्ति को यदि किसी ने अभिधा में अंगीकार कर लिया तो उसका गर्व-खर्व होना अवश्यम्भावी है। शास्त्री जी अपने को भलीभाँति जानते हैं। वर्तमान देशकाल में हिन्दी शिक्षक का क्या वजूद है ? राजनीतिक समीकरण कितना विश्वसनीय है ? अपनी छवि को निर्मल एवं पारदर्शी बनाए रखना कितना दुस्साध्य है ? इन परिस्थितियों में उन्होंने अपनी एक 'रहनि' निर्मित की है, ऐसी 'रहनि' जो सत्ता-व्यवस्था के अनुकूल-प्रतिकूल रहने के बावजूद उभय स्थितियों में उनका मूर्तिभंजन नहीं कर सकेगी। अब तो यह शास्त्री जी का स्थायीभाव हो गया है। न किसी से आत्यन्तिक राग और न द्वेष। अपने राग-विराग पर नियंत्रण स्थापित कर लेना ही उनकी सर्वाधिक सिद्धि है और यह सुदीर्घ संस्कारों द्वारा ही संभव होती है। उनकी महिमामृगी कितने ही खलों और छलनाओं के मन वच क्रम-विशेषों से विद्ध होकर भी अनाहत रही, यह सुखद विस्मय का विषय है। जनमन पर आचार्य प्रवर की सबसे चटकीली छाप उनके वैदुष्य के कारण अंकित हुई है। उनके वक्तृत्व में प्रायः जादुई सम्मोहन भर जाता है। भाषा-शब्दावली का बहुत सार्थक सटीक प्रयोग वे करते हैं। उद्धरणों उन्हें बहुत प्रिय है। समय मिलते ही वे सूक्तियाँ संचित करने लगते हैं। भाषण-प्रस्तुतीकरण के क्रम में इन सुभाषितों को वे कुशल कलाकार की तरह ठीक प्रसंग के साथ टाँक देते हैं। काव्योद्धरणों तथा लोकोक्तियों में गद्य वाक्यों की तुलना में कई गुना ज्यादा संप्रेषणीयता होती है। आज का श्रोता-समाज चूँकि काव्य-कला से वंचित हो गया है। इसलिए इन उद्धरणों को सुनकर वह बहुत जल्दी भाव-विभोर हो जाता है। खतरा मात्र बहक जाने का होता है। वक्ता भी उद्धरणों के आवेग में आकर किसी एक विचार-बिन्दु पर ठहरकर सुस्थिर तथा सघन चिंतन अथवा पक्षापक्ष-विमर्श नहीं कर

सौजन्य : Nand Lal Shah, 2, Mandeville Gardens, Kolkata-700 019

पाता और श्रोता तो प्रवाह में बह ही जाता है, अर्थात् सरलीकरण का शिकार हो जाता है। कोई लाल में फँस जाता है, कोई ताली में।

शास्त्री जी के पास सूक्तियों का अघट भाण्डार है। वेदोपनिषद्, गीता, संस्कृत वांग्मय, मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति काव्य, छायावाद से नयी कविता के दौर तक की हिन्दी काव्यधारा आदि का उन्होंने गहन अवगाहन किया है। उद्गीथ वचनों और गूढ़ोक्तियों के चयन में उनकी अभिरुचि सदैव सक्रिय रही है। इन्हें वर्गीकृत-सुविभाजित करके उन्होंने सुरक्षित-संरक्षित कर लिया है। यथाप्रसंग इन उपस्थित अंशों का वे सम्यक् सटीक उपयोग कर लेते हैं। इससे उनकी मधुकरी वृत्ति, ताजगी एवं सतत-स्वाध्याय का संकेत मिलता रहता है। वस्तुतः स्मृति उनकी पाथेय है। उनकी धारणा-शक्ति बड़ी प्रबल है। इसीलिए संस्मरणों में उन्हें विशेष सफलता मिली है। स्मरण शक्ति के कारण वर्षों पहले याद किया हुआ काव्यांश उपयुक्त क्षणों में उनकी जिह्वा पर स्वयमेव उतर आता है। इसलिए प्रशासनिक व्यस्ततावश चाहे महीनों स्वाध्याय या मुक्त विमर्श का अवसर न मिल पाए, उनकी स्मरणशक्ति के चमत्कारवश कभी उनकी निरन्तरता-सततता में अन्तराल नहीं आने पाता। वे अपनी वाग्मिता द्वारा उसे ताजा बना लेते हैं। नवोनतम अल्पख्यात रचनाकार को उद्धृत करने में उन्हें संकोच नहीं होता। भले ही श्रोता समाज में बैठा हुआ वह रचनाकार इतना बड़ा गौरव-बोझ न सम्हाल पाए। कई बार नवोद्भुत व्यक्ति गलतफहमी के शिकार भी हो जाते हैं। वे सहसा मान बैठते हैं कि शास्त्री जी ने मुझे अपना प्रिय, घनिष्ठ रचनाकार यानी चरित नायक मान लिया है। जबकि वक्ता के लिए ये उद्धरण मात्र जानकारी के प्रदर्शक शब्द पुंज होते हैं। वह अपनी सातत्य साख के लिए इनका उपयोग करता है — शुद्ध विषयातीत भाव से।

आचार्य जी विशिष्ट रुचिबोध के व्यक्ति हैं, किन्तु रुचि-वैविध्य-सम्पन्न भी हैं। उनकी चित्त वृत्ति रमती है- अध्यात्म, भक्ति और प्रपत्ति पंथ में। भक्तिकाव्य में उनकी गहरी पैठ है। इसकी बारीक खोजबीन में फँसे बिना वे सहजानन्द लेते हैं। तुलसी के हिय को हेर कर उन्होंने कई अच्छी उद्भावनाएँ खोजी हैं। सुनियोजित शोध समीक्षा एवं अर्थ मीमांसा का उन्हें संयोग नहीं मिला। उन्होंने सोत्साह लेखन कम किया है। संस्कृत की पृष्ठभूमि उन्हें विरासत में मिली थी। अतः उसका विनियोग हिन्दी में किया। उन्होंने बंगवासियों के बड़बोलेपन को, हिन्दी के प्रति उनके उपेक्षा भाव को और संस्कृत-पण्डितों की रूढ़िग्रस्तता को चुनौती के रूप में लिया था। इसी कारण हिन्दीतर राज्य में रहते हुए भी उनका हिन्दी चिन्तन कभी शिथिल या प्रमादग्रस्त नहीं हुआ। उन्होंने कोलकाता के हिन्दी भाषियों के मंचों को पर्याप्त प्रश्रय दिया और अपनी पारम्परिक निष्ठा का पूरी रचनात्मक उदारता के साथ आधुनिकीकरण किया। इस अभियान में उनसे संबद्ध संस्थाएँ बहुत उपयोगी सिद्ध हुईं। साथ ही उनके प्रति श्रद्धालु उनकी शिष्यमण्डली भी। शास्त्री जी नैष्ठिक शिक्षक रहे हैं। वे कविता के बहुत अच्छे व्याख्याता हैं— सुपठित और सुशब्दित। जिस संप्रेषणशक्ति से वे सर्वसाधारण को गीता एवं उपनिषदों का दर्शन समझा लेते हैं, उसी क्षमता यानी वाचन एवं विवेचन कला द्वारा वे बंगवासियों के अन्तस्तल में हिन्दी कविता को उतार देते हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता—विशेषतः प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, बच्चन, दिनकर, अज्ञेय आदि को उन्होंने मात्र पाठ्यक्रमीय कवि के रूप में ही नहीं पढ़ा—पढ़ाया है, बल्कि पूरे मन से उनके उत्तमांश को आत्मसात किया है। अपने व्यावहारिक निजी जीवन में शास्त्री जी आदर्शोन्मुख हैं और रहे हैं। कुछ सिद्धांतों से वे प्रतिबद्ध भी हैं, किन्तु साहित्य में किसी से कोई परहेज और गुरेज उन्हें नहीं रहा। स्वयं उदात्तीकरण के कायल होकर भी कविता

सौजन्य : Nand Lal Shah, 2, Mandevilla Gardens, Kolkata-700 019

के हर रस-रंग का वे सुखानुभव करते हैं, चाहे संयोग वियोग, आक्रोश, निर्वेद, संत्रास यानी सम-विषम किसी प्रकार का उदात्त-अनुदात्त स्वर हो। शर्त यही है कि उसमें भाव भाषा की भंगिमा अवश्य हो। कभी कभी अति सहृदयता के कारण विशेषतः राजभवन की सामूहिक ग्रन्थ लोकार्पण गोष्ठी में मामूली सी उक्ति या कृति पर भी वे रीझ उठते हैं और अपने वाचन-अभिनय द्वारा उसे 'जमा' देते हैं। स्पष्ट है कि आज कविता के सही अर्थबोधन के लिए सतत अनुश्रवण की आवश्यकता है और सही अर्थापन के लिए वाचिककला की भी।

साहित्य-क्षेत्र में शास्त्री जी शिविरबद्धता के हामी नहीं है। उन्होंने भाजपा-समर्थक होकर भी डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवर सिंह आदि प्रगतिशील-वामपंथी और कई उग्रपंथी रचनाकारों को भी भरसक मान्यता दी है। पता नहीं उनके आचार्यत्व से अभिभूत होकर ? या अपनी सहज सदाशयता के कारण ? या साहित्यिक राजनीतिक-व्यूह रचनावश? या अपनी नमनशील विचारधारा के कारण? उससे कई कट्टर दक्षिणपंथी साहित्य-सेनानियों को मोहभंग तक हो गया है, किन्तु आज यही शास्त्री जी की लोकप्रियता का मूलाधार भी है।

वस्तुतः उनका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। राजनीतिक कार्यकर्ता, प्रशासनिक अधिकारी, संत-महात्मा, साहित्यकार, परिजन-पुरजन, देशीविदेशी, हजारों नहीं लाखों की संख्या में लोग उनसे जुड़े हुए हैं। वे प्रायः प्रत्येक को तत्काल पहचान लेते हैं और आत्मीयता की दृष्टि करके नयों को भी सदा-सर्वदा के लिए अपना लेते हैं। अतिव्यस्तता एवं सरकारी बंदिश के बावजूद किसी को मिलने से मना करना, उलझनों के बावजूद किसी से अप्रिय बात करना और थकान होते हुए कहीं जाने के कार्यक्रम को निरस्त कर देना उनके स्वभाव में नहीं है। शायद ही कोई ऐसा दिन राजभवन में रहते हुए आया हो, जिसदिन दोनों जून दो व्याख्यान देने वे न निकले हों। व्याख्यान भी एक से एक विचित्र विषयों पर, छोटी बड़ी हर तरह की संस्थाओं में कहीं दीक्षांत भाषण देते हुए मानवीय मूल्यों की मीमांसा, तो कहीं पशु संरक्षण-समारोह में श्वान निष्ठा की चर्चा। प्रत्येक संवाद में जितनी दत्तचित्तता, उतनी ही निर्लिप्तता। औपचारिकता तथा औपदेशिकता दोनों का निर्वाह।

शास्त्री जी का यह क्रम-पराक्रम बहुत पुराना है। वे यात्रा-भीरु कभी नहीं रहे। देश-देशान्तर तक गोष्ठियों में वे सम्मिलित हुए हैं। इस यायावरी से उनके ज्ञान एवं मान दोनों का परिविस्तार हुआ है। आश्चर्य इस बात का है कि इतने संकल्पों का निर्वाह कैसे हो पाता है ? जाहिर है, हर निकटस्थ व्यक्ति कुछ न कुछ अपेक्षाएँ रखता होगा। भग्न मनोरथ होकर वह विषम या उदासीन भी हो जाता होगा, किन्तु शास्त्री जी ऐसी प्रतीति भरसक किसी को होने नहीं देते। वे अपना कार्य नियमानुकूल करते जाते हैं। अपनी सार्वजनिक छवि के प्रति पूरी मुग्धता के साथ संबद्ध होकर वे उसके संरक्षण के लिए सतत सतर्क रहते हैं। किसी पर अहैतुकी अनुकंपा करते हुए कारण-कारणों एवं अनुवर्ती प्रकार्यों प्रतिक्रियाओं पर विचार करना उनके जैसे विवेकवान व्यक्ति के लिए अपेक्षित ही है। लखनऊ के प्रवास-काल में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ की हैं, किन्तु प्रायः वरिष्ठ पार्टीजनों के निर्देश पर या सत्तारूढ़ शासन के आग्रह पर, न कि निजी निर्णय या अहमबोध से प्रेरित होकर। वे दल के अनुशासन से और पद-मर्यादा से सदैव बँधकर चलने के हामी हैं। हिन्दी की दुर्दशा से वे दुःखी हैं, किन्तु प्रदेश के विश्वविद्यालयों में हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाने में सक्षम किसी हिन्दी आचार्य को वे कुलपति (चाहकर भी) नहीं नियुक्त कर पाए, ताकि राजभवन की प्रतिष्ठा विवादसंकुलता के कारण आहत न हो। आज की छीना झपटी में, जब सभी मंत्री अपने क्षेत्र के विकास, अपने अपने आदमी के उद्धार और अपने परिवारवाद वंशवाद से ग्रस्त हैं, शास्त्री जी का यह 'अनासक्ति' योग उल्लेखनीय है।

सौजन्य : पद्म कुमार श्यामसुखा, २ लालबाजार स्ट्रीट, क. सं. १११, कोलकाता-१

समकालीन राजनयिकों में ऐसे मूल्यहंताओं की बाढ़ आई हुई है, जो इस दुर्लभ एवं अल्पस्थायी सत्ता को अपने लिए और 'अपनों' के लिए आखिरी बूँद तक निचोड़ने में लगे रहते हैं। वे लोकभीरुता, धर्मभीरुता और विधिभीरुता से परे हैं। शास्त्री जी यशस्वी हैं, यशःकामी हैं, शायद इसीलिए वे विवादों का जोखिम नहीं उठाते। जो 'रुटीन' में हो जाए, बेहतर। यों भी नियामक तो 'नारायण' हैं, फिर वे 'कर्ता' बनने का दंभ क्यों पालें ? ऐसे भी अवसर आए हैं, जब प्रदेश सरकार के प्रस्तावों को उन्होंने साहसपूर्वक लौटा दिया, किन्तु कालान्तर में प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाए बिना उन्हें 'स्मूथरनिंग' हेतु बहाल भी कर दिया। राष्ट्रपति शासनकाल में उन्होंने यथास्थिति से भिन्न अपनी संचालन क्षमता का जो प्रमाण दिया, वह चिरस्मरणीय रहेगा। सर्वाधिक स्मरणीय है—आचार्य जी का शील, उनकी सादगी, निरहंकारिता, जीवन की नियमितता और उनकी व्यवहारकुशलता। सार्वजनिक रूप से अपने बड़ों (पूज्यपुरुषों) का चरण स्पर्श करना, आत्मीयों के अभिवादन में पहल करना और भारीभीड़ से घिरे होने पर भी सबको अलग-अलग 'अटेण्ड' कर लेना उनका विशिष्ट प्रबन्धन कौशल है। जनमनोविज्ञान की उन्हें गहरी पहचान है। उन्हें वधेष्ट तत्पर बुद्धि प्राप्त है। आरंभ से ही वे जनता के व्यक्ति रहे हैं। अभिजन होना उन्हें कम भाता है, फिर भी पद के आभिजात्य का सम्यक् निर्वाह वे करते हैं। व्यक्तिगत लाभालाभ की गणितीय सोच से मुक्त होकर मैं जब उन्हें गरिमामण्डित देखता हूँ तो यह प्रतीति मुझे होती है कि यह प्रतिष्ठा एक हिन्दी प्रोफेसर की है। प्रकारान्तर से गत वर्षों में इससे समूचा हिन्दी जगत गौरवान्वित हुआ है। ●

अभिनन्दन!

हिन्दी, हिन्दु उन्नायक तुम राष्ट्र वाद के शुचि गायक हो,
मृदु हो मोम सदृश फिर भी अन्यायी हित विषयुत सायक हो।
राजनीति में शुचिता के संस्थापक हो तुम युग सर्जक हो।
जीवन मूल्यों के ज्ञाता शुचिता पावनता के अर्जक हो।

'कुछ चंदन की कुछ कपूर की' 'तुलसी के हिय हेरि' दिखाया,
'भक्ति और शरणागति' के 'अनुचिंतन' का परचम लहराया।
'ज्ञान-कर्म' 'चिन्तन मुद्रा' सच 'सुधियाँ उस चंदन के वनकी',
'अमर आग है' प्रकट हुई शुचिता प्रणम्य है तन की मन की।

छात्रों के हित चिन्तक गुरुवर! तुम कबीर की उजली चादर,
तुलसी साहित अधिकारी, है छलक रही भक्ती रस गागर।
धन्य तात 'गांगेय नरोत्तम' 'विष्णु कान्त' कुल दीपक जाये,
'जीवन पथ पर चलते-चलते' सचमुच कितने दीप जलाये।

—रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी 'प्रलयंकर'

सौजन्य : Brahmanand, Nirmal, Saroj Agarwal, P-10, New Howrah Bridge App. Road, Kolkata-1

डॉ० शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

एक साधुपुरुष, एक आचार्य

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री से मेरा प्रथम परिचय १९६४ ई. में हुआ कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में, और उस प्रथम परिचय में ही लगा कि उनसे निकटता बढ़ानी चाहिए। पहले परिचय में ही मेरे मन ने उन्हें एक अनुकरणीय अग्रज मान लिया था और यह सत्य है कि काफी दूरतक मेरा जीवन उनके द्वारा निर्मित पथ-चिन्हों पर चला। मेरा उनसे प्रथम परिचय विशुद्ध साहित्यिक-शैक्षिक धरातल पर था। उस समय तक न वे राजनीति में सक्रिय थे, और न मैं वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे, और मैं पटना विश्वविद्यालय में, दोनों ही एन. सी. सी. के प्रशिक्षित अधिकारी थे, और दोनों का राष्ट्रवादी विचारों के साथ भावसाम्य था। मुख्य अन्तर यह था कि शास्त्रीजी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और आचार्य के रूप में उस समय तक ही उन्होंने इतनी यश-प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी कि उन्हें पी-एच. डी. की उपाधि तुच्छ लगने लगी थी, और मैं उसी उपाधि के निमित्त शोधकार्य के सिलसिले में कलकत्ता गया था—नेशनल लाइब्रेरी का उपयोग करने, कलकत्ता के हिन्दी संस्थानों और पुस्तकालयों को खँगालने तथा वहाँ के हिन्दी विद्वानों से संपर्क कर अपने को समृद्ध करने। इस क्रम में जिन-जिन से मिला, उनमें मात्र विष्णुकान्तजी ही थे, जिनसे निरन्तर मिलना होता रहा और एक प्रगाढ़ आत्मीय सम्बन्ध बन गया, जो आज भी जीवन्त है। निश्चित रूप से इस घनिष्ठता का एक कारक राजनीतिक दल-साम्य और अनेक अवसरों पर सहकार रहा। पिछले चालीस वर्षों में कभी भी न तो हमारे सम्बन्धों में न कोई तिलास आई, न कोई झटका लगा। सहधर्मिता और सहकर्मिता के संयोग के कारण उन्हें अनेक अवसरों पर, अनेक रूपों में देखने के अवसर मिले, और हर बार मेरी आदर-भावना में अभिवृद्धि ही होती गयी। उम्र में तो वे लगभग सात ही वर्ष बड़े हैं, पर मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि वे हर दृष्टि से मुझसे बहुत-बहुत बड़े हैं, अतः अपने को उनका अनुसरणकर्त्ता मानने में मुझे गर्व का अनुभव होता है। कुछेक प्रसंग भूलते नहीं।

१९८५ में माननीय अटलजी की षष्टिपूर्त्ति के अवसर पर पटना में कुछ मित्रों ने तय किया कि एक 'नागरिक-समारोह समिति' गठित कर अटलजी का जन्मदिन, कुछ इस प्रकार मनाया जाय कि उसमें न केवल भाजपा के नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की सहभागिता हो, बल्कि समाज के ऐसे गण्यमान्य लोग भी भाग लें जो किसी भी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं होते हुए भी अटलजी के प्रशंसक हैं, भक्त हैं और उनके प्रति अपनी श्रद्धा-भावना को सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त करना चाहते हैं। मुझे उस समारोह-समिति का संयोजक बनाया गया और मुझपर यह जिम्मेवारी दी गई कि मैं बाहर से किसी विशिष्ट वक्ता को इस अवसर पर आमंत्रित करूँ। इस दृष्टि से मेरे मन में पहला नाम विष्णुकान्तजी का ही उभरकर आया, मैंने तुरन्त उनसे फोन पर सम्पर्क किया और उन्होंने फोन पर ही सहर्ष स्वीकृति दे दी।

कार्यक्रम २५ दिसम्बर को था, उन्हें २४ को रात में चलकर प्रातः पटना पहुँचना था, और उसी दिन रात में पंजाब मेल पकड़कर कलकत्ता वापस लौटना था। २४ से ही मौसम का मिजाज बिगड़ गया, भयंकर ठंड और

सौजन्य : Babulal Dhanania & Co., 131, Cotton Street, Gr. Floor, R. No. 8, Kolkata-700 007

लगातार बारिश। हमलोग आशंकित हुए कि इस मौसम में पता नहीं वे ट्रेन पकड़ पायेंगे या नहीं, अतः रात में १० बजे फोन कर पता किया कि वे कलकत्ता से चले या नहीं ? वे चल चुके थे। अतः प्रातःकाल हमलोग उन्हें लेने स्टेशन पहुँचे। वे फर्स्ट क्लास कम्पार्टमेंट से उतरे—सफेद कुर्ता-धोती में, न चादर, न कोट, बस हाथ में एक छोटासा बैग! मैं भक्क। संकोचपूर्वक पूछा— "आपका कोट?" वे उन दिनों बन्द गले का एक लांगकोट पहना करते थे—गाढ़े नीले रंग का, जिसमें हल्की धारियाँ थीं। उन्होंने अपनी चिरपरिचित हँसी के साथ उत्तर दिया— "कोट था, रास्ते में किसी ने उतार लिया। मैंने सोते समय खूँटी पर टांग दिया था।" तेज ठंडी हवा में अद्धी का कुर्ता और घुटने एवं एड़ी के बीच ही समाप्त हो जानेवाली धोती। डब्बे से गाड़ी तक ही लाने में कहीं इतनी सर्दी न लग जाय कि वे बीमार पड़ जायँ। मैं थोड़ी देर किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहा। उन्होंने मेरी चिन्ता भांप ली और बोले—"चलिए यहाँ रुकने से कोई लाभ नहीं, रामजी सब ठीक कर देंगे।" मैं उन्हें लेकर श्री अभिजित कश्यप के घर आया। उनके पिताश्री स्व.पं. रामनारायण शास्त्री से उनका पुराना परिचय था और पं. रामनारायण शास्त्री जी की पत्नी श्रीमती ईश्वरी आर्याजी का बहुत आग्रह था कि मैं उन्हें वहीं ठहराऊँ। शास्त्रीजी वहीं ठहरे, स्नान-ध्यान, भोजन, विश्राम सब वहीं।

इस बीच अभिजित और उनकी माताजी से सम्पर्क कर यह योजना बनाई कि मीटिंग में जाने के पूर्व एक ऊनी सफेद शॉल खादी-भण्डार से मँगा ली जाय और जब वे मीटिंग में जाने के लिए तैयार हों तो माँजी वह चादर उन्हें ओढ़ा दें, उनको वे ना नहीं कर सकेंगे, दूसरों को शायद वे मना कर दें। सूती धोती-कुर्ता में उनका मंच पर जाना अच्छा नहीं लगेगा। यही हुआ। मीटिंग में जाते समय श्रीमती ईश्वरी आर्या ने स्नेह-सम्मान में लपेटकर उन्हें चादर ओढ़ा दी। उन्होंने सहज संकोचपूर्वक स्वीकार कर लिया। हम सब प्रसन्न हुए। वहाँ उस दिन मंच पर ले. जेनरल सिन्हा (सम्प्रति जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल) भी थे और स्व. देवेन्द्र प्रसाद सिंह, भू. पू. राज्यसभा सदस्य एवं लोकनायक जयप्रकाश के अनन्य सहयोगी, और श्री कैलाशपति मिश्र (पूर्व राज्यपाल, गुजरात) भी थे और सभागार में बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों और गण्यमान्य नागरिकों का हुजूम। उस ठंड और बारिश में भी आई. एम. ए. हॉल खचाखच भरा हुआ था। उस दिन अटलजी के सम्बन्ध में शास्त्रीजी का व्याख्यान सुनकर सबने एक स्वर से कहा— "अटलजी के सम्बन्ध में ऐसा व्याख्यान तो हमने कभी सुना ही नहीं था।" वे कुशल वक्ता तो हैं ही, पर उस दिन सचमुच उनकी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान थी।

कार्यक्रम समाप्त हुआ। हमलोग फिर अभिजित के घर लौटे, और रात में कहीं भोजन कर स्टेशन चले, उन्हें छोड़ने। जाते वक्त भी वे शॉल लपेटकर ही गए। जब ट्रेन आई और डब्बे में चढ़ने लगे, तो उन्होंने शॉल मेरे हाथ में थमाते हुए कहा—"अब इसका काम हो गया। बहुत धन्यवाद।" मैंने कहा "शास्त्रीजी, यह शॉल तो आपके लिए ही मँगवाई गई थी, आप इसे हमारा तुच्छ उपहार मानकर लेते जायँ।" उपस्थित अन्य लोगों ने भी भिन्न-भिन्न शब्दों में ऐसा ही आग्रह किया, पर उन्होंने किसी की नहीं सुनी, और शॉल छोड़कर डब्बे में चढ़ गए। 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया'! हम सब अवाक् रह गए। कोई इतना स्नेहिल और इतना निस्संग एक साथ कैसे हो सकता है? सचमुच वे साधु पुरुष हैं।

दूसरी घटना १९९७ की है। उस समय मेरी पत्नी डॉ० वीणा श्रीवास्तव, पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग की अध्यक्षा थीं और मानविकी संकाय की डीन थीं। उन्होंने पहली बार यू. जी. सी. के अनुदान से हिन्दी विभाग में एक पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम का आयोजन किया था। वे चाहती थीं कि इस ऐतिहासिक आयोजन का

सौजन्य : शकुन्तला अग्रवाल, इन्वेस्टमेंट एण्ड कन्सल्टेंट, ३२, डेलहा स्ट्रीट, कोलकाता-१

उद्घाटन माननीय शास्त्रीजी द्वारा हो। पत्राचार हुआ, उद्घाटन-तिथि पर उपस्थित होने में उन्हें कुछ कठिनाई थी, अतः उन्होंने समापन-समारोह में विशिष्ट अतिथि के रूप में पधारने की स्वीकृति दे दी। निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार उस दिन उन्हें प्रातः ८ बजे तक पहुँच जाना था, कार्यक्रम १० बजे से प्रारंभ होनेवाला था। गाड़ी लेकर आनन्द उन्हें लाने गए, ९ बजे स्टेशन से फोन किया वह ट्रेन इलाहाबाद में किसी कारण से रोक दी गई है, अब वह कबतक आएगी, नहीं कहा जा सकता। १२ बजे तक भी जब ट्रेन नहीं आई, तो कार्यक्रम प्रारंभ कर दिया गया। लगभग डेढ़ बजे शास्त्रीजी कोई और गाड़ी पकड़कर पटना पहुँचे, बिना नहाए-धोए, भूखे-प्यासे। उनके ठहरने की व्यवस्था एक होटल में की गई थी। उतरते ही उन्हें व्यवस्था के सम्बन्ध में जानकारी दी गई, पर उन्होंने कहा—"नहीं, मैं सीधे विश्वविद्यालय जाऊँगा, जहाँ कार्यक्रम है।" वैसी ही अवस्था में, थके-मांदे, मुड़े-चुड़े परिधान में, भूखे-प्यासे वे सीधे सभागार में पहुँचे, परिचितों से अपने सहज स्नेह के साथ मिले और एक घंटा तक धारा प्रवाह बोलते रहे—ज्ञान के नवीकरण की आवश्यकता, प्रक्रिया और हिन्दी साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों पर। सभी दंग, सभी प्रसन्न।

कार्यक्रम समाप्त हुआ तो वीणाजी यात्रा-विपत्र लेकर आईं, उनसे दस्तखत कराने, ताकि यू. जी. सी. के निर्देशानुसार उन्हें यात्रा-व्यय का और संसाधन पुरुषों को दिए जानेवाले मानदेय का भुगतान किया जा सके। शास्त्रीजी ने यात्रा विपत्र हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि संसद-सदस्य के रूप में मुझे निःशुल्क यात्रा के लिए पास प्राप्त है, और इस यात्रा में मैंने कोई व्यय नहीं किया है, अतः मैं यात्रा-व्यय नहीं लूँगा।" बहुत तरह से उन्हें समझाने की चेष्टा की गयी, कई पूर्वोदाहरण भी दिए गए, पर वे टस से मस नहीं हुए। यात्रा-व्यय ही नहीं, उन्होंने व्याख्यान के लिए मानदेय लेना भी स्वीकार नहीं किया। जब उन्हें यह बताया गया कि इस प्रकार मानदेय के नाम पर शून्य दिखाने से यू. जी. सी. में संभ्रम हो सकता है, सारे हिसाब-किताब पर संदेह किया जा सकता है, तब उन्होंने मानदेय तो ग्रहण कर लिया, किन्तु उसे विभाग के विकास के निमित्त दानस्वरूप वीणाजी को लौटा दिया। हिन्दी के बहुत सारे आचार्यों को निकट से जानता हूँ, पर कभी किसी के आचार के ऐसे स्वरूप का मैं प्रत्यक्षदर्शी नहीं रहा। हमारे यहाँ विचार-प्रधान आचार्य बहुत हैं, पर आचार-प्रधान आचार्य बहुत कम।

कार्यक्रम समाप्त हुआ तो जलपान का आग्रह किया गया। उन्होंने कहा कि मैंने न स्नान किया है, न पूजा की है, अतः अब घर चलिए वहीं नहा धोकर भोजन ही कर लूँगा। वीणाजी को व्यवस्था के लिए अभी कार्यक्रम-स्थल पर रुकना था, प्रतिभागियों का हिसाब-किताब करना था। वे रुक गईं और उन्होंने किरण बुई (तब पटना वीमेंस कॉलेज में हिन्दी विभाग की प्राध्यापिका और अब बिहार विधान परिषद की सदस्या) को कहा कि 'तुम साथ चली जाओ, और वहाँ शास्त्रीजी के भोजन आदि की व्यवस्था कर दो।' मेरे पास पुरानी गाड़ी थी और मैं ही चालक था। सुबह से कई लोग, कई बार इसे इस्तेमाल कर चुके थे। मुझे तेल का अंदाज नहीं था। ज्यों ही गाड़ी पटना कॉलेज के गेट पर पहुँची, तेल समाप्त। गाड़ी बंद हो गई। मैंने जेब में हाथ डाला तो मात्र १०-१५ रुपये थे। मैं लज्जित और चिंतित हुआ। शास्त्रीजी ने स्थिति भाँप ली और अपनी जेब से पैसे निकाले। मेरी स्थिति विषम थी। मैं देख चुका था कि किस तरह परेशानियाँ उठाकर वे अपने वचन की रक्षा और वीणाजी की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए असुविधाएँ झेलकर पटना पधारे थे, किस प्रकार उन्होंने यात्रा-व्यय और मानदेय लेने से इन्कार किया था, और अब उनसे पैसे लेकर, जो लौटाने पर भी वे नहीं लेंगे, उन्हें आर्थिक दंड दिया जाय, यह मुझे गवारा नहीं था।

औज़कर : Babulal Dhanania & Co., 131, Cotton Street, Gr. Floor, R. No. 8, Kolkata-700 007

किरणजी ने स्थिति संभाली। अपना पर्स खोला और एक परिचित को पुकार कर उससे तेल मँगवाया। फिर गाड़ी चली, हम घर आये और शास्त्रीजी का स्नान-ध्यान, अन्न-जल ग्रहण हुआ। इतने सरल, निश्छल और निरभिमान व्यक्तित्व का साहचर्य किसी के भी मन में आदर-सम्मान सहज ही उत्पन्न कर देता है। उस समय वे राज्यपाल तो नहीं थे, पर तब भी बहुत बड़े थे।

शास्त्रीजी जब राज्यपाल रहे, तब भी उनका न आचार-विचार बदला और न साहित्य-संस्कार बदला। नवम्बर २००० में लखनऊ में 'संस्कार भारती' का राष्ट्रीय कला साधक संगम 'लोक कला महोत्सव' के रूप में आयोजित हुआ। उसमें अंतिम दिन वे समापन भाषण के लिए पधारे थे। वहाँ उनके हाथों लोक कला के विविध क्षेत्रों में विशिष्ट अवदान के लिए देश के विभिन्न भागों के प्रख्यात कलाकारों को मंच पर सम्मानित कराया गया। एक-एक को उन्होंने प्रतीक चिह्न देकर, सादर चादर अर्पित कर, विनम्रावनत होकर इस प्रकार सम्मानित किया कि सभी गद्‌गद हो गये, पर शास्त्रीजी का मन नहीं भरा। उन्होंने मुझे कहा 'कल संध्या चार बजे इन सब लोगों को लेकर राजभवन आइए, वहाँ इनके सम्मान में चाय-पान आयोजित होगा।' वहाँ पहुँचने पर मैंने देखा कि राजभवन के सारे कक्षों को शास्त्रीजी ने सांस्कृतिक-साहित्यिक नाम देकर एक ऐसा वातावरण बना दिया है जो राजनेता राज्यपाल नहीं कर सकते थे। 'कामायनी' और 'परिमल' जैसे नाम राजभवन के कक्षों को दिया जा सकता है, यह भला किसे सूझता। एकाध और हिन्दी सेवी राज्यपाल हुए हैं, पर राजभवन के माध्यम से जैसी हिन्दी सेवा शास्त्रीजी ने की, वैसी किसी और ने नहीं। उस आयोजन में कुछ बूढ़े-पुराने भी थे, कुछ महिलाएं भी थीं, कुछ युवा भी थे, विमल लाठ जैसे उनके सुपरिचित सुबंधु भी थे, वे एक-एक से अलग-अलग मिले और अपने अक्षय आशीष-कोष में से सबको थोड़ा-थोड़ा बाँटा, अपने स्नेह-पाश में सबको अधिकाधिक बाँधा और सब से श्रद्धा-सम्मान प्राप्त किया।

प्रसंग तो अनेकानेक हैं, राजनीतिक प्रसंगों को तो मैंने छुआ ही नहीं, उनकी विद्वत्ता, वक्तृत्व कौशल, और उनके व्यक्तित्व के अन्य आयामों की भी चर्चा छोड़ रहा हूँ। सबको समेटने के लिए तो एक पूरी पुस्तक लिखनी होगी। उनके 'अमृत महोत्सव' के अवसर पर उनके भीतर के अमृत-तत्त्व को प्रणाम करता हूँ, और उनकी अमरता की कामना करता हूँ। ●

सौजन्य : Sawar Dhanania, 1, Lord Sinha Road, Kolkata-700 071

Amitabha Ghosh

An Appreciation By a Contemporary

Acharya Vishnukant Shastri was born in 1929 and has turned seventy five this year. I was born in 1926 and stepped on to my seventy-ninth year in October this year. I made the acquaintance of Shastri-ji while he was in his teens, way back in October 1947. A camp was organized by the R.S.S. in Dum Dum area at a farm house, adjacent to an open field. It was a ten-day camp known as I.T.C. or Instructors training camp. I was in M.A. student studying Statistical at Calcutta University. I was also studying Law at the University Law College. My colleague at the Law College – Late Naresh Ganguly – who rose to be the All-India President of Bharatiya Mazdoor Sangh – invited me to attend the 'Rakhi Bandhan' ceremony at Goabagan Shakha of the R.S.S. I was very much impressed by what I saw and heard while attending the ceremony and my decades-long association with the Sangh commenced thereafter. Those were eventful and hectic days. Hardly had the country achieved a 'fissured' freedom (to use Sri Aurobindo's description of the country's independence), when Jammu & Kashmir was invaded by tribal raiders from North West Pakistan aided and abetted by the Pakistan Army. It was at this juncture that the I.T.C. was being held.

The camp life at the I.T.C. was rigorous. The participants were to get up early in the morning when it was still dark and undergo a strenuous day-long programme of parades, drills and lectures. Break-fast, lunch, tea and dinner were served on the tick of the clock and all participated in the community feast with a great deal of zest. The young Vishnukant Shastri was a participant at the I.T.C. but an exception was made in the case of Shastri-ji. His meal used to come from his house and he used to partake of the home-made meal after performing some apparently purificatory ceremonies. Although he did not participate in the community feast which looked somewhat odd, I appreciated his unflinching adherence to the tradition of ensuring purity of food (Ahara

सौजन्य : नारायण प्रसाद बिहानी, कलकत्ता

Shuddhi). He, however, participated in all the other collective programmes of the camp alongwith other participants. That was the occasion on which I made the acquaintance of Shastri-ji, for the first time.

As a youthful neophyte of the Sangh, I lost no time in setting up a morning branch (Prabhat Shakha) of the RSS on the precincts of the Calcutta University near College Square. The hard court tennis lawn inside the University Campus served as our Sanghasthan where I managed to collect members of P.G. hospitals and medical college hostels every morning to conduct the Shakha programme before attending the morning class of the University Law College. The Sakha had lasted for a couple of months-December 1947 and January 1948, before it met with an abrupt end due to the death of Gandhiji on 30th January 1948. Diverse clandestine programmes were launched to hold the Swayamsevaks together. Journals upholding the cause of the RSS started being published. In West Bengal, 'Swastika' – the well-known Bengali Weekly – was launched under the editorship of Shri Hemen Pandit – a talented journalist who joined the RSS at an advanced age. I joined the editorial staff right from the beginning and I vividly remember that on the day the first issue of 'Swastika' was released, the daily newspapers carried the news of the death of M.A. Jinnah the founder of Pakistan – and of the launching of police action in Nizam's Hyderabad which finally led to the merger of that recalcitrant Native State in the Indian Union.

Events moved fast. A decision was taken to launch a country-wide 'Satyagraha' movement pressing for the removal of the ban that was placed on the RSS. It had become clear by that time that it had nothing to do with the assassination of Gandhiji. Shri Hemen Pandit – the Editor of Swastika – wrote an inspiring booklet on the RSS in Bengali apprising the members of the public of the country-wide ramifications of the organization which is imbued with vibrant patriotism. Shri Vishnukant Shastri who had already made his mark as a young scholar with an enviable command over the Hindi medium, promptly rendered into Hindi the Bengali pamphlet on RSS authored by Shri Hemen Pandit. Copies of the Hindi pamphlet were widely circulated ahead of the commencement of the Satyagraha Movement. I happened to have met the young Vishnukant at that juncture and still remember the confidence exuded by him while discussing about the Hindi version of the booklet on the RSS.

सौजन्य : Sawar Dhanania, 1, Lord Sinha Road, Kolkata-700 071

I was in the final year of the M.A. Class and the movement was going to be launched in the first week of December, 1948. Participation in the movement would lead to imprisonment and skipping of the M.A. examination. It was, therefore, difficult to take a decision. A secret meeting was called in Shyambazar area which was attended by less than a dozen senior Swayamsevaks. Shri Dattopanth Thengadiji (the founder President of Bharatiya Mazdoor Sangh who passed away recently) who was in charge of the underground movement in West Bengal, addressed the meeting. He said that he would speak in Hindi and not in Bengali, although he knew Bengali well. By speaking in Bengali he did not want to run the risk of being misunderstood while delivering the important message that he had come to convey at the meeting. The gist of his message was : "At the moment there are two country-wide organizations in the country – the Congress and the RSS. The Congress is working in the political field and is known to the public as having made a lot of sacrifice due to its members having gone to jail on a number of occasions. The RSS is working in the cultural field, away from the broad gaze of the public, but is much more disciplined and organized than the Congress. The time is opportune for the RSS to come into the open for building up a rival political set-up to overpower the Congress but for that purpose, something has to be done to achieve credibility in the estimation of the people. We do not attack much importance to jail-going but people look upon jail-going for a cause as a sacrifice. We have therefore decided to establish our credibility by courting arrest and imprisonment on a massive scale, preparatory to the RSS being accepted by the people as a viable alternative to the Congress".

This short speech fired my imagination and I decided to take the plunge. Joined the first batch of Satyagrahis who violated the ban on the RSS and counted arrest, while holding Shakha in the Manicktolla area. I, along with others, was lodged in Lal Bazar Central Lock-up where I met Kishan Lal Sonee (a colleague at Law College) belonging to the celebrated family of Sonee brothers. Later I was shifted to Dum Dum Central Jail from where I was released after two months (one month as an under-trial prisoner and another month as an S.I. convict) in February, 1949.

सौजन्य : विनोद कुमार लड्ढा, कलकोता

I Met Thengadi-ji at his hide-out in Park Circus area. We were conversing with each other while standing on the terrace of a two-storied building. By that time, it became clear that the ban would be removed in the foreseeable future. I told Thengadi-ji that a number of front organizations would have to be opened by the RSS soon after the lifting of the ban and I suggested that Thengadi-ji should take over charge of the labour wing of the RSS. It was a seminal idea and how prophetic my suggestion turned out to be! It was Thengadi-ji who later founded the Bharatiya Mazdoor Sangh which finally grew to be largest labour organization or trade union of the country.

Time flew. I sat for the competitive examination held by the UPSC and joined the Indian Audit & Accounts service. Vishnu Kant Shastri effloresced as a Hindi Scholar and joined the Calcutta University as a teacher of Hindi heralding the commencement of his career as an Acharya. In course of my service-career, I worked in various parts of the country. I joined the Municipal Corporation of Calcutta on deputation as its Finance Officer and Chief Accountant in 1969. Vishnuji had by that time established himself as a distinguished professor of Hindi. He also made a name as a prolific writer. By 1970, Calcutta was cowering under the onslaught of Naxalites. Policemen and distinguished citizens were being slaughtered. People did not stir out in the evening. There was an undeclared curfew throughout the city of Calcutta. In order to counter the oppressive atmosphere prevailing in the city, some of my erstwhile RSS colleagues thought of floating a platform where we could meet a regular intervals to get over the stifling atmosphere generated by Naxalite terror. I vividly remember the proceedings of the inaugural meeting of the new organization later named as 'Yoga Kshema', held at the official residence of Shri Motilal Sonee, younger brother of Shri Kishan Lal Sonee, my Law College colleague. The meeting was attended, inter alia, by Shri Bhau Rao Deoras, Acharya Vishnu Kant Shastri, and Kishan Lal Sonee. I delivered a speech in which I used the expression 'Sadguna Vikriti'. After my speech was over, Vishnuji enquired of me about the connotation of the expression. I explained to him that the expression was coined by Veer Savarkar who averred that a good quality or Sadguna carried to excess degenerates into a vice. Shri Aurobindo has also observed that forbearance practised beyond a certain limit ceases to be a virtue;

it becomes a flagrant vice. Later Kishan Lal-ji conveyed to me Bhau Rao Deoras-ji's appreciation of my speech.

Developments in East Pakistan – the movement launched by Awami League headed by Mujibar Rahman – gradually relaxed the strangle-hold of Naxalities on the citizens of Calcutta. A large number of Naxalities were killed in Baranagar area. Military crack-down took place throughout East Pakistan and blood-curdling stories of the atrocities perpetrated by Punjabi Muslim soldiers were pouring in from across the border. Genocide of Hindus of East Pakistan led to a massive exodus of Hindu refugees from East Bengal districts. Happenings in East Pakistan became the topic of discussion in all circles. A number of meetings were held under the auspices of 'Yoga Kshema', which were addressed by prominent persons like Hamid Dalvi, Qamaruzzaman and others on the subject of East Pakistan struggling to become Bangladesh. Finally, after the conclusion of the December, 1971 Indo-Pak war, Bangladesh emerged as an independent country. During this phase – March 1971 to December, 1971 and immediately thereafter Acharya Vishnu Kant Shastri rose to the occasion and wielded his powerful pen to contribute articles to various journals on the subject of Bangladesh. He had been to Bangladesh after its liberation and wrote extensively on his experiences.

In June, 1975, Emergency was proclaimed and RSS was banned for the second time. With the lifting of the Emergency in 1977, Janata Party came to power at the Centre. Assembly elections were held in various States including West Bengal. Professor Haripada Bharati and Acharya Vishnu Kant Shastri were elected as MLAs. Shastri-ji, I was told, delivered his speeches at the Assembly in Bengali highlighting his command over both Hindi and Bengali.

Janata Party broke up in 1980 and most of the constituent parties which had merged in the Janata Party in 1977, resurrected their earlier indentity except Jana Sangh. Even after the secession of most of the constituent parties, Janata Party continued to function as a distinct political party. Erstwhile Jana Sangh members discarded their earlier identity and re-appeared as Bharatiya Janata Party or BJP, the continued existence of Janata Party notwithstanding, causing a lot of confusion. It was rumoured that due to the objection of Sikander

सौजन्य : Pritam Kumar Garg, C/o. Greatways Transport P. Ltd., 33A, Tarachand Dutta Street, Kolkata-73

Bakht and Shantibhushan the name Bharatiya Jana Sangh was not revived. Only the word, 'Bharatiya' was taken form 'Bharatiya Jana Sangh' and the words Jana Sangh were replaced by Janata Party, giving rise to the name of Bharatiya Janata Party. This was the explanation given by BJP leader Shri Jagannath Rao Joshi, whom I had once met at Pimpri in course of 1962 General Elections where I was posted as FA & CAO of Hindusthan Antibiotics Ltd., Pimpri.

Prof. Haripada Bharati was the President of the State BJP, West Bengal. After the demise of Bharati-ji, Shastri-ji became the President of the State BJP. Slowly Acharya Vishnu Kant Shastri – the educationist – was being transformed into a political leader. Meanwhile "Dr. Shyama Prasad Mukherjee Smarak Samity" was born in 1972 in the presence of a galaxy of luminaries. Prof. Bharati was the General Secretary of the Smarak Samity. After his demise, Acharya Shastriji became the General Secretary of the 'Smarak Samity'. The Smarak Samity was observing every year the 23rd June and 6th July as the death anniversary (Martyrdom Day) and birth anniversary respectively of Bharat Keshari Dr. Shyama Prasad Mukherjee. I remember having attended one such death anniversary function at Keoratala Burning Ghat. Shastriji who was President of West Bengal BJP was also present. He requested me to join the BJP and take a leading part in the building up of the Party in West Bengal. I drew Shastri-ji's attention to the pledge of BJP which one has to sign to become a member. The pledge mentions about 'Gandhian Socialism' – a preposterous notion of which Gandhiji himself was unaware. Shastriji did not press the point further.

I have had the opportunity of listening to Shastri-ji's speeches from various fora. They were uniformly impressive. From the platform of Yoga Kshema, he gave an erudite and informative speech on the various aspects of the 'First War of Independence' – the so-called Sepoy Mutiny of 1857. When the BJP entered the Hindutva phase – espousing the trinity of principles, viz., uniform civil code, scrapping of Article 370 and building of Ram Mandir at Ayodhya – there was a universal quest for unearting the hidden aspects of Islam. Burrabazar Kumar Sabha Library arranged for a series of lectures by Acharya Vishnu Kant

सौजन्य : Ashim Kumar Ghosh, 235/1, Panchanantalla Road, Howrah-711 101

Shastri on the subject of Islam. I happened to have attended a few of his lectures on Islam and admired the way in which he brought out the hidden but hideous aspects of Islam.

There was quick change in the political scenario over the past decade and a half. They newly founded party viz. the BJP which had only two MPs in 1984 gradually revived its strength by going back to its Jana Sangh moorings. From two, the strength rose to 80 plus and finally to 180 plus. BJP started tasting power at the Centre. There was a pleasant fall-out of this development. Acharya Vishnu Kant Shastri was appointed the Governor of Himachal Pradesh. The educationist who was well-versed in scriptual texts and given to the philosopher's way of thinking, wore the gubernatorial mantle. A highly cultured personage – a shining example of plain living and high thinking – entered the portals of authority without being affected in any way by the official status. Vishnuji later became the Governor or Rajyapal of Uttar Pradesh and had to handle many delicate situations. The statesman in him came to the fore. When Vishnuji as Rajyapal of a different State came down to Calcutta for spending a few days as a guest of Rajyapal of West Bengal, he used to receive the members of Dr. Shyama Prasad Mukherjee Smarak Samity with unfailing courtesy. Various religious and cultural organizations felt elated to have Vishnuji as Chief Guest at their functions, during his sojourn in Calcutta.

Before ending this fairly long string of reminiscences, I would like to observe that the Governor's assignment, however lofty it may appear to be, did not confer any greatness on Vishnuji, rather be, by virtue of his intrinsic qualities, adorned the Governor's post by agreeing to accept that assignment. That is the hall-mark of a philosopher-statesman. ●

सौजन्य : Well Wisher, Kolkata

डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी

ऋषिगंध से पूरित व्यक्तित्व

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पर एक निबन्ध लिखने का आग्रह हुआ। लिखना तो बहुत चाहता हूँ, पर समझ में नहीं आता कि क्या लिखूँ और किस विशेषण से उन्हें सम्बोधित करूँ? हर विशेषण बौना लगता है और गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में—सब उपमा कवि रहे जुठारी!

ऐसा नहीं है कि उनसे मेरा दूर का सम्बन्ध है। उनका अमित स्नेह भी मुझे प्राप्त है और मैं ही क्या, जो भी उनके सान्निध्य में आता है उनका हो जाता है 'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।' उनके लोक-लुभावन व्यक्तित्व एवं कालजयी कृतित्व को जितना भी जानने या समझने का प्रयत्न करता हूँ उतना ही लगता है कि उन्हें अभी तक रंचमात्र भी जान नहीं पाया हूँ। ऐसे में यही कहना पड़ता है—'मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।'

किसी को भी अच्छी तरह समझे बिना कुछ लिखना अज्ञान ही है। फिर भी इस विचित्र संसार की ऐसी दशा है कि जिसे नहीं जाना गया, उसी पर अधिक लिखा गया है। ब्रह्म क्या है, कैसा है, इसे आजतक बड़े-बड़े योगी, यती, व्रती, संन्यासी और सिद्ध मुनि भी नहीं जान पाए हैं, पर उसी पर सबसे अधिक लिखा गया है।

श्रद्धेय श्री शास्त्रीजी को जब भी निकट से देखता हूँ या सुनता हूँ तो हर बार एक विदग्धतापूर्ण नवीनता के दर्शन होते हैं। उस समय यही लगता है कि उनके गम्भीर-ज्ञान-वारिधि के तट पर खड़ा केवल कुछ लोल लहरियों की ही गणना कर सका हूँ। शरदकालीन चन्द्रिका के समान उनका निरभ्र व्यक्तित्व लोक मंगल की उद्दाम भावना से आपूरित मानस, अधरों पर सर्वदा बसी रहने वाली बाल-सुलभ मुस्कान ही उनकी पहचान है। लगता है कि पूज्य श्री शास्त्रीजी स्वयं में एक आश्चर्य हैं। ऐसा नहीं है कि उन्हें देख कर मैं ही आश्चर्य-चकित हुआ हूँ। त्रेतायुग में विदेहराज जनक की कीर्ति सुनकर लक्ष्मण को भी आश्चर्य हुआ था। उन्होंने विश्वामित्र मुनि से पूछा भी था—

जनु जोगवंत जनु राजवंत। उनको उदोत केहि भाँति होत।

कहाँ एक समर्थ राजा और कहाँ एक योगी ? राजा जनक में दोनों एक साथ पूरी क्षमता के साथ समाहित थे। उसी प्रकार शास्त्रीजी में भी दोनों तत्त्व समाहित हैं। वे राजनीति के कर्दम में कमल के समान सुशोभित हैं। कहाँ धूर्तों, पाखण्डियों एवं तिकड़मबाजों से त्रस्त राजनीति और कहाँ एक छलविहीन सत्य, निष्ठायुक्त वार्हस्पतिक प्रतिभा से सम्पन्न कीर्तिलब्ध साहित्यकार! वे वस्तुतः राजनीति, साहित्य एवं आर्ष-अस्मिता के तीर्थराज प्रयाग हैं। आजके इस प्रपंच भरे जड़ जगत में वे प्रयाग की पवित्रता समेटे हुए पावन संगम हैं। गोस्वामी जी की यह ब्रह्मोक्ति उन पर अक्षरशः चरितार्थ होती है—

मुद मंगलमय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथ राजू।।
राम-भक्ति जहँ सुरसरिधारा।
सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा।।

सौजन्य : Surendra Kr. Jain, C/o. Prefect Narrow P. Ltd., AC5, Rajarhat Road, Baguihati, Kolkata-59

वे मनसा, वाचा एवं कर्मणा मुदमंगलमय हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के वे निष्काम भक्त हैं। और मेरा अपना निजी विश्वास है— 'राम ते अधिक राम कर दासा।' कारण कि वे सहज रूप से प्राप्य हैं। उनका व्यक्तित्व ऋषि गंध से पूरित है। इन सबके अतिरिक्त एक और आश्चर्य है, जो सत्य है और सत्य होते हुए भी आश्चर्यजनक है। राज्यपाल जैसे सुख-सुविधापूर्ण पद पर रहते हुए भी, सहज प्राप्य विलासों के मध्य भी वे विदेहमय जीवन जीते रहे हैं। उनकी गरिमा उक्त पद से नहीं है, अपितु उनकी अपनी नैसर्गिक गरिमा से वह पद धन्य हो गया।

बड़े-बड़े व्यवधान भी उन्हें उद्वेलित नहीं कर सके और बड़ी से बड़ी उपलब्धियों को प्राप्त कर गर्वित नहीं हुए और राज्यपाल के पद से हटने पर उन्हें रंचमात्र ग्लानि भी नहीं हुई। ऐसा लगता है मर्यादा पुरुषोत्तम का चारु चरित उनमें साकार हो गया है। भगवान राम को युवराज पद पाकर न तो हर्ष हुआ और न वनवास पाकर उनकी मुखश्री म्लान हुई— प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न म्लते वनवास दुःखतः।

एक ही झटके में राज्यपाल का पद ऐसे त्याग कर कलकत्ता आ गए जैसे अवध का राज्य त्यागकर राम वनवास को चले गए— 'राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।'

श्री शास्त्रीजी के उपर्युक्त अलौकिक गुण किसी साधना या अभ्यास द्वारा अर्जित नहीं हैं। ये सभी गुण श्रीराम की कृपा से ही किसी-किसी को प्राप्त होते हैं।

ऐसे निस्पृह, निरभिमानी, निर्लोभी, निर्लिप्त नायक के श्री चरणों में मेरी राशि-राशि श्रद्धा सादर अर्पित है और भगवान से प्रार्थना है कि वे शत-शत शरद ऋतुओं तक देश, समाज एवं साहित्य में हीरक कीर्तिमान गढ़ते रहें। अंत में बस इतना ही कह सकता हूँ—

देखा कहीं अनीति तो अशान्त बन गए।
बस जिन्दगी में सूर्य से निर्भ्रान्त बन गए।
वेदों के युग में होते तो निर्वेद कहाते,
अपनी विभा से आप 'विष्णुकान्त' बन गए।। ●

सौजन्य : Simplex Projects Ltd., 12/1, Nellie Sengupta Sarani, Kolkata-700 087

केशरीनाथ त्रिपाठी

राजनीति के पंक में पंकज

समाज सदैव गुणों का पारखी रहा है। सद्‌गुण की महत्ता अवगुण से, सद्‌वृत्ति की कुवृत्ति से और अच्छाई की बुराई से है। यह तुलनात्मक दृष्टिकोण ही समाज को सत्कर्म के लिए प्रेरित करता है। आज की स्वार्थपरक राजनीति में निःस्वार्थ भाव से जनसेवा के प्रति प्रतिबद्ध राजनेताओं और जनप्रतिनिधियों की न्यूनता खटकती है। पर यही न्यूनता ऐसे व्यक्तियों को विशिष्टता भी प्रदान करती है। उत्तर प्रदेशके पूर्व राज्यपाल, पूर्व सांसद, पूर्व में अनेक पदों पर आसीन तथा हिन्दी साहित्य जगत को अपनी प्रतिभा से आलोकित करने वाले आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री ऐसे ही विशिष्ट व्यक्ति हैं। उनसे मेरा परिचय लगभग तीन दशक पूर्व हुआ था और तब से मैं उनके स्नेहाशीर्वाद से निरन्तर पूरित रहा हूँ।

हिन्दी भाषा के प्रति पूर्णरुपेण समर्पित, निर्मल हृदय, विलक्षण स्मरण शक्ति के धनी, शिष्टता और शालीनता की प्रतिमूर्ति आचार्य डॉ० विष्णुकान्त शास्त्री राजनीति के पंक में पंकज की तरह हैं। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के पद-दायित्व का जिस गरिमा, निष्पक्षता व कुशलता से उन्होंने निर्वहन किया, वह अद्वितीय है। मैंने उन्हें शासकीय सत्ता के दुरुपयोग से एक-दो बार आहत होते हुए भी देखा है पर इस स्थिति में भी उन्होंने संवैधानिक मर्यादा का ही पालन किया। राजनीति के अधःपतन पर वह प्रायः चिन्तित रहते हैं। द्वेष, दुर्भावना से रहित स्वस्थ राजनीति ही देश के भविष्य को सुनिश्चित कर सकती है, ऐसा उनका विचार है।

पश्चिम बंगाल में भारतीय जनता पार्टी के गठन व विस्तार में आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री जी की महती भूमिका व योगदान है। पश्चिम बंगाल की विधान सभा में एक विधायक के रूप में उनके विचारों का अत्यधिक सम्मान किया जाता था। आज भी वहाँ उनके व्यक्तित्व की छाप दिखाई पड़ती है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक निष्ठावान स्वयंसेवक का अनुशासन, आत्म-संयम व वैचारिक पृष्ठभूमि उनकी अभिव्यक्ति तथा कार्यशैली में स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

शास्त्री जी कई भाषाओं में पारंगत होते हुए भी हिन्दी के ही पक्षधर हैं। इसके लिए उन्हें अपने ऊपर गर्व भी है। हिन्दी के प्रति उनकी पूरी प्रतिबद्धता है। उनका यह मानना है कि जब हिन्दी भाषा में शब्दों का प्रचुर भण्डार है तो अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग क्यों हो, अंग्रेजी में बात क्यों हो? यदि शब्द नहीं हों तो नयी शब्द रचना हो सकती है। हिन्दी भाषा इस दृष्टि से समर्थ है। मैंने कई बार देखा है कि उन्होंने सार्वजनिक रूप से अंग्रेजी भाषा के अनावश्यक प्रयोग की भर्त्सना की है।

स्वभाव की निर्मलता तथा हृदय की संवेदनशीलता श्री शास्त्री जी के आचरण में प्रदर्शित होती है। वे दूसरों के दुःख से बहुत शीघ्र द्रवित हो जाते हैं। कैसे किसी के अवसाद को दूर करें, यह अकुलाहट उनके चेहरे से स्पष्ट झलकती है। बड़ों के प्रति सम्मान व छोटों के प्रति स्नेह श्री शास्त्री के व्यवहार में सदैव दिखाई पड़ता है। परिवार

सौजन्य : पूजनचन्द राजकुमार, १०६, के. बी. सिन्हा रोड, गंगोज गार्डेन, हावड़ा-७११ १०२

की एकता पर बल देते हुए वे प्रायः कहते हैं कि बेटी को प्यार और बहू को अधिकार देना चाहिए। श्री शास्त्री जी के मित्र उनकी आत्मीयता की प्रशंसा करते नहीं थकते।

यह कहना कदापि अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री वर्तमान हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख स्तम्भ हैं। मात्र तुलसी ही उनका विषय नहीं है। वे एक उच्चकोटि के लेखक, कवि, चिन्तक व समीक्षक भी हैं। भारतीय संस्कृति व परम्परा के पोषक श्री शास्त्री का वामपंथी लेखकों से सैद्धान्तिक मतभेद के बाद भी बहुत अच्छा सम्बन्ध है। इसका एक कारण उनका मृदु स्वभाव व दूसरों के विचारों के प्रति सम्मान भी है।

आचार्य शास्त्री जी के अनेक संस्मरण मेरे स्मृति-पटल पर अंकित हैं। स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख करना संभव नहीं है। कुछ वर्ष पहले मुझे कोलकाता में श्री शास्त्री जी के जन्म-दिवस के अवसर पर आयोजित एक कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया गया। उसमें हिन्दी के कई प्रख्यात रचनाकार, समीक्षकों के साथ शास्त्री जी के कई मित्र, प्रसंशक, शुभचिन्तक आदि भी उपस्थित थे। सभी ने उनके जीवन के विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख करते हुए उन्हें शुभकामनायें दी। मुझे एक विराट व्यक्तित्व व विशाल हृदयता की जानकारी वहाँ से भी मिली। उसी अवसर पर मैंने श्री शास्त्री जी के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए तत्काल रचित एक कविता के माध्यम से शुभकामना दी थी जो बाद में मेरे रचना संग्रह 'आयु पंख' का अंग बनी और वह निम्नवत् है—

'भोर सुधियों की हुई
भंडार स्मृति के खुले
दिवस के प्रारंभ से ही
सुहृद, साथी सब मिले

जो सँजोया वह
बिना अवरोध के
सब प्रफुल्लित मन
बिना संकोच के

मुक्त वाणी स्वयं
मुखरित हो चली
स्नेहांजलि की धार
अविरल वह चली

और श्रद्धामृत
उड़ेले हृदय भर
कामना सबकी यही
ईश दे लंबी उमर'

मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री जी पूर्णतः स्वस्थ रहते हुए पूर्णायु प्राप्त करें, हिन्दी साहित्य एवं समाज को अपने विचारों और अभिव्यक्ति से समृद्ध करते हुए मार्गदर्शन करते रहें। ●

सौजन्य : ईश्वरचन्द बंसल, सत्यनारायण पार्क ए. बी. मार्केट, कोलकाता-७०० ००७

रामकृष्ण गुप्त 'बन्धु'

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : मेरी दृष्टि में

'विद्या ददाति विनयम्' के प्रत्यक्ष प्रमाण, निश्छल हृदय, मिष्ट भाषी , उद्भट विद्वान, कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व आचार्य-अध्यक्ष एवं उत्तर प्रदेश के पूर्व राज्यपाल तथा स्व० कविवर पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री के सुपुत्र आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री से मेरा परिचय एक संस्था के कवि सम्मेलन के आयोजन के अवसर पर आज से प्रायः पचास वर्ष पूर्व हुआ था। वे उसके मंत्री थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है उस समय वे एम०-ए० के विद्यार्थी थे। इस परिचय ने क्रमशः गहरे अपनत्व का रूप ले लिया।

शास्त्री जी द्वारा किए गए कतिपय विनम्र व्यवहारों का उद्धरण मैं यहाँ देना चाहता हूँ। एक बार कविवर दर्द तथा यचन जी के साथ सलकिया हिन्दी साहित्य गोष्ठी की अध्यक्षता का प्रस्ताव लेकर इनके निवास पर गया। सूचना भेजी, पर, ऊपर से उतर कर आने में अधिक विलम्ब होने पर जब पुनः सूचना भेजी गई तब सामने वाली सीढ़ी से छलांग लगाते हुए उतरे और विलंब के लिए क्षमायाचना की।' तब इन्होंने बैठने के पश्चात् कहा— 'आप लोगों के आने की सूचना जब मिली तब मैं भोजन करते हुए अपनी बेटी को पढ़ा रहा था। इसीलिए विस्मरण हो गया। जब पुनः सूचना मिली तब मुझे अपनी भूल का ध्यान आया।' हमलोग ऐसे व्यक्तित्व द्वारा किए गए विनम्र व्यवहार से अभिभूत हो गए। शास्त्री जी की यह सरलता आज भी हमारे स्मृतिपटल पर अंकित है।

जब वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष चुने गए, विष्णुकान्त जी से मेरी मुलाकात डलहौसी क्षेत्र में हो गई। मैंने पद के लिए बधाई देते हुए प्रसन्नता प्रकट की तो उनका उत्तर था— 'अपनों को ही तो खुशी होती है।' यह सुनकर हृदय अपनेपन की भावना से गद्गद् हो गया। मुँह से निकली बात हृदय की भावनाओं का दर्पण होती है।

एक वर्ष मैंने सलकिया हिन्दी साहित्य गोष्ठी के बासंती कवि सम्मेलन में प्रधान अतिथि का आसन सुशोभित करने के लिए उनकी सुपुत्री डॉ० भारती शर्मा से अनुरोध किया। वे अपने पिता के साथ ही जाने की जिद कर बैठीं। मैंने टेलीफोन पर शास्त्री जी को वास्तविकता से अवगत कराया। मेरे अनुरोध पर अपने अतिव्यस्त कार्यक्रमों से समय निकाल कर वे पुत्री भारती के साथ सम्मेलन में पधारे तथा पूरा समय देकर हमारा मान बढ़ाया।

सन् १९९९ ई. में गोष्ठी की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर आयोजित वासंती कवि सम्मेलन में भी हमारे आमंत्रण पर विष्णुकान्तजी उपस्थित हुए और गोष्ठी से अपने पुराने सम्बन्धों की चर्चा करते हुए हमें प्रोत्साहित किया, शुभकामनाएँ दीं तथा बताया कि पहले भी अपने पिताश्री पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री के साथ वे वासंती कवि सम्मेलन में आ चुके हैं। स्व० गांगेय जी जैसे स्वनामधन्य पिता के सुयोग्य एवं यशस्वी सुपुत्र के विविधआयामी व्यक्तित्व के विषय में जितना भी कहा जाय, कम है। 'सादा जीवन उच्च विचार' के मूर्त रूप शास्त्री जी आज के कृत्रिमता के इस युग में प्रेरणा स्रोत हैं। इस युगपुरुष के दीर्घ जीवन एवं उत्तरोत्तर उन्नति की हार्दिक कामना ●

सौजन्य : Ram Chand Soni, 21, Sarkar Bye Lane, Kolkata-700 007

रामचन्द्र मिश्र 'कोशलेश'

नागफनी पर रामनामी पद्मासन

लोगों को— काक धर्मा हो या पिकधर्मा— ऐसा लगता रहा है कि शास्त्री जी को राजनीति में नहीं जाना चाहिए था। राजनीति का संसार लुभाता है, भुलवाता है, बुलाता है। वहाँ की 'हेममयी लंका' जीवट के धनी, निद्रातंद्रान्वित् लक्ष्मण को भी 'रुचने' लगती है। 'तथापि रामो लुलुभे मृगाय' का हवाला देकर सुजन मन को सशंक करने वाले भूल जाते हैं कि कांचनपुरी भी राम को 'रुची' नहीं। महर्षि कहते हैं—

'अपि हेममयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' रामजी के लीला चरित को लोकायती सामान्य दृष्टि से देखने पर शास्त्रीजी का राजनीति में प्रवेश अटपटा लगता था। लोग अपने कदाचार को अंग्रेजी मुहावरेदानी से औचित्य देते हैं, क्योंकि उन्हें याद है— प्रेम और युद्ध में सब कुछ जायज है। ऐसी स्थिति में यह शंका अर्थवती बनने लगी थी कि राजभवन में जहाँ अनेक विसंगतियों के भीतर से संवैधानिक समाधान निकालना हो 'शम' का 'सम' निभेगा कैसे? नागफनी पर पद्मासन कैसे साधेगा ? किन्तु सुभाषितकार का निर्णय है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायत्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

आचार्य शास्त्री जी की घोषणा है—

अखिल विश्व को जीत चुका जो, उसे हराती शंका मन की,
बन सकते हो राम स्वयं तुम जीत सको यदि लंका मन की।

कई बन्धुओं ने सोचा कि भले थे सर्वजनप्रिय, सदासुलभ, छात्रवत्सल प्राध्यापक शास्त्रीजी, नई पीढ़ी की बौद्धिक व्यायामवाली रचनाओं में भी अच्छाई की टोह लेते परम्परा को रूढ़िमुक्त रखते व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से मुक्त। वे प्रायः भूल जाते हैं कि 'रामजी की कृपा' की अपार शक्ति के प्रचण्ड विश्वासी की अपनी कोई योजना होती ही नहीं। रामजी काम भी देते हैं, वही उन्हें पूरा भी करते हैं। वंगभूमि के शुद्ध शाक्त मानते हैं—

'सकलई तोमार इच्छे माँ गो, इच्छामयी तारा तुमि
तोमार कर्म तुमि करो माँ, लोके बोले करी आमि।'

अपने को मात्र निमित्त मान कर चलने की भगवान श्रीकृष्ण की सीख आचार्य शास्त्री को निरन्तर प्रेरित और सावधान करती रही है। वे समर्थ हिन्दी कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के 'हम अनिकेतन' में अभिव्यक्त अनासक्ति भाव के जीवन्त प्रमाण हैं। गोसाईं जी का 'घर बन बीच' बसाया 'रामपुर' उनके मन में बस गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित दैवी सम्पद विभाग करते समय दैवी सम्पद् को मोक्षाय नहीं 'विमोक्षाय' कहा है। वही

प्राप्तिस्थान : Overnight Express Pvt. Ltd., 7A, Tiljala Road, Kolkata-700 046

पहली ही पंक्ति है— 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।' अकुतो भय भाव 'विमोक्षाय' सिद्धि का प्रथम सोपान है। शास्त्री जी ने 'अभयता' साधने का सफल प्रयास किया है। उन्हें 'जीवन पथ पर चलते चलते' अनुभव का लाभ, ब्रह्मलीन स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती के ज्ञान-प्रसाद एवं 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ भगवान श्रीराम की अपार कृपा का सम्बल सुलभ हुआ है। अतः वे कह सके हैं—

मैं न दहलूँगा भयानक रूप लखकर, भले उसको देख सबका मन दहल ले।
दृष्टि दी गुरु ने तुझे पहचानने को, प्रभु-कृपा तू रूप चाहे जो बदल ले।।

शास्त्री जी न 'गत' का शोक करते हैं न 'अनागत' से भीत होते हैं। सन् १९४४ से आजकी परिस्थितियों तक की दुर्गम राहों को वे दृढ़ संकल्प शक्ति और रोम रोम में रमे रामजी की कृपा से सुगम बनाते चले गये। जहाँ उन्हें जीव की 'औकात' की सही समझ है वहीं राम के प्रति शुद्ध समर्पण का अमोघ अस्त्र भी। मन की गहराई में उनको स्पष्ट लगा है कि—

औरों के हैं जगत् में स्वजन, बन्धु, धन धाम। मेरे तो हैं एक ही सीतापति श्रीराम।।

यह हारे को हरिनाम गान नहीं है। इसमें वैष्णवाभिलषित आत्मनिवेदन की आस्थामयी अभिव्यञ्जना है। जिस प्रकार भारतीय मध्ययुग में देश के 'महामानव सागर' में उफान लेता भक्ति आन्दोलन का विशाल ज्वार विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पराजित हिन्दू जाति का नैराश्यजनित पलायन प्रकरण नहीं है, वैसे ही भक्त-मन में उमगी शरणागति का भाव प्रकाशन भी मानना चाहिए। भक्त का दैन्य और विनयभाव जब रस बनते हैं तभी भक्तों की वाणी उत्तम काव्य बनती है। उसे प्रबन्ध, मुक्तक, प्रकीर्ण स्तोत्र, स्तवन किसी रूप में पाया जा सकता है। शास्त्री जी में राम के प्रति कैंकर्य प्रकाशन इसी आधार पर उभरा है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र की धारणा है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी एक सम्प्रदाय चलाया था जिसे वे 'रामकिंकर' सम्प्रदाय कहते थे। सारांश यह कि शास्त्री जी की राम शरणागति जीवन की किसी असफलता, निराशा या कुण्ठा की उपज नहीं, उससे बड़ी चीज है। वे मानते नहीं कि जीवन का आकाश तमसावृत्त ही रहेगा। नये गज़लकार दुष्यन्त कुमार सही कह गये— 'मत कहो आकाश में कुहरा घना है। यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।' शास्त्री जी को कठिनाइयों ने भी नयी ऊर्जा, नया संकल्प दिया है।

व्यक्तिगत सम्बन्धों में आचार्य जी ने 'रज राजस्' को अपने 'नेह चीकने चित्त' को छूने नहीं दिया। उनके मित्रों की विशाल वाहिनी तथा शिष्यों का श्रद्धा संवलित विभुता संसार उनकी सहज लोकप्रियता के साक्षी हैं। शास्त्री जी की मृदुभाषिता, सौम्य शालीनता एवं संस्कृत और संस्कृति के प्रति अपार प्रेम पारिवारिक उत्तराधिकार में प्राप्त है। उनके पिताश्री पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री अत्यन्त सुदर्शन आर्य परम्परा के प्रतीक पुरुष थे। उनका संस्कृत साहित्य के ज्ञान में वैशद्य द्रष्टव्य था। मैंने बंगीय हिन्दी परिषद् के तुलसी जयन्ती समारोह में महाबोधि सोसाइटी के सभाकक्ष में मानसकार के निर्माण में रत्नावली के त्याग की महती प्रेरणा पर दिया गया सारगर्भित व्याख्यान सुना था। उसमें गलदश्रु भावुकता का मुलम्मा नहीं समर्थ भावक की भावकता का शास्त्रीय विवेचन था। बचपन से शास्त्री परिवार में स्नेह, सौहार्द और शान्ति एवं सद्भाव में बढ़ने के कारण बालक विष्णुकान्त में वे सारे कुलीन संस्कार मिले जिससे साधना स्वाध्याय और अध्यवसाय से अनुशासित होकर सिद्धि तक पहुँचती है। छात्रावस्था में अस्वस्थ होने पर भी एक दिन उनका रक्षकरहित एकाकी विद्यालय चला जाना तथा उसके कारण प्रताड़ित होना

सौजन्य : Simplex Projects Ltd., 12/1, Nellie Sengupta Sarani, Kolkata-700 087

प्रमाणित करता है कि अनपेक्षित परिस्थितियों के कष्ट दृढ़ संकल्प से किस प्रकार नगण्य बनाये जा सकते हैं। शास्त्री जी की धर्मपत्नी श्रीमती तारा दृगड़ ने उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का प्रामाणिक दस्तावेज़ अपनी पुस्तक में दिया है। अपने विषय में आचार्य शास्त्री अधिक नहीं कहते। कहा है— 'उनकी यह शिकायत है कि हम कुछ नहीं कहते। अपनी तो यह आदत है कि हम कुछ नहीं कहते।' शास्त्री जी ने फिर भी समय समय पर 'हिचकोनिसों' नहीं पर 'नेक कही बैननि अनेक कही सैननि' का सार्थक प्रकाशन किया है।

शास्त्री जी का मन भावुक सतोगुणी, तन राजसिक कर्मठतामय तथा आत्मरूप 'निस्त्रैगुण्य' का पथिक रहा है। उनका नाम भी परपद प्रधान रूपक कर्मधारय सूचक है,— विष्णुरेव कान्तः विष्णुकान्तः— अथवा अन्य पद प्राधान्य सूचक बहुव्रीहि है। वे ज्ञानरूपी व्रीहि (धान) की बहुलता से समृद्ध हैं। श्रीकान्त जो श्रिया: कान्तः (पतिः) ठीक है किन्तु विष्णोः कान्तिः इवकान्तिर्यस्यअसौ विष्णुकान्तः में वैयाकरण पिता का स्निग्ध ज्ञान झलकता लगे, तो यह स्वाभाविक है। कान्त सौम्यार्थक भी है और विष्णुरिव कान्तः अभिधान रामभक्ति रस सिक्त आचार्य के लिए उचित ही है। वे जीवन में सद्गृहस्थ 'इन्दिरा पति' बन ही गये। सम्मिलित कुटुम्ब के स्नेहमय वातावरण में भी 'इन्दिरा' वियोग का आघात सहने के लिए अनावश्यक अकृत धैर्य आत्मसंयमी होने का प्रमाण लगा। 'दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः' को गीताकार स्थितप्रज्ञता का लक्षण कह गये हैं। यह सोपान भी है, परिपूर्णता भी।

महामहिम के गरिमामय पद पर प्रतिष्ठित हो जाने पर भी सहज बने रहना दुष्कर कार्य है। वहाँ का विलासमय जीवन, आकर्षक सुविधाओं का चुम्बक है। आचार्य जी भरतभावी भक्ति के विश्वासी हैं। बाबा ने कहा है 'सम्पति चकई भरत चक'। उन्होंने संविधान की परिधि के भीतर सुखासक्ति से अस्पृष्ट रहकर अपनी सैद्धान्तिक निष्ठा से विचलित न होने की साधना का पथ चुना। हिमाचल प्रदेश के राजभवन में हिन्दी भाषा को महत्त्व तो दिया ही, प्रश्नों के तथाकथित 'उत्तर' प्रदेश में भी वे राम कृपा से अपने को कुशल प्रशासक सिद्ध किया। पाकशाला से लेकर आवासीय कक्षों एवं उद्यान के विविध खण्डों उपखण्डों में लगायी परिनिष्ठित हिन्दी में प्रस्तुत पट्टिकाएँ परलोक के स्वप्न-शब्दों का आभास देती हैं। होठों पर उभरती मधुरस्मिति के साथ सड़कछाप झोलाधारी से लेकर अति विशिष्टों तक का स्वागत करते आचार्य शास्त्री सुविधाभोगी समाज को सचेतक उदाहरण हैं। वे निम्बार्क सम्प्रदाय के गोपी भाव में स्वीकृत तत्सुखी सुखित्व से प्रभावित लगते हुए सीयरामसय समाज समष्टि के सुख में आत्मसुख अनुभूत करना चाहते लगते हैं। रामभक्ति का रसिक सम्प्रदाय दास्यरस विरोधी होने के कारण हनुमान को रामजी द्वारा सुझाया गया अनन्य भक्त वाला रूप ही उन्हें रास आता है। 'सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमन्त। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।' शास्त्री जी ने इसे सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है। वे 'निज प्रभुमय देखहिं जगत कासों करैं विरोध' की भावना में जीते हैं। इसलिए दूसरों के, पूरे समाज के सुख में रामजी की सेवा का सुख मानकर चलने का उन्होंने अभ्यास किया है। यह कार्य सुगम नहीं है। एक ओर यह 'तरवारि की धार पै धावनो है' तो दूसरी ओर 'सर्वकर्म फलत्याग हममें लाग' की भागवती राह पकड़नी है। यह वैसा ही कठिन है जैसे 'हँसब ठठाइ, फुलाइब गालू।' शास्त्री जी न तो कभी फूलकर गुब्बारा हुए और न सूख कर छुहारा। 'जो बीत गयी सो बात गयी' मानकर चलना उनकी आदत है। वे मानते हैं कि गत की चिन्ता 'शोक' वर्तमान की रक्षा 'लोभ' तथा अनागत का भय 'मोह' है। आसक्ति दूर होती है वैराग्य के अभ्यास से और साहित्य, विशेषकर काव्य रमण इसका सुलभ उपाय है। इसीलिए राजनीति की उत्तरीय मेढक नागफनियों (समस्याओं) पर राम नाममय पद्मासन साधे शास्त्री जी हमारे जैसे साधारण कष्ट क्रन्दन करने वालों के प्रेरणास्रोत हैं।

साहित्य के क्षेत्र में भी आचार्य शास्त्री व्यक्तिगत राग-द्वेष रहित अजातशत्रु बन गये हैं। आचार्य सुकुल कहा करते थे कि महाभारत में दो ही आचार्य थे। एक शस्त्र के (द्रोणाचार्य) और दूसरे शास्त्र के (कृपाचार्य)। परशुराम जी के ही पास 'मुख में वेद पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार' शोभा पाते थे। शास्त्री जी प्रतिपक्ष पर शास्त्र तथा स्वचिन्तित तर्क-शरों से प्रामाणिक प्रहार करते हैं। विशेषता यह कि वाग्विहारी नामवर जैसे दिग्गजों और अज्ञेय जैसे विज्ञों से अनभिभूत श्री विष्णुकान्त की बौद्धिक कान्ति कभी फीकी नहीं पड़ी। किसी कालखण्ड में बाबू बालमुकुन्द और आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी में 'आत्माराम की टेंटें' जैसे आरोप हो चुके किन्तु कटुता का कहीं लेश उन महारथियों में नहीं पनपा। गोष्ठियों में प्रतिपक्षी विशेषकर वामपन्थियों की बखिया उधेड़ने में निराला की 'युद्ध देहि' मुद्रा में भी शास्त्री जी की शालीनता रक्षा-कवच होती थी। छेदीलाल गुप्त, अवधनारायण सिंह, पाषाण जैसे पंक्ति पावन तथा डॉ० रामविलास शर्मा, नामवर जी, सहित सभी अग्रिम धुरीधारी उनका लोहा मानते थे।

शास्त्री जी का व्यक्तित्व बहुआयामी रहा है। वे डॉ० भारती के साथ 'यायावर', माचवे, अज्ञेय के साथ प्रतिलामबद्ध, डॉ० द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे पण्डितों के साथ प्रौढ़ शिष्य, श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा के साथ पठन्त धारा के कविता, गजल प्रस्तुतिकार तथा मित्रों और छात्रों के साथ सखा तथा वत्सल एवं अपने दीक्षागुरु श्री अनंतश्रीविभूषित स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती के सामने चिर जिज्ञासु आत्मबोधार्थ उपस्थित भक्त की भावभूमि पर दिखे। राज्यसभा में वे रामविरोधियों के विरुद्ध प्रचण्ड, पश्चिमबंग विधान सभा में परिनिष्ठित बंगला बोलने वाले सचेत विधायक, जुगल किशोर जी जैथलिया के आग्रह पर कुमारसभा के कक्ष में गीता एवं उपनिषदों के गहन तत्त्वों के जनसुलभ व्याख्याता के रूप में आकर्षण के केन्द्र बने।

शास्त्री जी चिन्तन मुद्रा में लाये जाने पर उत्तम समीक्षाओं से साहित्य-सर्जना करते रहे। उन्होंने 'निराला की वेदना' का अनुभव किया, 'स्मरण को पाथेय' बनाकर संस्मरण लिखे, यात्राओं को शब्द दिये, 'तुलसी के हिय हेरि' उनका सम्यक् मूल्यांकन किया। उन्हें चन्दन वन की सुधियाँ भी आयीं किन्तु उनका मन सदा 'रामपदाम्बुज' में 'मधुप' इव रससिक्त होता रहा। वे एक सजग सम्पादक और सत्परामर्शदाता हैं। देश विदेश में भीषण परिस्थितियों से जूझते हुए उन्होंने रामचरित गाया, लिखा, समझाया और उसे प्रेरणादायक बनाया है। कविता उनकी लाचारी है। विवशता में वे कविताएँ लिखते प्रकाशित कराते हैं। कविता छेड़ दी जाए तो वे स्वयं निर्झर हो जाते हैं, जिनसे सीकर नहीं कविता-प्रपात झरता है। दिल्ली से हावड़ा तक की रेलयात्रा कविताएँ सुनाते सुनते पूरी करने की शक्ति किसी नव्य भारती के जनक में ही हो सकती है। बड़ी बातें कभी और बड़े लोग करेंगे। प्रिय बन्धु डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी को साधुवाद कि उन्होंने आचार्य शास्त्री जी की कतिपय कविताओं (मौलिक - अनूदित) का प्रकाशन अपने सम्पादकत्व में करा दिया।

आचार्य शास्त्री द्विज हैं। नाम से नहीं काम से भी। वे साहित्य में भी द्विजन्मा हैं। जन्म से अध्ययनशील तो थे, पर एम. ए. में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर आचार्य सुकुल ने जब 'मास्टर (किशोर) ऑफ आर्ट्स' पर बधाई देने के साथ 'मिस्टर, (प्रौढ़) होने की प्रेरणा दी तब वे सही द्विज होने को प्रस्तुत हो गये। भक्ति के घर में वे जन्मे, पर स्वामीजी से दीक्षित होने पर वे वास्तव में द्विज हुए। ऐसे द्विजों की संख्या कम है। इसीलिए वे विशेष अवस्था, व्यवस्था की संतति हैं, व्यवस्थावादी हैं, विशिष्ट हैं। पहले द्वैती थे। अब झंझाओं के जंगम जीवन में अद्वैती हैं। ऐसा कहना चाहता हूँ—

चकाचौंधी नागफनी चीर रही उत्तरीय, चन्दन में डँसने को आतुर कुसर्प हैं।
धर्म कर्म नामभर रूप से विरूपकीय, 'एववादी' सत्य को चिढ़ा रहे सदर्प हैं।

'कोशलेश' राजनीति कुगतीय कमनीय— करती प्रदूषित देश-काल को कदर्य है।
राम के भरोसे कण्टकों के मृगचर्म पर रामनामी पद्मासन पर सिद्ध विप्रवर्य हैं।

आज कोई इस छन्द की प्रथम पंक्ति में संकेतित उत्तरीय चीरने को सदा तत्पर काँटों से अनछुए निकल जाय, यह परिस्थिति नहीं है। भारतीय संविधान निर्माणकाल में किसी के मन में यह विचार आ ही नहीं सका होगा कि राज्यपाल का महनीय पद भी 'अंगवस्त्रम्' के रंग के आधार पर कार्यकाल निर्धारण का कारण बनेगा। वैदिक मंत्र कहता है कि अपना राष्ट्र 'संगमनी वसुनाम्' का प्रत्यक्षीभूत पावन विग्रह है। यह वसुओं का संगम वैचारिक वैभव का भी एकीकृत व्यूह है जिसके समक्ष विश्व विनम्र विनत होने को बाध्य है। गणतन्त्रात्मकता ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा छल छद्म से लाई गई प्रणाली नहीं है। यहाँ लिच्छवी गणराज्य भी था। तात्पर्य यह कि अंतिम परामर्श देने की व्यवस्था पर यहाँ भी अंकुश था, मनमानी परामर्शदात्री समितियाँ न तो थीं और न राज्य के सर्वोच्च राष्ट्राध्यक्ष पर वैसा परामर्श मानने की परंपरा ही थी। चार राज्यों के महामहिम राज्यपालों को पदमुक्त करने का निर्णय संविधान की उस धारा की मूल भावना का विरोधी है जिसमें मूल यह है कि राज्यपाल का कार्यकाल पाँच वर्षों का होगा। धर्म्य कर्म के मर्मज्ञ आचार्य को अपने कर्त्तव्यबोध की व्याख्या के लिए किसी वाह्यकल्पक की आवश्यकता नहीं थी। उनकी 'प्रामाणिक ईमानदारी' ने संवैधानिक शब्दावली को 'नयी कविता' में 'अर्थ की लय' खोजने वालों का परामर्श मानकर अपने को अन्याय सम्मत तथ्य स्वीकारना उचित नहीं माना। राष्ट्र के ऐक्य के प्रति, सामाजिक समरसता और पूरे राष्ट्रीयचरित्र के विकास के लिए प्रतिबद्ध सिद्धान्त को अमान्य कर देना आचार्य शास्त्री के पद की मर्यादा के अनुकूल नहीं लगा। जो नहीं होना चाहिए था, वह हुआ। वे अपनों के बीच तो सदा अपने थे और रहेंगे ही उनके 'सौम्य शील निधान बाबू श्यामसुन्दर दास' की भाँति मृदुल व्यक्तित्व की दृढ़ता औरों को भी दिख गयी। वे 'धर्मरथ' के मानस वर्णित सूक्ष्म रथ के रथी हैं जिसके चक्के शौर्य धैर्य के हों। किन्तु उसमें शील की लहराती पताका को सम्भालने वाला सत्य का अनमनीय दृढ़ ध्वज भी आवश्यक है। वे जिस सिद्धान्त को स्वीकारते हैं उसके अनुसरणार्थ वे नरावतार, नारायण प्रिय अर्जुन का आदर्श स्वीकारते हैं—

'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्।' सुविधाओं से उदासीन मनोभाव त्याग का मूल्य जानता है परन्तु प्रेरित त्याग नहीं हो सकता। 'देना' सब नहीं जानते, न सब दे सकते हैं परन्तु जैसे भी हो आचार्य जी का रामभक्त हृदय भूल ही नहीं सकता—

जो अभिषेक की बात सुनी तो प्रसन्नता नेकु परी न दिखाई।
औ बनवास की आयसु पै नहिं रेख कछू दुख की तहँ आई।
जो दुख में न मलीन भई सुख में नहिं जो कछु ही हरषाई।
सो मुख-श्री रघुनन्दन की तुम होहु हमें नित मंगलदाई।।

और यहाँ तो राजनीति के वनकट से वृन्दावन के मनोलोक में पुनरागमन है। शुभाय भवत्विदम् पटपरिवर्तनम्। ●

ममता कालिया

'जतो दिन बाँची ततो दिन शीखी'

जब से मैंने होश सम्भाला, अपने घर में, पापा को कभी रामचरितमानस की चौपाई, कभी कबीर के दोहे तो कभी मैथिलीशरण गुप्त के साकेत की अपनी प्रिय पंक्तियों का वाचन करते सुना। उनके वाचन को गुनगुनाना नहीं कहा जा सकता था क्योंकि वे अस्फुट स्वर में कहे गये शब्द नहीं होते थे। पापा के स्वर में अद्भुत माधुर्य, गहराई और संवेदना थी। उनके मुख से निकली पंक्तियाँ सीधी मेरी स्मृति-मंजूषा में प्रवेश कर जातीं, कुछ इस तरह कि मैं आज तक उनसे मुक्त न हो पाई। उनके कहे शब्दों में विलक्षण ज्योति रहती और स्वर में दीप्ति जो आज तक न बुझी है न झँपी है।

'गिरा अनयन, नयनबिनु बानी' 'माटी कहे कुम्हार से' 'क्या कर सकती थी मरी मंथरा दासी' जैसे काव्यांश मेरे मन-मस्तिष्क में आज तक भी जगमगाते हैं और कविता के प्रति मेरी आस्था को नवदृष्टि दे जाते हैं।

मेरे छात्रजीवन में भी कवि सम्मेलनों का बोलबाला था। कॉलेज के वार्षिकोत्सव का प्रमुख कार्यक्रम अखिल भारतीय स्तर का कवि सम्मेलन हुआ करता था जिसमें सुप्रसिद्ध कवि अपनी स्तरीय कविताओं का पाठ करते। बच्चन की 'मधुशाला', नवीन की 'विषपायी', भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीतफरोश', सुमनजी की 'आँखें नहीं भरीं' और नीरज की 'कारवां गुज़र गया' तभी से मनप्राण आलोकित किये हुए हैं।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को मंच से बोलते सुनना इसी प्रकार का प्राणस्तरीय प्रज्ञाप्रदायक अनुभव है। उनकी धाराप्रवाह वक्तृता मंत्रमुग्ध करती है कुछ इस प्रकार कि उनके साथ एक अद्भुत स्तर पर गुरु-शिष्य सम्बन्ध बनता चला जाता है।

मुझे याद आता है शास्त्रीजी का वह अभिभाषण जो उन्होंने छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर के दीक्षान्त-समारोह में दिया था। वे उस समय उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल थे तथा विश्वविद्यालय के कुलाधिपति। वे चाहते तो अपने सचिवों द्वारा लिखित कोई यांत्रिक व्याख्यान पढ़ देते और अपेक्षाकृत बहुत अल्प श्रम से काम चला लेते। पर नहीं, उन्होंने उस अवसर पर विद्यार्थियों से सीधा सम्प्रेषण किया और आत्मीयतापूर्वक ऐसी अविस्मरणीय शिक्षाप्रद बातें कीं कि कोई भी चैतन्य विद्यार्थी सदा के लिये ज्ञान-समृद्ध हो जाय। उन्होंने स्वामी रामकृष्ण परमहंस का वाक्यांश कहा, 'जतो दिन बाँची, ततो दिन शीखी' (जितने दिन जिऊँगा उतने दिन सीखूँगा) सस्मित छवि से दी गई यह शिक्षा मुझ जैसे अल्पज्ञानियों के के लिये तो वास्तव में दीक्षा बन गई। बड़े तीखेपन से इससे पूर्व इसी विश्वविद्यालय का एक अन्य दीक्षान्त-व्याख्यान स्मृति में कौंध गया जो उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री द्वारा दिया गया था। वे मंत्री महोदय शिक्षा शब्द को निरन्तर सिक्सा और शैक्षिक को सैक्सिक कहते रहे थे। उत्तर प्रदेश के विद्यार्थियों में वैसे ही स और श का भेद ज़रा टेढ़ी खीर रटती है। वैसे में जब दीक्षा देने वाले गुरु ही गुरुतर भूल करें तो विद्यार्थी क्या ग्रहण करेंगे, समझा जा सकता है।

शास्त्री जी ने शिक्षा और विद्या का अंतर स्पष्ट किया। वे एक ओर विद्यार्थियों से सम्बोधित थे तो दूसरी

ओर शिक्षकों से। घंटी और घड़ी से चालित शिक्षा, वह भी वस्तुनिष्ठ शिक्षा को शास्त्रीजी के उद्‌बोधन ने व्यापक और व्योमधर्मी होने की सलाह दी। मानवीय स्तर पर शास्त्रीजी की आत्मीयता और निश्छलता आप पर ऐसे छा जाती है कि आप मानो रक्षाकवच से घिर जाते हैं। मेरे साथ ऐसा ही हुआ। एक घटना को बताने का प्रलोभन मैं रोक नहीं पा रही।

सन् २००२ की बात है। मैंने सन् २००१ में महिला सेवा सदन डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद से अवकाश प्राप्त किया। कुछ महीने तो स्वाधीनता का आनंद लेने में कट गये। कई अधूरी कहानियाँ पूरी कीं। दूर-पास की यात्रायें कर लीं। अब होश आया पेन्शन का क्या हुआ।

सरकारी कार्यालयों में पेन्शन-प्रत्याशियों के प्रति एक कसाई-मानसिकता प्रचलित है। वित्त नियंत्रक से लेकर चपरासी तक पेन्शन-प्रत्याशी को देखते ही 'आदमखोर' की पुकार लगाने लगते हैं। ऐसे तत्त्वों से एक दो बार तार्किक स्तर पर बातें कर मैं निराश घर बैठ गई। ऐसा लगा पेन्शन कभी मिलेगी ही नहीं।

उन्हीं दिनों नगर इलाहाबाद में विशिष्ट महिलाओं को सम्मानित किये जाने के कार्यक्रम में साहित्य के क्षेत्र में मुझे चुना गया था। महामहिम आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी के करकमलों से सम्मान मिलना था। मुझे लगा क्यों न अपनी समस्या शास्त्रीजी को बताऊँ। शायद कुछ समाधान निकले। ऐसे पूर्वाभास की पृष्ठभूमि यह थी कि वे साहित्यधर्मी संवेदनशील व्यक्ति हैं, वे इस विसंगति को जरूर समझेंगे कि जो अस्तित्व के संकट से जूझ रहा हो उसके जीवन में क्षणिक सम्मानों का क्या मूल्य हो सकता है। मैंने अपनी समस्त सेवा का विवरण और नौकरशाही द्वारा उत्पन्न अवरोध बयान करते हुए एक पत्र बनाया और डरते-डरते शास्त्रीजी को पकड़ा दिया। शास्त्रीजी इस हिमाकत के लिये मुझे डाँट सकते थे और उस दिन मुझे सम्मान के साथ असम्मान का भी अनुभव बखूबी हो जाता। लेकिन यह उनकी महानता ही थी कि उन्होंने उस पत्र को तवज्जो दी। उन्होंने पेन्शन सम्बन्धी समस्त प्रक्रिया की जाँच आरम्भ करवा कर ऐसी स्थितियाँ निर्मित कीं जिससे पेंशन निर्धारण की कार्यवाही कुछ ही महीनों में पूर्ण हो गई और मुझे निदेशालय की ठोकरें भी नहीं खानी पड़ीं। शास्त्रीजी ने इतना दुष्कर कार्य इतनी सहजता से कर दिया। जब मैंने उन्हें पेन्शन निर्धारण हो जाने पर पत्र लिखा, उन्होंने कोई अहसान नहीं जताया, कोई श्रेय लेने का प्रयास नहीं किया, बस हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त कर दी। आम आदमी के प्रति उनका यह संवेदनशील सरोकार उन्हें राजनीति की संकुल सीमाओं से परे एक महामानव का गौरव-पद देता है। मेरे मन में उनके लिये अपार श्रद्धा, आदर और आभार है। जब जब मैंने उन्हें पढ़ा है, मैं समृद्ध हुई हूँ। जब जब उन्हें सुना है, साहित्य के प्रति मेरे अन्दर नवीन उत्साह उमंग और आस्था जगी है। उनका यह विराट व्यक्तित्व बना रहे यही कामना है। ●

शंकरलाल मेहता

अविस्मरणीय व्यक्तित्व

माननीय आचार्य पण्डित विष्णुकान्त शास्त्री (बाबूजी) से मेरा सम्पर्क, वाराणसी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात्, १९६८ में कलकत्ता वापस आने पर हुआ। तब कलकत्ता में मैं नया-नया था तथा शहर की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से पूर्णतः अपरिचित था। बाबूजी का नाम प्रायः समाचार-पत्रों में पढ़ता था। अतः स्वतः प्रेरणा हुई कि सम्पर्क स्थापित करूँ। शीघ्र ही पता चला कि वह मेरे पड़ोस में ही रहते हैं। एक दिन सुबह (जून-जुलाई '६८) मैं अपरिचित, उनके घर पहुँच गया। द्वारपाल के हस्ते लिख भेजा। "शंकर मेहता, काशीवासी, आपके साक्षात्कार के लिये उत्सुक"। कोई आशा न थी कि मुझे सुअवसर प्राप्त होगा। परन्तु—

ज़ज्बए इश्क सलामत है तो ईंशा अल्लाह,
कच्चे धागे में बँधे आएँगे सरकार मेरे।

शीघ्र ही बाबूजी धोती पहने, ऊपर नंगे बदन—मेरे सामने प्रस्तुत हुए एवं बोले 'शंकर'! मैं मन्त्रमुग्ध हो गया। कुछ क्षणों के लिये सम्मोहित हो गया। तत्काल ध्यान आया—चरण स्पर्श किये।

बिना मेरे पारिवारिक-परिचय के, एक घन्टे तक, दिव्य वार्तालाप हुआ तथा बाबूजी पर मैंने अपनी अमिट छाप कायम कर दी। उस मध्य उनके उन्मुक्त ठहाके भी हुए—मुझे उनके चिन्मयानन्द व्यक्तित्व ने पूर्णतः प्रभावित कर दिया। मैं तत्काल उनका स्नेहभाजक शिष्य बन गया।

संयोग से मेरी छोटी बहन, मंजुला, तब शिक्षायतन में बी. ए. (आनर्स) हिन्दी में कर रही थी। नदी-नाव-संयोग से बात-चीत में उसकी मैत्री, सहपाठी जया (बाबूजी की भतीजी) एवं जया के माध्यम से, भारती (बाबूजी की सुपुत्री) से हो गयी। तब तक मैं सप्ताह में प्रायः २-३ बार बाबूजी के घर जाता रहता था एवं उनके परिवार के सभी बड़े एवं छोटों से मेरा परिचय स्थापित हो गया था।

निकट भविष्य में 'बालिका शिक्षा सदन' की पूर्व एवं समकालीन छात्राओं ने महाजाति सदन में रामायण पर नृत्य-नाटिका का आयोजन किया। इस प्रसंग पर मेरे ज्येष्ठ पितृवत् स्व० श्री गिरधारी लालजी मेहता को प्रधान अतिथि होने का आमन्त्रण था तथा मेरे पिता स्व० श्री हरिलाल मेहता (सीनियर ट्रस्टी— बालिका शिक्षा सदन) भी आमन्त्रित थे। मैं भी मंजुला के साथ नृत्य-नाटिका देखने के हेतु वहाँ गया था। बाबूजी ने जब मुझे पिताजी एवं काकाजी के मध्य देखा तो जिज्ञासा से पूछा कि तुम्हारा इनसे कैसे संपर्क है। तब, प्रथम परिचय एवं घनिष्ठता के लगभग छः मास बाद उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं कोलकाता के सुप्रसिद्ध मेहता-परिवार का एक सदस्य हूँ। फिर क्या था। पूर्व संस्कार जागृत हो उठे। गिरधारीलालजी एवं हरिलाल जी ने बाबूजी के पितृचरण एवं प्रातःस्मरणीय गांगेय नरोत्तम शास्त्री से मेहता परिवार का अत्यन्त घनिष्ठ एवं सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्मरण किया एवं कहा कि गांगेय शास्त्री के अल्पकाल में स्वर्गवास होने से दोनों परिवारों का संबन्ध क्षीण हो गया। अब शंकर ने आ कर उस पुनीत सम्पर्क को पुनःस्थापित किया है। इस प्रकार शास्त्री-परिवार एवं मेहता-परिवार के मध्य पुनः पूर्ववत् सम्बन्ध ताजा हुआ।

फिर तो बड़े चाचाजी (स्व० कृष्णकांत शास्त्री) छोटे चाचाजी (आ० श्रीकान्त शास्त्री) एवं सभी चाचियों से घनिष्ठता हो गयी।

काशी से यहाँ आने के साल भर के अन्तराल में प्रभु कृपा से मेरा सम्पर्क शहर के प्रायः सभी गण्यमाण्य साहित्यिकों एवं समाजसेवियों से हो गया। प्रातःस्मरणीय सीताराम जी सेक्सरिया ने मुझे पूर्ण वरदहस्त प्रदान किया। आचार्य प्रो० कल्याणमल जी लोढ़ा एवं पू० बाबूजी (श्रीमती डॉ० प्रतिभा अग्रवाल एवं स्व० मदन बाबू) से अत्यन्त स्नेहसिक्त सौहार्द प्राप्त हुआ।

१९६९ में स्व० सीताराम जी सेक्सरिया एवं पू० बाबूजी के सहयोग से मैंने साहित्यिक-समारोह करने आरंभ किये। काशी के सुप्रसिद्ध चिकित्सक एवं साहित्यकार, बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न डॉ० भानुशंकर मेहता एवं लेखक श्री विश्वनाथ मुखर्जी का आशीर्वाद था कि शीघ्र ही मैंने यहाँ एक अत्यन्त पुष्ट एवं सारगर्भित, सांस्कृतिक श्रोताओं का समूह बना लिया।

ठलुआ क्लब बना। गणपति अध्यक्ष बने सेक्सरिया जी; उप-गणपति शास्त्री जी एवं मानद सदस्य थे—श्री गिरधारीलाल मेहता, श्री हरिलाल मेहता, प्रो० कल्याणमल लोढ़ा, डॉ० प्रतिभा अग्रवाल, बाबू श्री मदनमोहन अग्रवाल, श्री मनमोहन ठकौर आदि।

फिर तो राँची निवासी श्री राधाकृष्ण से लेकर प्रातःस्मरणीय भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, महादेवी वर्मा, नजीर बनारसी प्रकृत प्रायः तत्कालीन सभी प्रमुख साहित्यकारों एवं कवियों का अभिनन्दन पू० बाबूजी एवं स्व० सेक्सरिया जी के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ।

इतना ही नहीं— शास्त्रीय संगीत की अनेक विभूतियों (यथा–पं० विनायक राव पटवर्धन, पं० वी. जी. जोग, पं० नारायण राव व्यास, किंचलू-बन्धु, श्रीमती अपर्णा चक्रवर्ती, भालचन्द्र पाटेकर, उस्ताद बिसमिल्लाह खान, ध्रुपद सम्राट उस्ताद नसीर अमीनुद्दीन डागर, सुश्री कल्याणी राय आदि) को पूर्ण वैदिक रीति से पू० बाबूजी एवं स्व० सेक्सरिया जी के द्वारा सम्मानित किया गया।

स्व० सेक्सरियाजी बड़े ही संकोची एवं मान आदि से परे—दिव्य पुरुष थे। अनेक बार शहर के गण्यमाण्य नागरिकों ने उनके अभिनन्दन करने का प्रस्ताव रखा पर उन्होंने सदा सविनय क्षमा याचना की। परन्तु पू० बाबूजी के वाक् चातुर्य एवं व्यक्तित्व के प्रभाव एवं मेरे बाल-हठ से, वह ठलुआ क्लब द्वारा सम्मानित होने को सौभाग्यवश राजी हो गये। इस प्रकार ठलुआ क्लब को उनके प्रथम अभिनन्दन करने का श्रेय प्राप्त हुआ। परन्तु कालवश जिस दिन अभिनन्दन आयोजित था उसी दिन भारत-बाँग्लादेश के युद्ध का प्रारंभ हुआ। पूरे शहर में ब्लैक-आउट घोषित कर दिया गया। सायंकाल बाद अंधकार व्याप्त हो गया।

हम सब बड़े चिन्तित कि अब अभिनन्दन समारोह कैसे होगा। उस समय पूज्य बाबूजी का अदम्य धैर्य, कर्त्तव्यपरायणता एवं संकल्पित व्यक्तित्व देखने को मिला। सदैव कहते रहे—आगे बढ़ो। सर्व कार्य सिद्ध होगा। उनकी प्रेरणा से सम्पूर्ण अभिनन्दन, काली रात के बावजूद, निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। बाबूजी समारोह के अध्यक्ष बने तथा न्यायमूर्ति श्री रमाप्रसाद मुखर्जी एवं आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी प्रमुख वक्ता। बाबूजी का सेक्सरिया जी के सम्मान में ऐतिहासिक भाषण एक घन्टे तक चला। सेक्सरिया जी द्रवित होकर रो पड़े।

तत्पश्चात् स्व० कृष्णचन्द्र अग्रवाल, स्व० राम कुमार भुवालका, प्रभुदयाल हिम्मतसिंका, भँवरमल सिंघी,

प्रतिभा जी आदि अनेक विशिष्ट विभूतियों ने उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित किये। उस काली रात को मेरे विवेकानन्द रोड के प्रांगण में लगभग चार सौ से अधिक महानुभावों का जमावड़ा था।

सन् १९७३ की वसन्त-पंचमी को मेरी छोटी बहन सौ० मंजुला का विवाह, मध्य-प्रदेश सरकार के तत्कालीन मुख्य सचिव (Chief-Secretary) एवं संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान, मनीषी श्री लक्ष्मीनारायण ओंकार जोशी IAS के सुपुत्र श्री विजय जोशी के साथ कलकत्ता में सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर शास्त्रीजी ने सर्वरूप से मेरे पिताजी श्री हरिलाल मेहता के साथ एक आदर्श पिता का कर्तव्य निभाया। श्री जोशीजी (वर्तमान 'केन्द्रीय विद्यालय शिक्षा परियोजना-सम्पूर्ण भारत' के कल्पनाकार एवं संस्थापक तथा उज्जैन में 'अ० भा० कालिदास समारोह एवं पुरस्कार' के प्रणेता तथा संस्थापक) उनके व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य से अत्यन्त प्रभावित हुए तथा दोनों के मध्य आजीवन सम्पर्क कायम रहा। जोशीजी के अभिनन्दन समारोह की अध्यक्षता शास्त्रीजी ने की। इसी समय शास्त्रीजी देश के सुप्रसिद्ध विद्वान एवं दार्शनिक डॉ० हरिहर त्रिवेदी (इन्दौर) के सम्पर्क में आए। तत्पश्चात् मेरा वैवाहिक-सम्बन्ध, जबलपुर निवासी, प्रख्यात दार्शनिक एवं शिक्षाविद् रावबहादुर साहित्य वाचस्पति डॉ० लज्जाशंकर झा की पौत्री एवं सुप्रसिद्ध अधिवक्ता श्री मोतीशंकर झा (अनुज : पद्मभूषण डॉ० वेणीशंकर झा—सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् भूतपूर्व उप-कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय भू० सदस्य युनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन, इत्यादि) की सुपुत्री सौ० रजनी के साथ सन् १९७४ के जनवरी मास में जबलपुर में सम्पन्न हुआ। इस माध्यम से शास्त्रीजी स्व० लज्जाशंकरजी, स्व० वेणीशंकरजी एवं स्व० मोतीशंकरजी झा के सम्पर्क में आए।

इस प्रसंग पर शास्त्रीजी ने मध्य-प्रदेश के अनेक सुप्रसिद्ध कवियों एवं साहित्यकारों की गोष्ठी की अध्यक्षता, स्व० सेठ गोविन्ददास तथा स्व० भवानीप्रसाद तिवारी के सान्निध्य में की तथा पूरे आयोजन का सुन्दर संचालन किया। उसी समय देश के सुविख्यात गायनाचार्य गुरुवर आचार्य विनायकराव पट्टवर्धन भी वहाँ पधारे थे। उनका पूर्ण वैदिक-सम्मान शास्त्रीजी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। प्रातःस्मरणीय परमाचार्य पं० विष्णु दिगम्बर की स्थापित गुरु-शिष्य परम्परा को दिशा प्रदान करने वाले आचार्य पट्टवर्धन शास्त्रीजी के सारगर्भित एवं भावनापूर्ण व्याख्यान से द्रवित हो गये थे।

बाबूजी के संपर्क में आकर, जैसे जैसे समय बीतता गया, मेरी श्रद्धा चन्द्रमा की षोडश कलाओं की तरह बढ़ती गयी। मैंने उनसे एक उत्कृष्ट शिष्य के रूप में स्नेह पाया, एक आदर्श पिता के रूप में मार्गदर्शन पाया एवं उससे भी ऊपर उठ कर जो भावना मुझे प्राप्त हुई उसके लिये मैं प्रभु एवं पूर्वजों का ऋणी हूँ।

प्रभु कृपा से बाबूजी दीर्घायु हों, साहित्य एवं समाज की सेवा में उन्हें उत्तरोत्तर ख्याति प्राप्त हो तथा हम सब को उनका वरद् हस्त सदा-सदा के लिये मिलता रहे। ●

लक्ष्मीकांत तिवारी

हमारे शास्त्रीजी

पूज्य आचार्य विष्णुकान्तजी शास्त्री की विद्वत्ता, सादगी और हँसी से हम सब प्रभावित हैं। अपनी बाह्य साज-सज्जा पर तो सभी लोग ध्यान देते हैं, लेकिन कम लोग ही ऐसे हैं, जो अपनी आंतरिक साज-सज्जा के प्रति सदैव जागरूक रह कर पूरा ध्यान देते हैं। आंतरिक साज-सज्जा का संबंध विचार, भावना, कल्पना, आंतरिक अनुभव, संतुष्टि, प्रसन्नता, परदुःख कातरता, मनन, चिंतन, ध्यान, ईश्वर प्रेम एवं भगवत् शरणागति आदि से है। विद्वत्शिरोमणि आचार्य पं० विष्णुकान्त शास्त्री को देखने वाले जानते हैं कि वे आंतरिक सज्जा के उपयुक्त आभूषणों से युक्त हैं। उनका जीवन हमारे लिए अनुकरणीय है। वे हम सबों के लिए एक प्रकाश-स्तंभ हैं।

पूज्य बाप्पाजी (पं० बनवारी लाल तिवारी) के साथ मैं बड़े महाराजजी ब्रह्मलीन कृष्णानंदजी महाराज के पास सत्संग भवन जाता था, वहीं शास्त्रीजी के साथ मेरा साक्षात्कार पचीस वर्ष पहले हुआ था। इसके बाद पूज्य स्वामी विश्वदेवानंदजी महाराज के साथ भी सामयिक विषयों पर उनका वार्तालाप होता रहता है।

राज्यपाल जैसे ऊँचे ओहदे पर रहते हुए भी उनके मन में मिलने वालों के प्रति कोई दुराव नहीं था। वे सबके करीब रहे। जब कभी उनसे मिलने के लिए लखनऊ के राजभवन में गया तो बिना किसी असुविधा के मैं उनसे मुलाकात करता रहा। किसी भी पद पर रहते हुए उन्होंने अपने प्रतिष्ठा का कभी दुरुपयोग नहीं किया। इसके अनगिनत उदाहरण तो आपमें से सभी जानते हैं। जिस कार्यक्रम में बतौर अतिथि, उद्घाटनकर्ता या अध्यक्ष के रूप में आचार्यश्री का नाम होता है, वह कार्यक्रम स्मरणीय बन जाता है, सिर्फ एक वजह से, वह है पं० विष्णुकान्त शास्त्री का बौद्धिक। उनकी शब्दावली, बोलने का रचनात्मक ढंग, संक्षिप्त सारगर्भित प्रवचन..... ! इस बौद्धिक श्रवण के लिए मैं भी न जाने कितने कार्यक्रम में उनको सुनने के बाद भाव-विभोर होकर लौटा हूँ।

कैसे भूल सकता हूँ, कानपुर में मेरे समधी श्री राजेन्द्र मिश्रजी के कनिष्ठ पुत्र के विवाह अवसर पर वे तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी के साथ पधारे। इतनी व्यस्तता और भीड़ के बावजूद उन्होंने मुझे खोजा, बुलवाया, मेरा हाल पूछा और देर तक मुझसे बातें कीं। उनसे बातें करने के बाद मैं जब महफिल में लौटा तो खुद को किसी बालीउड का स्टार ही समझता रहा।

कानपुर में गायत्री परिवार के एक उत्सव में शास्त्रीजी उद्घाटनकर्ता थे और मैं बतौर प्रधान अतिथि वहाँ उपस्थित था। स्मित हँसी के साथ उन्होंने कहा कि क्या कोलकाता में कार्यक्रम कम हो गए हैं, जो कानपुर में आकर मुख्य अतिथि बने हो। मैंने सकुचाते हुए कहा कि आपका सान्निध्यलाभ लेने के लिए ही तो मैं इतनी दूर आया हूँ।

लक्ष्मण किलाधीश के ब्रह्मलीन स्वामी सीताराम शरण के प्रथम निर्वाण दिवस पर आयोजित कार्यक्रम में आदरणीय शास्त्रीजी अयोध्या पधारे थे। वहीं उनसे मुलाकात हुई थी। उनके एडीसी ने कहा जल्दी वापस जाना होगा, नहीं तो विमान नहीं मिलेगा। इस पर शास्त्रीजी ने कहा कि चाहे मुझे पैदल ही राजभवन जाना पड़े, लेकिन मैं तो कार्यक्रम के पूरा होने पर ही जाऊँगा। शास्त्रीजी कार्यक्रम की पूरी अवधि तक बैठे रहे और बाद में कार से लखनऊ लौटे। उनके लिए सबके मन में आदर है सब उन्हें प्रशंसा-पुष्पों से पूजते हैं। ईश्वर उन्हें शतायु दे। ●

उम्मेद सिंह बैद

आश्चर्यजनक व्यक्तित्व : शास्त्रीजी

इतने सरल इंसान का राजनीति में होना ही आश्चर्य देता है, शास्त्री जी तो राजनीति के शीर्ष पर भी अपनी सरलता को बेदाग रखते हुए पद को सुशोभित कर चुके राज्यपाल हैं। उनसे जुड़ा हर संस्मरण पुनः पुनः आश्चर्य में डालने वाला है।

मैंने अपना स्नातकीय अध्ययन जोधपुर में किया, जबकि मेरे माता-पिता और बहनें सब कोलकाता रहते थे। गर्मी की छुट्टियाँ बिताने आता तो मेरी मझली बहन सरोज के मुँह से शास्त्री जी की चर्चा सुना करता। वह बताती कि उनके कविताएँ कहने का ढंग और मेरे मुँह पर आते संघ के गीत एकदम एक से हैं। उधर यही बात सरोज ने शास्त्री जी से भी कह दी 'आप बिल्कुल मेरे भैया की तरह ठहाका लगाते हैं।' और शास्त्री जी का तत्काल निष्कर्ष 'क्या तुम्हारे भैया भी शाखा में जाते हैं?' सुनकर ही आश्चर्य लगता कि इतना विद्वान व्यक्ति बंगाल के विपरीत राजनीतिक माहौल में रहते हुए भी मुझ सरीखे कतई अनजान, नाकुछ व्यक्ति में 'स्वयंसेवकत्व' पाकर उसे अपने समान आसन पर रख लेता है, बिठा लेता है। वहीं मानस से प्रवृत्तशील शब्द जैसे अतिरिक्त अर्थवान बन गया—

प्रभु तरुतर कपि डार पर, ते किय आपु समान
तुलसी को है राम सम, साहिब सील निधान !

बाद में मैं भी कोलकाता आ गया। १९७९ का एक प्रसंग। मैं उत्तर पश्चिम कोलकाता की कुम्हारटोली शाखा का मुख्य शिक्षक हुआ करता था। डॉ० हेडगेवार की जन्मशताब्दी वर्ष के कारण शाखा हरी भरी रहती थी। प्रतिदिन ६०-७० की संख्या में तरुण, किशोर, बाल और शिशु स्वयंसेवकों के अलग-अलग गण (दल) मैदान में खेला करते थे। नए-नए आए तरुण स्वयंसेवकों के बैचारिक आधार को पुष्ट करने की मंशा से विचार बना कि श्री शास्त्री जी द्वारा उनको संघ की प्रार्थना का अर्थ समझायें। तब तक शास्त्री जी से सीधा परिचय नहीं था, और उन्हें राजी करके बुलाने की जिम्मेदारी भी मुझ पर आ गई। जुगल दा (श्री जुगलकिशोर जी जैथलिया) को फोन करके सारी बात बताई, तो उन्होंने सुझाव दिया कि मैं स्वयं ही उनसे फोन पर सम्पर्क करके मिल लूँ।

डरते-डरते फोन किया। पहली ही बार में शास्त्री जी ने दूसरे दिन सुबह ९ बजे से पहले अपने घर बुला लिया। आश्चर्य हुआ कि अखिल भारतीय स्तर का पदाधिकारी, व्यस्त प्राध्यापक एक नए अपरिचित स्वयंसेवक की बात फोन पर ही मनोयोग और सहजता से सुनता है। दूसरे दिन समय से दस मिनट पूर्व उनके घर पहुँचा। मुझे नीचे अभ्यागत कक्षा में बिठाया गया। सोफे पर बैठा मैं सोच ही रहा था कि पता नहीं कितनी देर इन्तजार करना पड़ेगा, कि शास्त्री जी एकदम चपलतापूर्वक सीढ़ी उतरते उपस्थित हो गये।

लम्बा, इकहरा बदन, गौर वर्ण, सुन्दर चेहरा, चमकती आँखें, मुस्कुराते होंठ और चौड़ा ललाट। सिर के पीछे बंधी भारी चुटिया उन्हें एक सम्पूर्ण आस्थावान विद्वान घोषित कर रही थी। पौने फुट का यह व्यक्ति उनके विराट् कद के समक्ष और छोटा हो जाये, इससे पूर्व ही उन्होंने कंधे पर आश्वस्ति का स्पर्श देकर प्रेम से बिठाया।

"प्रार्थना पर बोलना है ठीक है ..... तुम मुझे एक दिन पहले फोन से स्मरण करा देना..... मैं आ

जाऊँगा.....।" शास्त्रीजी के ये इतने से शब्द मुझे आजीवन न भूलेंगे। न यह पूछा कि संख्या कितनी रहेगी, हॉल कितना बड़ा है और न यही कहा कि मुझे लेने के लिए गाड़ी भेज देना। आश्चर्य है। जब मैंने स्वयं कहा कि मैं आपको लेने आ जाऊँगा तो उसी भुवनमोहिनी मुस्कान के साथ बोले, "अरे नहीं भई, मैं भी स्वयंसेवक हूँ.....जानता हूँ कि तुम्हें उस समय कई व्यवस्थाओं में व्यस्त रहना पड़ेगा.....चिन्ता मत करो.....मैं पाँच मिनट पूर्व पहुँच जाऊँगा....गणवेश नहीं पहनना है ना ?

मुझे याद है कि शास्त्री जी के घर से लौटते हुए मेरा दिल बल्लियों उछल रहा था.....मेरी प्रसन्नता, उत्साह और आश्चर्य की सीमा नहीं थी। शास्त्री जी मेरे घर पर आयेंगे— यह विचार ही मन को बार बार प्रफुल्लित कर रहा था। शाखा पर स्वयंसेवकों को यह सूचना दी तो वे उत्साहित। कार्यक्रम में अपेक्षा से ज्यादा उपस्थिति हो गई।

शास्त्री जी आए। सीढ़ियों पर ही व्यवस्थित जूते चप्पलों की संख्या देखकर शायद स्थिति का अनुमान लगा लिया। स्वयं अपनी चप्पल उसी पंक्ति में रखी, और हमें स्वागत की कोई औपचारिकता न करने दी। सीधे स्वयंसेवकों के बैठक कक्ष में आए-अपनी निर्धारित कुर्सी को हटाकर ७-८ स्वयंसेवकों के बैठने का स्थान बना दिया। सबको सहज करते हुए बोले, 'बोलना तो खड़े होकर है, फिर कुर्सी किसलिए?' बहत्तर युवा स्वयंसेवकों ने पूरे डेढ़ घंटे तक मंत्रमुग्ध होकर प्रार्थना का अर्थ सुना। शास्त्री जी को तो अब स्मरण भी नहीं होगा, किन्तु उन बहत्तर तरुणों में से कई अब प्रौढ़ हो गए हैं, अब भी उन्हें शास्त्री जी का समझाया प्रार्थना का अर्थ नहीं भूला।

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा आयोजित मासिक प्रवचन माला में शास्त्री जी के श्रीमुख से गीता की विवेचना सुनना एक अलग ही अनुभव था। गीता पर अब तक आई सभी महत्त्वपूर्ण टीकाओं का सार वे बताते— बाकी श्रोताओं को भले उनके विशद् ज्ञान पर आश्चर्य और श्रद्धा आती हो मैं तो उनकी सरल निरभिमानता पर विमुग्ध था। घंटे भर के प्रवचन में तीन चार बार अपने गुरु ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्द जी को प्रणाम करके कहते, 'कंठ मेरा है, वाणी मेरे गुरु की है.....आपको व्याख्या अच्छी लगती हो तो यह मेरे गुरु का ज्ञान है, प्रतिपादन में कोई भूल त्रुटि रह रही हो या आपको कुछ पसंद न आता हो तो यह मेरे कहने के ढंग का दोष है.....। मैं शपथ लेकर कहता हूँ कि गीता की जैसी व्याख्या मैं आपके समक्ष रख रहा हूँ, वह मैं स्वयं समझकर नहीं बोल रहा हूँ....., मैं तो रट्टू तोते की तरह अपने गुरु का कहा आपको बता रहा हूँ.....।' इसी तरह के अनेक वाक्य स्वयं उनके हैं। भाषण या प्रवचन के बाद श्रोताओं की वाहवाही एवं श्रद्धा को नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लेना किसी भी पैमाने से दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु शास्त्री जी तो संभवतः किसी दूसरी ही माटी से बने हैं। प्रवचन शेष होने पर मुझ सरीखे 'अधजल गगरी छलकत जाय' नुमा श्रोताओं की जिज्ञासाओं को उन्होंने कभी उपेक्षित नहीं किया।

राम नाम के प्रति उनकी आस्था आश्चर्यजनक है। उनके जीवन में राम कृपा का अवतरण आश्चर्यजनक है। उनके जीवन की दिखाई देती राम की सी सरलता आश्चर्यजनक है। उनका पूरा जीवन हम सबके लिए अनुकरणीय है। शास्त्री जी के व्यक्तित्व को सलता पर अंग्रेजी की चर्चित पंक्ति याद आ रही है—

Though it is SIMPLE to be great
But it is GREAT difficult to be SIMPLE. ●

श्रीनिवास शर्मा

शास्त्रीजी को याद करते हुए

सन् १९६१-६२ का समय। गर्दिश के दिन थे। उम्र के उनतीसवें पायदान पर खड़ा किसी तरह कक्षा एम.ए. तक पहुँचा था। स्व० आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल के रहने तक कलकत्ता विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग नहीं बना था। कल्याणमल लोढ़ा सुकुलजी के ही समय से साथ पढ़ाते थे। सुकुलजी के निधन के पश्चात् बिड़ला ने कलकत्ता विश्वविद्यालय को तीन लाख रुपयों का अनुदान दे कर हिन्दी विभाग की स्थापना करायी थी। उन दिनों लोढ़ाजी विभागाध्यक्ष थे और उनके पट्ट शिष्य तथा मेरे गुरु विष्णुकान्त शास्त्री सह-प्राध्यापक। लोढ़ाजी प्यार से उन्हें 'भैयाजी' कहते हैं।

युनिवर्सिटी में छात्र-संघ का चुनाव था। हमलोगों ने पहली बार हिन्दी विभाग में छात्रों का संगठन बनाया था। चुनाव की तैयारियाँ चल रही थीं। मेरे साथ स्व० मुक्तिनाथ पाण्डेय की पत्नी चन्द्रकला पाण्डेय, जो इस समय राज्य-सभा की सांसद हैं, पढ़ती थीं। हम दोनों वामपंथी संगठन के उम्मीदवार थे। किसी प्राध्यापक की देखरेख में चुनाव सम्पन्न हुआ था। हमदोनों एक-एक वोट से हार गये थे।

शास्त्री जी को इसकी भनक लग गयी थी। उन दिनों वे राजनीति से काफी दूर थे। उन्होंने कहा था— 'यह हिन्दी विभाग की परंपरा के विरुद्ध है।' हिन्दी विभाग की क्या परम्परा थी, यह मुझे नहीं मालूम।

शास्त्री जी हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ाते थे। एक दिन वे 'निष्काम भक्ति' पर बोल रहे थे। मैंने बीच में यह कह कर उन्हें टोका था कि भक्ति निष्काम कैसे हो सकती है। कोई भी कर्म निष्काम कैसे हो सकता है। भक्त ईश्वर से कुछ न कुछ तो चाहता है— चाहे वह भक्ति हो या मुक्ति। शास्त्रीजी चौंके थे पर उत्तर नहीं दिया था। मेरी समझ में 'निरपेक्षता', 'तटस्थता' ही की तरह 'निष्काम' शब्द भी भ्रामक है। उपर्युक्त तीनों शब्द विज्ञान-विरोधी, गैर-मार्क्सवादी और वास्तविकता से परे हैं।

सन् १९६१-६२ और सन् २००४ के शास्त्रीजी में जमीन-आसमान का अन्तर है। ज्ञान, अनुभव और उपलब्धियों के क्षेत्र में उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है, और यह सब उनके किसी भी शिष्य के लिए गर्व की बात है।

एक प्राध्यापक के रूप में वे मेरे आदर्श रहे हैं। प्राध्यापकीय गुण उनमें कूट-कूट कर भरे हैं। शास्त्रीजी की निष्ठा, ईमानदारी, कार्य के प्रति समर्पण ईर्ष्या का विषय है। ऐसे प्राध्यापक अब विरल होते जा रहे हैं। पूरी तैयारी के बिना शास्त्रीजी कोई काम नहीं करते। पढ़ाते समय इधर-उधर की बातें नहीं करते थे। अपने विषय पर केन्द्रित रहते थे। समय पूरा न होने तक लगातार पढ़ाते थे। लोढ़ाजी और शास्त्रीजी का क्लास छोड़ना घाटे का सौदा होता था। लोढ़ाजी को जयशंकर प्रसाद पर सुनना और शास्त्रीजी की कक्षाओं में उपस्थित रहना छात्रों के लिए उपलब्धि थी। शास्त्रीजी कुशल वक्ता हैं और धाराप्रवाह बोलने में सिद्धहस्त।

विधायक बनने के बाद जनता की भीड़ केवल उनकी लच्छेदार हिन्दी सुनने के लिए एकत्रित होती थी। उनको सुनना सदा ही एक सुखद अनुभव है। मुझे बहुत बाद में पता चला था कि वे आर.एस.एस. के कार्यकर्त्ता

हैं। जगन्नाथ सेठ की मृत्यु के बाद ही मैं जान सका था कि वे शास्त्रीजी के सहपाठी तथा आर.एस.एस. के कार्यकर्त्ता थे। राजनीति से नाक-भौं सिकोड़ने वाले शास्त्रीजी कब राजनीति में चले गए थे— इसका भी पता मुझे उनके विधायक बनने के बाद ही चल सका था।

शायद सन् १९६२ ही में भारतीय हिन्दी परिषद् की ओर से श्री शिक्षायतन में हिन्दी लेखकों का एक बहुत बड़ा समारोह हुआ था। शास्त्रीजी की नामवर सिंह से कुछ तीखी नोंकझोंक हुई थी। नामवर सिंह उन दिनों कोई नई पुस्तक संभवतः 'इतिहास और आलोचना' लिख रहे थे। कुछ अंश सुनाया था जिस पर शास्त्रीजी बिगड़ गये थे। नामवर सिंह ने कहा था— 'बाँस को लाठी की याद बहुत अखरती है क्योंकि वह उसीकी काठी का होता है।" कुछ ऐसे ही शब्द थे नामवर जी के। बाद में दोनों में काफी घनिष्ठता हो गयी थी। आज भी विष्णुकान्तजी उन्हें बड़े भाई का सम्मान देते हैं।

ज्ञान मनुष्य को विनयशील बनाता है या उसका संस्कार। विष्णुकान्त शास्त्री के पास दोनों है। विनयशीलता उनके आस्तिक संस्कारों का अंग है। विद्या के बारे में कहा गया है— 'विद्या विनयं ददाति'। विनयी और श्रद्धावान ही ज्ञान के अधिकारी होते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शास्त्रीजी के आदर्श आलोचक हैं। आचार्य शुक्ल के संस्कार शास्त्रीजी ही की तरह सम्पूर्ण रूप से भारतीय थे। शुक्लजी यथार्थवादी, भौतिकवादी थे पर, आस्तिक थे। उन्होंने धर्म और अध्यात्म को साहित्य से खदेड़ दिया था। शुक्लजी आस्तिक थे पर धार्मिक विमर्शकार नहीं थे। वे धर्म और राजनीति को अलग-अलग खानों में ही रखना पसन्द करते थे। शुक्लजी अच्छी तरह जानते थे कि हिन्दी साहित्य में धर्म का मामला गहरे स्तर तक साहित्य से जुड़ा है। इसलिए उन्होंने धर्म को साहित्य से बहिष्कृत करने में पूरी ताकत लगा दी थी।

शास्त्रीजी की राह उलटी है। जीवन भले ही धर्म से अभिन्न हो, वे साहित्य को भी धर्म से अभिन्न मानते हैं। निराला की बात छोड़ दें, शास्त्रीजी नागार्जुन की कविताओं में भी धर्म और अध्यात्म की खोज करते हैं।

धर्म की राजनीति के साथ सदा मिली-भगत रही है। दरअसल धर्म की अधिक चिन्ता सुखी-सम्पन्न लोगों को रहती है। धर्म पूँजीपतियों का शगल है। संयोगवश विष्णुकान्त शास्त्री सम्पन्न परिवार के हैं। अपने साहित्यिक विमर्शों में जब वे धर्म-अध्यात्म की बात करते हैं तो उनकी भूमिका अध्यापक विमर्शकार से अधिक धर्म-प्रचारक की हो जाती है।

जो भी हो, पुरानी पीढ़ी के प्राध्यापक समाप्तप्राय हैं। कुछ ही वर्ष में ऐसे प्राध्यापक इतिहास की वस्तु बन जायेंगे। कल्याणमल लोढ़ा और विष्णुकान्त शास्त्री की पीढ़ी अब विरल होती जा रही है।

शास्त्री जी मेरे शिक्षक रह चुके हैं। एक शिक्षक के रूप में मैं उनका बहुत सम्मान करता हूँ। वे पचहत्तर के हैं और मैं बहत्तर का। गुरु से विनम्रतापूर्वक अनुमति लेते हुए उनके शतायु होने की मंगल कामना करता हूँ। ●

डॉ० सुकीर्ति गुप्ता

गुरुवर! तुम्हारी राजनीति मानवीयता है

'मुक्तिबोध' की प्रसिद्ध उक्ति है— 'पार्टनर! तुम्हारी राजनीति क्या है?' आधुनिक युग में व्यक्ति अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता से पहचाना जाता है। विष्णुकान्त शास्त्री जी राजनीति की विशेष पार्टी से सम्बन्धित हैं, पर उनके लिए आदर्श पर खरी उतरने वाली मानवीयता ही प्रमुख है। यही उनके नैतिक एवं आदर्शपूर्ण वैष्णव धर्म की आस्था की सहजता है। मोहन राकेश के अनुसार (आषाढ़ का एक दिन) 'राजनीति एक बड़ा चरण है', पर शास्त्री जी की जीवनयात्रा की गन्तव्य तक पहुँचने का यह मध्यान्तर मात्र है, जो उन्हें जीवन में विशेष अनुभव देता है। यह अनुभव जीवन में बाद की यात्रा का पथ सुगम करेगा, ऐसा विश्वास है। वे सहृदय साहित्यिक एवं रचनाकार व्यक्ति हैं, जिनका चिन्तन भक्ति से पूर्ण होने के कारण उन्हें सौहार्दमय मानव बनाता है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी. ए. करने के बाद भाई के पास कारणवश कलकत्ता एम. ए. के लिए आई। बंगाल की संस्कृति के प्रति आकर्षण भी था और उनके कला-प्रेम ने और भी उत्साहित किया। इतिहास-विभाग में प्रवेश तो लिया, पर मन नहीं लगा। सौभाग्यवश इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ही निहारिका विश्वास से भेंट हुई। वे मुझसे दो वर्ष सीनियर थीं, पर एक ही हॉस्टल में रहने के कारण अच्छा परिचय था। वे हिन्दी विभाग में थीं, मैंने भी उनके प्रोत्साहन से हिन्दी विभाग में ही प्रवेश लिया।

कक्षा में हम लोग शायद १० ही विद्यार्थी थे। उनमें पाँच तो लड़कियाँ ही थीं। उस समय की शास्त्रीजी की छवि अब भी आँखों के सामने है। गौरवर्ण, काफी लम्बे, सर्दियों में काली शेरवानी और गर्मियों में झक्क सफेद धोती-कुर्ता, उनके व्यक्तित्व को एक अलग ही गरिमा देता। व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी, ब्राह्मणत्व को प्रदीप्त करने वाली शिखा। जो उनके धर्म के प्रति दृढ़ इच्छा शक्ति की प्रतीक भी है। वे सब छात्र-छात्राओं का हाल-चाल पूछने वाले, मित्रवत् कम आयु के गुरु थे। मुस्कराते कक्षा में प्रवेश करते, हम सब उनकी प्रतीक्षा ही करते।

रीति-काल पढ़ाते थे, खूब तैयारी के साथ। कक्षा में आते, सामने नोट्स की कुछ पंक्तियाँ होती। मैंने अपने प्राध्यापकीय अनुभव से जाना है कि शिक्षक को हमेशा तैयारी कर ही कक्षा में आना चाहिए। समय की सीमा होती है। इधर-उधर की बातों में अधिक देर विद्यार्थी को बहकाया नहीं जा सकता। इसीलिए शास्त्रीजी का 'पाठ्य-क्रम' हमेशा समय की सीमा में ही समाप्त हो जाता। एक विशेषता हम लोगों ने अनुभव की थी कि युवा शास्त्रीजी रीति-काल की कविताओं को पढ़ाते समय कभी भी विचलित नहीं होते थे। वही गम्भीर स्वर-शब्दों की सन्तुलित वाणी रहती थी। कक्षा में भी पूर्ण शान्ति रहती थी। यद्यपि कुछ नटखट छात्र, छात्राओं को तंग करने की इच्छा से प्रश्न पूछना चाहते पर उन्हें साहस नहीं होता। बिहारी हों या देव या रत्नाकर, शास्त्रीजी उनकी भावात्मक एवं कलात्मक व्याख्या करते। कहीं भी अश्लीलता का भाव वातावरण में छाता नहीं था। रीति-काल के सौन्दर्य-बोध में सब छात्र डूबे रहते। बहुत कुछ उसी प्रकार होता जैसे महान् कलाकार की नग्न स्त्री-मूर्ति को देखकर उसके कलात्मक सौन्दर्य से ही व्यक्ति अभिभूत होता है, उसकी मांसलता की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। शास्त्रीजी का व्यक्तित्व भी हम

सब छात्र-छात्राओं को मित्रवत् और बड़े भाई के रूप में स्नेहिल आकर्षण देता। सभी को समय पर निश्छल स्नेह तो मिला ही विपत्ति में मार्ग-दर्शन भी।

एक बार मेरे जीवन में कुछ अघट-घट गया था। अकेली रहने के कारण फोन की अत्यन्त आवश्यकता थी। जिनका फोन था उन्होंने बिना अग्रिम सूचना के ले लिया था। बहुत त्रस्त थी। वैधानिक ढंग से फोन लेने में काफी दिन लग सकते थे। शास्त्री जी का ध्यान आना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उस समय वे सांसद थे। मैंने उनसे कहा और चार-पाँच रोज के भीतर ही फोन प्राप्त हो गया। उन्होंने कभी भी इस सहायता की चर्चा नहीं की। इसी महानगर के अनुभव हैं कि प्रतिष्ठित व्यक्ति भी भले ही वे शिक्षा या साहित्य के क्षेत्र में हो, व्यापारिक मनोवृत्ति से आक्रान्त हैं। कुछ भी सहायता करने से पूर्व प्राप्ति की ओर ध्यान देते हैं। यदि इच्छित प्राप्ति नहीं होती है तो उस निरीह को व्यर्थ की आशा देते हुए मृग-मरीचिका सा दौड़ाते हैं। प्रायः शास्त्री जी के परिचित उनकी इस सहायक-उदार प्रवृत्ति से किसी न किसी रूप में आभारी हैं।

उनके निश्छल भाव-पूर्ण चरित्र की अभिव्यक्ति उनके ठहाकों में झलकती है। जीवन के अनुभव से जाना है कि वही व्यक्ति खुलकर इस तरह के ठहाके लगा सकता है, जिसके जीवन में कुछ भी छल-छद्म न हो। उनका सान्निध्य हम लोगों को बिखरी ज्योत्सना की तरह स्नेह की शीतलता देता।

मैं बड़े भाई के साथ मिशन रो में रहती थी। शास्त्रीजी के घर भी कभी-कभी जाती थी। काश्मीरी रंग और सुन्दर नख-शिख वाली भाभियों की चुहल भरी बातचीत सुनती और देखती। प्रिय माँ का भी स्नेह मिलता था। माँ भजन स्वयं लिखती थीं। शास्त्रीजी से ही शायद उन्हें पता चला होगा कि मैं गाती हूँ। उस समय हिन्दी-विभाग का कोई भी कार्यक्रम होता तो मेरी उपस्थिति तानपूरे के साथ होती। प्रायः प्रसाद, पन्त, महादेवी आदि के काव्य-गीत स्वयं स्वर देकर गाती थी। आचार्य लोढ़ा का प्रिय गीत था, 'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन' और शास्त्री जी का प्रिय गीत था, 'तप रे मधुर, मधुर मन' और सहपाठियों के मध्य प्रायः बच्चन का गीत 'मुझे न सपनों से बहलाओ' गाती थी। इसीलिए माँ अपना भजन देतीं और मुझे उसी समय सुनाना होता। वे खूब विदुषी थीं, उनसे बातें करना अच्छा लगता और भाभी (शास्त्रीजी की पत्नी) बड़ी सुन्दर और मृदुभाषी थीं। हमेशा सर ढँके हुए परिवार की गरिमा को बढ़ाती एक भारतीय स्त्री के रूप में ही उनकी छवि अंकित है। मुझे उनके व्यक्तित्व में सबसे अधिक आकर्षित करता था, उनके गोरे मुख पर पतली नासिका और उस पर हीरे की कनी। जिसकी चमक उनके मुख की आभा को द्विगुणित कर देती थी।

भारती बिटिया खूब छोटी थी। उस पर माँ का कम, पिता का प्रभाव ही अधिक दिखाई देता। छोटी सी आयु में ही उसे काफी कविताएँ याद थीं। वक्ता के रूप में उनकी योग्यता का उस समय से ही आभास होने लगा था। बाद में मेरी छात्रा हुई। अन्याय का विरोध करना, जो बात समझ में न आए, ऐसा क्यों है, का उत्तर न पाकर सन्तुष्ट न होती। यह जिज्ञासु प्रवृत्ति व्यक्ति के जीवन में स्वयं ही उसे निर्णायक तत्त्व देती है। विवेक-पूर्ण बुद्धि आत्म विश्वास देकर व्यक्तित्व का विस्तार भी देती है। यही कारण है कि भारती ने अपने छात्र जीवन में कभी दोयम स्थान नहीं पाया। चाहे वाद-विवाद, नृत्य कला की प्रतियोगिता हो या वार्षिक परीक्षा हो। प्राध्यापिकाएं प्यार भी करतीं पर उसकी प्रखर पर सरल स्पष्टवादिता से किंचित सहमती भी थीं। अब वही भारती अपने परिवार को सम्हालती हुई दुःख-सुख में पिता के साथ छाया की तरह है।

कभी-कभी हम लोग पढ़ने के मूड में न होते, उनसे अंतरंग बातचीत करना चाहते। उस समय एक दो

अनुपस्थित हों तो संख्या और भी कम हो जाती। हम सभी वयस्क थे। शास्त्री जी भी बातचीत के मूड में होते, उन्होंने उसी प्रवाह में कहा था, जानते हो मेरी सारी पढ़ाई, लिखाई किसी की शृंगार की मेज पर होती है। बार-बार मुझे अपना प्रतिबिम्ब और हाव-भाव दिखाई देता है। मैं सोचती थी कि निश्चित ही उसमें प्यारी भाभी की छवि भी कहीं न कहीं अंकित होगी। उन्हें जीवन में इतना प्रेम मिला है, तभी तो वे दूसरों को इतना प्रेमपूर्ण स्नेह देते हैं। इसी तरह के 'मूड' में हम कुछ विद्यार्थी और शास्त्रीजी कक्षा से लगे काठ से विभाजित एक छोटे कमरे में बैठे थे। कुछ छात्रों को परीक्षा में कम नम्बर पाने का कष्ट था। एक विद्यार्थी का २ या ३ नम्बर कम पाने के कारण अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण न होने का क्षोभ था। शास्त्रीजी ने कहा कि जो प्राध्यापक नम्बर देने में मितव्ययता दिखाते हैं, उन्हें निश्चित रूप से अपने छात्र-जीवन में कम ही नम्बर मिलते होंगे। शास्त्री जी योग्यता के अनुसार छात्र को उदार होकर नम्बर देते, व्यक्तिगत राग-द्वेष का प्रश्न ही नहीं होता। हिन्दी विभाग में प्रवेश वही लड़के लेते थे, जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी न होती या जिन्हें अन्य विभाग से निराश होना पड़ता। पर लड़कियाँ प्राय: सम्पन्न घरानों से आती थीं। उस समय लड़कियों की शिक्षा सिर्फ कैरियर की दृष्टि से न होती। विशेष रूप से हिन्दी विभाग की लड़कियों के लिए तो कहा जा सकता था। (यद्यपि आज यह बात नहीं है)। गर्मी के दिन थे मैंने हल्का-काले ग्लास का चश्मा आँखों पर लगा रखा था। अचानक शास्त्रीजी बोले— 'तुम क्या चश्मा लगाती हो? चश्मा मत पहना करो। अच्छा नहीं लगता।' किसी ने इस कथन को संजीदगी से नहीं लिया। पर मुझे तो अब तक याद है। छोटेपन से ही अपनी आँखों के विषय में सुनती रहती थी। लगता था कि चलो कुछ तो व्यक्तित्व में है ऐसा जिसकी प्रशंसा होती है। निश्छल स्नेहपूर्ण प्रशंसा भला किस लड़की को याद नहीं रहेगी।

बोटेनिकल गार्डन में पिकनिक पर जाने की योजना बनाई गई। सारा प्रबन्ध निहारिका विश्वास पर था। आयु में बड़ी होने के कारण, हम सब उनका आदर करते थे। वहाँ जाकर खाना बनाने की इच्छा हमलोगों की नहीं थी, पर निहारिका के कारण हम लोगों को यह भी करना पड़ा। निहारिका ने चतुराई से लड़कों से भी खूब काम कराया, जैसे आग जलाना, आटा सानना, पानी लाना आदि-आदि। शरद देवड़ा पूड़ियाँ तलने में काफी कुशल थे। उन्होंने ही बताया कि काफी समय तक लड़कियों के स्कूल में पढ़ते रहे हैं, अत: पाक-विद्या में कुशल हैं। श्री नारायण पांडेय अपने स्वस्थ शरीर के कारण मुस्कराते अन्य भारी कामों में सहायता करते रहे। शास्त्रीजी ने भी नि:संकोच काफी सहायता की। उनके ठहाके और संस्मरण हमलोगों को पिकनिक का पूरा आनन्द देते रहे। लोढ़ाजी ने भी संस्मरण सुनाए। धोती और बनियाइन पहने नि:संकोच जमीन पर बैठ कर खाते हुए शास्त्रीजी का चित्र अभी तक मेरे पास है। सभी ने किसी न किसी रूप में अपनी कला का प्रदर्शन किया। अब ऐसा गुरु और शिष्य के मध्य का वातावरण मिलना कठिन है, जहाँ गुरु पथ निर्देशक के साथ मित्रवत् भी हो।

शास्त्रीजी के वक्तव्य की शैली से सभी प्रभावित हैं। भावों के अनुरूप शैली गढ़ते हुए उनकी वाणी की ओजस्विता सभी को मंत्रमुग्ध करती है। श्रोतागण का मन और ध्यान भटक ही नहीं सकता। स्मरण शक्ति में तो वे अद्वितीय हैं। अपने वक्तव्य में उद्धरण देकर वे उसे रोचक और सरस बना देते हैं। कविता की वाचन शैली में शास्त्रीजी जितने निष्णात हैं उतना शायद ही हिन्दी जगत् में और कोई हो। शब्दों की ध्वनियों का एक पृथक् संगीत होता है, जो भावों के आरोह-अवरोह में लहराता है। शास्त्रीजी अपनी प्रिय कविता में जब स्वयं रमते हैं तभी दूसरों को सुनाते हैं। कविता की अपनी विशिष्ट वाचन-शैली के कारण ही वे श्रोताओं को भी तादात्म्य की स्थिति में पहुँचा देते हैं। ●

डॉ० इन्दु जोशी

क्या भूलूँ क्या याद करूँ

जिए गए लम्हों का स्मरण करते हुए कवि अज्ञेय जी की कविता है :

होते हैं क्षण : जो देश काल मुक्त हो जाते हैं।
होते हैं : पर ऐसे क्षण हम कब दुहराते हैं।
या क्या हम लाते हैं ? / उनका होना, जीना, भोगा जाना
है स्वैर सिद्ध, सब स्वतः पूर्व। / हम इसीलिए तो गाते हैं।

आज जब मैं अपने विद्यार्थी जीवन के बारे में सोचती हूँ तो गुरुवर कल्याणमल लोढ़ा के व्यक्तित्व के साथ एक और आदरणीय व्यक्तित्व का स्मरण होता है वह है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का। हिन्दी से एम. ए. एवं फिर पी-एच. डी. करते हुए गुरुवर विष्णुकान्त शास्त्री को बहुत करीब से समझने का मौका मिला। उनके बारे में सबसे बड़ी बात यह है कि उनका व्यक्तित्व आतंक को सृष्टि नहीं करता, एक आत्मीय आश्वस्ति देता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से दार्जिलिंग की सैर करना तै हुआ। हमारे साथ थे सर, गुरु माता इन्दिरा जी और डॉ० शम्भुनाथ। टाइगर हिल का दृश्य तो भुलाये नहीं भूलता। सुबह चार बजे का समय था एवं ऊपर से पहाड़ की ठंडक। हममें से कोई भी बिस्तर से बाहर निकलना नहीं चाह रहा था किन्तु सर ने बेटू, राजा उठो कह-कहकर अन्ततः हम सभी को धकेलते हुए टाइगर हिल पहुँचा ही दिया। उस दिन की प्रत्यूष वेला की स्मृति आज भी मेरे मन को गुदगुदा देती है। मैं सोच रही थी बस कुछ देर में उषा प्रभात में आशा और विश्वास की आभा लेकर पदार्पण करेगी और फिर सूर्य प्रकाश लेकर आएगा। हठात् टाइगर हिल पर सर के द्वारा सुनाई जाने वाली कविताओं से मेरा ध्यान टूटा। कितना सुन्दर वातावरण था। कविता ने जादुई छड़ी घुमाई मानो और टाइगर हिल पर आए यात्रियों का दल उन्हें घेरकर खड़ा हो गया। कौन कहता है भाषा के कारण भाव को समझने में कठिनाई होती है। गुरुवर के माध्यम से टाइगर हिल पर कविता में जीने का सुख मैंने और मेरे सहपाठियों ने जिया है, और जिया है वहाँ उपस्थित यात्रियों ने।

उपचार ट्रस्ट की ओर से कविवर छविनाथ मिश्र का सम्मान-समारोह था। मुझे आलेख लिखने का आदेश मिला था। एक वरिष्ठ लेखक के साथ एक नवोदित लेखक को लिखने का आग्रह किया जाता था। मन में एक ओर खुशी थी दूसरी ओर भय भी था। गुरुवर शास्त्री जी के आलेख के साथ मेरा लेख छपेगा। सर के लिए बेहद मानसिक संघर्ष का यह वक्त था। चाचीजी (गुरुमाता) अस्पताल में भर्ती थीं। रोज नियम से चार बजे उन्हें अस्पताल पहुँचना होता था। उन्हीं से पता चला था कि यह आलेख उन्होंने विक्टोरिया मेमोरियल की एक बेंच पर बैठकर तैयार किया था। एक ओर 'प्राण जाय पर वचन न जाई, दूसरी ओर शपथ 'जो तू डगमगाया हो रही तेरी परीक्षा'। गुरुवर शास्त्री जी के व्यक्तित्व के कितने पहलू हैं— संतुलन, एकाग्रता, संयम और होइहहिं सोइ जो राम रचि राखा। उन्हीं की कविता पंक्तियाँ हैं—

जो कराना चाहते हो, तुम करा लेते सहज हो, मैं तुम्हारे हाथ का प्रभु, एक छोटा उपकरण हूँ।
दो मुझे आशीष, मानूँ सिर्फ निमित्त स्वयं को मैं, चल रही लीला तुम्हारी, मैं निर्देशित आचरण हूँ।

राम की लीला को उन्होंने जाना, समझा है इसलिए सांसारिक पीड़ा ने उनको विचलित नहीं किया। अस्पताल से लौटते हुए रात को सात बजे करीब सर सुरानी प्रेस पहुँच गए और मेरे आलेख को भी पढ़ा एवं आशीर्वचन देते हुए कहा— 'बड़ा श्रम किया है भई तुमने। खूब लिखो। राम जी की कृपा है तुम पर'। ऐसे स्नेहिल जिए गए क्षणों को तो मैं यहाँ दोहराने बैठी हूँ। क्या भूलूँ, क्या याद करूँ ?

एक और घटना इसी क्रम में मेरी स्मृति में उभर रही है। डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव मेरे शोध निर्देशक थे। मेरी थीसिस जमा होने के सिर्फ ६ महीने पूर्व उनका देहान्त हो गया। मेरे जीवन की विकटतम स्थिति में उनकी वाणी में दोहराऊँ 'राम जी की कृपा' हुई इसीलिए सर ने मेरी थीसिस का निर्देशक होने का दायित्व स्वीकारा। छः महीने तक उन्होंने अपना बहुमूल्य समय तो मुझे दिया ही बल्कि गुरुवर डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र जी से भी आग्रह किया कि— 'आपलोग भी मेरे साथ इन्दु को सहयोग दें।' सचमुच एक यज्ञ पुरुष हैं गुरुवर विष्णुकान्त शास्त्री।

१ मार्च १९८७ को थीसिस जमा करने के बाद सर ने कहा— 'देखो बेटा, अबतक तो तुमने किताबें पढ़ी हैं। आज से तुम्हारी असली शिक्षा शुरू होती है। अनुशासन और चरित्र जीवन के सर्वोच्च गुण हैं। जीवन में हमेशा अपने पर भरोसा रखना। यशस्वी होओ।' इस वक्त उनके चेहरे पर चिर-परिचित मुस्कराहट नहीं, गम्भीरता थी और इस गम्भीरता में झलक रहा था एक तेजोमय चेहरा जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव मुझे गतिशील बनाए रखता है। हर कदम पर ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मुझसे कुछ त्रुटि हुई तो मेरे सर की छवि धूमिल होगी।

अमूमन प्राध्यापक की छवि से बिल्कुल अलग हटकर उनका एक और पहलू है अभिभावक का। मेरी पुस्तक 'विश्वास रच रहा है मुझे' का लोकार्पण समारोह सुबह दस बजे होना निश्चित था। उधर सर उस दिन एक विशेष कार्यक्रम के चलते बेहद व्यस्त थे। मेरा मन उदास था कि सर नहीं पहुँचेंगे। मैंने तो पहले दिन सिर्फ इतना ही कहा था–सर आपके बिना यह लोकार्पण समारोह सफल नहीं होगा। कदाचित् मेरे मन में छिपा दर्द उनसे छिपा नहीं। सुबह छः बजे फोन पर तभी तो उनका कहना था—शाम को चार बजे तुम्हारे यहाँ मैं पहुँच रहा हूँ।

२२ अप्रैल १९९२ की उस शाम 'प्रतिध्वनि' के कार्यालय यानी मेरे घर की छत पर एक कवि गोष्ठी का आयोजन था। कलकत्ता के प्रायः सभी विद्वत्गण और कवि उपस्थित थे। सर के आने की सूचना मैंने ही सभी को दी थी। सवा चार बजे होंगे। पाषाण जी ने हँसते हुए कहा कहिए इन्दुजी, कहाँ हैं गुरुजी ? कहीं किसी मीटिंग में फँस गए होंगे। मैं एकदम चुप थी। इतने में सर की आवाज आई, भई इन्दु जोशी का घर किस तरफ है। मेरी खुशी क्या कहूँ ! सबके चेहरे खिल उठे। फिर जो कविता का माहौल रचा गया सर की अध्यक्षता में, सिर्फ इन दो वाक्यों से समझा जा सकता है। कलकत्ता दूरदर्शन केन्द्र की प्रोड्यूसर सुशील गुप्ता का दूसरे दिन फोन था— 'थोड़ा भी पूर्वाभास होता तो इस कवि सम्मेलन की मैं रिकॉर्डिंग कर लेती। एक शानदार कवि सम्मेलन मिस हुआ यह भी विष्णुकान्त जी के साथ।'

उत्तरप्रदेश के महामहिम पद को सुशोभित करने के बावजूद मेरे प्रति उनका स्नेहिल सम्बन्ध आज भी बना हुआ है। मेरे पिताजी की मृत्यु का समाचार डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी ने उनको दिया था और तुरंत उन्होंने मुझसे सम्पर्क किया। मुझे लगा कि दैहिक रूप में जिन्होंने मुझे जन्म दिया आज वह मेरे साथ नहीं हैं किन्तु मेरे अभिभावक मेरे मानस पिता मेरे साथ हैं। मैं कहाँ अकेली हूँ। मेरे दुख के क्षणों में जिनका सम्बल मिला उनका मन राम की कृपा चाहता है और मेरा मन उनकी कृपा। उनकी कविता पंक्तियों को ही दोहराना चाहती हूँ :

साँस-साँस में रटूँ, राम मैं नाम तुम्हारा, साँस-साँस में बुनूँ रूप मैं राम तुम्हारा।
साँस-साँस में झलकाओ तुम अपनी लीला, साँस-साँस में रमो बने यह धाम तुम्हारा।। ●

डॉ० वसुंधरा मिश्र

मुस्कुराहट बनी रहे

शास्त्रीजी के विलक्षण और सौम्य व्यक्तित्व के समक्ष बड़े-बड़े विद्वान नतमस्तक होते आये हैं। उनके तेजस्वी मुखमंडल पर व्याप्त उनकी सरल मुस्कान, आत्मसंतोष और वत्सलता ने मुझे सदैव प्रेरित किया। साहित्य-संगीत-कला तीनों का संगम उनके व्यक्तित्व में समाहित है। मुझे बरबस इस पंक्ति का स्मरण हो आता है—

'है मुझको परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है'

राम जिसके आराध्यदेव हों उनके मुखमंडल पर तेज और आभा व्याप्त होगी ही। सभी परिस्थितियों में उनके जीवन का सम्बल राम है। यह मुस्कान और संतोष यूँ ही नहीं आते। हर व्यक्ति का आराध्य अवश्य होता है चाहे वह ईश्वरीय हो या जागतिक। उनके जीवन की परिधि में 'राम' है। 'राम' भारत के लिए एक शब्द मात्र नहीं है बल्कि वह भारतीय संस्कृति, साधना, आराधना, आशा-आकांक्षाओं का पूर्ण रूप है। राम के अर्थ को समझने वाले ही सत्यमय और कल्याणमय होते हैं। शास्त्रीजी राममय हैं इसीलिए संतुलित और स्वस्थ विचारों के परिचायक हैं। पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू ने नैतिक व्यक्ति उसे ही माना है जो जीवन की स्वतःस्फूर्त धारा से संतुष्ट न हो, बल्कि अपने जीवन को उद्देश्यपूर्ण बनाने में लगा रहे।

मेरा सौभाग्य रहा कि मैं भी काशी की धरती से जुड़ी रही और फिर कलकत्ता से। भारत में शास्त्री जी साहित्यकार-शिक्षक के रूप में पहले हैं, राजनीतिज्ञ बाद में। राजनीति भी उनके साथ रहकर स्वच्छ और निर्मल हो गई। हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश का राज्यपाल पद भी गौरवान्वित हुआ। साहित्य के क्षेत्र में तो उन्होंने विभिन्न विधाओं— निबंध, आलेख, कविता, अनुवाद आदि में लिखकर साहित्य जगत् को लाभान्वित किया। गीता, पुराण, उपनिषद्, वेद सभी पर धाराप्रवाह उनका वक्तव्य अभिभूत कर देता है। कलकत्ता तो उनका अपना है। यहाँ की हर साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्था से उनका साहित्यिक सम्बंध है और सभी संस्थाएँ उनका सान्निध्य पाने के लिए लालायित रहती हैं।

शास्त्री जी की दम्भहीन मुस्कान लोगों के लिए प्रेरणादायक है। ऐसे ही महापुरुष 'स्मितपूर्वाभिलाषी' होते हैं। उनकी वाणी से निकलने वाला प्रत्येक शब्द आशा और प्रसन्नता से भरा होता है। ऐसे ही लोग वंदनीय और श्रद्धेय होते हैं। शास्त्रों में भी कहा गया है—

'वदनं प्रसाद सदनं, सदयं, हृदयं सुधामुचो वाचः
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वंद्याः।'

अपने व्यक्तित्व से जिन्होंने साधारण से लेकर असाधारण सभी लोगों को प्रभावित किया है ऐसे शास्त्री जी सभी के प्रिय और वंदनीय हैं। विभिन्न समस्याओं से घिरे संघर्षशील जीवन में भी बखूबी रास्ता निकालते शास्त्रीजी शिक्षा, साहित्य एवं राजनीति के त्रिकोणीय बिन्दु हैं। ●

स्नेहलता बैद

भारतीय संस्कृति की आभा से मंडित व्यक्तित्व

आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री की औपचारिक रूप से शिष्या होने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। मेरी मझली ननद सरोज बैद (अब श्रीमती सरोज सिपानी) कलकत्ता विश्वविद्यालय में शास्त्री जी की शिष्या थीं। वे अक्सर शास्त्री जी की कविताओं की, उनकी अध्यापनशैली की, उनकी पारदर्शी हँसी की चर्चा खूब उत्साह से करतीं। तभी से शास्त्री जी के प्रति मेरा मन अपार श्रद्धा से भर गया। आदर और उत्सुकता की अभिवृद्धि उनके साथ हुए प्रत्येक साक्षात्कार में होती रही—आज भी है।

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा द्वारा आयोजित किसी कार्यक्रम में महाजाति सदन के मंच से पहली बार शास्त्री जी की अमृतवर्षिणी वाणी, कानों के रास्ते अंतस्थल को भिगो गई। इसके बाद तो मन बार-बार उसी अमृत के लिए तरसता, व्याकुल रहता। राजनैतिक आयोजनों को छोड़ दूँ तो याद नहीं आता कि पिछले १५ वर्षों से कोलकाता में शास्त्री जी का कोई भी वक्तव्यमूलक आयोजन मैंने छोड़ा हो। पुस्तकालय द्वारा उनके अनियतकालीन मासिक प्रवचनों का आयोजन तो मेरे जीवन की अनमोल निधि ही बन गया है। ईशावास्योपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या तो खैर क्या याद रहेगी किन्तु उनकी मधुवर्षिणी मुस्कान, गंगा की धारा के समान सहज प्रवाहित कविताएँ और गहनतम विषय का सरलतम प्रतिपादन आजीवन याद रहेगा। इतनी विद्वत्ता, इतनी ऊँचाई— पर इतनी सरलता और इतनी उदारता दुर्लभ है।

एक दिन तो मुझ पर जैसे प्रभु की कृपा ही साक्षात् बरस गई। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी धर्मसंघ की विदुषी साध्वी श्रीसोमलताजी के सान्निध्य में शास्त्री जी को अणुव्रत पर भाषण करना था। कार्यक्रम चूँकि मेरे घर के पास ही था और संचालन भी मेरे ही जिम्मे था, मैंने बहुत संकोचपूर्वक उनसे निवेदन किया— "कार्यक्रम शेष होते-होते भोजन का समय हो जायेगा, मेरा घर पास ही है वहीं प्रसाद पा लें" मेरे तो जैसे कई जन्मों के पुण्य एक साथ फलीभूत हो गये। कोई मेरी खुशी का क्या अनुमान लगायेगा कि शास्त्री जी ने तुरन्त हाँ भर दी, "क्या हर्ज है।" न व्यस्तता का दिखावा, न बड़प्पन की अड़चन।

कार्यक्रम शेष करके हम दोनों साथ साथ आये। मेरे जीवन का वह महानतम दिन था। उस दिन मैं संचालन कैसे कर पाई और भोजन भी कैसे बना पाई—भगवान ही जानें। स्वयं भगवान ही प्रसन्न होकर जैसे मेरे हाथ का भोजन ग्रहण करने आ गये हों..... उसी दिन समझ में आया कि भगवान के पूर्व गुरु के चरण क्यों छूते हैं। उनको बिठाकर मैंने भोजन बनाया। तब तक शास्त्री जी मेरी छोटी कन्या सुप्रिया के साथ बतियाते रहे। सुप्रिया को गीता का सोलहवाँ अध्याय कण्ठस्थ था। उसने उत्साह-उत्साह में वह अध्याय गुरुवर को सुनाया, बहुत खुश हुए। उनके मुँह से सुप्रिया की तारीफ सुनकर मैं तो धन्य ही हो गई— 'मेधावी है, इसे ईशावास्योपनिषद् भी याद करा दो.....' सुप्रिया के सिर पर अपना वात्सल्यपूर्ण हाथ रखकर बोले। और घर पहुँचते ही उसके लिए पुरस्कारस्वरूप दो पुस्तकें भेजीं— 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' और 'अमर आग है'। गुरु का हाथ सिर पर आया तो तीन चार दिन में ही सुप्रिया ने ईशावास्योपनिषद् कण्ठस्थ कर लिया। मैंने गुरुवर को फोन पर बताया कि वह आपको

ईशावास्योपनिषद् सुनाना चाहती है। सौस सौस में रामजी को स्मरण करने वाले शास्त्री जी ने अपने आराध्य को सी उदारतापूर्वक कहा— ठीक है..... इस रविवार को ही पुस्तकालय में प्रवचन के लिए मैं आऊँगा..... वही सुप्रिया को भी ले आना.....सबके सामने ही सुनेंगे....."

सुप्रिया ने अब तक जाने कितनी बार मंच पर कार्यक्रम किए हैं किन्तु मुझे स्मरण है कि जितनी रोमांचित वह इस बार हुई उतनी बाद में अब तक नहीं हुई है। अपना प्रवचन शेष करके माइक संयोजक को सौंपने से पूर्व स्वयं ही बोले 'जाइयेगा नहीं, स्नेहलता की बेटी आपको ईशावास्योपनिषद् सुनायेगी। उससे मैं इसलिए यहाँ बुलवाना चाहता हूँ कि उसकी ही तरह घर में बच्चे गीता उपनिषद आदि याद करें..... ' और सुप्रिया ने पूरी सभा के समक्ष वह उपनिषद् अत्यंत उत्साहपूर्वक सुनाया। पुनः दो पुस्तकें उसे अपने हाथ से दीं। मुझे लगा कि सुप्रिया के दहेज की सबसे कीमती चीज तैयार हो गयी है। इससे अधिक भला और क्या मिल सकता है? जो व्यक्ति भारत के सभी स्वनामधन्य लोगों का प्रिय और आदरणीय हो, जिसे संतों की असीम वात्सल्यमयी कृपा मिली हो, जिसका स्वयं का व्यक्तित्व इतना बहुआयामी और विराट हो—वे मुझ जैसी अल्पमति से इतनी सहृदयता और पितृ भाव से मिलते हैं यह सचमुच मेरे लिए सात्विक गर्व का विषय है। यही सरलता उन्हें संत बनाती है।

सन् १९९५—पूर्वांचल कल्याण आश्रम का वार्षिकोत्सव। कलामन्दिर प्रेक्षागृह। कार्यक्रम के संचालन का दायित्व मेरा था। सामने प्रथम पंक्ति में गुरुवर को बैठा देखकर एक तरफ आश्वस्ति का भाव आया तो दूसरी तरफ संकोच का। इतने दिग्गज विद्वान के सामने अकिंचन मैं.....लेकिन शास्त्री जी की विद्वत्ता शिलाधर्मी नहीं बल्कि आकाशधर्मी है। मुझे सरीखे कोमल पौधे को भी फूलने फलने का प्रचुर अवसर देते हैं। कार्यक्रम समाप्ति के बाद अनेक लोगों ने अच्छे संचालन की प्रशंसा की—बधाइयाँ दीं पर उन सबमें कुछ न कुछ दूरी थी—अलगाव था। शायद इसीलिए उनमें से एक का भी नाम स्मरण नहीं है—सिवा शास्त्रीजी के। सिर पर वरदहस्त रखकर प्यार से मुस्कुराकर बोले— "बेटा तुमने बहुत अच्छा संचालन किया....." मन आज तक भीगा भीगा है उस स्नेह का स्मरण कर।

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय में उनके मासिक प्रवचनों की नियमित श्रोता हुआ करती थी मैं। गीता उपनिषद तो मैं मूढ़ क्या समझती पर इस कुशल शिक्षक की प्रवचन शैली के आकर्षण में बँधी आती थी। और हर प्रसंग पर उनके श्रीमुख से झरती कविताएँ। उनके मुख से ही सुनी सर्वेश्वर की कविता स्मरण आ रही है—

"दुख तुम्हें क्या तोड़ेगा, तुम दुःख को तोड़ दो।
केवल अपनी आँखें औरों के सपनों से जोड़ दो।"

शब्द उनके मुख से नहीं बल्कि जीवन से निकलते से लगते हैं—उनके जैसे ही बनने की प्रेरणा देते हैं। भारतीय संस्कृति की आभा बिखेरता है उनका व्यक्तित्व।

कामना है वे और सौ साल जियें और अपने लिए इच्छा यह है कि जीवन उनके जैसा दिव्य बने, समर्पण भाव बढ़े— आत्माभिमान क्षीण हो.....वे ही तो अक्सर सुनाया करते हैं—

आत्मबलि ही सर्जना का मूलभूत रहस्य,
वृक्ष तो है बीज का ही दिव्य कायाकल्प। ●

पं० राधा मोहन उपाध्याय

शास्त्री जी को मैंने जैसा देखा

यदि किसी मानव को मैंने सर्वाधिक प्यार दिया है, श्रद्धा सुमन अर्पित किये हैं तो वह है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय में शास्त्री जी का गीता प्रवचन हो रहा था। मैं काशी का पण्डित और व्याकरणाचार्य। संस्कृत हिन्दी वाले बोलें और भूल न हो! मैं कुछ पाने की अपेक्षा दोष ढूँढने में अधिक तत्पर रहता था। एक दिन एक बात मिली। प्रवचनोपरान्त मैंने शास्त्री जी से पूछा— 'आपने ऐसी बात कही, यह गलत है।' शास्त्री जी ने नम्रतापूर्वक कहा— 'मैंने तो जो अपने गुरु जी से जो सुना था, वही कहा। आप लोग विद्वान हैं।' मैं नियमित रूप से उनका प्रवचन सुनने जाया करता था। दो - तीन प्रवचनों को सुनने के बाद मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया और प्रवचनान्त में तो मैं उनका मनसा शिष्य बन गया।

शास्त्री जी के व्यक्तित्व में न्यायपथ पर चलने की फौलादी शक्ति है तो सज्जनों के लिए विनम्रता है। शारीरिक स्फूर्ति मानो ललकारती है— बुढ़ापा तो अभी कोसों दूर है। आप अन्याय के विरुद्ध ज्वलदंगार मूर्ति हैं तो दलित दीन हीन के लिए कारुण्य नवनीत हैं, स्मरण शक्ति कम्प्यूटर का उपहास करती है तो वक्तृता श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती है। स्वभाव से संत शास्त्रीजी वर्त्तमान राजनीति के कर्दम कलंक से निर्लिप्त हैं, सुजन-स्वजन-समदृष्टि शास्त्री जी अपने समान आपही हैं।

शास्त्री जी से जब मेरी पहली मुलाकात उनके आवास पर हुई तब मैंने अपना परिचय देना उचित समझा और मैंने यथालोकाचार उन महा विभूतियों की चर्चा शुरू की जो किसी को भी साधुवाद देने के लिए प्रेरित कर सकते थे लेकिन शास्त्री जी मानो अनसुनी कर मुझे यह मौन परामर्श दे रहे थे कि दूसरों की बैशाखी पर खड़ा होना कोई बहादुरी नहीं है। आप अपने कर्मों से ख्याति अर्जित करें। मैंने इसे गुरु मंत्र मान लिया।

'सूर पंचशती समारोह' भारतीय संग्रहालय कोलकाता में धूमधाम से मनाया गया। मेरी भी इच्छा हुई विद्यालयस्तर पर मनाने की। संयोग से भारतीय भाषा परिषद में प्रभाकर माचवेजी का आगमन हुआ। उनके पहले दिन कार्यालय प्रवेश में मैं ही पहला व्यक्ति था जो उनसे मिला। मैंने सूर पंचशती मनाने के अपने संकल्प को बताया और उन्होंने अन्त तक मेरा साथ निभाया। इसी प्रसंग में मैं शास्त्री जी से मिला। उन्होंने इस सत्कार्य के लिए मेरा साधुवाद किया और अपना वैदुष्यपूर्ण निबन्ध 'वल्लभ सम्प्रदाय में दैन्य तत्त्व—सूरदास के सन्दर्भ में' प्रदान किया और प्रोत्साहित किया। मैंने अम्बिका हिन्दी हाई स्कूल की ओर से 'सूरदास एक सान्दर्भिक पुनरावलोकन' नामक पुस्तक का प्रकाशन किया। इसके लोकार्पण के अवसर पर काशी से आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, प्रभाकर माचवे और शास्त्री जी मौजूद थे। इस अवसर पर शास्त्री जी ने जो भाषण किया उसकी विद्वत् समाज में महीनों तक चर्चा होती रही।

शास्त्री जी गीता के मर्मज्ञ हैं। गीता, प्रस्थान त्रयी में अन्यतम है। कहा गया है—'गीतासुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' अर्थात् केवल गीता का आश्रय लो, अन्य शास्त्रों के विस्तार में जाने की जरूरत नहीं। बात सही भी है। यही कारण है कि अपने देश के सभी संतों एवं नेताओं ने भी गीता का सहारा लिया है। गीता कामधेनु

बन गई है, सब अपनी रुचि की वस्तु इससे पा लेते हैं। बाल गंगाधर तिलक ने कर्म की प्रधानता देखी, विनोबा ने सेवा-त्याग प्रधान कर्म लिया, गाँधी जी ने आत्मबल प्राप्त किया, आर्य समाज की व्याख्या ऐहिक आमुष्मिक कल्याण मुखी है तो आचार्य शंकर अद्वैतवाद को परिपुष्ट करते हैं। मध्वाचार्य द्वैतवाद का मुखर स्वर गीता में सुनते हैं। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री गीता प्रवचन के समय सभी आचार्यों के सिद्धान्तों को दिखाते हुए गुरुप्राप्त, हृदय संगृहीत एवं स्वभावीकृत भाव को प्रकट करते हैं जो अधिक तर्कसंगत, बोधगम्य एवं सुग्राह्य होता है। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय ने शास्त्री जी के गीता प्रवचनों को सर्वसुलभ कराके प्रशंसनीय कार्य किया है। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय की सारस्वत टीम वस्तुतः शास्त्री जी की अमृत सन्तान है। इससे देश की दिशा एवं दशा में मंगलमय परिवर्तन के आसार हैं।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री नेता नहीं हैं, केवल संत हैं, क्योंकि आजका नेता भ्रष्टाचारी का पर्यायवाची बन गया है। संत वह है जो दूसरों की सेवा-सहायता में निरलस निरत हो। 'साधनोति परकार्यमिति संतः।' यह त्यागी, तपी, करुणा-वरुणालय संत का ही ऐसा विचित्र व्यक्तित्व है कि काजल की कोठरी में निवास करने पर भी काजल की एक लीक भी स्पर्श न कर सकी। मैंने लखनऊ का आपका राजभवन भी देखा है। वहाँ कक्षों के नव नामकरण एवं परिवर्तित परिवेश ने राजभवन को अभिनव और पूर्ण भारतीय साँचे में ढाल दिया है। राष्ट्रपति शासन के समय प्रति मंगलवार को जनता दरबार लगाकर, जनता में बैठ जनता की शिकायतों को सुनना एवं तत्काल कार्यवाही करना अन्य राज्यपालों के लिए अनुकरणीय बन गया है। सब से बड़ी बात तो यह है कि मेडिकल एवं इंजीनियरिंग कालेजों में राज्यपाल कोटे से भर्ती दिलाने के अपने अधिकारों का त्यागकर आपने अन्य राज्यपालों एवं नेताओं को यह सन्देश दिया कि विद्यामन्दिर में प्रतिभा को वरेण्यता मिलनी चाहिए।

आजकल के कतिपय नामवर हिन्दी लेखक-आलोचक शास्त्री जी की सृजनधर्मिता पर अंगुली उठाते हैं लेकिन मेरा विनम्र निवेदन है कि साहित्य एवं शिक्षा को राजनीति से दूर रखना चाहिए। शास्त्री जी में हृदय पक्ष और बुद्धिपक्ष का जो अद्‌भुत संयोग व सन्तुलन दिखाई पड़ता है, वह अन्यों में नहीं है। गुणवत्ता को महत्त्व न देकर माया को महत्व देना कोयले के व्यापारी का काम है, जौहरी का नहीं। चाँद पर थूकना बुद्धिमानी नहीं है।

जीवेद्वर्षशते निरामयतनुः श्री विष्णुकान्तो मुदा।
भूयात्पूर्णमयंकचारुचरितः देशाम्बुधिश्चोच्छलः।
नैराश्यं तिमिरं दहेन्निजकरैः सूर्येव कञ्जप्रियः।
पातालं द्रवतान्निशाचरगजः सम्भुत्रिशूलार्दितः।।

शिवं भूयात्। ●

श्रीमोहन तिवारी

भक्तित्व, संतत्व एवं कर्मत्व का समुच्चय

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का व्यक्तित्व सहजता, सरलता एवं पाण्डित्य की त्रिकोणात्मक चेतना से निर्मित वह भव्य-स्फटिक-प्रासाद है जो आज के दिशाहारा युवावर्ग तथा स्वार्थ-संकुल, राजनीति प्रेरित भारतीय जनमानस एवं समाज को एक स्वस्थ तथा सहज अनुकरणीय दिशा प्रदान करता है।

शास्त्री जी रचित साहित्य को पढ़ने, उन्हें सुनने तथा समझने के उपरांत यह सहज ही ज्ञात होता है कि उनमें संतत्व की गंगा, कर्मत्व की यमुना एवं भक्तित्व की सरस्वती की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित हो रही है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके कृतित्व में स्पष्टरूपेण दृष्यमान होता है। शास्त्री जी के संतत्व, भक्तित्व और कर्मत्व का प्रमाण उनकी कविताओं में सन्निहित है।

आचार्य शास्त्री के व्यक्तित्व की केन्द्रीय धुरी है — अध्यापन-वृत्ति। शास्त्री जी कुशल वक्ता, प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, चिंतनशील लेखक, समाज-सेवी एवं संस्कृति कर्मी हैं किन्तु उनके सारे गुण जिस मूल वृत्ति से जुड़े हैं वह है उनका अध्यापकीय-व्यक्तित्व। अतः सामान्य रहन-सहन के साथ जब वे पूरी ईमानदारी एवं निष्ठा से अपने दायित्वों का निर्वाह करते हैं तो इसके पीछे एक सरल किन्तु सशक्त अध्यापक की ही पृष्ठभूमि है।

आचार्य शास्त्री जी का व्यक्तित्व अपने कार्मिक क्षेत्र, चाहे वह राजनीतिक हो, साहित्यिक हो अथवा आध्यात्मिक— सबमें अपने आदर्श की समुज्ज्वलता का आलोक विकीर्ण करता हुआ नैराश्य प्लावित जीवन के लिए पथ-प्रशस्त करता है।

शास्त्री जी के राजनीति में प्रवेश करने से हिन्दी-साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई। आजादी के बाद सर्वाधिक पतन राजनीतिक क्षेत्र में ही हुआ है। किन्तु इस क्षेत्र में रहकर उन्होंने जो प्रभा-मण्डल निर्मित किया है उसमें स्वार्थ की गंध नहीं बल्कि परमार्थ की किरणें फूटती हैं। अपनी अनासक्त राजनीति में उन्होंने प्रभु राम और प्रियजनों से कभी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रखा।

बाबा तुलसी ने प्रभु श्रीराम को अपने हृदय में अंकित किया तो शास्त्री जी ने श्रीराम और तुलसी दोनों को प्राणों में बसाया। पारिवारिक पृष्ठभूमि, बचपन का वातावरण, जीवन के प्रारम्भिक दिनों में काशी-बनारस की सत्संग मंडली, अथाह अध्ययन और श्रद्धेय गुरु स्वामी अखण्डानन्द जी का सान्निध्य उन्हें प्रभु-भक्ति का सहज अधिकारी बनाता है, किन्तु शास्त्री जी का मत कुछ और ही है। बाबा तुलसीदास ने पहले ही चेतावनी दे दी थी—

"बिनु सत्संग बिबेक न होई।
राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई।।"

शास्त्री जी ने इसे आत्मसात् किया— "भक्ति क्रिया साध्य नहीं, कृपा-साध्य है।" ●

डॉ० कमलेश जैन

ओज के शंख और आस्था की वंशी

आचार्यवर श्री विष्णुकान्त जी शास्त्री ने शैक्षणिक, आध्यात्मिक, सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र में अपने विशिष्ट योगदान के द्वारा विभिन्न पद व उपाधियाँ प्राप्त की हैं। 'शास्त्रैरपि व शस्त्रैरपि' के द्वारा भारतीय संस्कृति की सनातन परम्परा को पुष्ट करने का जो महत् यज्ञ प्रारंभ किया था उसकी सुरभि वातावरण को सुवासित कर सुहृद व सुधीजनों को अपूर्व आनन्द प्रदान कर उनका मार्गदर्शन कर रही है और करती रहेगी इसमें कोई संशय नहीं है। ओज के शंख का निनाद आस्था की वंशी में मधुर होकर सदैव गूँजता रहेगा। आर्ष संस्कृति के जीवन्त व देदीप्यमान स्वरूप में वेदों की ऋचा, उपनिषद् का ज्ञान, मध्यकालीन भक्ति भावना की सरसता व आधुनिक युग की नवीन कविता धारा का समवेत स्रोत प्रवाहित होता दिखाई देता है। इस प्रकार दिव्य व भव्य जीवन के स्वामी में सहृदयता व अपनत्व का जो भाव मुझे दिखाई दिया उसको यदि उजागर नहीं करूँगी तो मेरी उस भक्ति भावना को ठेस पहुँचेगी जिसने मुझे एक सार्थक जीवन जीने का आलंबन दिया। महाकवि कन्हैयालाल सेठिया के शब्दों में–

'उस विष का है अहसान बड़ा
जो मधु की याद दिलाता है
उस काँटे का सम्मान बड़ा
जो फूलों तक पहुँचाता है
यह धरती का इन्सान बड़ा
जो ख़ुद भगवान बनाता है।'

सन् १९७२ में मैंने सर्वप्रथम शास्त्री जी को अपने कॉलेज में एक प्रवक्ता के रूप में तुलसीदास जी की जयन्ती पर आमन्त्रित किया था और उस समय की उनकी भाव भंगिमा, गहन भावों की हृदयस्पर्शी वाणी व वात्सल्यपूर्ण आँखों में प्रेम की जो निर्झरणी बहती देखी थी कि वह छवि हृदयपटल पर सदा-सदा के लिए अमिट बन गई। एक आदर्श गुरु के रूप में एकलव्य की भावना के साथ मैं सदैव उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करती रहती थी। मैंने तभी उनसे स्वहस्ताक्षर का आग्रह करते हुए अपनी 'नोट बुक' उन्हें थमा दी। उन्होंने अपने आराध्य गोस्वामी तुलसीदास जी की पंक्तियों का जैसे अमोघ कवच मुझे पहना दिया।

'हरिए न हिम्मत, बिसरिए न हरि नाम'

मैं तो जैसे निहाल हो गई। जीवन के जटिल पथ को इसी ओजस्वी व आस्थापूर्ण मंत्र के द्वारा सहज व सरल बनाती हुई प्रभु को व गुरुवर को नित्य प्रणाम करती हूँ। मुझे सदैव यही अहसास होता था कि शायद शास्त्री जी को कभी भी मेरा स्मरण ही नहीं आता होगा कि कोई ऐसी भी छात्रा है जो मौन-मूक होकर उन्हें सदैव अर्चना के फूल चढ़ाती है। किन्तु मेरी इस धारणा को भी जैसे शास्त्री जी ने अन्तर्दृष्टि से जान लिया था और जब इसका साक्षात् हुआ तो मेरी आँखों से झरझर आँसू बहने लगे।

२००२ में महामहिम राज्यपाल (उत्तरप्रदेश) के रूप में वे महाजाति सदन के एनेक्सी हॉल में आए थे। श्री

बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय का ही कोई आयोजन था। थोड़ी देर हो जाने के कारण भीड़ में आगे निकलने का ख्याल छोड़कर मैं पीछे ही बैठ गई और वहीं से उन्हें प्रणाम कर लिया। विशिष्ट पत्रकार, गणमान्य अतिथियों एवं अपने सुरक्षाकर्मियों से घिरे गुरुवर के निकट जाना टेढ़ी खीर थी। अतः कार्यक्रम की समाप्ति होने पर मैं वहाँ से तुरंत ही निकल कर मुख्य द्वार के पीछे खड़ी हो गई। तभी अरुण मल्लावत जी ने कहा— 'आप कहाँ थीं ? सर आपका नाम लेकर पूछ रहे थे कि कमलेश नहीं दिखाई दे रहीं?' मेरा हृदय राजधानी मेल की गति से दौड़ कर उछाल भरने लगा था। कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था। राजनीति के शीर्ष पर विराजमान व विशिष्ट समस्याओं व परेशानियों से हमेशा घिरे रहने वाले महामहिम का दिल कितना बड़ा है कि मुझे मेरे नाम के साथ याद रख सके। कितनी प्रबल स्मृति है ? कितना अपनत्व व वात्सल्य हृदय में भरा है जो सबको समेटे हुए है? सबों को अपनी छाया में आश्वस्त कर उनकी पीड़ा को छू-मन्तर कर देना चाहते हैं। तभी शास्त्री जी अंगरक्षकों से घिरे हुए सीढ़ियों पर दिखाई दिये। मैं उनको प्रणाम करने के लिए आगे आई तो उन्होंने तुरंत कहा— 'बेटा, अभी मैं तुम्हारे ही बारे में पूछ रहा था, तुम मुझे दिखाई नहीं दी ? कैसी हो ?

बिना बोले ही आँखों के आँसुओं ने जैसे हृदय की चुगली कर दी। 'सर' आगे बढ़ गए किन्तु मैं तो जैसे वहीं की वहीं स्तब्ध होकर रह गई। भावनाओं का उमड़ता हुआ ज्वार जाने क्या कुछ न कहने को मचल उठा था? किन्तु वाणी ने साथ देना स्वीकार नहीं किया।

सचमुच शास्त्री जी के व्यक्तित्व का यह अद्‌भुत स्वरूप, स्मृति का यह उपहार व शिष्य के प्रति वात्सल्य का भाव उनके सद्‌गुरु होने का परिचायक है। एक कवि के शब्दों में—

'आदतें आपकी मिलती हैं
फरिश्तों से बहुत
खुद को मुमकिन हो तो
लोगों की झूठी कानाफूसी से बचाते रहिए
दूध चट्टान के सीने से
निकल सकता है
जिक्र जन्नत का भी दोजख में चलाते रहिए।' ●

निर्भय मल्लिक

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : गुरवे नमः

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की याद आते ही भारतीय आदर्श पुरुष की याद आ जाती है। शास्त्री जी राज्यपाल होकर शिमला चले गये थे। मैंने बधाई देकर उन्हें एक पत्र लिखा। शास्त्री जी का संक्षेप में उत्तर आया 'सब श्रीराम की कृपा है।' पत्र पढ़कर मन बहुत प्रसन्न हुआ। साहित्य हो या राजनीति, समाज-सेवा या देश सेवा शास्त्री जी अपने राम को कभी नहीं भूलते। 'सियाराममय सब जग जानी'— सब जगह सर्वदा उनके सियाराम उनके साथ रहते हैं।

हम सभी लोग जानते हैं कि शास्त्री जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के बहुत विख्यात तथा सफल अध्यापक रहे हैं। एम.ए. पास करने के बाद कुछ दिनों के लिए जयपुरिया कॉलेज और फिर कलकत्ता विश्वविद्यालय आये। बरसों वहीं वे पढ़ाते रहे। एक बात यहाँ उल्लेखनीय है कि शास्त्रीजी ने जीवन में कभी ट्यूशन नहीं किया।

जिन्होंने उनके सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन किया है, वे कभी उनको भूल नहीं सकते। शिक्षा का भारतीय आदर्श शास्त्री जी में कूट-कूट कर भरा है। तैत्तिरीय उपनिषद् ने आदेश दिया है 'स्वाध्यायन्मा प्रमदः', स्वाध्याय से यानी अच्छे ग्रन्थों के निरन्तर अनुशीलन से कभी प्रमाद मत करना। एक अच्छे अध्यापक के लिए निरन्तर स्वाध्याय करना आवश्यक है। शास्त्रीजी ने जीवनभर स्वाध्याय किया है और अभी भी स्वाध्याय करते हैं। शास्त्री जी की अपरिसीम विद्वत्ता के आधार वेदान्त और उपनिषद् हैं। समय-समय पर उनके प्रबन्ध विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं जिन्हें पढ़कर उनके विशाल ज्ञान का पता लगता है। कानपुर-विश्वविद्यालय में शिक्षा का भारतीय आदर्श के नाम से उन्होंने जो दीक्षान्त भाषण दिया था, वह अतीव ओजस्वितापूर्ण और मूल्यवान है। हिन्दी साहित्य के अध्यापक होते हुए भी संस्कृत भाषा और साहित्य से उनका गहरा लगाव है। संस्कृत भाषा और साहित्य के बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाकर उन्होंने समय-समय पर कलकत्ते में सम्मेलन भी करवाये थे। इस तरह के एक सम्मेलन में मैं भी शामिल हुआ था। स्वर्गीय प्रोफेसर जगन्नाथ सेठ के ऊपर इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए बाहर से आये हुए विद्वानों की देखभाल का भार सौंपा गया था।

मेरा एक स्वभाव था, जहाँ कहीं भी साहित्यिक चर्चा होती थी, विद्वानों और साहित्यकारों का समागम होता था वहाँ मैं अवश्य पहुँच जाता था। इसी तरह की एक साहित्यिक सभा हावड़ा के टाउन हॉल में हुई थी। मैं खबर पाते ही ठीक समय पर वहाँ पहुँच गया। कबीर और तुलसी के साहित्य को लेकर बहस हुई। एक विद्वान प्रोफेसर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आये थे। वे कबीर दास के समर्थक थे और खूब सम्भव कबीर दास को तुलसीदास से भी बड़ा मानते थे। मुझे यह तथ्य मालूम नहीं था। बहस शुरू हुई तो एक बार डॉ. लोढ़ाजी ने मुझे भी कुछ बोलने के लिए बुलाया। मेरे वक्तव्य के अन्त में जोरों से तालियाँ बजीं। सभा के अन्त में मैं सभागार से हटकर थोड़ा अलग बाहर खड़ा था। शास्त्रीजी मंच से उतर कर दौड़े हुए आये और मुझे अपनी छाती से लगाते हुए कहा— 'तुमने हमलोगों की लाज रख ली। बहुत अच्छा भाषण दिया है तुमने।'

शास्त्री जी को तर्क-वितर्क करना और साहित्यिक अड्डा में शामिल होना बहुत अच्छा लगता है। भुवनदास

की चाय की दुकान में हर रविवार को यह अड्डा लगता था। जगन्नाथ सेठ, चन्द्रदेव सिंह, आलोक शर्मा, बाबा नागार्जुन, छेदीलालजी, मृत्युंजय उपाध्याय और भी उस समय से बहुत से कवि और साहित्यकार उस चाय की दुकान में आते थे। शास्त्री जी के आते ही उनके ठहाके से चाय की दुकान गूंज उठती थी। रविवार को सबेरे अगर कोई आवश्यक काम नहीं रहा तो शास्त्री जी यहाँ जरूर आ जाते थे। बीच-बीच में कविता पाठ भी होता था।

शास्त्री जी बहुत ही उदार मानसिकता तथा उच्च विचार के व्यक्ति हैं। वे साहित्य में किसी दूसरे आदमी की बात को हू-ब-हू नहीं मान लेते। शास्त्रीजी के साहित्यिक प्रबन्धों को पढ़ने से साफ साफ जाहिर होता है कि वे डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा जैसे दिग्गजों के विचार से भी सब जगह सर्वदा सहमत नहीं होते। शास्त्रीजी की मेधा शक्ति और तार्किक बुद्धि बहुत ही प्रखर है। जबतक उनके तर्क पर किसी का सिद्धान्त ठीक नहीं उतरता, वे उसे ग्रहण करने को कतई तैयार नहीं होते। शास्त्री जी में यह एक मौलिक साहित्यिक गुण है।

निराला, नागार्जुन, अज्ञेय, केदार नाथ अग्रवाल, धर्मवीर भारती इत्यादि हिन्दी के सभी प्रसिद्ध कवियों की कविताओं में ईश्वर तत्व और अध्यात्म की खोज करते हैं शास्त्री जी। शास्त्रीजी ने कई निबन्ध लिखे हैं जहाँ यह बात देखी जा सकती है। 'बन शरण का उपकरण मन : निराला' पंक्तियाँ इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं—

'आध्यात्मिकता और भक्ति चेतना हिन्दी के प्रतिनिधि काव्य में निराला, पन्त, दिनकर, बच्चन, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, कुंवर नारायण जैसे वरेण्य कवियों की कृतियों में प्रतिफलित होती रही।' शास्त्री जी के ऐसे और भी प्रबन्ध है जहाँ उन्होंने हिन्दी के बहुत से प्रतिनिधि कवियों की कविताओं में भक्ति चेतना और आध्यात्मिकता को रेखांकित किया है।

शास्त्रीजी सफल अध्यापक तथा साहित्यकार होने के अलावा तनमन से देश भक्त हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय में सभी विभाग के शिक्षकों ने जब एम.सी.सी. का दायित्व लेने से इनकार किया तो शास्त्रीजी ने सहर्ष इस गुरु दायित्व को स्वीकार किया। मिलिटरी की पोशाक में जब वे मीरा की पदावली पढ़ाने क्लास आते थे तो आनन्द आ जाता था। खुद ही हँसते हुए कहते थे— 'आज मैं हिंसा की पोशाक पहन तुम लोगों को अहिंसा की कविता पढ़ाने आया हूँ।'

जब बंगला देश में मुक्तियुद्ध चल रहा था हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार तथा धर्मयुग के सम्पादक डॉ. धर्मवीर भारती के साथ आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भी बंगलादेश गये थे। वहाँ यह ध्यातव्य है कि तब बंगला देश में युद्ध की आग बुझी नहीं थी। ऐसे समय में वहाँ जाना कम खतरे की बात नहीं थी।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री समाज में हर श्रेणी के व्यक्ति के प्रिय हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी और बंगला दोनों भाषा-भाषियों के लोग उन्हें समानरूप से प्यार करते हैं और श्रद्धा करते हैं।

हमारे धर्म शास्त्र में लिखा है कि एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र नहीं जानता— 'एक शास्त्रं अधीयानः न किञ्चिदपि शास्त्रं विजानाति।' अतएव आदमी को बहुत से शास्त्रों को जानना चाहिये और बहुश्रुत होना चाहिये। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री बहुश्रुत विद्वान हैं। इनके जैसा बहुश्रुत विद्वान और पंडित मिलना दुर्लभ है। परमपूजनीय गुरु शास्त्रीजी को शत शत प्रणाम। ●

कृष्ण स्वरूप दीक्षित

जनु जोगीं परमारथु पावा

मैं गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री को अपना गुरु मानता हूँ कुछ उसी प्रकार जैसे एकलव्य आचार्य द्रोण को। मैं संगीत कलामंदिर द्वारा आयोजित ब्रह्मलीन पं० राम किंकर उपाध्याय का प्रवचन स्थानीय महादेवी बिड़ला हायर सेकेन्डरी स्कूल में सदा की भाँति ४ जनवरी १९८७ को सुनने गया था। मैं सदा की ही भाँति भूमि पर बिछे हुए बिछौने पर अगली पंक्ति में बैठा था कि अचानक जो व्यक्ति मेरे पास आकर बैठ गया वह कोई और नहीं मेरे आदर्श शास्त्रीजी ही थे। मैं इस अनुभूति से रोमांचित हो गया। मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने स्वाभाविक रूप से आशीर्वाद दिया।

मुझमें एक दोष है कि जब कोई विद्वान व्याख्यान दे रहा होता है तो यदि वह विषय अथवा वे उद्धरण मुझे याद हों तो मैं प्रवचनकर्ता के साथ साथ गुनगुनाता रहता हूँ। इतने बड़े राम भक्त और प्रकाण्ड विद्वान का सामीप्य भी मुझे इस दोष को करने से नहीं रोक पाया। 'दोषउ गुन सम कह सबु कोई।' कुछ ऐसा ही मेरे साथ उस दिन घटा। कथा समाप्त होने पर शास्त्रीजी ने मुझसे मेरा नाम एवं परिचय पूछा और मुझे अपने घर पर मिलने के लिए बुलाया। उन्होंने कहा कि उन्हें इस बात पर प्रसन्नता है कि मुझे रामचरित मानस कंठस्थ है। मुझे उस समय ऐसी ही अनुभूति हुई जैसे श्री भरतजी को श्रीराम के चित्रकूट आश्रम में प्रवेश करने पर हुई होगी। अतः यही इस संस्मरण का शीर्षक मुझे उचित लगा।

बिना कोई बिलम्ब के अगले दिन प्रातः ही मैं शास्त्रीजी से मिलने उनके निवास पर गया। किसी बड़े व्यक्ति से मिलने की कुछ औपचारिकताएँ होती हैं, उन्हीं का निर्वाह करते हुए मैंने एक कागज पर अपना नाम लिखकर एक सेवक द्वारा ऊपर भिजवाया। उस समय मेरे सुखद आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब कृपामूर्ति गुरुवर अपने कक्ष द्वितल से उतरकर नीचे एक तल पर आए और कहा कि 'जिसको राम जी प्रिय हैं वह मुझे बहुत प्रिय है अतः तुम्हें मेरे पास आने के लिए आज्ञा की आवश्यकता नहीं है।'

दिन बीतते रहे और मैं नहीं जान पाया कि मैं कब उनके निकट, निकटतर और निकटतमों में से एक हो गया; कब मैं इस द्रोणाचार्य का अर्जुन बन गया।

मुझे स्मरण है एक बार भारतीय जनता पार्टी के तत्कालीन महामंत्री स्व० कुशाभाऊ ठाकरे जी से मेरा परिचय शास्त्री जी ने यह कह कर कराया 'यह कृष्ण स्वरूप दीक्षित मेरे शिष्यवत् है' मैंने कहा 'सर मैं 'वत्' शब्द के हटने की प्रतीक्षा करूँगा' इस पर गुरुवर ने तुरन्त 'वत्' हटा दिया और कहा 'आज से तुम मेरे शिष्य हो गए।

इसी वर्ष १४ अगस्त को जब शास्त्री जी दीनदयाल शोध संस्थान में व्याख्यान देने के लिए दिल्ली गए तो उस समय मैं दिल्ली में ही था। स्टेशन पर जब संस्थान के अधिकारियों से मेरा परिचय शास्त्री जी ने 'पुत्रवत् शिष्य के रूप में कराया तो मुझे बड़ा सुख मिला। यद्यपि इस 'वत्' के हटने की भी मैं प्रतीक्षा करूँगा।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एक स्वच्छ कुशल राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक, हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ

विद्वान, विशेषरूप से तुलसी साहित्य के उद्भट व्याख्याता, एक प्रभावी वक्ता एवं अत्यंत विनम्र व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं।

यह सर्वविदित है कि शास्त्रीजी भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त हैं साथ ही वेदान्त में उनकी अत्यंत गहरी पैठ है। कोलकाता स्थित साहित्यिक, सामाजिक संस्था श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय ने अपने कौस्तुभ जयन्ती वर्ष में शास्त्रीजी से एक प्रवचन श्रृंखला आरम्भ करने का अनुरोध किया, और शास्त्रीजी ने अत्यंत व्यस्तताओं के रहते हुए भी अपने छात्र, छात्राओं के हठ के फलस्वरूप प्रवचन करना स्वीकार कर लिया। पुस्तकालय के कक्ष में ही सर्वप्रथम फरवरी १९९४ में शुक्ल यजुर्वेद स्थित प्रथम उपनिषद् ईशोपनिषद् पर प्रवचन प्रारम्भ हुए। मुझे चौथे प्रवचन में इसकी सूचना मिल सकी और उस श्रवण का मुझ पर ऐसा असर हुआ कि पुस्तकालय में ही नहीं, कहीं भी मुझे शास्त्रीजी को सुनने का अवसर यदि प्राप्त हुआ तो मैंने उसका लाभ लिया। विष्णुकान्त जी के प्रवचनों में जो विशेष बात है वह यह है कि श्रोताओं को ऐसा लगता है कि वे किसी कक्षा में बैठे हों और अध्यापक उन्हें पढ़ा रहा हो। विषय कितना भी गहन क्यों न हो, आचार्यवर उसको बिलकुल सरल भाषा में ऐसे रखते हैं कि वह श्रोताओं के अन्तर में उतर जाता है।

अधिकतर प्रवचनकर्ता किसी न किसी विशेष मत का अवलम्बन करते हैं पर शास्त्रीजी यद्यपि ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्दजी के शिष्य हैं और निश्चित रूप से उनका मत श्रोताओं के सामने प्रस्तुत करते हैं पर साथ ही साथ अनेक विद्वानों, उदाहरणतः भगवान आदि शंकराचार्य, यामुनाचार्य, निम्बार्काचार्य, माधवाचार्य, महात्मा गाँधी, आचार्य विनोबाभावे, सत्यदेव शास्त्री, दीनदयाल उपाध्याय आदि के मत भी सामाजिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करके अपने श्रोताओं को परोसते हैं साथ ही उनके अपने मत में भी उसका क्या अर्थ है, वह भी श्रोताओं को बताते हैं। इतने विद्वानों को पढ़ना उनका मत जानना समझना इस बात को दर्शाता है कि श्री शास्त्रीजी का कितना वृहद् एवं गहन अध्ययन है आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों का। वे कितना परिश्रम करते हैं इस बात के लिए कि उनके श्रोता गहन विषयों को स्पष्टतः समझ सकें।

ईशोपनिषद् पर अठारह प्रवचनों के पश्चात् श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय में शास्त्रीजी के पचपन प्रवचन श्रीमद्भगवद्गीता पर हुए। मैं भाग्यशाली हूँ कि मुझे प्रत्येक प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला।

सत्य तो यह है कि शास्त्रीजी का राजनैतिक व्याख्यान भी वस्तुतः आध्यात्मिक प्रवचन जैसा ही होता है। अर्थात् किसी भी विषय पर उनका व्याख्यान आध्यात्मिक पुट के बिना नहीं होता।

यद्यपि विष्णुकान्तजी 'जीवो ब्रह्मैव न परः' का निरूपण करते हैं पर वे भक्त हृदय ही हैं और यह मानते हैं कि प्रभु की जैसी इच्छा होती है वह कार्य करा लेते हैं। 'भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' शास्त्रीजी की मान्यता है कि कर्म फलेच्छा से नहीं करना चाहिए। जो लोग फल की प्राप्ति के लिए कर्म करते हैं वे तो नौकर हैं काम मस्तिष्क की तरह करना चाहिए, जैसे कि भगवान करते हैं और इसीलिए कर्म उनको लिप्त नहीं होते।

स्वयं आदरणीय शास्त्रीजी की चतुष्पदी देखिए—

तुम्हीं काम देते हो स्वामी, तुम्हीं उन्हें पूरा करते हो,
असफलता के दारुण क्षण में, अश्रु पोंछ पीड़ा हरते हो।
कभी-कभी अचरज होता है, इतना अगुणी होने पर भी,
कैसे, क्योंकर तुम मुझ पर यों कृपा-मेघ जैसे झरते हो।।

(जीवन पथ पर चलते-चलते, पृ० ७५)

सदा 'श्रीराम जय राम जय जय राम' रटने वाले शास्त्रीजी भगवान से यही प्रार्थना करते हैं—

सौंस सौंस में रटूँ राम मैं नाम तुम्हारा
सौंस सौंस में बुनूँ रूप मैं राम तुम्हारा।
सौंस सौंस में झलकाओ तुम अपनी लीला
सौंस सौंस में रमो बने यह धाम तुम्हारा।। (जीवन पथ पर चलते-चलते, पृ० ६६)

अपनी सफलताओं और असफलताओं को भी विष्णुकान्त जी रामजी कृपा ही मानते हैं। भगवान की कृपा के लिए वे कहते हैं—

तू अमंगल वेष में मंगलमयी है
क्रोध की तो भूमिका करुणामयी है
तू कराती तप रुला उर द्रवित करती
प्रभु-कृपा तू सच बड़ी क्रीड़ामयी है। (जीवन पथ पर चलते-चलते, पृ० ६५)

वेदान्त के इतने बड़े विद्वान शास्त्रीजी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि वे उतने ही बड़े भक्त हैं।

'तत्त्वमसि' वह तुम्हीं हो की अनुभूति के उपरान्त भक्ति के लिये द्वैत की कल्पना ब्रह्मीभूत विष्णुकान्त जी शास्त्री की विशेषता है।

शास्त्री जी से मैंने क्या क्या लिया है, क्या क्या पाया है इसकी गणना नहीं की जा सकती। उनके चरणों में मेरा कोटि कोटि नमन ●

प्रणम्य है उनका आचार्यत्व

आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री का व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे सुप्रसिद्ध साहित्यकार, कुशल वक्ता, श्रेष्ठ सामाजिक कार्यकर्त्ता, निष्कलंक राजनेता और वरिष्ठ आध्यात्मिक प्रवचनकार हैं; किन्तु इस सब स्वरूपों से भी पहले हैं— वे वरेण्य आचार्य। उनका आचार्यत्व उच्च कोटि का है; जिसको हमारे यहाँ 'आचार्य देवोभव' कहकर प्रणम्य माना जाता रहा है। यह आचार्यत्व उन्हें अपनी वंश-परम्परा से भी मिला और अपने श्रेष्ठ आचार्यों के सान्निध्य से भी। अपनी गहन निष्ठा, कठोर परिश्रम, सतत साधना तथा समर्पण से उन्होंने इसे विरासत में पाया है।

—कृष्णकुमार अष्ठाना

डॉ० उषा द्विवेदी

स्मृतियों के वातायन से

गुरुवर शास्त्री जी के बारे में कुछ भी लिखते समय लेखनी ठिठक जाती है। जिस पद पर वे आसीन हुए, वह पद उनको पाकर धन्य हो गया। साहित्यिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं प्रशासनिक आदि विविध क्षेत्रों में अपनी कार्यशैली द्वारा उन्होंने अपनी अलग पहचान बनायी है। ऐसे गुरुवर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का असीम स्नेह मुझे मिला, उसे मैं अपने पूर्वजन्म के संचित कर्मों का पुण्यफल ही मानती हूँ। मेरे जीवन में कई ऐसे क्षण आए हैं जब गुरुवर की स्नेह-दृष्टि ने विषमताओं से जूझने की शक्ति प्रदान की है। अपने विद्यार्थियों को उन्होंने अपने असीम स्नेह एवं विश्वास की पूँजी सौंपी है।

यह मेरे लिये सौभाग्य की बात थी कि श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय में ईशावास्योपनिषद पर हुए उनके प्रवचनों को टेप से उतारने का दायित्व मुझे सौंपा गया। उसे लिखते समय मुझे जिस आनन्द की अनुभूति हुई उसका शब्दों में वर्णन करना संभव नहीं। प्रत्येक प्रवचन में ज्ञान का जो निर्झर प्रवाहित हुआ है, उसका अनुभव सुनने वाला ही कर सकता है। लेखन के क्रम में एक ही पंक्ति को कई बार सुनना पड़ता था ताकि कहीं कोई शब्द छूट न जाए। एक-एक शब्द के सूक्ष्म-से सूक्ष्मतर अर्थ के अद्घाटन का जो कौशल गुरुवर में है वह अतुलनीय है। कई बार उन्होंने प्रचलित शब्दों का जिस तरह से नया अर्थ गढ़ा है वह उन जैसे कुशल शब्द-शिल्पी के नैपुण्य का परिचय देता है। 'ईशावास्योपनिषद के उन अट्ठारह मंत्रों के कुल अट्ठारह प्रवचन हुए थे। उनके लिखने पर गुरुवर का जो अगाध स्नेह एवं आशीर्वाद मुझे प्राप्त हुआ है, उसका स्मरण कर मैं आज भी रोमांचित हो उठती हूँ। भरी सभा में भीड़ के बीच मेरे सर पर वरद्-हस्त रखते हुए गुरुवर ने मेरी प्रशंसा की। अपने से छोटों को इतने बड़प्पन से भर देना उन जैसे महान् व्यक्तित्व की महनीयता का परिचायक है। ये समस्त प्रवचन बाद में 'ज्ञान और कर्म' पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए।

मित्रवर डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी की पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास और अमृतलाल नागर' का लोकार्पण समारोह लखनऊ राजभवन में होना तय हुआ। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय की कार्यकारिणी के हम सभी सदस्य सोत्साह लखनऊ पहुँचे। वहाँ महामहिम राज्यपाल के रूप में गुरुवर शास्त्री को देखकर हम स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते रहे। हम सभी सदस्यों ने अनुभव किया कि अपने बेहद व्यस्त कार्यक्रम के मध्य भी वे हम लोगों के रहने, खान-पान की व्यवस्था तक का पूरा ध्यान रखते थे। १८ अगस्त २००३ को प्रातः उन्नाव में एक साहित्यिक कार्यक्रम में पुस्तकालय के पूर्व अध्यक्ष श्री जुगलकिशोर जैथलिया एवं वर्तमान अध्यक्ष डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी को सम्मानित किया गया था। महामहिम राज्यपाल गुरुवर शास्त्री जी इस कार्यक्रम की अध्यक्षता करने वाले थे। तय हुआ कि प्रातःकाल नौ बजे हम सभी लखनऊ से उन्नाव पहुँचेंगे। नियत समय पर सभी तैयार होकर राजभवन के मुख्य द्वार पर पहुँचे अकस्मात् मुझे किसी कार्यवश अपने कक्ष में आना पड़ा। राज्यपाल अपनी गाड़ी में बैठने जा रहे थे उन्होंने ध्यान दिया कि उस काफिले में मैं नहीं थी। समस्त प्रोटोकाल को ताक पर रख कर वे मेरी प्रतीक्षा करते रहे। श्री अरुण मल्लावत लगभग दौड़ते-हाँफते जब मुझे लेकर मुख्य द्वार पर पहुँचे तो गुरुवर ने अत्यन्त स्नेह

से कहा— 'बेटा! ये सब आज भी तुम्हें छोड़े जा रहे थे। लेकिन मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था।' मैं अपनी लेट-लतीफ़ी पर बड़ी लज्जित हुई। गुरुवर का स्नेह मन को अभिभूत कर गया। जिनका एक-एक क्षण इतना मूल्यवान था वे मेरे लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। अपने सौभाग्य पर मैं इतरा उठी।

१८ अगस्त २००३ को सायं अत्यन्त समारोहपूर्वक डॉ० त्रिपाठी की पुस्तक का लोकार्पण हुआ। लखनऊ के अनेक विद्वान, साहित्यिक इस कार्यक्रम में आए। गुरुवर जिस आत्मीयता से पूरे आयोजन की सफलता हेतु प्रयत्नरत रहे, वह देखकर हम सभी अत्यन्त हर्षित हुए। कार्यक्रम की समाप्ति पर उस विद्वत्-मंडली से हम सभी का परिचय करवाते समय उन्होंने 'ज्ञान और कर्म' पुस्तक का पूरा श्रेय ही मुझे दे डाला। वह मेरे जीवन का अविस्मरणीय क्षण है। मैं उनकी उदारता के सम्मुख सचमुच नतमस्तक हूँ। मेरे छोटे से कार्य को उन्होंने कितना महत्त्व दिया उसका वर्णन कर पाना मेरे लिए असंभव है। उसी दिन रात्रि-भोज के समय कविता और गीतों का दौर चला। राजभवन के परिचारक अपने महामहिम को उन्मुक्त ठहाके लगाते देख अचंभित रह गए। रात ग्यारह बजे तक हमारी वह कविता और गीत की महफ़िल चलती रही। गुरुवर के उद्‌गार थे— 'शाम के कार्यक्रम से भी ज्यादा सफल यह कार्यक्रम रहा।'

मेरे जीवन में अनेक ऐसे क्षण आए हैं जब मैंने उनके स्नेहाशीर्वाद की शीतल छाया में स्वयं को सुरक्षित पाया है। इसी वर्ष जून मास में अस्वस्थ होने के कारण मुझे स्थानीय नर्सिंग होम में भर्ती होना पड़ा। गुरुवर को जब मेरे अस्वस्थ होने की सूचना लखनऊ राजभवन में मिली तो उन्होंने तुरन्त मेरे घर पर फोन किया। मेरी छोटी बहन से यह जान कर कि मेरे पास अस्पताल में मोबाइल फोन रहता है उन्होंने तुरन्त संपर्क किया। मैं जितने दिन भर्ती रही वे रोज सुबह मेरी खबर लेते रहे साथ ही कहते— 'बेटा मैं पूजा पर बैठा हूँ। तुम्हारे शीघ्र स्वस्थ होने के लिये ईश्वर से प्रार्थना कर रहा हूँ।' मुझे विश्वास है कि दवाओं से ज्यादा गुरुवर के आशीर्वाद ने मुझे शीघ्र स्वस्थ किया।

मेरी स्मृतियों के अक्षय-कोष में ऐसे अनेक प्रसंग सुरक्षित हैं जब मैंने उनका असीम वात्सल्य पाया है। किसी भी कार्यक्रम में जब संचालन का दायित्व मुझ पर आता है तो मैं उनका आशीर्वाद लेना नहीं भूलती। गुरुवर ने कार्य करने के पहले 'होमवर्क' करने का जो गुरुमंत्र दिया है, उसी की प्रेरणा से सामने आई चुनौतियों में अपने को झोंक देने का संकल्प मुझमें दृढ़ हुआ है। वे मेरे मानस-पिता हैं। उनके अमृत महोत्सव पर मैं प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि वे अनेक शरदों तक मुझ पर अपने स्नेह-चंदन की वर्षा करते रहें। ●

दुर्गादत्त सिंह

आचार्य शास्त्रीजी : एक चुम्बकीय व्यक्तित्व

काशीपुर रोड! सायंकाल का समय। आज से २० वर्ष पूर्व, हाथों में बैग लिए, कुर्ता-धोती, चप्पल, बड़ी सी चोटी, लम्बे डग भरते सड़क पर ठिठक कर रुके। मैंने श्रद्धा से चरण स्पर्श किया। डॉ० चन्द्रदेव सिंह ने परिचय करवाया और गुरुवर शास्त्रीजी ने मुस्कराते हुए पीठपर आशीष की थपकी दी। प्रथम स्पर्श ही ऐसा कि शरीर, मन, आत्मा ने पवित्रता का अनुभव किया हो; 'यस्य सन्निधिमात्रेण चिदानन्दायते मनः'।

कुमारसभा पुस्तकालय में श्रीमद्भगवतगीता का प्रवचन सुनता, बहुत अच्छी तरह समझाते, पता ही नहीं चलता समय कैसे बीत गया। घर पर एक सुबह मिलने गया, गुरुवर योगासन कर रहे थे। मैं डॉ० चन्द्रदेव सिंह के साथ बाधक बना, परंतु चेहरे पर कोई आभास नहीं। मुसकराते हुए बिठाया, कुशल-क्षेम पूछा। फिर चाय और कुछ काम की कुछ राम की बातें। अच्छा लगता है गुरुवर का सान्निध्य।

करगिल युद्धोपरांत क्षत्रिय समाज ने भारतीय सेना को अपनी हार्दिक शुभकामना देने के लिए एक जुलूस की तैयारी की। कई कारें, सौ से ज्यादा तिरंगा झंडा एक तरफ, समाज का झंडा एक तरफ, बहुत सुंदर दृश्य बना। शुभकामना यात्रा के लिए गुरुवर से अनुरोध किया कि वे काशीपुर से हरी झंडी दिखाकर रवाना कर देवें। जुलूस पूरे शहर में घूमेगा। आपने कहा कि मैं यहां नहीं रहूँगा इसलिए आना संभव नहीं। लेकिन, सुनो! तुमको संचालन में ये पंक्तियाँ कहनी हैं—

'जहाँ शस्त्र बल नहीं शास्त्र पछताते था रोते हैं, ऋषियों को भी तभी सिद्धि तप से मिलती है, पहरे पर जब स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं।' तभी डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी की पंक्तियों को सुनाते हुए आदरणीय प्रेम शंकर जी बोले—

'हमीं वृंदा विपिन में श्याम बन मुरली बजाते हैं, / हमीं ब्रजवीथियों में रास की लीला रचाते हैं।
मगर जब राष्ट्र के सम्मान पर आघात होता है, / हमीं गीता सुना करके, सुदर्शन भी उठाते हैं।।"

जब मैंने उपरोक्त पंक्तियाँ पढ़ीं तो तालियों की गजब गड़गड़ाहट हुई।

प्रभु श्रीराम की कृपा से गुरुवर पहले हिमाचल प्रदेश में फिर उत्तरप्रदेश में राज्यपाल का दायित्व सम्भालते आए। जहाँ राम जन्मभूमि है। वहीं श्रीरामलला के लिए रामभक्त का शुभसंकल्प 'मंदिर वहीं बनाएँगे'। और अचानक मार्च अप्रैल २००२ में राष्ट्रपति शासन लागू होने से आचार्यजी पर दो दायित्व एक साथ आगये, मुख्यमंत्री और राज्यपाल का। तभी शिलापूजन का कार्यक्रम बना। गुरुवर की प्रशासनिक कुशलता से सारा आयोजन शान्तिपूर्वक सुसम्पन्न हो गया। उस दौरान बराबर टी. वी. और अखबारों में हम चिंताजनक बातें पढ़ते थे। आचार्य जी के स्वभाव से हम सभी परिचित थे। लेकिन वाह-वाह रामजी—कैसे कौशल से सारा तनाव फुर्र कर दिया।

राजभवन गए हम सभी मिलने गये— देखता हूँ महामहिम पंखा की हवा में बैठे हैं। बत्ती भी वही चल रही है जो ज़रूरी है। एयरकन्डीशन बंद, बिजली का उचित व्यय, अपव्यय बंद। राजकीय आदेश यह कि जब तक प्रांत की बिजली व्यवस्था नहीं सुधरती कोई प्रशासनिक अधिकारी एयर कंडीशनर नहीं चलाएगा। बिजली आवंटन में

भी न्यायोचित व्यवस्था लागू की गई। हम सभी जब मिले— गुरुदेव पसीने में भीगे हुए काम कर रहे थे। ठंडा शर्बत आया, पीते हुए चर्चा रामलला की चली। और उनकी प्रशंसा में हम सभी लगे कि तुरंत उन्होंने कहा— इधर आओ। सामने, जहाँ वो बैठे थे, तीन तस्वीरें रखी थीं। कनक भवन के श्रीराम सीताजी की तस्वीर हनुमानगढ़ी के हनुमानजी की तस्वीर, बोले, प्रणाम करो। फिर कहा, जानते हो मैंने कुछ नहीं किया, जो कुछ किया हमारे प्रभु श्रीराम ने किया। पुरुषार्थ करता हूँ, कर्त्तव्य पालन वही करवा देते हैं।

कर से करम करहु विधि नाना। मन राखो जहाँ कृपानिधाना।।

मेरे दो पुत्रों का विवाह दिसम्बर २००३ को सम्पन्न हुआ। विवाह के पाँचवें दिन साध्वी ऋतंभरा जी को इंदिरा विष्णुकांत शास्त्री मातृशक्ति सम्मान देने गुरुवर पधारे। मैंने घर पधारकर नव दम्पतियों को आशीर्वाद देने का अनुरोध किया। गुरुवर ने एक दिन पूर्व ही अपने भाई की तेरहवीं सम्पन्न की थी। परन्तु निश्चित कार्यक्रम के अनुसार आकर सम्मान दिया और मुझे सूचना दी कि मेरे भाई का स्वर्गवास हुआ है, मैं कल ही सारे संस्कारों से मुक्त हुआ हूँ। तुम्हारे घर मांगलिक कार्य हुआ है कोई असंगत बात लगे तो मैं फिर कभी आ जाऊँगा। मैंने उनकी संवेदना को समझा। शायद वो अच्छी तरह जानते हैं कि हिन्दू परिवारों में अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, दकियानूसी प्रवृत्ति धर्म के ऊपर भी शासन कर लेती है। जबकि अन्तिम संस्कार में हवन के उपरान्त सब शुद्धि हो जाती है और व्यक्ति सामान्य जीवन यापन करने लगता है। गुरुवर की इस सूचना ने मुझे थोड़ा चिंतित किया। हमारे कुलगुरु परमपूज्य आचार्य श्री शीतला प्रसाद शास्त्री कान्यकुब्ज पीठाधीश्वर कानपुर आश्रम से पधार कर सारे समारोहों में सक्रिय रहे थे। सो मैंने इस बाबत उनकी आज्ञा माँगी। कुलगुरु ने कहा— कोई श्रोत्रिय, धर्मनिष्ठ, प्रकांड विद्वान एवम् रामभक्त हो उसकी चरणरज नव वर-वधू ही नहीं वरम् तुम्हारा परिवार, कुटुम्ब, मित्रवर्ग प्राप्त करके पुण्य लाभ करेगा, अतः शीघ्र सूचना भेजो कि महामहिम राज्यपाल अपने कार्यक्रम को अपरिवर्तित रखते हुये काशीपुर अवश्य पधारें।

गुरुवर पधारे, बिना रुके चार तल्ला चढ़ कर, बिना हाँफे मुस्कुराते हुये मेरे घर पर माँ दुर्गा के मंदिर में जा कर बैठ गये। वहाँ मंत्रोच्चार किया, माता के श्रीविग्रह को पुष्पहार चढ़ाया और समारोह में जा पहुँचे। हम सब कृतकृत्य हो गये। बच्चों व नव-वधुओं समेत सभी उपस्थित जनों के साथ तस्वीरें खिचवाईं, आशीर्वाद दिया और इस शुभ मांगलिक अवसर पर साध्वी ऋतम्भरा जी को मेरे द्वारा प्रदत्त दान राशि की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सारा वातावरण पवित्रता, शुचिता से युक्त गरिमापूर्ण लग रहा था। सभी के चेहरों पर प्रसन्नता झलक रही थी। केवल सुरक्षाकर्मी भन-भना रहे थे कि चार तल्ला पैदल चढ़ा दिया। वो क्या जानें— जो योगी आध्यात्मिक ऊँचाइयों को लाँघता हुआ ब्रह्मसाक्षात्कार कर चुका हो उसके लिये भौतिक ऊँचाइयाँ क्या मायने रखती हैं? बरबस मुझे सुन्दरकाण्ड की चौपाई याद आगई जब बजरंग बली ने माता जानकी से कहा कि— 'अब कृत्य कृत्य भयऊँ मैं माता। आसिस तव अमोघ विख्याता' मैं सपरिवार सकुटुम्ब कृतकृत्य था।

जैसे कोई चुम्बक लोहे को खींचता हो ऐसा है उनका व्यक्तित्व।

शास्त्रीजी को देखने से मन प्रमुदित हो जाता है। उनकी अमृतमयी वाणी का श्रवण कानों से हृदयस्थल तक को पवित्रता से भर देता है। उनके श्रीचरणों का साधारण-सा स्पर्श कृतकृत्य कर देता है। कितने सौभाग्यशाली हैं वो सभी जो परम पूज्य शास्त्री जी का बराबर सान्निध्य प्राप्त करते रहते हैं। अमृत महोत्सव पर माँ दुर्गा से यही प्रार्थना है कि आचार्यश्री सक्रिय रहें और शतायु हों। ●

राजेन्द्र उपाध्याय

कवि और साहित्यकार पण्डित विष्णुकांत शास्त्री

पं० विष्णुकान्त शास्त्री— निराला, महादेवी और अज्ञेय जैसे कवियों को उनकी कविताएँ पढ़कर सुना चुके हैं। दिल्ली में निर्मल वर्मा को ज्ञानपीठ सम्मान प्रदान करने के बाद उन्होंने अज्ञेय, निराला, भवानीप्रसाद मिश्र, बच्चन, नागार्जुन और शिवमंगल सिंह 'सुमन' की कविताओं का पाठ करके श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। वे एक साथ लेखक, वक्ता, प्रवचनकार और कवि हैं।

काव्यपाठ को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनका मानना है कि कविता का मौन पाठ सिर्फ शब्द के अर्थ तक ही ले जा पाता है, उसके बाद सौन्दर्य को व्यक्त नहीं कर पाता है। कविता को वे अपनी शक्ति मानते हैं। वे काव्य मीमांसाकार राजशेखर की तरह मानते हैं कि कविता लिखना उतना कठिन नहीं है लेकिन काव्यपाठ करना वही जानता है जिसको सरस्वती सिद्ध हो। कई बार देखा गया है कि मूल कवि को ही उसकी कविता याद नहीं रहती है। शास्त्री जी उसको ही कविता सस्वर सुनाकर उसे चमत्कृत कर देते हैं। उनके धाराप्रवाह और सम्मोहक व्यक्तित्व के अच्छे अच्छे लोग सहज प्रशंसक हो जाते हैं। उद्भट वक्ता और विद्वान के कारण वे सबके श्रद्धेय हैं। मैं कलकत्ते में एम. ए. हिन्दी का उनका विद्यार्थी रहा हूँ, तब उनके मुख से सैकड़ों कविताएँ सुनने का सौभाग्य मिला है। कबीर, तुलसी तो वे पढ़ाते ही थे, जायसी, रहीम भी उनके मुख से खूब सुना था, लेकिन विषय से हटकर वे अज्ञेय, नागार्जुन, त्रिलोचन, अजीतकुमार और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की भी कविताएँ सुना देते थे। धर्मवीर भारती की भी कई कविताएं उनको कंठस्थ हैं। बंगला के रवीन्द्रनाथ ठाकुर, काज़ी नजरुल इस्लाम और जीवनानन्द दास जैसे कवियों की कविताएँ उन्हें मूल के साथ अनुवाद में भी याद हैं।

२६ जनवरी, १९७२ का गणतन्त्र दिवस राजधानी दिल्ली के उन साहित्यकारों और मित्रों को अब भी याद होगा, जब उन्होंने श्रीमती रमा जैन (स्वर्गीय) के निमंत्रण पर उस दिन ६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मूल बंगला के साथ-साथ हिन्दी अनुवाद पाठ सुना और प्रत्येक रचनाकार के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संबंध में उनकी टिप्पणियाँ सुनी थीं।

भारतीय ज्ञानपीठ ने इन कविताओं को इतिहास के जीवन्त दस्तावेज के रूप में "संकल्प-संत्रास-संकल्प" नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित किया है, जिसमें ५६ कविताएँ बंगलादेश के कवियों की दी गई हैं। इन कविताओं में से अधिकांश बंगलादेश के मुक्ति संग्राम के दौरान २५ मार्च, १९७१ से १६ दिसम्बर १९७१ के मध्य लिखी गई थीं। इन कविताओं से वहाँ की जनता का मनोबल बढ़ाने में मदद मिली थी। अँधेरे को चुनौती देती ये कविताएँ गहराते अँधेरे के बीच विद्रोह की किरणें थीं। इन्होंने 'रक्तरंजित भोर' दिलाने में मदद की थी। कुछ कविताओं में तो अनुवादक ने शिल्प की नवीनता, चित्र उतार लेने की क्षमता तथा अनुभव की तीव्रता के कारण सहज ही ध्यान खींचा है। बंगलादेश के मुक्तियुद्ध के सहयोगी के रूप में बंदूक न चला पाने के क्षोभ को एक हद तक दूर करने का प्रयास शास्त्री जी ने 'कलम' चला कर किया। युद्ध के दौरान और विजय के बाद भी वे कई बार स्वतंत्र बंगलादेश गए। विष्णुकान्त शास्त्री जी के साथ 'धर्मयुग' के यशस्वी सम्पादक स्वर्गीय धर्मवीर भारती भी गए थे। बंगलादेश में भारतीजी के साथ

लिखे रिपोर्ताजों का संग्रह 'बांग्लादेश के संदर्भ में' प्रकाशित है। भारती जी पर जो उन्होंने लिखा, वह उनकी पुस्तक 'अनन्त पथ के यात्री धर्मवीर भारती' में संकलित है। भारतीजी उनसे अपने मन की काफी बातें कर लेते थे। इस पुस्तक में भारती जी की कई चिट्ठियाँ भी संकलित हैं जिससे दोनों मित्रों के संवाद का पता लगता है। शास्त्री जी, अज्ञेय जी द्वारा स्थापित वत्सलनिधि के शिविरों में भी प्रायः जाते रहे। वहाँ उनके और स्वर्गीय डॉ० शंकरदयाल सिंह के ठहाके मशहूर थे। मुक्तहास में इनकी बराबरी करने वाले तो केवल आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ही थे। प्रकृति से ही शास्त्री जी घुमक्कड़ हैं। यायावरी का उन्हें शौक रहा है।असाधारण प्रतिभा, विद्वत्ता तथा स्वीकृत कार्य को पूर्ण निष्ठा से संपन्न करने के सहज स्वभाव के कारण शास्त्री जी ने अपार कीर्ति पाई है।

आचार्य शास्त्री चार परस्पर विरोधी स्वभाववाले लेखकों को अपना साहित्यिक गुरु मानते हैं, वे हैं— नामवर सिंह, धर्मवीर भारती, डॉ. रामविलास शर्मा और अज्ञेय। "इन चारों से निकटता सभा मंचों पर सैद्धांतिक टकराव के बाद ही बढ़ी और क्रमशः बढ़ती गई। इन सबमें पहला स्थान नामवर सिंह का है जिनसे सबसे पहली मुलाकात नवंबर १९५४ में (५० साल पहले) काशी में हुई थी।" वैचारिक स्तर पर उनसे टकराते रहे, लेकिन वैयक्तिक स्तर पर निकट आते गए। शास्त्री जी के लेख 'धर्मयुग' और 'आलोचना' में धड़ल्ले से छपते थे जबकि दोनों के संपादक एक दूसरे के विरोधी थे।

कालिदास से लेकर सर्वेश्वर तक की कविताओं पर आपने आलोचनात्मक चिंतन प्रस्तुत किया है। कविता को आप अपने लिए संजीवनी मानते हैं। कविता से ही राजनीति के अनुवर मैदान में अपने लिए ऊर्जा ग्रहण करते हैं।

वाक्शूर और लेखनीभीरु शास्त्रीजी नामवरजी की तरह अपने को वाचिक परंपरा का लेखक मानते हैं। फिर भी उन्होंने 'समकालीन कविता में छंद' जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण निबंध लिखे हैं। साहित्यकारों पर लिखे उनके संस्मरण भी बड़े काम के हैं। निराला, भारती, बच्चन, रामविलास शर्मा, अज्ञेय को वे बड़ी शिद्दत से याद करते हैं और उनके व्यक्तित्व के कई अनछुए पहलुओं को उजागर करते हैं।

राजनीति के झुंड में भी वे अकेले पंछी ही की तरह रहे।

'सच है पक चला चेहरा
पड़ चलीं ललाट पर रेखाएँ दो चार'
परंतु
'अब भी बाकी है सहज सरल उत्साह
अब भी हिलोरती है जीवन की चाह
अब भी हँस सकते हो खुब ठठाकर
अब भी मुसका सकते हो चोट उठाकर
अब भी जीवन के प्रति विश्वास नहीं टूटा है ।'

उनके अमृत पर्व पर यही कामना है एक शिष्य की, कि जीवन के प्रति यह विश्वास कभी न टूटे/भले लगे आघात सैकड़ों/मन का दरपन नहीं टूटे।' ●

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय

विष्णुकान्त शास्त्री साक्षात् काव्य हैं

मनुष्य का शरीर-तंत्र जितना जटिल है उससे कम जटिल जीवन-तंत्र नहीं है। इसलिए जब तक आप किसी व्यक्ति को जीवन की विभिन्न स्थितियों में, यानी सुख में—दुख में; संपत्ति में— विपत्ति में, उत्थान-पतन में न देखें तब तक उसके बारे में कोई सही राय बनाना सम्भव नहीं; यानी यह न्यूनतम शर्त है किसी को जानने और उसके बारे में अपनी राय रखने की। संयोगवश शास्त्रीजी के जीवन में ये सब परिवर्तन घटित हुए हैं और इन सभी दशाओं को मैंने यथा-सम्भव निकटता से देखा है। इसीलिए रामभक्त विष्णुकान्त जी के बारे में सोचते हुए मेरे मन में, सहज ही तुलसी की ये पंक्तियाँ जागती हैं; जो उन्होंने मानस में, राम के व्यक्तित्व-निरूपण के सूत्र रूप में लिखी हैं—

"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः तथा न मम्ले वनवासदुःखतः' मुखाम्बुज श्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा।।"

राम न तो अभिषेक का समाचार पाकर खुशी में बौराए, और न तुरन्त वनवास के आदेश पर मुर्झाए—ऐसे राम के दर्शन से ही तो सौन्दर्य और मंगल की चेतना प्रवाहित होती है। कुछ यही बात गीता में 'स्थितप्रज्ञ' के बारे कही गयी है : "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।"

यहाँ 'राम' और 'स्थितप्रज्ञ' प्रतीकात्मक शब्द हैं, जो मनुष्य के सामने आदर्श की प्रेरणा के रूप में रहते हैं और भारतीय मनुष्य की अंतश्चेतना को आकर्षित करते हैं, परन्तु इन अवस्थाओं को साधना दुष्कर है। फिर भी विष्णुकान्त जी ने यथा सम्भव भारतीय संस्कृति की इस 'सम्यक् वृत्ति' को अपने में साधने की कोशिश इस हद तक की है कि यह उनके स्वभाव में ढली प्रतीत होती है। क्योंकि सुख-दुख, रागद्वेष उच्चावच ही अपने अनुकूल मनुष्य को बहाते या हाँकते रहते हैं। इनकी लगाम उनके हाथ से अपने हाथ में लेना दूभर है। इसीलिए ऐसे व्यक्तियों को देखता हूँ तो लगता है ये ही रस और अग्नि के स्रोत हैं। जितना सान्निध्य मिले, उतना ही सौभाग्य।

लखनऊ और शिमला के राजभवन में तो मैं शास्त्री जी से मिल न सका, (राज निवासों, भवनों से वैसे भी बचता हूँ) परन्तु उस राज-काल में उनसे अनेक बार मिला। पूरा राजसी वैभव चारों ओर जगमगता था। वे उसमें लिप्त नहीं होते थे, केवल उपस्थित होते थे। कभी ऐसा भी लगता मानो यह सब वे किसी दूसरे के लिए किया सरंजाम समझते थे, जिसके वे प्रेक्षक थे! क्योंकि कमाण्डो, पुलिस, सीआईडी के घेरे में भक्ति, प्रेम, अहिंसा पर बोलना सुनने वाले तक को बेतुका लगता है, तो बोलने वाले को तो लगेगा ही— बशर्ते वह इनके प्रति प्रेक्षक भाव न रखता हो। परन्तु जो घेरे रहता है उसकी भी एक सत्ता होती है, वह बाहर से भरती और भीतर से खाली करती रहती है। कोलकाता में मैंने शास्त्री जी को कई बार सुना—साहित्य पर, दर्शन पर, समय-समाज पर—वे रसभरे आम्रवृक्ष लगते थे— टपाटप उद्धरणों की झड़ी बरसाते थे— एक से एक अमोल, सरस। प्रमाणों से वह प्रतिपादित कर देते थे जो करना चाहते थे। वे राज्यपाल हुए तब भी उन्हें सुना— अनेक औपचारिकताएँ, समयाभाव और प्रभामंडल की बेड़ियों में कसते वे उसी स्वभाव में बोलना/रहना चाहते थे पर वह 'रस' कम ही मिलता था। सिर्फ एक बार इस बीच वे कोलकाता में 'कबीर की भक्ति' पर बोले— सुनकर लगा कि हाँ विष्णुकान्त जी ही हैं ये। कोलकाता में विष्णुकान्त जी सहज से भी सहज हो जाते थे, मानो घर में हों और श्रोता भी श्रोता ही हों, दर्शक या लाभग्राही नहीं। दूसरी सब जगह तो लोग राज्यपाल को देखने आते थे। अपने को गौरवान्वित अनुभव करने आते

थे। अच्छा बोलें तो यह 'अतिरिक्त' सुख लगता था। प्रियवक्ता और एक आदर्श राज्यपाल की बनी उनकी छवि सर्वोत्तम। जहाँ तक वक्ता का सवाल है उसे अपने सामने से प्रकाश मिलता है— श्रोताओं से। सुनने के पहले ही मुग्ध और धन्य श्रोता कोई किरण नहीं फेंकता। बहरहाल। यह बात सहज में ही ध्यान में आयी, इसलिए कि विष्णुकान्त जी से परिचय ही बोलते हुए हुआ। जबलपुर के पास बरगी में 'वत्सल निधि' के आयोजन में। पहली बार घण्टों उनके हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, बांगला के उद्धरण सुने। कई लेखक आसपास, साथ चलते हुए और विष्णुकान्त जी वाणी और पैर दोनों से चलते हुए; जैसे सबके चलने का श्रम साथ ही साथ मिटा रहे हों।

वत्सल निधि के उस शिविर में मैंने भी एक लम्बा कोई ४० पृष्ठ का निबन्ध पढ़ा था, कुछ याद आता है कि श्रोताओं में शास्त्री जी भी थे। यों सभी थे पं० विद्यानिवास मिश्र, रमेश चन्द्र शाह, राम स्वरूप चतुर्वेदी और बहुत लेखक। अज्ञेय जी से वहीं पहली बार 'असाध्य वीणा' सुनी— अद्भुत अनुभव था वह भी। यह सब कहने का मतलब यह कि जिस परिवेश में आप किसी से पहली बार मिलते हैं— वह भी व्यक्ति के प्रति आपके सम्बन्धों और अवधारणाओं का कोण तय करता है। शास्त्री जी बरगी के उस 'वन' में मिले थे। कोई कितना ही 'स्थितप्रज्ञ' हो पर सिंहासन पर बैठा मिले तो और बात; और वन में मिले तब उस बैठकी की और बात। गुह-निषाद, शबरी के संग मन खुलता है अलग ही रंग में। ठहाका लगाते हुए।

शास्त्री जी राजनीति से जुड़े हैं इस बात का पता तो मुझे बहुत बाद में नवें दशक में लगा, परन्तु तब भी मेरे मन में उनकी मूल पहचान एक लेखक, वक्ता, विद्वान की ही बनी रही। उनके राज-पथ पर भी मुझे उसी 'चंदन वन की सुधियाँ' रहीं। इसका कोई एकतरफा पहलू तो होता नहीं। शास्त्री जी कभी लेखकों को अपना साहित्येतर सम्बन्ध-बोध नहीं कराते। वे एक सर्जक, एक विद्वान, एक वक्ता और एक सहज मनुष्य ही लगते हैं। सबके प्रति एक कोमल और रागात्मक भाव, सहज निर्लिप्तता भी; सबके प्रति मंगलाग्रही और हर वक्त अपने निर्ग्रंथ रूप में।

अद्भुत स्मृति के धनी शास्त्री जी हर वक्त दूसरों की कविताएँ ही सुनाते रहते हैं, —तो कभी पता ही नहीं चला कि वे स्वयं भी कवि हैं। यह तो तब पता चला जब प्रेमशंकर जी ने उनकी कविताएँ संग्रहीत कर पाठकों के लिए प्रस्तुत कीं। खैर साहित्य का विद्यार्थी होने के नाते इतना तो अनुमान था ही कि सुन्दर ललित निबन्ध, मार्मिक समीक्षाएँ और रिपोर्ताज लिखने वाला, बेहद सुन्दर रचनाओं की धाराप्रवाह प्रस्तुति करने वाला कवि हृदय तो होगा ही। यों राजशेखर द्वारा बतायी 'भावचित्री' प्रतिभा के मूर्तरूप हैं शास्त्री जी और विनम्रतावश प्रायः इसी को प्रकट भी करते हैं, परन्तु वे सच्चे कवि हैं। यों उनके रम्य निबन्ध किसी श्रेष्ठ काव्य से कम नहीं। अगर मैं कहूँ कि शास्त्री जी साक्षात् काव्य रूप हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मेरा उनसे पहला परिचय ही उनके रिपोर्ताज और ललित निबन्धों से हुआ। जिनके बारे में मैंने कहा ही है कि ये कविता ही हैं। बाद में तुलसी पर लिखे उनके निबन्ध, भक्तिकाल की उनके विवेचना, ईशावास्योपनिषद् पर उनके व्याख्यानों में उनका कवि-आचार्य रूप निखरा दिखा।

शास्त्री जी भारतीय दर्शन और काव्य की एक लम्बी सरणी से अद्यतन तक आते हैं। इतना बड़ा आयाम दुर्लभ है और उसमें समान पैठ तो अति दुर्लभ। यही चीज शास्त्री जी को पारम्परिक सोच के विद्वानों और नयी पीढ़ी दोनों से जोड़ती है। कोलकाता को मैंने बहुत राग से देखा है, सुसंस्कृत कोमलता, शालीनता, दीप्ति और लोच सब है वहाँ। और कोई मुझसे कहे कि मैं कोलकाता को देखना-समझना चाहता हूँ तो मैं कहूँगा—विष्णुकान्त शास्त्री को देख लें।

विष्णुकान्त जी राजनीति के पक्के घोषित पक्षधर हैं, पर 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबाण लो हाथ' जैसा भाव मेरा उनके प्रति रहा। राजनीति में मैंने उन्हें देखा-सुना नहीं; साहित्य में जाना-समझा। और वही चाहता भी हूँ। वे दीर्घायु हों स्वस्थ रहें, सक्रिय रहें, सरस रहें, और सरसाते रहें, यही कामना है। ●

डॉ० प्रतिभा अग्रवाल

मन की बात

सन् १९५० के एक-दो साल पहले की बात होगी या एक दो साल बाद की। अभिनव संस्कृति परिषद का कोई आयोजन होनेवाला था। हम दो-तीन व्यक्ति विष्णुकान्तजी के पिता सम्मान्य पंडित गांगेय नरोत्तम शास्त्री को आमंत्रित करने के लिए उनके निवास पर गये। यह सुनकर कि उस आयोजन में महिला-पुरुष दोनों भाग लेने जा रहे हैं, उन्होंने कहा— नाचना-गाना भले घर की औरतों का काम नहीं है। मेरे मुँह से तत्काल निकल पड़ा— हम क्या भले घर की औरतें नहीं है? मुँह पर बेचारे क्या कहते पर तात्पर्य स्पष्ट था— अभी तो हैं पर नाचना-गाना करके भली नहीं रह जायेंगी। यह सब सुन रहे थे विष्णुकान्त जी जो वहाँ उपस्थित थे। वर्षों बाद उन्होंने बताया था कि वे स्तब्ध रह गये थे मेरी प्रतिक्रिया से और इस बात से कि मैंने पंडित गांगेय नरोत्तम शास्त्री जैसे कड़े और दबदबे वाले व्यक्ति के सामने कुछ गहने की हिम्मत कैसे की। स्वतंत्रता पूर्व पैदा हुई पीढ़ी इस मर्यादा में बंधकर रही कि बड़ों का उत्तर नहीं देना, उनसे तर्क नहीं करना, वे जो कहें उसे मानना और उनके आदेशों का चुपचाप पालन करना। हम दोनों उसी पीढ़ी की उपज हैं (वे मुझसे सवा साल बड़े हैं) पर शायद वे मुझसे अधिक मर्यादाशील हैं, उनके लिए मेरा उत्तर (या प्रश्न) हिमाकत जैसी थी। मेरा उनसे यह पहला परिचय था। आगामी वर्षों में उनसे यहाँ-वहाँ मुलाकात होती रही होगी, पर याद नहीं।

सन् १९५५ में २२ दिसम्बर को अनामिका की स्थापना हुई। आयोजनों का सिलसिला अधिक नियमित हुआ, विष्णुकान्त जी से मिलना होता रहा होगा पर कोई विशेष प्रसंग याद नहीं। स्मरणीय प्रसंगों का सिलसिला चालू होता है सन् १९६४ से, जब अनामिका ने हिन्दी नाट्य महोत्सव का आयोजन किया। यह पहला अवसर था जब कोई नाट्यदल एक नाट्य महोत्सव का आयोजन कर रहा था जो अखिल भारतीय स्तर पर परिकल्पित था, जिसमें सारे भारतवर्ष से नाटककार एवं रंगमंच से जुड़े व्यक्ति भाग लेने जा रहे थे, जिसमें आधुनिक नाट्य-परम्परा की पूर्व कड़ियों के रूप में रामलीला, नौटंकी तथा पारसी शैली में सीता बनवास की प्रस्तुतियाँ मंचित होने जा रही थी, जिसमें कलकत्ता के अतिरिक्त बम्बई, दिल्ली एवं वाराणसी के दल आमंत्रित थे तथा विचार-विमर्श के लिए आयोजित था एक त्रिदिवसीय परिसंवाद। परिसंवाद के संयोजन का दायित्व सम्हाला विष्णुकान्त जी ने। दायित्व छोटा-मोटा नहीं था, परिसंवाद में भाग लेनेवालों में शामिल थे सर्वश्री पृथ्वीराज कपूर, जगदीश चन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, सीताराम चतुर्वेदी, चन्द्रवदन सी० मेहता, आद्य रंगाचार्य, इब्राहिम अलकाजी, डॉ० नगेन्द्र, सत्यदेव दुबे, सत्यव्रत सिन्हा एवं अन्य अनेक व्यक्ति। तीन दिन में तीन संगोष्ठियाँ— नाटककार संगोष्ठी, निर्देशक संगोष्ठी तथा दर्शक संगोष्ठी। गोष्ठियों में प्रस्तुत करने के लिए प्रतिवेदन लिखे गये, छापे भी गये। श्री शिक्षायतन के हॉल में गोष्ठियों का प्रतिवेदन भँवरमल जी सिंघी प्रस्तुत करनेवाले थे लेकिन उन्होंने संस्था द्वारा निर्धारित प्रतिवेदन के स्थान पर स्वतंत्र रूप से अपनी बात कही जो मूल मुद्दे को थोड़े भिन्न रूप में प्रस्तुत करनेवाली थी। विष्णुकान्त जी आश्चर्य में कि ऐसा क्यों किया जा रहा है? किसकी राय से किया जा रहा है? पर उस समय कोई उपाय न था, उन्होंने गोष्ठी का पूर्ववत् संचालन किया। गोष्ठी की समाप्ति के बाद मुझसे

पूछा कि मुद्रित प्रतिवेदन के स्थान पर भिन्न प्रतिवेदन क्यों प्रस्तुत किया गया। मैंने कहा— मुझे कुछ पता नहीं कि ऐसा क्यों किया गया। उस समय मैं अनामिका की अध्यक्ष थी, सिंघी जी संस्था के वरिष्ठ सदस्य एवं हम सबके आदरणीय। उन्होंने ऐसा क्यों किया, समझ में ही नहीं आया। मुझे और विष्णुकान्त जी को लगा कि इतने बड़े आयोजन में बाहरवालों के सामने हम अपने अंदरूनी मामले की चर्चा करें यह उचित नहीं। इसलिए हम चुप रह गये तथापि लगा कि आयोजन की समाप्ति के बाद इस बात का खुलासा अवश्य होना चाहिए।

अनामिका का यह प्रथम अष्टदिवसीय समारोह राजी-खुशी सम्पन्न हुआ। उसके बाद बात उठी उस प्रतिवेदन की। तै हुआ कि एक दिन सिंघी जी और विष्णुकान्त जी मेरे घर पर आ जायें, बैठकर बात कर लें। दोनों व्यक्ति आये, विष्णुकान्त जी ने अत्यंत संयत ढंग लेकिन दृढ़ता से अपनी बात रखी और कहा कि लिखित एवं मुद्रित प्रतिवेदन में बिना गोष्ठी-संयोजक की सहमति (या अनुमति) के परिवर्तन करना अनुचित था। मेरा कलेजा धुक-पुक कर रहा था कि विष्णुकान्त जी बोले ही जा रहे हैं, सिंघी जी चुपचाप सुनते ही जा रहे हैं, अब बम फूटेगा। पर वैसा कुछ नहीं हुआ। विष्णुकान्त जी की बात पूरी होने पर सिंघी जी ने कहा— मुझसे गलती हुई। और बात समाप्त हो गयी। यह घटना एक ओर विष्णुकान्त जी की दृढ़ता और कुछ अनुचित हो रहा हो तो उसका विरोध करने के साहस का परिचय देती है तो दूसरी ओर सिंघी जी की उदारता एवं समझदारी का, कि अपने से कोई भूल हो तो उसे स्वीकार कर लो, सामनेवाला व्यक्ति चाहे अपने से बड़ा हो या छोटा। मुझे तो इतनी राहत मिली कि क्या कहूँ। एक ने दूसरे के प्रति सम्मान रखते हुए अपनी बात कही, दूसरे ने सदाशयता पूर्वक अपनी भूल स्वीकार की। जीवन में हम यथासंभव इस ढंग से चलें तो जीवन-यात्रा सुगम हो जाती है, बहुत सी बाधाएँ रास्ते से परे इधर-उधर पड़ी रह जाती हैं। यह संतुलन विष्णुकान्त जी में बराबर बना रहता है जिसके चलते वे अपनी ही नहीं, दूसरों की समस्याओं का भी समाधान करते चलते हैं। आपस में मनमुटाव या मतविरोध हो तो उसको सुलझाने में वे अत्यंत कुशल हैं। सच पूछिए तो इसमें कुशलता की बात भी नहीं है, बात है दोनों पक्षों की बात को धैर्यपूर्वक सुनने की, उनकी अपनी-अपनी दृष्टियों को समझने की तथा दोनों के मान-सम्मान बनाये रखते हुए ऐसी सलाह देने की जो दोनों पक्षों को स्वीकार हो सके। न जाने कितनी बार अनामिका में हमलोगों को लेकर विष्णुकान्त जी बैठे हैं और आम तौर पर उनसे बातचीत करके मसले सुलझे हैं, बाधाएँ दूर हुई हैं।

आगामी वर्षों में विष्णुकान्त जी से सम्बन्ध दो स्तरों पर विकसित हुए— एक साहित्यिक-सांस्कृतिक और दूसरा पारिवारिक। अनामिका की हर गतिविधि में हम उन्हें अपने बीच पाते थे। उनके आते साथ वातावरण में एक ताजगी का अनुभव होता था, अभी भी होता है, बड़े-छोटे सबको लगता था कि कोई अपना आ गया, अब अच्छी-अच्छी बातें होंगी, गपशप होगी, कविताएँ सुनी जायेंगी और साथ में काम भी होगा। काम का तो ऐसा था कि उनके पहुँचते साथ सबसे निश्चिंत होती थी मैं। किसी भी संस्था में लिखने-पढ़नेवाले लोग कम ही होते हैं, अनामिका में भी हम दो-तीन लोग ही थे। अतः उनको देखते साथ मैं कागज-पत्तर उन्हें सम्हला परम निश्चिन्ती का अनुभव करती थी। सच पूछिए तो मन में भाव यह रहता था— अब सम्हालो अपना काम, जो मर्जी आये, ठीक लगे, करो, मेरी छुट्टी। बड़ा सुख मिलता था। खास बात यह थी कि वे जानते थे कि संस्था के बारे में क्या कहना है, कैसे कहना है, किस व्यक्ति से कैसा व्यवहार करना है, किसे कितना मान देना है। ऐसे व्यक्ति साथ हों तो बड़े से बड़ा काम सहज हो जाता है, सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। विष्णुकान्त जी को हम अनामिका में नाना रूपों में पाते थे— शुभचिंतक सलाहकार एवं निष्ठावान कार्यकर्ता के साथ ही एक विश्वसनीय साथी के रूप में भी। अनामिका ने दस वर्षों तक सन् १९७० से १९८० तक कलामंदिर के तलकक्ष में प्रति रविवार को नियमित प्रदर्शन किये।

प्रारंभिक वर्षों में गेट पर टिकट चेक करते हुए या हॉल में टार्च लिए दर्शकों को सीट दिखलाते हुए आप बराबर विष्णुकान्त जी को देख सकते थे। प्रदर्शन से पहले दर्शकों का स्वागत करते हुए और अंत में विशिष्ट अतिथियों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए देखना तो था ही। हम सबके लिए यह बड़ा सुखद होता था, उनके साथ काम करके तृप्ति का अनुभव होता है।

पर हाँ, कभी-कभी वे दिया हुआ काम नहीं भी कर पाते थे और तब हमलोगों को बहुत मजा आता था। उनका उल्लसित ठहाका सर्वविदित है। वल्लभपुर की रूपकथा में एक जगह नेपथ्य से एक पात्र की हँसी की आवाज आनी थी। हमलोगों ने सोच रखा था विष्णुकान्त जी की हँसी रेकार्ड कर लेंगे— रवि किचलू का सस्वर श्लोक पाठ और विष्णुकान्त जी की हँसी— कैसा मजा आयेगा। पर जब हँसने के लिए कहा गया तो उनके गले से आवाज़ ही नहीं निकली। अंत में हारकर आत्मानन्द की हँसी रेकार्ड की गयी। हम इस घटना को यूँ भी देख सकते हैं कि उनकी हँसी आंतरिक होती है, स्वाभाविक होती है, उसे हम अपने आदेश पर नहीं सुन सकते।

इस प्रसंग में मैं उपहार ट्रस्ट द्वारा वर्षों तक चलाये गये साहित्यिक कार्यक्रम और उसमें विष्णुकान्त जी के योगदान की चर्चा भी करना चाहूँगी। सन् १९७९ में मदन जी (मदन मोहन अग्रवाल) की मृत्यु हुई। उनके साहित्यिक मित्रों की संख्या बड़ी थी। तीन-चार वर्षों बाद यह निर्णय किया गया कि उनकी स्मृति में प्रति वर्ष कलकत्ता के एक साहित्यकार का सम्मान किया जाय तथा स्थानीय साहित्यकारों की रचनाओं का एक वार्षिक संकलन प्रकाशित किया जाय। इस योजना के कार्यवाहक थे सर्वश्री कल्याणमल लोढ़ा, मनमोहन ठाकौर, विष्णुकान्त शास्त्री, मैं तथा नवल। दस वर्षों तक यह योजना चली, हम सबने एक या एकाधिक संकलनों का सम्पादन किया, मदनजी की जन्मतिथि १३ नवम्बर (जिस दिन आयोजन होता था) को सब याद रखते थे और नियमित रूप से आते थे। राजनीति में उलझने के बाद कभी-कभी विष्णुकान्त जी उस दिन कलकत्ता में नहीं रह पाते थे। वैसी स्थिति में वे आगे-पीछे आकर मिल ज़रूर जाते थे, अपनी असमर्थता के लिए खेद प्रगट करते थे। ऐसा राजनीतिक दबाव के कारण ही होता था अन्यथा वे हमारे साथ थे, मुझे पता है।

इन सबके साथ-साथ एक और स्तर पर सम्बन्ध अंतरंग बन रहे थे, दृढ़ हो रहे थे और वह था पारिवारिक स्तर। शुरू में आना-जाना अधिकतर औपचारिक था, विष्णुकान्त जी साहित्यकार बंधुओं को बुलाते तो बीच-बीच में मुझे भी बुलाते। घर जाने पर परिवार के सदस्यों से मिलना-जुलना स्वाभाविक था, पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित होना भी स्वाभाविक था। विष्णुकान्त जी की माँ मेरी भी माँ हुईं, भाई हुए भाई तथा भाभियाँ हुईं भाभियाँ। उनकी पत्नी मेरी विशेष भाभी हुईं — दर्शना भाभी। और भतीजे-भतीजियों का दल। पहुँचने पर सब घेर लेते बूआजी को— अत्यंत आदर, अत्यंत स्नेह से। मुझे याद आती अपनी बूआ जी की जो मुझे बहुत प्रिय थीं और मुझे लगता शायद ये भतीजियाँ भी मुझसे वैसा ही स्नेह करती हैं। धीरे-धीरे औपचारिकता अंतरंगता में रूपांतरित होती गयी, मेरे लिए यह मेरी माँ का घर बन गया, मेरे भाई का घर बन गया। वहाँ पहुँचकर मुझे लगता मैं पीहर आयी हूँ, बनारस के घर जैसा लगता। वही बड़ी सी चौकी, दादी की जगह माँ। कई महीनों बाद जाती तो पहले डाँट पड़ती— इतने दिनों बाद आयी है? माँ की याद तुझे नहीं आती कि चलकर मिल आऊँ? फिर स्नेह भरा आमंत्रण—आ बैठ, कैसी है? और सब कैसे हैं? आदि आदि। मदन जी को भी वहाँ जाकर बड़ा अच्छा लगता था। यहाँ भाभियों के बीच बैठकर उन्हें बड़ा अच्छा लगता था, सलहजों से घिरे होने का सुख मिलता था। धीरे-धीरे मैं सचमुच उस परिवार की बेटी बन गयी, मुझे वह स्नेह और अधिकार मिला। दर्शना भाभी बड़े प्रेम से दीदी पुकारतीं, मुझे अपनी ननान (ननद) कहतीं। अचानक वे चली गयीं, उस घर का और अपने मन का एक कोना खाली हो गया। कुछ दिनों

बाद माँ भी चली गयीं, वहाँ जाने का आकर्षण और कम हो गया। राजनीति में सक्रिय होने के बाद भारतीय जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य, राज्य सभा के सदस्य और बाद में हिमाचल और उत्तर प्रदेश का गवर्नर होने के कारण विष्णुकान्त जी अधिकतर बाहर रहने लगे, मिलना-जुलना कम होने लगा पर आत्मिकता में कोई कमी नहीं, वरन् मुझे तो लगता है वह बढ़ी ही। जब मिलते या फोन पर ही हम अपना सुख-दुख बाँटते। उन्हें मैंने शुरु से ही भाई माना पर उस भाई मानने में अपने मन की एक गहरी दुविधा थी। मेरे दोनों बड़े भाइयों की मृत्यु सन् १९४९ में सत्रह दिन के अंदर हो गयी थी— उम्र थी २८ और २३। उसके बाद किसी को भाई मानने का साहस नहीं हुआ— हमेशा लगा मेरी किस्मत में भाई का सुख नहीं बदा है। यह भय भी कि किसी को भाई मानने से कहीं उसका कोई अनिष्ट न हो जाये। पर पिछले कुछेक वर्षों से मन का यह भय दुर्बल पड़ने लगा है। लगता है ऐसा भी क्या। बहन के कारण भाई का अनिष्ट नहीं हो सकता। मन ने छोटा भाई माना है श्याम सुंदर केजरीवाल को और अब विष्णुकान्त जी को बड़ा भाई कहने का साहस जुटा पायी हूँ। भाई स्वस्थ रहें, दीर्घायु हों, शतायु हों और उनका वरदहस्त मेरे ऊपर रहे, यही कामना है, मेरे मन की बात है। ●

शत-शत प्रणति

तुम तुलसी की भव्य भावना हो कबीर की भाषा।
लोन्जाइनस के हो उदात्त तुम मम्मट की परिभाषा।।
जैमिनि के आचार सूत्र हो साख्य न्याय के ज्ञाता।
धर्मशास्त्र विज्ञान विमण्डित भावों के उद्गाता।।
अर्थशास्त्र कौटिल्य कल्प, भारत के नव व्याख्याता।
गुरु रवीन्द्र की रम्य कल्पना भरत नाट्य निर्माता।।
देवनदी के पावनत्व तुम, सागर की गहराई।
मलयानिल के शीतल परिमल शिखरों की ऊँचाई।।
वाल्मीकि के प्रथम अनुष्टुप भवभूती की कविता।
आभूषणभूषिता मनोहर केशव की नव वनिता।।
नील निलय की सान्द्र नीलिमा, पाटल की पेशलता।
इन्दीवर के निर्विकार तुम शिशुओं की चंचलता।।
तव आनन पर सदा थिरकती शरच्चन्द्र शुभाभा।
अन्तस्तल में मैंने देखी बुद्ध सदृश अमिताभा।।
आर्य संस्कृति और सभ्यता के उन्नायक।
सरसा संस्कृति सरस्वती के चिर आराधक।।
सतत साधनाशील तपस्वी और मनस्वी।
भारत भू को कर कृतार्थ तुम बने यशस्वी।।

—डॉ० कृष्णकुमार त्रिपाठी

पी. डी. चितलांगिया

वंदनीय शास्त्रीजी

माननीय, वन्दनीय, पूजनीय आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री के संबंध में कुछ व्यक्त करना मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति के लिए ऐसा ही है जैसे सूर्य को दीप दिखाना। मैं अपने को परम सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे उनका आशीर्वाद एवं स्नेह प्राप्त हुआ।

लगभग १५ वर्ष पूर्व आदरणीय शास्त्रीजी से मेरा परिचय हुआ तत्पश्चात् सम्पर्क बढ़ता गया। ८९ के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को ८६ सीटें प्राप्त हुई। हठात् एक दिन मेरे मित्र मोतीलाल सोनी ने कहा कि विष्णुकान्तजी और जुगल किशोर जैथलिया मुझसे मिलने घर आना चाहते हैं। मैंने पूछा कि क्यों आना चाहते हैं? उसके पहले मुझे याद पड़ता है कि लिलुआ गोशाला में गोपाष्टमी मेले के कार्यक्रम में मैं विष्णुकान्तजी से मिल चुका था। विष्णुकान्तजी, जुगलजी एवं मोतीलालजी घर पर आये। भारतीय जनता पार्टी ने ८६ लोकसभा सीटें प्राप्त की हैं उसके उपलक्ष में कलकत्ता के शहीद मीनार में विजय उत्सव करना है उसके लिए धन चाहिए और इसके लिए मुझसे भी अपेक्षा है। मैंने कहा कि मैं तो समय-समय पर सहयोग करता आया हूँ। आप बतायें कि इस कार्यक्रम के लिए कितना बजट है और क्या आप मेरे साथ धन माँगने चलेंगे? फिर सारी बातें हुई। इस एक घटना ने मुझे विष्णुकान्तजी, जुगलजी तथा भारतीय जनता पार्टी से जोड़ दिया। मैं इसके लिए भाई मोतीलाल सोनी का आभारी हूँ। फिर एक चुनाव के बाद दूसरा ९१ का प्रदेश का चुनाव, फिर आगे भी चुनाव। मैं पूरे मनोयोग से लगा रहा। शास्त्रीजी के साथ समय व्यतीत करने का अवसर प्राप्त होता रहा, उनके आशीर्वाद से सामाजिक जीवन में रम गया।

वनबन्धु परिषद का गठन हुआ। मेरी रुचि का भी कार्य था। हठात् एक दिन श्री विमल लाठ एवं श्री माँगीलाल जैन ने इसका अध्यक्ष पद स्वीकार करने के लिए कहा। मैंने उनसे कहा कि आप विष्णुकान्तजी से बात कर लें, यदि वे मुझे आदेश देंगे, तो ठीक है। विष्णुकान्तजी ने मुझसे कहा कि तुम अध्यक्ष बन जाओ तुम्हारे लिए अच्छा होगा और मैंने उनके कहने से अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया।

आदरणीय गुरुजी से कितनी ज्ञान की बातें सुनी सब ध्यान में नहीं हैं किन्तु एक दिन उन्होंने कहा कि— पी. डी. अब तुम सामाजिक जीवन में आ गये हो एक बात तुमको कहता हूँ 'कभी मत सोचना कि तुम जो सोचते हो वही सही है, हमेशा सोचना कि जो तुम सोचते हो शायद सही है।'

मैंने अपने जीवन का आधार इस वाक्य में प्राप्त किया।

९९ के चुनाव परिणामों के पश्चात् गुरुजी के साथ माननीय अटलजी को बधाई देने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ से निकलते हुए अटलजी ने शास्त्रीजी से कहा कि— 'शास्त्रीजी, आपको कुछ जिम्मेदारी देनी है' मुझे उसी समय लगा कि गुरुजी किसी प्रदेश के राज्यपाल पद को शोभायमान करेंगे। ऐसा हुआ भी लेकिन एक डेढ़ वर्ष के अन्तराल के बाद घोषणा हुई कि गुरुजी हिमाचल के राज्यपाल बनेंगे। मैं गुरुजी से मिलने गया। प्रणाम किया, बधाई दी तथा आशीर्वाद प्राप्त किया। गुरुजी चलिये बाजार, आपको राज्यपाल पद के शोभा अनुसार वस्त्रों की आवश्यकता होगी, बनवा लिये जायें। उनका उत्तर था कि इस पद के लिए विशेष वस्त्र की क्यों आवश्यकता होगी,

धोती-कुर्ता से काम नहीं चलेगा क्या? हिमाचल ठंडी जगह है तो मेरे पास कोट, मफलर इत्यादि सब है। मुझे कोई विशेष आवश्यकता होगी तब देखा जायेगा। उनके शपथ ग्रहण समारोह में मुझे उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका आग्रह रहा कि मैं दो चार दिन उनके पास आकर शिमला में व्यतीत करूँ किन्तु किसी कारणवश संभव नहीं हुआ। एक दिन अचानक मालूम पड़ा कि गुरुजी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद को सुशोभित करेंगे। मैंने उनको फोन कर कहा कि आपको बधाई दूँ या सांत्वना प्रकट करूँ? देवभूमि त्यागनी पड़ रही है और रणभूमि में जाना पड़ रहा है। उनका अट्टहास टेलिफोन पर आज भी याद है। उन्होंने कहा,— 'तुम्हारी बधाई और सांत्वना दोनों स्वीकार है।' भारतीय जनता पार्टी २००४ का चुनाव हार गयी। नई सरकार आ गयी और समाचार पत्रों में आने लगा कि संघ परिवार के समस्त व्यक्तियों को राज्यपाल पद से हटाया जायेगा उसमें विष्णुकान्तजी का नाम सबसे ऊपर था। मैंने उनको फोन किया गुरुजी आप स्वयं छोड़ कर आयेंगे या निकाले जाने पर आयेंगे। उनका उत्तर था यह कार्यकाल दो चार माह का और है उसके बाद तो २८० नम्बर में ही आकर रहना है। आज जाऊँ या दो माह बाद। इच्छा तो है कि आज ही आ जाऊँ किन्तु मैं पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हूँ वरिष्ठ लोगों के आदेश के अनुसार ही कार्य करना है। जैसी कि आशंका थी, वे कार्यकाल पूरा करने के पूर्व ही हमारे बीच चले आए।

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय उनके अमृत महोत्सव का आयोजन कर रही है एवं एक भव्य अभिनन्दन ग्रन्थ भी प्रकाशित कर रही है। यह सर्वथा उचित है। इस अवसर पर मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ वे शतायु हों और उनका स्नेह, आशीर्वाद, मार्गदर्शन प्राप्त करने की पात्रता मुझमें बनी रहे। ●

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

आदर्श पुरुष अनुकरण योग्य, अनुपम व्यक्तित्व तुम्हारा है,
चाहत किंचित चित में न रही, सर्वस्व देशहित वारा है।
विचलित न कभी देखा हमने, तुमको प्रतिकूल दशाओं में,
स्पष्ट किया पथ सदा हमारा, उलझन भरी दशाओं में,
मोहक मुस्कान छलकती है, अधरों पर तेरे हे गुरुवर,
पूनम के शशि-सी शुभ्र ज्योत्स्ना बिखराते तुम धरती पर,
शान्त, स्निग्ध भावुक कोमल, अति निर्मल हृदय तुम्हारा है,
मातृशक्ति महिमा को तुमने मन से सदैव स्वीकारा है,
गुरुदेव तुम्हारे चरणों में नतमस्तक शीश हमारा है।
हम धन्य हुए पाकर तुमको कैसा सौभाग्य हमारा है।

—अशोक कुमार मिश्र

डॉ० कमल किशोर गोयनका

गंगा की निर्मलता, पावनता एवं संस्कृति के प्रतीक-मनीषी : शास्त्रीजी

भारत के दो प्रान्तों के पूर्व राज्यपाल, कलकत्ता विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य तथा हिन्दी के विख्यात साहित्यकार श्रद्धेय विष्णुकान्त शास्त्री को मैं जब भी स्मरण करता हूँ अथवा वे जब भी अपने साहित्यिक या राजनीतिक कृतित्व के कारण मेरे सम्मुख होते हैं तो मुझे गंगा की निर्मलता, पावनता और निरन्तर प्रवाहित होने वाली उसकी सांस्कृतिक धारा का बिम्ब मेरी आत्मा में उतरने लगता है और गहरी प्रतीति से भर जाता है। भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने मनुष्य के श्रेष्ठ मनुष्यत्व तथा विद्यमान देवत्व को प्राकृतिक उपादानों से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री ऐसे ही श्रेष्ठ मनुष्य हैं जिनके साहचर्य से देवत्व की अनुभूति होती है और वह गंगा के निर्मल, पावन और संस्कृतिमय व्यक्तित्व से ही स्पष्ट हो सकती है। गंगा की यह भी विशेषता है कि वह विश्व के सर्वोच्च पर्वत-माला से जन्मी है और लम्बी यात्रा के बाद सागर की अतल गहराइयों में विलीन हो जाती है। आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में भी हिमालय जैसी ऊँचाई और गरिमा है तथा सागर जैसी अथाह गम्भीरता है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व हिमालय, गंगा और सागर का समुच्चय है जो मेरे युग में एक असाधारण घटना है। वे एक असाधारण व्यक्तित्व के धनी हैं, परन्तु उनका असाधारणत्व साधारणता से उत्पन्न होता है। महात्मा गाँधी जैसे साधारण होने के कारण ही असाधारण थे, वैसे ही शास्त्री जी भी अपने साधारणत्व में ही विशिष्ट और असाधारण हैं। शास्त्री जी के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यही अनुभव है कि वे अत्यन्त सहज, सरल और सामान्य मनुष्य हैं और उनमें अहं, अपने को श्रेष्ठ समझने का भाव दूर-दूर तक भी नहीं है। इसीलिए वे अजातशत्रु हैं, वे सबके मित्र हैं, हित-चिन्तक हैं, सब का कल्याण चाहते हैं, सबको अपना स्नेह और आशीर्वाद देते हैं और सच तो यह है कि वे उन सभी के हैं जो मनुष्य हैं, देश-प्रेमी हैं, भारत माता के सेवक हैं, देश की अस्मिता और संस्कृति के रक्षक हैं। उनके लिए धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र आदि की संकीर्णता और बन्धन निरर्थक हैं, बस महत्त्वपूर्ण है मनुष्यता, समाज का कल्याण, राष्ट्र-चेतना और संस्कृति की रक्षा। इसीलिए मुझे शास्त्रीजी का जीवन, विचार और कर्म गंगा के समान लगता है। उनका साहचर्य और भावनाओं -विचारों का संस्पर्श सभी को निर्मल और पावन बना देता है और भारत राष्ट्र एवं उसकी संस्कृति के प्रति समर्पित बना देता है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मेरा सम्पर्क लगभग तीस वर्ष पुराना है। मैंने सन् १९७०-७१ में प्रेमचंद पर अपना पी-एच. डी. का शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय में जमा कर दिया था और अपनी नयी योजना पर सोच-विचार तथा विचार-विमर्श कर रहा था। तभी मैंने शास्त्रीजी को पत्र लिखा था और उनका अनुमोदन मिला था। उस समय तक मैं शास्त्रीजी के एक-दो व्याख्यान सुन चुका था और उनकी ख्याति दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापकों तथा हिन्दी-संसार तक हो चुकी थी। प्रो० कल्याणमल लोढ़ाजी से जब-तब भेंट होती रहती थी तथा वे 'भारतीय

साहित्य परिषद्' के अधिवेशनों में भी प्रायः आते थे और तब अवश्य ही शास्त्रीजी की चर्चा होती और वे उनकी खूब प्रशंसा करते। इस प्रकार शास्त्रीजी मेरे मन के उस स्थान पर बैठ चुके थे जहाँ बैठे व्यक्ति से श्रद्धा ही हो सकती है तथा उसे पथ-प्रदर्शक ही बनाया जा सकता है। मुझे आज भी अपनी उस आकांक्षा का स्मरण है जब मेरे मन में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का शिष्य बनने की इच्छा उत्पन्न हुई थी। मैं डॉ० नगेन्द्र का शिष्य था लेकिन वे शिष्यों को दूर रखते थे और शिष्य भी उनके व्यक्तित्व से भयभीत रहते थे। डॉ० नगेन्द्र के साथ शिष्यों का सहज सीधा सम्वाद असम्भव ही था, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भारत की उस गुरुकुल परम्परा के आचार्य थे जिनके लिए सभी शिष्य उनके परिवार के ही अंग थे और वे अपने शिष्यों के व्यक्तित्व के समग्र विकास को शिक्षण का अनिवार्य हिस्सा मानते थे। मैं आज जो कुछ भी हूँ, जैसा कुछ भी हूँ तथा जो कुछ भी थोड़ा-सा कर पाया हूँ, निश्चय वह उससे बेहतर होता यदि मैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जैसे गुरुओं का शिष्य होता। मेरा विश्वास है, इस जन्म में नहीं तो आगामी जीवन में मुझे ऐसा सौभाग्य मिलेगा।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मेरा सम्पर्क सातवें दशक में हो चुका था। प्रेमचंद पर मुझे पी-एच. डी. की उपाधि दिल्ली विश्वविद्यालय से मिल चुकी थी और मैं अपनी नयी योजना का प्रारूप तैयार कर रहा था कि मेकमिलन कम्पनी ने अपना हिन्दी प्रकाशन खोला और मेरे मित्र विश्वप्रकाश गुप्त उसके इंचार्ज बने। उन्होंने मुझे हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन की एक बड़ी योजना बनाने के लिए कहा तो मैंने उन्हें २४ पुस्तकों की एक प्रकाशन-माला का प्रारूप बनाकर दिया। इस योजना के प्रो० विजयेन्द्र स्नातक और मैं दो सम्पादक बने। इसके साथ ही 'प्रेमचंद विश्वकोश' की योजना भी चल रही थी। मैं चाहता था कि शास्त्रीजी इन दोनों ही योजनाओं को अपना आशीर्वाद दें। इस सम्बन्ध में मैंने उन्हें पत्र लिखा और उन्होंने २० जुलाई, १९७५ को लिखे पत्र में लिखा, "भविष्य में अवकाश रहा तो मैकमिलन की योजना के लिए लिखूँगा। 'प्रेमचंद साहित्य कोश' के लिए 'प्रेमचंद और बंगला साहित्य' पर एक टिप्पणी लिखकर यथासमय भेजूँगा।" यह शास्त्रीजी का गुण ही है कि वे एक साधारण अध्यापक की प्रार्थना को भी सम्मान देते हैं, यद्यपि मैकमिलन की योजना बीच में ही खत्म कर दी गयी। मैकमिलन में हिन्दी विभाग के इंचार्ज डॉ० माहेश्वर बने और वे कम्युनिस्ट थे और कम्युनिस्ट लेखक ही उनके विशेषज्ञ तथा परामर्शदाता थे। वे मेरे जैसे राष्ट्रवादी लेखक को बरदाश्त नहीं कर पाये और दो पुस्तकों के प्रकाशन के बाद उन्होंने योजना ही समाप्त कर दी। यह कम्युनिस्ट माफिया का मुझ पर पहला आक्रमण था जिससे महीनों की मेहनत और एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक-माला जन्म लेते ही नष्ट हो गयी। कम्युनिस्ट फासीवाद का यही चेहरा आज की भारत सरकार के सहयोगी कम्युनिस्टों का भी है जो सुरजीत सिंह के शब्दों में किसी दूसरे विचार के लोगों को पद एवं सत्ता में सहन नहीं कर सकते। डॉ० माहेश्वर के इस फैसले से एक लाभ अवश्य हुआ कि मैं पूरी तौर पर 'प्रेमचंद विश्वकोश' की योजना पर लग गया। इसके बाद मैं २७ जुलाई, १९७५ को इन्दिरा गाँधी की इमर्जेंसी में गिरफ्तार हुआ और लगभग दो महीनों के बाद जमानत पर रिहा हुआ। फिर मैं प्रेमचंद के कार्य में ही मग्न हो गया।

प्रेमचंद की जन्म-शताब्दी सन् १९८० में होगी, इसे ध्यान में रखकर मैंने दिल्ली में 'प्रेमचंद जन्म-शताब्दी राष्ट्रीय समिति' का गठन किया और जैनेन्द्र कुमार को अध्यक्ष बनाया एवं उनके आग्रह पर तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी इसकी संरक्षक बनीं। इसका एक बड़ा कार्यक्रम नई दिल्ली के फिक्सी हॉल में हुआ और अमृत राय ने मेरे 'प्रेमचंद विश्वकोश' के आरम्भिक दो खण्डों का विमोचन किया और इसी ग्रन्थ पर भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता ने ११ जनवरी, १९८४ को 'नथमल भुवालका पुरस्कार' देने की घोषणा की तो शास्त्रीजी ने मुझे इसी

तिथि को अपने पत्र में बधाई देते हुए लिखा, " 'प्रेमचंद विश्वकोष' को पुरस्कृत कर भारतीय भाषा परिषद् ने गम्भीर शोधवृत्ति को सम्मानित किया है। मुझे इस निर्णय से हार्दिक प्रसन्नता हुई है। फरवरी के प्रथम सप्ताह में आप कलकत्ते आयेंगे ही, तब मिलकर और बातें होंगी ही। 'प्रेमचंद विश्वकोष' की विवेचनात्मक संस्तुति उस उत्सव में करने का दायित्व मुझे ही सौंपा गया है, इसकी भी मुझे प्रसन्नता है।" मेरे लिए यह अकल्पनीय था, परन्तु इसमें शास्त्रीजी का स्नेह और आशीर्वाद था जो ईश्वर की कृपा से मुझे सहज रूप में प्राप्त हो रहा था। इस पुरस्कार समारोह में देश के राष्ट्रपति ज़ैल सिंह पहुँचे और उन्होंने पुरस्कृत एवं सम्मानित किया। इस अवसर पर शास्त्रीजी से भेंट हुई और उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किया और कुछ समय बाद 'प्रेमचंद विश्वकोष' पर उनका विस्तृत आलेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था 'प्रेमचंद विश्वकोष : दृढ़ निष्ठा का साहसिक प्रयोग'। इस लेख के अन्त में शास्त्रीजी ने लिखा, "प्रेमचंद शतवार्षिकी के अन्तर्गत सारे देश में छोटे-बड़े समारोह हुए, कई प्रकाशन हुए। सबका अपना-अपना महत्त्व है, किन्तु यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि डॉ० कमल किशोर गोयनका द्वारा परिकल्पित, लिखित एवं सम्पादित 'प्रेमचंद विश्वकोश' इस शतवार्षिकी की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हिन्दी में यह अपने प्रकार का पहला कार्य होने पर भी डॉ० गोयनका ने जिस पूर्णता के साथ उसे प्रस्तुत किया है, वह उनकी मौलिक सूझ-बूझ एवं प्रेमचंद के प्रति उनकी समर्पित निष्ठा का द्योतक है। वास्तव में, यह डॉ० गोयनका की दृढ़ निष्ठा का साहसिक प्रयोग है, क्योंकि इस महान् कार्य में आने वाले बड़े-बड़े संकटों को झेलते हुए वे दृढ़ निष्ठा से अनेक वर्षों तक इस कार्य को पूरा करने में लगे रहे। प्रेमचंद शतवार्षिकी के अवसर पर उनके जीवन एवं साहित्य के अनुरूप ही समर्पित यह श्रद्धांजलि— "प्रेमचंद विश्वकोश', प्रेमचंद के साथ ही सदैव याद की जाती रहेगी।" शास्त्रीजी के इस लेख तक 'प्रेमचंद विश्वकोश' पर कुछ समीक्षाएँ छप चुकी थीं, परन्तु शास्त्रीजी के इन शब्दों से मुझे जो बल एवं सन्तोष मिला और अपने कार्य पर जो विश्वास उत्पन्न हुआ, उसे शब्दों में वर्णित करना सम्भव नहीं है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के प्रोत्साहन, समर्थन और आशीर्वाद के कारण मुझे प्रेमचंद पर अपनी स्थापनाओं को लिखने और विरोधियों का सामना करने का साहस उत्पन्न हुआ। प्रेमचंद जन्म-शताब्दी तक यह स्पष्ट हो चुका था कि देश के कम्युनिस्ट लेखक मेरे शोध एवं नयी स्थापनाओं पर राजनीतिक स्वार्थों के कारण एकजुट होकर उन पर आक्रमण करने लगे थे और वे मेरी स्थापनाओं का उत्तर न देकर मेरा चरित्र-हनन करने में लग गये थे। मैंने अपने दस्तावेजों से उनके जीवन के अनेक झूठे मिथकों को तोड़ा था तथा उन्हें कम्युनिस्ट लेखक बनाने के कम्युनिस्टी षड्यन्त्र का पर्दाफाश करते हुए प्रेमचंद की भारतीयता की वास्तविक मूर्ति को स्थापित किया था। प्रेमचंद को लेकर हिन्दी के तथाकथित प्रगतिशील लेखकों, समीक्षकों तथा कम्युनिस्ट नेताओं की छल-कपटपूर्ण स्थापनाओं को सरेआम चुनौती देने का यह पहला अवसर था और वे इस दुस्साहस को सहन करने को तैयार न थे। डॉ० सुधीश पचौरी ने सन् १९७८ में 'आलोचना' में मुझे 'गाय छाप' लेखक लिखा और कुछ वर्षों के बाद मुझ पर प्रेमचंद को 'हिन्दू' बनाने का आरोप लगाया। मलयज ने अपनी डायरी के सन् १९७९ के एक पृष्ठ में मेरी नयी स्थापनाओं की चर्चा के साथ लिखा कि गोयनका जनसंघी हैं, इस कारण वे ऐसा लिखेंगे ही। हैदराबाद में आयोजित एक प्रेमचंद-शताब्दी कार्यक्रम में तो वामपंथी लेखक वेणु गोपाल ने तो मुझे देख लेने तक की धमकी दे दी। उस कार्यक्रम में डॉ० नामवर सिंह भी थे और उन्होंने अपने भाषण में यह कहा कि 'गोदान' का होरी एक हिन्दू किसान है और यह होरी ही प्रेमचंद हैं। मैंने तत्काल खड़े होकर कहा कि मैं डॉ० नामवर सिंह के इस नये चिन्तन का समर्थन करता हूँ तो वेणु गोपाल ने मंच पर आकर बौखलाते हुए कहा कि डॉ० नामवर सिंह बतायें कि वे गोयनका के करीब आये हैं या गोयनका उनके करीब आये हैं? इसके बाद गोष्ठी के अन्त में उन्होंने मुझे देख

लेने तक की धमकी तक दे डाली। ऐसी अनेक घटनाएँ विगत तीस-पैंतीस वर्षों में मेरे साथ घटित हुई हैं, परन्तु यहाँ एक घटना का और उल्लेख करना आवश्यक है। अमृतसर में डॉ० रमेशकुन्तल मेघ ने प्रेमचंद-शताब्दी पर कार्यक्रम किया तो मुझे भी आमन्त्रित किया। इस कार्यक्रम में भी प्रेमचंद पर मेरा कार्य और मेरी स्थापनाएँ ही केन्द्र में रहीं। अनेक वामपंथी लेखकों एवं प्रोफेसरों ने मुझ पर चोटें कीं, परन्तु वामपंथी प्रोफेसर एवं समीक्षक डॉ० शिवकुमार मिश्र ने कहा कि हमारी तकलीफ यह है कि गोयनका ने प्रेमचंद पर जो कार्य किया वह हमने क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का उत्तर आज तक भी हिन्दी के वामपंथी लेखक नहीं दे पाये, यद्यपि शास्त्रीजी ने इसका उत्तर दे दिया था कि दृढ़ निष्ठा, साहस और कठोर परिश्रम से ही ऐसा कार्य हो सकता है।

'प्रेमचंद विश्वकोश' के दो खण्ड प्रकाशित होने के बाद मैंने कुछ और योजनाओं पर भी काम शुरू कर दिया था। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का १९ मई, १९७९ को देहान्त हो गया तो मैंने उनके संस्मरणों को एकत्र करना शुरू किया तो आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री से सम्पर्क करना अनिवार्य था। मैं जैसा पहले लिख चुका हूँ कि मेरे लिए दोनों आचार्य गुरु-तुल्य थे तथा मुझे ज्ञात था कि शास्त्रीजी के द्विवेदी जी से बड़े आत्मीय सम्बन्ध रहे हैं। इन दोनों विद्वानों में ऐसे सम्बन्ध होना स्वाभाविक था, क्योंकि आयु-भेद एवं पद-भेद होने पर भी दोनों में समान गुण था। शास्त्रीजी जब एम.ए. के छात्र थे, तब से उनके द्विवेदी जी से सम्बन्ध बने और जीवन-पर्यन्त बने रहे। अतः मैंने शास्त्रीजी को पत्र लिखा कि वे द्विवेदीजी पर लिखे अपने संस्मरणों को 'हजारीप्रसाद द्विवेदी : कुछ संस्मरण' पुस्तक में संकलित करने की अनुमति प्रदान करें। शास्त्री जी ने मुझे अपने १८ अगस्त, १९८२ के उत्तर में लिखा, "आपके उद्यम पर मुग्ध हूँ। 'सारिका' के दफ़्तर से समीक्षा के मूल रूप का उद्धार करने के लिए धन्यवाद। हस्ताक्षर कर भेज रहा हूँ। ..... आचार्य द्विवेदी जी पर मेरे दो संस्मरण हैं। एक मेरी पुस्तक 'स्मरण को पाथेय बनने दो' में छपा है। ..... दूसरा संस्मरण आचार्य द्विवेदी के महाप्रयाण के बाद मैंने 'रविवार' के लिए सुरेन्द्र प्रताप के अनुरोध पर लिखा था, उसमें छपा भी था। ..... आप चाहें तो मेरे दोनों संस्मरण अपनी पुस्तक में छाप लें, चाहे तो जो प्रिय लगे, उसे छापें।" यह संस्मरण की पुस्तक सन् १९८२ में प्रकाशित हुई और समीक्षकों ने शास्त्रीजी के संस्मरणों की बड़ी सराहना की, लेकिन मेरे लिए यह गर्व की बात थी कि शास्त्रीजी मेरे प्रत्येक कार्य में प्रोत्साहन और सहयोग दे रहे थे और हर क़दम पर मेरी पीठ ठोक रहे थे।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मैं अब इतनी आत्मीयता अनुभव करने लगा था कि मुझे उनमें अपने संरक्षक होने की प्रतीति होने लगी थी। शास्त्री जी अब जब भी दिल्ली आते तो मुझे पोस्टकार्ड लिखकर सूचना देते और प्रायः उनसे भेंट होती तो मेरे कार्यों के बारे में पूछते और मेरी पदोन्नति के सम्बन्ध में भी वे बराबर जानना चाहते। एक बार कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मेरे आग्रह पर वे मेरे घर आने को तैयार हो गये। असल में उस दिन उनके पास कुछ समय था और मेरी कॉलोनी अशोक विहार के निकट की एक अन्य कॉलोनी शक्तिनगर में सम्भवतः उन्हें अपनी पुत्री से भी मिलना था। यह मेरा सौभाग्य ही था कि ईश्वर ने ऐसा संयोग बनाया। हम दोनों पहले आटो में शक्तिनगर आये और फिर वे मेरे साथ मेरे घर अशोक विहार गये। मेरा पूरा परिवार उनकी प्रतीक्षा में था ही। वे काफी समय तक रहे, पत्नी और बच्चों से बातें कीं और वे इतने सहज हो गये कि पत्नी ने अपनी कुछ जिज्ञासाएँ उनके सम्मुख रखीं। पत्नी ने एक प्रश्न पूछा कि मैं जब पूजा के समय ध्यान करती हूँ तो मन तरह-तरह की बातें सोचने लगता है और ध्यान भंग हो जाता है। अतः इस मन को कैसे एकाग्र किया जाये? शास्त्रीजी कुछ मुस्कराये और बोले, 'यह तो बड़े-बड़े ऋषियों के साथ भी होता है। मेरे साथ भी होता है। मन चंचल है, वह एक बिन्दु पर टिका नहीं रह सकता, लेकिन बार-बार अभ्यास से उसे अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। मन

की चंचलता से डरना नहीं चाहिए और न ही भागना चाहिए, बस बराबर प्रयत्नशील रहना चाहिए।' पत्नी आज भी शास्त्रीजी के इस समाधान को याद करती हैं और उनके ज्ञान, स्नेह तथा आशीर्वाद की अनुभूति का वर्णन करती हैं। ऐसे ही अपनत्व, आत्मीयता तथा पारिवारिकता का मैंने उस समय अनुभव किया जब भाजपा के शासन-काल में संस्कृति मंत्रालय में उनसे भेंट हुई और वे मुझे डॉ० मुरली मनोहर जोशी से मिलाने ले गये। शास्त्रीजी ने डॉ० जोशी से मेरा परिचय देते हुए कहा, 'ये कमल किशोर गोयनका हैं जिन्होंने हिन्दी के विश्व-विख्यात साहित्यकार प्रेमचंद को कम्युनिस्ट खेमे से निकालकर भारतीयता की धारा में स्थापित किया है।' डॉ० जोशी का उत्तर मेरे लिए अप्रत्याशित था। वे बोले, 'शास्त्रीजी, मैं गोयनका के नाम और काम दोनों को जानता हूं। इन्होंने जो कार्य किया है, वह ऐतिहासिक है और उससे प्रेमचंद की वास्तविक मूर्ति सामने आयी है।' इसके उपरान्त कुछ समय तक बातचीत होती रही, चाय आयी और मैं अपनी खोज के संकटों तथा कम्युनिस्टों के आक्रमणों का इतिहास बताता रहा। शास्त्रीजी चाहते थे कि मेरे शोध-कार्य को देखते हुए मुझे शीघ्र ही प्रोफेसर हो जाना चाहिए था। उन्होंने अपना यह मन्तव्य भी डॉ० मुरली मनोहर जोशी के सम्मुख रखा और उसके बाद भी वे निरन्तर इसकी पूछताछ करते रहे। शास्त्रीजी का आशीर्वाद मेरे साथ था, परन्तु ईश्वर की इच्छा कुछ और थी। शास्त्रीजी ने मुझे २१ अगस्त, १९८७ को अपने में लिखा भी था, 'प्रभु कृपा से आप सानन्द रहें और शीघ्र ही अपा न्यायोचित स्थान प्राप्त करें।' परन्तु हिन्दी का कम्युनिस्ट माफिया शैतान की शक्ति और स्टालिन के फासीवाद का अनुयायी है। उन्होंने हर बार मेरा विरोध किया और इन्टरव्यू में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने पर भी एक कम्युनिस्ट प्रोफेसर ने चयन-समिति में कहा कि हम गोयनका को प्रोफेसर नहीं होने देंगे। इस एक कम्युनिस्ट प्रोफेसर की धमकी और हथकंडेबाजी ने चयन-समिति के अन्य सदस्यों को नपुंसक बना दिया और कुलपति ने फिर किसी की नियुक्ति नहीं की। कम्युनिस्ट अपनी योजना में सफल हुए और न्याय का चेहरा अन्याय एवं फासीवाद ने काला कर दिया। कम्युनिस्ट माफिया आज भी ऐसा ही व्यवहार कर रहा है और अभी ऐसे कम्युनिस्ट अध्यापकों को हिन्दी विभाग में नियुक्त किया गया है जो सत्ता के मुखबिर रहे हैं, जो अपने दुर्व्यवहारों के कारण बदनाम हैं तथा जिन पर आर्थिक साधनों के दुरुपयोग के आरोप हैं। यह कम्युनिस्टी न्याय है कि जो कम्युनिस्ट राजनीति के खिलाड़ी और भारतीयता के शत्रु हैं, वे ही प्रोफेसर-रीडर बनने के योग्य हैं।

इस बीच प्रेमचंद पर मेरा कार्य निरन्तर चलता रहा और आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा उसका किया गया मूल्यांकन भी मुझे तथा हिन्दी-संसार को मिलता रहा। यह मेरा सौभाग्य था कि उन्होंने मेरी अन्य दो पुस्तकों पर अपना आशीर्वाद प्रदान किया। मेरी एक पुस्तक 'प्रेमचंद : चित्रात्मक जीवनी' सन् १९८६ में छपी थी और उस पर अपना अभिमत देते हुए शास्त्रीजी ने लिखा था, 'फिर डॉ० कमल किशोर गोयनका जैसे शोधक तथ्य-संग्रही और प्रेमचंद के प्रति श्रद्धालु विद्वान की लेखनी से प्रसूत प्रेमचंद की जीवनी और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उसकी विश्वसनीयता में रंचमात्र सन्देह नहीं किया जा सकता है। डॉ० गोयनका 'प्रेमचंद विश्वकोश' के प्रथम भाग के रूप में प्रेमचंद की तारीखवार जीवनी प्रस्तुत करने का भगीरथ प्रयास सफलतापूर्वक सम्पन्न कर चुके थे। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की जीवनी के लेखन का सूत्रपात करने का ऐतिहासिक श्रेय डॉ० कमल किशोर गोयनका को ही प्राप्त है। डॉ० गोयनका ने अब प्रेमचंद की संक्षिप्त जीवनी को चित्रात्मक बनाकर प्रस्तुत करने का उपयोगी और स्तुत्य कार्य किया है।' इसी प्रकार सन् १९८८ में मेरी पुस्तक 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' (दो भाग) जब भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली से प्रकाशित से प्रकाशित हुई तो शास्त्रीजी ने इस पर अपनी विस्तृत टिप्पणी 'शोध-साधना की अद्भुत उपलब्धि : प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' शीर्षक से प्रकाशित हुई। शास्त्रीजी अपनी टिप्पणी

में लिखा, 'ऊँचे लक्ष्य को दृष्टि के सम्मुख रखकर निष्ठापूर्वक की गयी शोध-साधना की उपलब्धि कितनी असाधारण एवं अद्भुत हो सकती है, इसका उज्ज्वल दृष्टान्त है डॉ० कमल किशोर गोयनका द्वारा दो खण्डों में सम्पादित 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य। ..... इस ऐतिहासिक महत्त्व की भेंट के लिए निश्चय ही सम्पूर्ण साहित्य-जगत डॉ० गोयनका का चिर ऋणी रहेगा।' शास्त्रीजी ने अपने इस लेख में एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी किया कि उन्होंने मेरे कम्युनिस्ट आलोचकों के आरोपों का सबल तर्कों से उत्तर दिया। शास्त्रीजी ने लिखा कि गोयनका ने प्रेमचंद की मूर्ति का भंजन नहीं किया, बल्कि उनकी वास्तविक मूर्ति को उजागर किया है तथा गोयनका प्रेमचंद में हिन्दू जीवन-दर्शन का प्रभाव देखते हैं तो क्या गलत करते हैं। प्रेमचंद पर हिन्दू जीवन-दर्शन का का प्रभाव था, यह एकदम सत्य है। शास्त्रीजी ने मार्क्सवादियों के उस आरोप का भी उत्तर दिया कि गोयनका प्रेमचंद की मार्क्सवादी छवि से टकराते हैं तो वे ठीक करते हैं, क्योंकि उनके प्रेमचंद को मार्क्सवादी बनाने के झूठ का पर्दाफाश करना जरूरी था। शास्त्रीजी के इस लेख ने मेरी शक्ति और साहस को बढ़ाया और मुझे लगा कि मार्क्सवादियों के छल-कपट और राजनीतिक स्वार्थों की इस लड़ाई में मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ जब शास्त्रीजी जैसे सेनापति हैं तो मुझ सिपाही को निर्भय होकर तथ्यों एवं तर्कों की तलवार से इस मार्क्सवादी साजिश और अज्ञान के रावण को नष्ट करके ही दम लेना होगा।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बने तो मन गर्व से भर गया। शास्त्रीजी जैसे सरस्वती-पुरुष, हिन्दू संस्कृति के प्रतीक, सौम्य-शान्त-शालीन एवं निष्कलुष व्यक्तित्व, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की व्यावहारिक मूर्ति, सत्ता एवं प्रभुता से निर्लिप्त तथा सबके बनकर चलने वाले व्यक्ति का राज्यपाल बनना भारतीय लोकतन्त्र की उच्चता का प्रमाण है। हम सब यह मानते हैं कि राज्यपाल या राष्ट्रपति बनना उनके जीवन का लक्ष्य कभी नहीं रहा, बल्कि आचार्य एवं साहित्यकार के रूप में सरस्वती की साधना में ही वे परमानन्द का अनुभव करते हैं, लेकिन वे दायित्व तथा चुनौतियों से पलायन करने वाले व्यक्ति भी नहीं हैं। उन्होंने राज्यपाल के दायित्व को स्वीकार किया और अपने कार्यों तथा व्यक्तित्व से यह सिद्ध कर दिया कि उन्होंने लोकतान्त्रिक नियमों का पालन किया और राज्यपाल के पद को गरिमा प्रदान की। वे जब लखनऊ में थे तो शास्त्रीजी ने मेरे कार्यक्रम की अध्यक्षता की और मैंने अपनी कुछ नयी पुस्तकें भेंट कीं। मैं तब शास्त्रीजी से अलग से मिलना चाहता था, परन्तु उनके कार्यालय ने समय नहीं दिया। मैं भी संकोच में था और अग्रिम सूचना नहीं दे पाया था। इसकी जानकारी मैंने उन्हें तब दी जब वे राज्यपाल के पद से मुक्त होकर कोलकाता पहुँचे। शास्त्रीजी का २४ अगस्त, २००४ को उत्तर मिला और उन्होंने लिखा, 'लखनऊ में आपसे भेंट नहीं हो सकी, यह मेरे लिए पीड़ा की बात है। आपने यदि फोन या पत्र लिख कर मिलने का समय निश्चित किया होता तो अवश्य भेंट होती। मैं तो प्रतिदिन मित्रों से मिलता ही रहता था और अब आप जब कोलकाता पधारें, आपका स्वागत है।' शास्त्रीजी की इस शालीनता, विनम्रता और बड़प्पन के सम्मुख केवल नतमस्तक ही हुआ जा सकता है।

मैं जनवरी, २००४ के आरम्भ में अपने अमेरिका-प्रवास के बाद लौटा तो 'दैनिक जागरण' में प्रत्येक रविवार को साहित्य पर लेख लिखता रहा। इन लेखों के विषय साहित्य से सम्बन्धित होते थे और इनमें हिन्दी के मार्क्सवादियों के तरह-तरह के चेहरों से भी नकाब को उठाया जाता था। इन्हीं में से कुछ लेख मैंने उन्हें सम्मति के लिए भेजे थे। शास्त्रीजी को ये लेख मिले तो उन्होंने अपने २८ अगस्त, २००४ के पत्र में मुझे लिखा, 'दिल्ली 'जागरण' में प्रकाशित आपके द्वारा प्रेषित आपके आलेख पढ़कर हर्ष से पुलकित हो उठा। आपने इतने अच्छे ढंग

से गलत बातों का खंडन और सही बातों का समर्थन किया है कि देखते ही बनता है। आपने साहित्यिक समाजवादियों और कलियुगी अवतारों को उनकी वास्तविकता का बोध करा दिया है। यह बात अलग है कि कुछ लोग नासमझी को ही समझदारी माने बैठे हैं, उनका आप कुछ नहीं कर सकते। प्रेमचंद के प्रति आपकी असीम श्रद्धा भी कई आलेखों में प्रकट हुई है। सचमुच 'रंगभूमि' को जलाना कदाचार है और उसे 'यौजेपो की साज़िश' बताना नैतिक भ्रष्टाचार है।' इसी प्रकार श्री छोटीखाटू हिन्दी पुस्तकालय, छोटीखाटू (नागौर, राजस्थान) ने ३० अक्टूबर, २००४ को मुझे 'दीनदयाल उपाध्याय साहित्य पुरस्कार' दिया तो शास्त्रीजी ने अपने १९ अक्टूबर एवं ९ नवम्बर, २००४ के पत्रों में लिखा, 'आदरणीय जुगल किशोर जैथलिया जी से यह जानकर आन्तरिक प्रसन्नता हुई कि श्री छोटीखाटू हिन्दी पुस्तकालय 'पण्डित दीनदयाल उपाध्याय साहित्य सम्मान' से विभूषित कर रहा है। आपके कार्य सचमुच सरस्वती के भंडार को समृद्ध करने वाले हैं। प्रेमचंद पर जितना विशद् एवं मौलिक कार्य आपने किया है, उतना किसी और ने नहीं किया है। ..... सच तो यह है कि सम्मानकर्ता पिछड़ गये। आपको काफी पहले यह सम्मान प्राप्त होना चाहिए था।'

मैंने आरम्भ में कहा था कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्रीजी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व गंगा की तरह निर्मल, पावन और संस्कृतिमय है और है हिमालय की धवलता, शीतलता, भव्यता और परहितता तथा सागर की अनन्त विचार-तरंगें, अथाहता और गम्भीरता। हिन्दू संस्कृति की एक अजस्र धारा उनके मानस में प्रवाहित रहती है। वे भारत के ऐसे सरस्वती-पुत्र और संस्कृति-पुरुष हैं जो इधर दुर्लभ हैं। मुझे वे यदि गुरु रूप में मिले होते और मुझे उनका शिष्य होने का सौभाग्य मिलता तो निश्चय ही मैं इतना खोटा सोना नहीं होता, लेकिन ईश्वर की कृपा से मुझे उन जैसे संत का जो भी संसर्ग मिला, उससे मुझे अपने मार्ग पर चलने का बल और विश्वास मिला। मेरे प्रायः प्रत्येक कार्य पर उनकी दृष्टि रही और उचित कार्यों पर वे पीठ थपथपाते रहे। मेरे जीवन में शास्त्रीजी का जो स्थान है, उसका वर्णन असम्भव ही है। बस अन्त में मैं यही कह सकता हूँ कि यदि मुझे उनका वरदहस्त न मिला होता तो सम्भवतः मैं मार्क्सवादियों के आरोपों और आक्रमणों के सम्मुख भाग खड़ा होता। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्रीजी मेरे प्रकाश-स्तम्भ ही नहीं शक्ति-स्तम्भ भी हैं और मैं इसी प्रकाश तथा शक्ति स्रोत के साथ शेष जीवन जीना चाहता हूँ। प्रभु करें, ऐसा ही हो। ●

गुरुवरं नुमः

सत्याचारपरायणोऽतिविनयी विद्वानयं धार्मिकः
शास्त्रज्ञः शुभकर्ममार्गनिरतो लब्धप्रतिष्ठोऽस्ति यः।
शुद्धात्मा सरलो महान् गुणगणो वक्ता विशिष्टोऽप्ययं
सद्वंश्यो जनसेवने च रमते श्रीविष्णुकान्तो मुदा।।
काश्यां येन सभासु शास्त्रगरिमा प्रावर्धत निष्ठया
विद्वांसोऽपि पुरस्कृताश्च विविधाः प्रोत्साहिताः शास्त्रिणा।
वेदानां परिरक्षणाय सततं सम्मानिता वैदिका—
धर्माणां परिपालनाय सुजनाः श्रीशास्त्रिणा प्रेरिताः।। —डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी

प्रो० राम मोहन पाठक

शास्त्र, शासन और शास्त्री जी

राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और वृहद् ही नहीं बल्कि शासन-प्रशासन की जटिलताओं के लिए ख्यात उत्तर प्रदेश राज्य किसी भी शासक-प्रशासक की कुशलता की कसौटी है। ऐसे राज्य के संवैधानिक प्रमुख पद की बागडोर संभाले 'महामहिम' प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री को जो नजदीक से जानते पहचानते रहे हैं, उनके लिए शास्त्री जी का तीन साल सात महीने का राजभवन प्रवास कुछ विस्मयकारी, तो कुछ ऐसा रहा जिसके जरिये शास्त्री जी के भीतर के कुशल शासक-प्रशासक की छवि निखर कर सामने आयी। पारिवारिक परम्परा से शास्त्री के ज्ञाता शास्त्री जी का 'शासन का शास्त्र' भी लकीर से हटकर अनूठा साबित हुआ और विशिष्टता की छाप छोड़ गया। धर्मशास्त्र, पुराण, प्राचीन ज्ञान, आधुनिक साहित्य और न जाने कितने प्रकार के ज्ञान-विज्ञान का समाहार, शास्त्री जी का व्यक्तित्व अनेक मौकों पर प्रशासन को दृढ़ता के साथ ही संवेदनशीलता के भी आयाम स्थापित कर गया।

सामान्यतः शांत, मृदु और आहिस्ता-आहिस्ता, फूंक-फूंक कर कदम रखने की उनकी छवि के पीछे गहन अध्ययन, वैदुष्य, ओज और उससे उपजी गंभीरता के साथ उनके व्यक्तित्व में दृढ़ता का एक विशेष सामंजस्य दिखाई पड़ता रहा, जिसको उत्तर प्रदेश की देन कहें या यह उनकी शासन-प्रशासन की विशेष पद्धति रही अर्थात् शास्त्री जी का 'शासन का विशिष्ट शास्त्र' अपने आप में अनूठा रहा। विश्लेषक शायद कहें— उनकी शैली 'मृदुनि कुसुमादपि' (फूलों से भी कोमल) होते हुए भी दृढ़ता के मानदण्ड कायम करती है। अपने आत्म-परिचय (बायोडाटा) में डंके की चोट पर— राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का स्वयंसेवक होने का अभिमान रखने वाले शास्त्री जी सिद्धान्तों के मामले में अडिग रहे। सभी उनके अपने थे पर शासन को इस 'अपनत्व' से उन्होंने कदापि प्रभावित नहीं होने दिया। नियम-कानून, संविधान उनके लिए सर्वोपरि रहे।

एक प्रशासक के रूप में शास्त्री जी राजभवन के लोगों के बीच ही नहीं, आम लोगों के बीच भी निश्चित रूप से किंवदन्ती पुरुष के रूप में याद किये जाते हैं। तभी तो किसी ने कहा— वे (शास्त्री जी) राजभवन में और राज्यपाल की गद्दी पर 'सन्त' थे बाकी तो सब 'साहब' आते-जाते हैं। संत तो शायद पहली बार आया। 'सन्त' और 'साहब' का यह फर्क शास्त्री जी के हर कामकाज में पूरे कार्यकाल में साफ झलकता रहा।

समूचा उत्तर प्रदेश ऊहापोह में था। शासन की परीक्षा की घड़ी थी और सर्वोच्च शासन लोकतांत्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार के अस्तित्व में न रहने के कारण राष्ट्रपति शासन में 'श्री राज्यपाल' के हाथों में था और ये 'श्री राज्यपाल' थे 'महामहिम' प्रोफेसर विष्णुकान्त शास्त्री। लोगों ने सोचा एक अध्यापक और वह भी तीन-तिकड़म से दूर रहने वाला पूजापाठी ब्राह्मण! एक अध्यापक राज्यपाल के रूप में शायद कुछ नहीं कर पायेगा और फिर शायद एक बार उत्तर प्रदेश हिंसा-प्रतिहिंसा, अशान्ति के कारणों से सुर्खियों में आ जायेगा। यह परीक्षा की घड़ी थी— राममन्दिर के निर्माण के लिए अयोध्या में शिलापूजन का मौका। विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंगदल और तमाम ऐसे दलों के लोग अयोध्या में जमा होते जा रहे थे। मीडिया भी 'कुछ न कुछ जरूर होगा' मानकर चल रहा था। चर्चाएँ दर चर्चाएँ! लोग सशंकित थे। पूरे देश ही नहीं विदेशों के भी कूटनीतिकों की निगाहें क्षण-प्रतिक्षण की

घटनाओं पर लगी हुई थीं।—— पर क्या हुआ? लोग समझ भी न पाये और अयोध्या में शिलापूजन सकुशल, शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गया।

कैसे हुआ? 'श्री राज्यपाल' शास्त्री जी का स्वाभाविक और सधा हुआ उत्तर था— 'रामजी की मर्जी से— प्रभु कृपा से।'

जानकारों के अनुसार शास्त्री जी ने शिलापूजन पर शान्ति के लिए अनेक दिन और रातें एक कर दीं। विश्व हिन्दू परिषद् के प्रमुख अशोक सिंघल से लेकर छोटे-बड़े पदाधिकारी, कार्यकर्ताओं तक से सीधा और बेखौफ संवाद स्थापित किया। हर छोटी-बड़ी सूचना को पूरी तवज्जह दी और सर्वोच्च पद के इसी परिश्रम तथा लगन ने प्रदेश की शान्ति व्यवस्था और 'राममन्दिर निर्माण के इतिहास में पूर्ण शान्ति का एक इतिहास' रच दिया।

जब दावे अनेक हों और सरकार एक बननी हो, तब निर्णायक की अग्नि परीक्षा होती है। भारतीय गणराज्य के राज्यों में खासकर उत्तर प्रदेश में ऐसा अनेक बार हुआ है। शास्त्री जी के सामने भी ऐसा ही मौका आया और पूर्ण बहुमत साबित न कर पाने वाले एक राजनैतिक दल की तीखी आलोचनाओं और प्रहारों से अविचलित शास्त्री जी ने तार्किक निर्णय दिया और किसी के भी सरकार बनाने की स्थिति में न रहने कारण उन्होंने 'भरे मन से' राष्ट्रपति शासन लागू किया। वैसे अनेक अवसरों पर साफ शब्दों में शास्त्री जी बराबर यह कहते रहे कि ईश्वर न करे कि राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़े। यह एक निस्पृह राजनीतिज्ञ का उजला चरित्र ही तो था। राष्ट्रपति शासन की यह अवधि बहुत थोड़ी ही थी और ज्यों ही उन्हें दल विशेष के बहुमत का पूरा भरोसा हो गया, उन्होंने सरकार बनाने के लिए सम्बद्ध दल को बुलावा भेजने में तनिक देर नहीं की और यह ऐसा मौका था जब शास्त्री जी के राजनीतिक निर्णय और चतुरता की उत्तर प्रदेश ही नहीं पूरे देश में विशेष चर्चा और सराहना हुई।

गौरवर्ण, तेजोमय मुखाकृति, चेहरे पर मृदुता और मुस्कान, व्यक्तित्व में पांडित्य की विशिष्ट झलक, भारतीय वेशभूषा धोती-कुर्ता और उत्तरीय धारण किये भारतीय संस्कृति के प्रतीक पुरुष शास्त्री जी जब ईद के मौके पर लखनऊ के ईदगाह मैदान पर नमाज़ के वक्त तत्कालीन मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव के साथ मुस्लिम भाइयों को ईद की मुबारकबाद देने पहुँचे तो लोगों को एकबारगी बहुत आश्चर्य हुआ। उनके धर्म निरपेक्ष व्यक्तित्व की एक नयी पहचान स्थापित हुई। विचारों में पूर्ण उदारता और दकियानूसी व्यवहारों से परे शास्त्री जी ने एक राज्यपाल के रूप में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई सभी सम्प्रदाय और सभी जातियों के लिए राजभवन का दरवाजा हमेशा खुला रखा। जब कभी कोई भी उनसे मिलना चाहता और वे लखनऊ में होते तो उनसे मिलने की मनाही नहीं होती थी। सभी का दुःख-दर्द पूर्ण संजीदगी से सुनते और यथासम्भव सभी की मदद भी करते रहे।

शास्त्री जी के कार्यकाल में राष्ट्रपति शासन का वह दौर अत्यन्त कठिन परीक्षा का दौर था जब भीषण गर्मी से समूचा उत्तर प्रदेश झुलस रहा था। उत्तर प्रदेश भीषण बिजली संकट से रू-बरू था। चुनी हुई सरकार के अभाव में सारे निर्णय राज्यपाल के अधीन थे। सारी गहमागहमी के बीच 'श्री राज्यपाल' का पहला निर्णय था— बिजली संकट रहने तक राजभवन के सभी एयरकण्डीशनर बन्द रहेंगे। सचमुच इस एक निर्णय ने पूरे प्रदेश में क्रान्तिकारी प्रभाव पैदा किया और बिजली की मांग व खपत अप्रत्याशित रूप से घट गयी, जिससे इस भीषण विद्युत संकट के मुकाबले में मदद मिली। जगमगाता हुआ राजभवन सिर्फ कामचलाऊ रोशनी की गिरफ्त में आ गया। स्वयं राज्यपाल के कक्ष की सिर्फ आधी बत्तियाँ जलते देख जब किसी ने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने सीधा उत्तर दिया था— करोड़ों लोग बिजली का अभाव झेलें और शासन में बैठा व्यक्ति इससे बेखबर हो— यह अनुचित है और जब तक बिजली संकट रहेगा। राजभवन की सजावटी बत्तियाँ व ए. सी. नहीं चलेंगे। इसकी जानकारी होते

ही पूरे प्रदेश में बिजली बचाने की एक मुहिम सी छिड़ गयी थी, जिसकी चर्चा आज भी प्रशासनिक क्षेत्र में बार-बार होती रहती है।

बीसवीं सदी का अन्तिम प्रयाग महाकुम्भ करोड़ों लोगों के लिए आस्था और विश्वास का महासंगम था। ऐसे में आस्थावान व्यक्तित्व के प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री राज्यपाल न होते तो शायद ही प्रयाग संगम में अवगाहन का मौका चूकते। किन्तु करोड़ों की देश-देशान्तर से उमड़ी भीड़ की सुविधा को ध्यान में रखते हुए प्रशासन की यह राय मानने में उन्हें थोड़ा भी समय न लगा कि राज्यपाल के रूप में मेला क्षेत्र में उनके जाने से प्रशासन को व्यवस्था नियंत्रित करने में दिक्कत हो सकती है। वे कुम्भ में नहीं गये। पूरा परिवार गोपनीय रूप से बिना किसी प्रचार के संगम स्नान कर रहा था और वे राजभवन में बैठे कुम्भ की व्यवस्थाओं का जायजा ले रहे थे। हिमाचल के राज्यपाल रहे हों या राज्यसभा के सांसद, काशी आने पर विधिवत् गंगा स्नान और दर्शन-पूजन हमेशा उनके कार्यक्रम का प्रमुख अंग रहा। ऐसे में एक प्रशासक के दायित्व को समझते हुए उन्होंने कुम्भ स्नान न कर पाने की विवशता को कितना महसूस किया होगा यह तो वे ही जानते होंगे किन्तु कुम्भ के सकुशल समाप्त होने पर उनकी प्रसन्नता देखने लायक थी। मुख्य स्नान के बाद वे प्रयाग गये और वहाँ स्नान-पूजन विधिवत् सम्पन्न किया।

मन में कोई मलाल न पालकर रखना शास्त्रीजी के व्यक्तित्व की एक खासियत है। जब वे हिमाचल में राज्यपाल थे तब काशी आये। वे और वाराणसी के एक वरिष्ठ अधिकारी ने अपनी व्यस्तता का बहाना बनाकर उनसे मिलना भी मुनासिब नहीं समझा, किन्तु जब वे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल होकर काशी आये तो पहली बार और जितनी बार आये वह अधिकारी उनके आगे-पीछे घूमते रहे। उन्होंने माफी माँगनी चाही कि आप जब पहली बार आये तो मैं आपसे मिल नहीं पाया था, क्षमा चाहता हूँ। शास्त्री जी ने केवल मुस्कराते हुए कहा— 'प्रभुकृपा से सब ठीक है। रामजी की इच्छा।'

इसी प्रकार वाराणसी के उदय प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में मुख्य अतिथि शास्त्री जी को कार्यक्रम में समन्वय की गड़बड़ी से परेशानी उठानी पड़ी। दीक्षान्त शिष्टयात्रा हेतु दीक्षान्त वस्त्र धारण कक्ष में ले जाने के बजाय पूरे हाल के बीच एक छोर से दूसरे छोर पर स्थित मंच तक ले जाया गया। पूरा शिष्टमण्डल वस्त्र धारण कर कक्ष के बाहर प्रतीक्षा करता रहा और वे मंच पर पहुँच गये। शासन-प्रशासन, महाविद्यालय के अधिकारी सभी को साँप सूँघ गया। राज्यपाल के प्रोटोकाल में शायद इतनी बड़ी गलती क्षम्य नहीं है, किन्तु शास्त्री जी सहज शान्त भाव से मंच से उतरकर पुनः पूरा प्रेक्षागृह पार कर वस्त्रधारण कक्ष में पहुँचे और शिष्टयात्रा में सम्मिलित हुए। दीक्षान्त समारोह सम्पन्न हुआ। बड़े अधिकारियों ने लगभग एक दर्जन कनिष्ठ कर्मचारियों के विरुद्ध कार्रवाई और निलम्बन की तैयारी पूरी कर ली, पर शास्त्री जी के सिर्फ एक वाक्य ने— 'चलो प्रभुकृपा से जो हुआ सो ठीक है, आगे ध्यान रखना' सारा वातावरण ही बदल दिया। सुबह के अखबारों में दोषियों के खिलाफ कार्रवाई की खबर तलाशने वालों को निराशा ही हाथ लगी और सभी ने शास्त्री जी की सज्जनता को हृदय से महसूस किया। जिनकी गलती थी, और जो मान रहे थे कि राज्यपाल के लखनऊ लौटने पर कार्रवाई जरूर होगी वे भी इस सदाशयता से अवाक् रह गये।

प्रभुता के मद से बिल्कुल दूर, निर्लिप्त शासक विष्णुकान्त शास्त्री की निर्द्वन्द्व मुस्कराहट उस इतालवी कहावत— 'जिसके दाँत हमेशा दिखायी पड़ते हों, प्रायः वह बुरा आदमी नहीं होता' का ज्वलंत उदाहरण है।

अब वह मुस्कराहट उत्तर प्रदेश वासियों के लिए एक अमिट यादगार बन गयी है। अपने तीन साल सात महीने के कार्यकाल में शास्त्री जी ने अनेक ऐसे कार्यों की लम्बी लकीर खींची जो अविस्मरणीय है और उस लकीर

को छोटी कर पाना निकट भविष्य में आसानी से सम्भव नहीं प्रतीत होता। सचमुच उन्होंने शासन की चादर को जतन से ओढ़ा और बिना किसी दाग के 'जस के तस' धर दिया। 'गताः हि ते दिवसाः'—सचमुच शास्त्री जी के शासनकाल के वे बीते दिन लोगों की यादों में एक मधुर स्मृति के रूप में जीवंत हैं।

उन्होंने देश भर में हिन्दी, संस्कृति और भगवद्गीता के भाष्यकार के रूप में अपनी अमिट छाप छोड़ी। गोवा, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, दिल्ली ही नहीं, हिसार, भिवानी और राजस्थान के नागौर जिले की डीडवाना एवं छोटीखाटू जैसी छोटी जगहों पर भी उन्होंने मानव जीवन के उदात्त मूल्यों के प्रेरक के रूप में अपनी यात्राओं से नये आयाम स्थापित किये। ●

हे विष्णुकान्त!

सृष्टा की सब रचनाओं की रक्षा का तुमको भार मिला
नर में नारायण को देखा, इससे जनजन का प्यार मिला
घनघोर तिमिर का वक्ष तोड़ कर, निकल पड़े दिनमान बने
आचरण, लेखनी, वाणी से धरती माँ के वरदान बने

जीवन को नूतन अर्थ दिए, जीवन को जीवन बना दिया
साधना तपस्या को तुमने गौरव का दर्पण बना दिया।

अनगिन के हो प्रेरणास्रोत, जड़, चेतन सबको प्यार किया
गंगा यमुना से सिंची हुई धरती का नव शृंगार किया
तुम विष्णुकान्त! विधि के विधान का सम्वर्धन करने वाले
दिग्वधुओं की अलकावलि में नूतन सुगन्धि भरने वाले

हम ऋषि-मुनियों की तपोभूमि पर स्वागत कर हरषाते हैं
गर्वोन्नत मस्तक पर भावों के जवाकुसुम बिखराते हैं। ●

—राजबहादुर 'विकल'

आचार्य श्रीकान्त शास्त्री

आचार्य श्रीपं० विष्णुकान्त शास्त्री

कश्मीर की विद्वद्वृन्द की विशेषतः शैवागम महारथियों का उत्पादिका नैसर्गिक सुषमा समन्विता उर्वरा भूमि पर उत्पन्न, अविमुक्त धाम काशिका क्षेत्र के चिर प्रवासी स्वकीय पूर्वजों की छत्रछायान्तर्ग, अहर्निश गङ्गा विश्वनाथ के सेवन पूर्वक हिन्दू विश्वविद्यालयादि शिक्षाकेन्द्रों से लब्धसुविद्य हो, श्री पं० विष्णुकान्त शास्त्री चित्तरञ्जन एवेन्यू स्थित नैज निकेतन में रहते हुए भगवती सरस्वती की समाराधना में निमग्न हो शाक्तप्रमुख कलकत्ता वासियों को आलोकित करने लगे। सर्वविदित है कि माँ एक हाथ से अङ्कस्था वीणा धारण करतीं, अन्य तीनों में कमल, पुस्तक तथा मालिका। पता नहीं किस ज्ञाताज्ञात प्रेरणा से दिव्य-चक्षुस्त्व प्राप्त कर शास्त्री जी अपने हृदय कमल के रस परागादि उपकरणों से भगवान् राम भगवान् शिव भगवती परम्बा की नित्यनियमित सपर्या समर्चना करने लगे। सस्वर स्तोत्रों के गायन से हृत्तन्त्री के तारों से वातारवण को झंकृत तथा गुंजायमान करने लगे। साहित्य भाषासिद्धान्तादि ग्रन्थों के समावर्तन से आपके जीवन में शारदा की करस्थिता पुस्तिका की विद्यमानता तथा अध्यात्म धर्मादि ग्रन्थों के गहन विलोडन से मालिका की प्रत्यक्षता सर्वसाधारण जनों को भी अनुभूत होने लगी। कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर कक्षाओं में अपने विषय के विभागाध्यक्ष के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो आपने सर्वोधिक महत्त्वपूर्ण कलकत्ता नागरिक सम्मान अर्जित किया। आपका प्रारब्ध और साध-साध पुरुषार्थ भी केवल यहीं तक सीमित होकर सन्तुष्ट न रह सका। अथवा यों कहा जाय कि आप की परमाराध्या भगवती गौर्देवता ने गोवंश विप्रवंश साधुवृन्द धर्मकृत्यसमूह की तात्कालिक दुर्दशा के प्रति आपका ध्यानाकर्षण कर आपके अन्तःकरण में करुणा और व्यथा का जलसंप्लावन कर दिया। आप सर्वकाराधिकारियों की आँख खोलने राजनीति में आये। स्मरण है, भाजपा की जनसभाओं में, जहाँ के श्रोतागण में अधिकांशतः बंगभाषाभाषी वरिष्ठविद्वद्गण समुदाय होता, आपके धाराप्रवाह बंगला भाषणों को श्रवणकर उन्हें आह्लाद और हमें गौरव होता। आप भारत के सर्वश्रेष्ठ नागरिकों तथा राष्ट्रीय महान् व्यक्तित्वों की श्रेणी में परिगणित होने लगे। विधायक और संसद ही नहीं, राज्यपाल तक के महिमान्वित पद को सुशोभित करने का भी सौभाग्य प्राप्त किया। ●

सौजन्य : सुभाष मुखरजका, २४, हेमन्त बसु सरणी, कोलकाता-७०० ००१

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

आचार्य शास्त्री की पूरक और प्रेरक

वात्सल्यमूर्ति श्रीमती इंदिरा शास्त्री

आदरणीय गुरुवर विष्णुकान्त जी शास्त्री के अमृत महोत्सव अभिनंदन पर प्रकाशित होने वाले अभिनंदन ग्रंथ के मौके पर बरबस याद आ रही है एक ऐसे व्यक्तित्व की, जिन्होंने शास्त्रीजी की जीवनयात्रा में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया है। संभवतः यही कारण है कि अपनी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'तुलसी के हिय हेरि' उन्हें समर्पित करते हुए शास्त्रीजी ने लिखा है— 'दिवंगता पत्नी सुदर्शना इंदिरा को जिसने मुझे बनाने के प्रयास में अपने को मिटा दिया।'

अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के कारण विष्णुकान्तजी बहुतों के लिए प्रेरणास्रोत हैं। विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ सक्रिय रहकर उन्होंने जो कीर्ति हासिल की है इसकी पृष्ठभूमि में उनकी पत्नी श्रीमती इंदिरा शास्त्री का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनकी व्यस्त दैनंदिनी सुव्यवस्थित रहे, इस हेतु साज-सँभाल करते हुए मैंने स्वयं उन्हें देखा है। 'यात्रा-वीर' पति की यात्रा के जरूरी सामानों से सुसज्जित करते हुए, तो कभी पुस्तकों के विपुल भंडार की प्रसन्न मन से झाड़ते-पोंछते, सँभालते-सजाते हुए उन्हें आनंदानुभूति तो होती ही थी, उनकी रुचि के अनुसार कपड़ों की खरीदारी और जरूरत के सामानों की सुव्यवस्था करते हुए भी उन्हें अपार सुखानुभूति होती थी। श्रद्धेय शास्त्रीजी तो अपनी हर व्यवस्था के लिये उनपर पूरी तरह आश्रित रहते थे। इस प्रकार वे उनकी पूरक थीं।

यही कारण है कि अपने षष्टिपूर्ति अभिनंदन समारोह में गुरुवर आचार्य शास्त्री दिवंगता पत्नी का स्मरण करते हुए भावुक हो उठे थे। १९८९ में संपन्न इस समारोह के एक वर्ष पूर्व ही २७ मई १९८८ को उनका देहांत हुआ था। पत्नी-वियोग के उपरांत उज्जैन के कालिदास समारोह में 'कालिदास की विरह व्यंजना' पर बोलते हुए विष्णुकान्तजी मानो अपनी वेदना व्यक्त कर रहे थे। अनुभूत वेदना के साथ अभिव्यक्ति की मार्मिकता ने श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर लिया था। सम्मोहक वक्ता आदरणीय शास्त्रीजी के सर्वाधिक प्रभावी व्याख्यानों में इस वक्तव्य की गणना की जाती है।

मैं इस अर्थ में भाग्यवान हूँ कि गुरुमाता स्वर्गीया श्रीमती इंदिरा शास्त्री के स्नेह एवं वात्सल्य को प्राप्त करने का सुयोग मुझे मिला है। 'गांगेय भवन' में रहने वाले चार भाइयों के संयुक्त परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त अपने 'प्रिय देवर' के रूप में वे यदि डॉ० जगन्नाथ सेठ को स्नेह देती थीं तो 'बेटे' के रूप में मुझे वात्सल्य प्रदान करती थीं। मैं उन्हें 'चाचीजी' कहकर बुलाता था।

मैं यदा-कदा गुरुवर शास्त्रीजी के पास अपने शोध-कार्य (पी-एच. डी.) के सिलसिले में जाया करता था। धीरे-धीरे उनके आवास पर जाने का क्रम बढ़ने लगा— अब कारण केवल शोध-संबंधी नहीं था, सामाजिक-साहित्यिक संस्थाओं में मेरी गतिविधियाँ भी थीं। मैं उस समय तक अपने समाज (कान्यकुब्ज सभा) तथा अनामिका, बड़ाबाजार लाइब्रेरी जैसी संस्थाओं में सक्रिय हो गया था।

सौजन्य : सुभाष मुखर्जी, २४, हेमन्त बसु सरणी, कोलकाता-७०० ००१

माननीया चाचीजी अपनी सुपुत्री भारती तथा मेरी थीसिस को लेकर चिंतित रहती थीं। वे प्रायः कहा करतीं कि तुम्हारे 'सर' ने साहित्यिक-सामाजिक संस्थाओं में व्यस्त रहने के कारण डॉक्टरेट नहीं की, तुमलोग जल्दी काम कर डिग्री ले लो। मेरी अन्यत्र व्यस्तता देख एक दिन उन्होंने सीधे ही श्रद्धेय शास्त्रीजी से कहा— "आपने खुद तो संस्थाओं में व्यस्त रहते हुए पी-एच.डी. नहीं की, अब बेटे को (मुझे) भी इनमें व्यस्त कर दिया है।" मैं सब काम छोड़कर पी-एच.डी. कर लूँ इसके लिए वे जोर देती रहती थीं। लेकिन वह कालखंड ऐसा था कि मुझे पारिवारिक दायित्ववश बहुत व्यस्त रहना पड़ता था। गंभीर पठन-पाठन का अवकाश नहीं के बराबर था।

यह उनका ममत्व ही था कि एक दिन उन्होंने मुझसे पूरी दिनचर्या पूछी। मेरी अतिरिक्त व्यस्तता एवं मेरे दायित्वबोध से वे चिंतित भी हुईं और कहा— 'अपना काम समय निकाल कर अवश्य पूरा कर लो।'

मुझे जीवनभर इस बात की पीड़ा रहेगी कि मैं अपना शोध प्रबंध उनके जीवनकाल में प्रस्तुत नहीं कर सका। उनके देहावसान के दो वर्षों बाद ही मैंने उसे प्रस्तुत किया और फिर मुझे उपाधि मिली। शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करते समय बार-बार उनका स्मरण स्वाभाविक था अतः उसकी भूमिका में मैंने उन्हें श्रद्धा ज्ञापित करते हुए लिखा था— "शोध-प्रबंध की संपूर्णता में जिस आदरणीय व्यक्तित्व ने प्रेरणा-पुंज का कार्य किया है, वे हैं मातृ-तुल्य गुरुपत्नी स्वर्गीया श्रीमती इंदिरा शास्त्री। उनकी सत्प्रेरणा मेरा सम्बल रही है। उनका सहज स्नेह और वात्सल्य मेरे जीवन की बहुमूल्य निधि है। मैं उनकी पावन-स्मृति को प्रणाम करता हूँ।" सच तो यह है कि उनकी मृत्यु के बाद ही मैंने पूरी शक्ति के साथ अपने को झोंक कर कार्य पूरा किया। निश्चय ही उनका शुभाशीर्वाद मेरे साथ था। यही कारण है कि पी-एच.डी. की मौखिकी संपन्न होते ही श्रद्धेय गुरुवर शास्त्रीजी के मुँह से बरबस ये शब्द निकले थे— 'आज तुम्हारी चाची होतीं तो सर्वाधिक प्रसन्न होतीं'। उनके इस वाक्य में दायित्वपूर्ति का संतोष भी निहित था।

एक प्रसंग याद आ रहा है। मैंने यों ही एक दिन उनसे पूछा— 'चाचीजी, सर के सम्मान समारोह में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केंद्रित पुस्तक निकलेगी तो आपसे एक साक्षात्कार मैं जरूर लूँगा। इस इंटरव्यू में एक सवाल यह होगा— "पति-पत्नी किसी बात पर कभी-कभी उलझ कर वाक्-युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। क्या कभी आप दोनों में नोंक-झोंक हुई है?" उन्होंने तुरंत उत्तर दिया— "बेटा ! यह सच है कि हम दोनों में कभी झगड़ा नहीं हुआ। लेकिन मुझे एक चिंता भी है। लोग कहते हैं कि जो पति-पत्नी जवानी में नहीं झगड़ते, वे बुढ़ापे में खूब लड़ते हैं।" मालूम नहीं लोगों की इस बात में कितनी सच्चाई है लेकिन ५० वर्ष की अल्पायु में उनकी असामयिक मृत्यु की एक कटु सच्चाई हम अवश्य झेल रहे हैं।

आचार्य शास्त्री ने १९९४ में जब विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया तब एक भव्य विदाई समारोह स्थानीय महाजाति सदन सभागार में उनके पूर्व विद्यार्थियों की ओर से किया गया था। इस अवसर पर 'शास्त्रैरपि शरैरपि' शीर्षक पुस्तक भी प्रकाशित हुई थी जो आचार्य शास्त्री के व्यक्तित्व-कृतित्व पर केन्द्रित थी। इस ग्रंथ में अपना साक्षात्कार देने के लिए आदरणीया चाचीजी तो नहीं थीं, परन्तु संपादक के रूप में 'शास्त्रैरपि शरैरपि' ग्रंथ को 'मातृ-तुल्य गुरु-पत्नी स्वर्गीया श्रीमती इंदिरा शास्त्री की पुण्य स्मृति में सादर समर्पित कर ही मुझे सन्तोष करना पड़ा। वास्तव में श्रद्धेय शास्त्रीजी के जीवन और व्यक्तित्व में उनकी उपस्थिति पूरक और प्रेरक की रही है— यही दाम्पत्य जीवन की सार्थकता और परिपूर्णता है। मेरे लिए तो गुरुमाता की छवि शिव ओम अम्बर की इन पंक्तियों के अनुसार अविस्मरणीय है— 'उनकी चितवन से हर पल सुधा छलकती
ममता मंगल आशीषों में बहती थी।' ●

सौजन्य : सुभाष मुखोपाध्याय, २४, हेमन्त चन्द्र सरणी, कोलकाता-७०० ००१

खंड : ५

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की कतिपय रचनाएँ

:: अनुक्रम ::

क्र० सं०	लेख	पृ० सं०
१.	राम का नाम ही नहीं, राम का काम भी	३
२.	तुलसीदास की तेजस्विता	११
३.	सत्य की गहरी चोटें यानी सर्वेश्वर के व्यंग्य	१९
४.	हृदयधर्मी, जनकवि नागार्जुन	२५
५.	शालीनता और संवेदनशील विद्वत्ता के मूर्त रूप : रामस्वरूप चतुर्वेदी	३५
६.	सागर से सँवरा पुरी का सिंगार	४३
७.	ईशावास्य प्रवचन : काम करते हुए ही सौ बरस तक जीने की इच्छा करें	५०
८.	गीता में तप की अवधारणा	६४
९.	डोडा में आतंकवादियों की उग्र गतिविधि चिंताजनक– क्षेत्र को सेना के हवाले किया जाय	७७
१०.	बड़ा काम कैसे होता है	७९
११.	वैज्ञानिक चेतना को विकसित करना होगा	८३
१२.	मुक्तक	८५
१३.	कलकत्ता विश्वविद्यालय का अधिग्रहण चरम स्वेच्छाचारिता	८६
१४.	विकट तूफान की झड़ियाँ	९२

राम का नाम ही नहीं, राम का काम भी

'परशुराम की प्रतीक्षा' में दिनकर ने भारतीय जनता की भक्तिजनित अकर्मण्यता पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहा है, 'दो उन्हें राम तो मात्र नाम वे लेंगी'।[1] वास्तव में यह क्षोभ बहुत पुराना है। भक्ति का आवरण डाल कर तमोगुणी आलस्य बहुत बार सतोगुणी स्थैर्य के रूप में अपने को प्रचारित करता है और इस प्रकार धर्मग्लानि को मिटाने के स्थान पर बढ़ाता है। विष्णुपुराणकार ने इसी मनोवृत्ति की भर्त्सना करते हुए कहा था—

अपहाय निजं कर्म, कृष्णकृष्णेतिवादिनः।
तेहरेर्द्वेषिणः पापाः धर्मार्थंजन्म यद्धरेः।।[2]

अर्थात् अपने कर्म को त्याग कर केवल कृष्ण-कृष्ण रटने वाले तो हरि के द्वेषी और पापी हैं क्योंकि हरि का जन्म ही धर्म (की स्थापना) के लिए होता है। सामाजिक कर्त्तव्य को भक्ति के साथ जोड़ने वाली यह परंपरा मध्यकाल में बहुत दुर्बल हो गयी थी। कुछ दूर तक इसके लिए सामयिक परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी थीं पर ऐसा लगता है कि संसार-विमुख होकर वैयक्तिक भावसाधना में निरत रहने की विधि पर आचार्यों द्वारा अधिक जोर दिये जाने के फलस्वरूप भी सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति अवहेलना बुद्धि दृढ़ हुई थी। 'हरेर्नाम, हरेर्नाम, हरेर्नामैव केवलम्, कलौ नास्त्येव, नास्त्येव, नास्त्येव गतिरन्यथा'[3] अर्थात् कलियुग में हरिनाम को छोड़कर और कोई दूसरी गति है ही नहीं, मध्य युग में यह प्रायः सर्वमान्य सिद्धांत बन गया था। भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ मानने के कारण[4] बहुत से भावुक भक्त उनका तिरस्कार करने लगे थे। इस एकांगदर्शिता से सामाजिक समग्रता को क्षति पहुँच रही थी। इसी पृष्ठभूमि में तुलसी का उदय हुआ था।

तुलसी ने इस परिस्थिति को पहचाना था। राम का नाम उनका भी सबसे बड़ा संबल था किन्तु वे राम के काम को भी नहीं भूले थे। मध्यकालीन भक्तों में उनके सदृश बहुत कम विचारक थे जिन्होंने राम के नाम और काम दोनों पर जोर दिया हो। इसका सर्वप्रथम कारण उनका यह विश्वास था कि 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि'[5] जहाँ ज्ञान, योग एवं शांत भाव की साधनाओं में निर्वैयक्तिकता पर बल दिया जाता है वहीं सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव की साधनाएँ बहुत अधिक वैयक्तिक हैं। इन दोनों स्थितियों में जगत् को प्रायः विस्मृत कर दिया जाता है। दार्शनिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या या सत्य मानना अलग बात है, व्यावहारिक दृष्टि से उसकी उपेक्षा ज्ञानियों और वैयक्तिक साधना पर बल देने वाले भक्तों ने समान रूप से की है। तुलसीदास ने तात्त्विक दृष्टि से जगत् को सत्य माना था या मिथ्या, इस पर विवाद हो सकता है किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वे जगत् को 'सीय राम मय' मानते थे। फलतः व्यवहार में वे उसकी सेवा करना अपना धर्म समझते थे। इसीलिए उन्होंने श्रीराम से कहलाया था कि मुझे सेवक प्रिय हैं और उनमें भी अनन्यगति सेवक। अपने अनन्य सेवक का लक्षण बताते हुए तुलसी के राम कहते हैं—

सो अनन्य जाके अस मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।।[6]

अर्थात् जो दृढ़तापूर्वक इस चराचर जगत् को प्रभु का व्यक्त रूप मानकर इसकी सेवा में रत रहता है वही (श्रीराम का) अनन्य भक्त है। सेव्य के रूप में समस्त व्यक्त जगत् रूपी राम को स्वीकारने का अर्थ ही है कर्मठतापूर्वक 'हेतु रहित परहित निरत' रहना। यह व्याख्या श्रीराम ने ही की है। जटायु ने तो राम के लिए ही प्राण दिये थे किन्तु प्रभु ने उसकी सराहना करते हुए कहा था, 'परहित बस जिन्हके मन माहीं, तिह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।'[४] इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि तुलसी ने श्रीराम के सगुण साकार अवतारी रूप को स्वीकार करते हुए भी उन्हें इतिहास और भूगोल से नहीं बाँधा है। 'देस, काल, दिसि बिदिसहु माहीं, कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं'[५] कहने वाले तुलसीदास की मान्यता है कि राम की सेवा अर्थात् राम का काम करने का अवसर 'सबहि सुलभ सब दिन, सब देसा'। फिर भी यह सच है कि कोई विरला भाग्यवान ही राम का काम कर पाता है अधिकतर लोग तो राम के काम का बहाना करके रावण का ही काम करते रहते हैं क्योंकि उनके हृदय में तो काम, क्रोध, लोभ, मोह का अंधेरा छाया रहता है। इसीलिए, तुलसी केवल कर्म पर जोर नहीं देते, बाहर-भीतर उजाला करने वाले राम नाम के जप पर भी जोर देते हैं —

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जो चाहसि उजिआर।।[६]

इसका अर्थ यही है कि तुलसीदास के लिए कर्म-चेतना स्वतंत्र न होकर भक्ति का अनिवार्य अंग है। कर्म विपथगामी न हो जाये इसके लिए आवश्यक है कि वह भक्ति द्वारा (जिसका आधार नाम जप है)[७] अनुशासित हो और भक्ति नितांत वैयक्तिक भावसाधना (जिसकी विकृति बहुत आसान है) के कारण निष्क्रिय न हो जाये इसके लिए उसे चराचर जगत् के रूप में अभिव्यक्त प्रभु की सेवा में नियोजित कर दिया जाये, यही तुलसीदास का अभिप्राय ज्ञात होता है।

तुलसी ने राम नाम की अमित महिमा का बार-बार गान किया है, केवल मानस में ही नहीं, अपनी समस्त कृतियों में। मानस के बालकांड में नामवंदना के दोहों में उन्होंने भाव-भरी युक्तियों से सिद्ध किया है कि राम का नाम उनके निर्गुण-सगुण दोनों रूपों से श्रेष्ठ है। प्रभु के ये दोनों रूप 'अगम' हैं किन्तु नाम-जप से दोनों 'सुगम' हो जाते हैं अतः स्पष्ट है कि नाम ने इन दोनों को अपने बलबूते से अपने वश में कर रखा है। सच्चिदानन्द ब्रह्म तो सभी जीवों के हृदय में विद्यमान हैं, फिर भी जग के सभी जीव दीन-दुःखी हैं। नाम के निरूपण एवं नाम के बल से या यों कहें नाम के अर्थ पर मनन करते हुए उसके निरंतर जप से अंतःस्थित ब्रह्म प्रत्यक्ष होकर जीव के दुःख-कष्ट दूर कर उसे उसी प्रकार परमानंदमय बना देते हैं जिस प्रकार रत्न से उसका मूल्य प्रकट होकर व्यक्ति के अभावों को दूर कर उसे इच्छित वस्तुएँ प्रदान करने में समर्थ है। प्रभु श्रीराम ने अवतार ग्रहण कर ताड़का, खरदूषण, कुंभकर्ण, रावण आदि कुछ निशाचरों का वध किया और अहल्या, शबरी, गीध, सुग्रीव, विभीषण आदि कुछ भक्तों को निवाजा किन्तु उनके नाम ने तो कलि के समस्त कलुषों को नष्ट कर असंख्य भक्तों को निवाजा है। घोर कलिकाल में तो राम का नाम ही एकमात्र कल्पवृक्ष है। अतः तुलसीदास का निष्कर्ष है—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकु। राम नाम अवलंबन एकु।।[८]

तुलसी ने राम नाम की ओट लेते समय विनयपूर्वक यह कहकर कि कलि में कर्म, भक्ति और विवेक (ज्ञान) रह ही नहीं जाते अतः एकमात्र राम का नाम ही अवलंब है, उन साधनों का न तिरस्कार किया है, न निषेध। वे जानते हैं कि जैसे भूमि में ही सब बीज अंकुरित हो सकते हैं, आकाश में ही सब नक्षत्रों का निवास है वैसे ही राम नाम समस्त धर्मों का आकर है—

जथा भूमि सब बीज मैं, नखत निवास अकास।
रामनाम सब धरम मैं जानत तुलसीदास।।[१२]

अतः वे निश्चित हैं कि रामनाम ही जापक के अंतःकरण में समयोचित आवश्यक धर्मों की प्रेरणा देता रहेगा।

इसमें संदेह नहीं कि श्रद्धासहित नामजप करते रहनेवाले भक्त के मन में उस मनोवैज्ञानिक रक्षाकवच के प्रभाव से अद्भुत सात्त्विक गुणों का उत्कर्ष होता है और वह क्रमशः नामी के गुण, कर्म, शील, स्वभाव की ओर आकृष्ट होता जाता है, जिसके फलस्वरूप वह पहले से अच्छा मनुष्य बनता है। फिर भी रामनाम की इस महिमा को आधुनिक विचारक अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। प्रश्न अभी उसकी सत्यता या असत्यता का नहीं है, वह अलग विचार्य विषय हो सकता है। अभी प्रश्न तो यह है कि मध्यकाल के अन्य संतों-भक्तों की तरह नाम-महिमा का गान करने के बाद तुलसी भी क्या उन्हीं की तरह केवल निर्वैयक्तिक या अतिशय वैयक्तिक साधनाओं में लीन हो गये? रामनाम नींव सही, उस पर उन्होंने अपनी साधना का भवन कैसा उठाया? यहीं अपनी समाजोन्मुखी वैयक्तिक साधना के कारण तुलसी अन्य संतों, भक्तों से पृथक् हो जाते हैं। उसका एक प्रमाण यह भी है कि उन्होंने राम के नाम पर जितना बल दिया है, राम के काम पर भी उतना ही बल दिया है। उनके आदर्श भक्त चरित्र एकांत में साधना ही नहीं करते, राम का काम सिद्ध हो, इसके साधन भी बनते हैं।

तुलसी ने राम के काम पर कितना जोर दिया है, यह इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जायेगा। निषादराज को जब यह लगता है कि भरत संभवतः श्रीराम पर आक्रमण करने की योजना बनाकर चित्रकूट जा रहे हैं तब वे राम के काम आने की भावना से भरत से युद्ध कर मृत्यु तक का वरण करने के लिए तैयार होकर कह उठते हैं, 'समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा, रामकाजु छनभंगु सरीरा।'[१३] सुग्रीव सीता की खोज के लिए वानरों को भेजते समय 'रामकाजु अरु मोर निहोरा'[१४] कह कर उत्साहित करते हैं। किसी भी सत्कार्य के लिए दूसरे को प्रवृत्त करते समय हिंदीभाषी जन इस कथन को आज लोकोक्ति की तरह व्यवहृत करते हैं। श्रीराम के कार्य के लिए शरीर-त्याग करनेवाले जन तुलसी की दृष्टि में अनन्य रूप से धन्य, बड़भागी और हरिपुर के अधिकारी हैं, तभी उन्होंने अंगद से कहलवाया था, 'कह अंगद बिचारि मन माहीं, धन्य जटायू सम कोउ नाहीं। राम काज कारन तनु त्यागी, हरिपुर गयउ परम बड़भागी।'[१५] हनुमान को सागर लांघने के लिए अभिप्रेरित करते हुए जामवंत ने कहा था, 'राम काज लगि तव अवतारा।'[१६] प्रभु का कार्य संपन्न किये बिना सच्चे प्रभुभक्त विश्राम कैसे कर सकते हैं? हनुमान की यह उक्ति उनकी भावना की निश्छल अभिव्यक्ति है, 'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम।'[१७] राम का कार्य जिससे सधे, भक्त वही करता है, व्यक्तिगत मान-अपमान का विचार उसे नहीं रहता। हनुमान मेघनाद के हाथों बंदी बनकर रावण की सभा में इसीलिए उपस्थित हुए थे कि शायद उनके समझाने से रावण को सद्बुद्धि आ जाये। उन्होंने द्विधाहीन शब्दों में कहा था, 'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा, कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।'[१८] कार्य सिद्ध होने पर भक्त उसका श्रेय स्वयं नहीं लेता, प्रभु की कृपा को देता है और साधन बन पाने के कारण अपने जन्म को सफल मानता है। उसकी मान्यता है, 'प्रभु कौ कृपा भयउ सबु काजू, जन्म हमार सुफल भा आजू।'[१९] राम के काम आ जाना ही भक्त के जीवन की चरितार्थता है, इसे तुलसी ने लक्ष्मण को शक्तिबाण लगने के प्रसंग के माध्यम से गीतावलीं में बहुत खूबी से उभारा है। हनुमान से लक्ष्मण के घायल होने का संवाद सुनकर सुमित्रा माता की जो मनःस्थिति हुई उसे तुलसी ने इन शब्दों में अंकित किया है—

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभट सों लोहे ललकारि लरे हैं।।
सुवन सोक संतोष सुमित्रहि रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन-छिन गात सुखात छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं।।[७]

स्वामी राम के लिए प्रतिपक्षी सुभट से संग्राम में ललकार कर भिड़ने और लोहा लेने के कारण लक्ष्मण गंभीर रूप से घायल हो गये हैं, यह सुनकर सुमित्रा माता को शोक और संतोष दोनों हुए। पुत्र मुमूर्षु है, जब यह विचार मन में आता तो उनका शरीर सूख जाता किन्तु जब उनके मन में यह भाव आता कि प्राणों को संकट में डालकर आज लक्ष्मण राम की भक्ति में खरा सिद्ध हुआ तो उनका शरीर उल्लसित हो हरा हो उठता। इसी पद में तुलसी ने सुमित्रा माता से शत्रुघ्न को यह आज्ञा दिलाई है कि अब वे जाकर लक्ष्मण का स्थान लें। सुमित्रा माता के दिव्य चरित्र का किंचित आभास दे पाने के कारण यह पद तो महिम्न है ही, इस दृष्टि से भी मैं इसका महत्त्व मानता हूँ कि इससे यह बिलकुल साफ हो जाता है कि लक्ष्मण की तरह श्रीराम के कार्य के लिए प्राणों को संकट में डालनेवालों के लिए ही यह कहा जा सकता है कि वे 'रघुपति भगति बरे हैं।'

प्रश्न उठ सकता है कि मानस के अनुसार क्या है राम का काम और आज का मनुष्य उसे कैसे संपन्न कर सकता है? यह स्मरण रखना चाहिए कि मानस जीवन के प्रति एक विशिष्ट मूलभूत दृष्टि निरूपित करने वाला काव्यग्रंथ है, किसी सरकार या राजनीतिक दल के कार्यक्रम को शब्दबद्ध करने वाला दस्तावेज नहीं। कार्यक्रम बदलते हुई परिस्थियों में बदले जा सकते हैं या पुराने पड़ जा सकते हैं। मानस की दृष्टि धर्मपरायण (अर्थात् कर्त्तव्यपरायण) मर्यादावादी (अर्थात् सामाजिक चेतना-संपन्न) आस्तिक (अर्थात् सत्‌चित् और आनंद के चरम मूल्यों के प्रति आस्थायुक्त) दास्य भाव के भक्त (अर्थात् चराचर जगत् रूपी प्रभु की परम प्रेमपूर्वक सेवा करने वाले अनन्य सेवक) की दृष्टि है, जिसका लक्ष्य है ऐसे विषमता रहित समाज की सृष्टि करना जिसमें सब सुंदर हों, सब नीरोग हों, सब निर्दंभ और धर्मरत हों, चतुर और गुणी हों, गुणज्ञ और पंडित हों, ज्ञानी और कृतज्ञ हों, जिसमें कोई भी दरिद्र-दुःखी-दीन न हो; अबुध, लक्षणहीन और कपटी न हो। इसीलिए यह मानते हुए कि राम के जन्म के अनेकानेक हेतु हो सकते हैं। तुलसी ने गीतोक्त हेतुओं को दुहराते हुए कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है, अभिमानी, अधम, असुर अवर्णनीय अनीति करने लगते हैं; विप्र, धेनु, देवता और धरती को कष्ट देने लगते हैं, तब-तब प्रभु विविध शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरते हैं, असुरों को मारकर देवताओं और श्रुतियों की मर्यादा की रक्षा करते हैं। यह ठीक है कि वैयक्तिक साधना पर बल देने वाले आचार्यों की यह स्थापना भी उन्हें स्वीकार है कि भक्तों के साथ लीला करने के लिए उन्हें सुख देने के लिए प्रभु अवतार ग्रहण करते हैं पर सामाजिक मंगल विधान को भी वे अवतार के प्रमुख कारणों में से एक मानते हैं। इसीलिए निशाचरों द्वारा भक्षित ऋषियों की अस्थियों का समूह देखकर करुणार्द्र हो उनके राम भुजा उठाकर अपना यह वज्र संकल्प घोषित करते हैं कि मैं पृथ्वी को निशाचर विहीन कर दूँगा, 'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'[८] इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि निशाचर से तुलसी का अभिप्राय काल्पनिक योनिविशेष से न होकर समाज के अत्याचारी व्यक्तियों से था। तुलसी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

बरनि न जाई अनीति, घोर निशाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहि कवन मिति।।

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट पर धन पर दारा।।
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।।
जिनके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी।।[13]

ऐसे निशाचरी अन्याय का प्रतिरोध कर रामराज्य (सामाजिक न्याय पर आधारित राज्य) की स्थापना के कार्य से जो जुड़ता है वह किसी भी देश या किसी भी काल में क्यों न हो, राम का काम करता है। राम का काम केवल ध्वंस-मूलक नहीं है, इसे बराबर याद रखना चाहिए। अन्याय के विध्वंस के साथ-साथ व्यक्ति और समाज दोनों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्तरों पर उन्नयन का कार्य भी राम का काम है। मेघनाद से युद्ध करते हुए लक्ष्मण भी राम का काम कर रहे थे और अयोध्या में बैठे न्यायमुक्त राज्य संचालन कर भरत भी राम का ही काम कर रहे थे। कभी-कभी मन में यह भावना जागती है कि लंका के मोर्चे पर लड़नेवाले ही राम के सच्चे सेवक थे। औरों की बात तो जाने दीजिए, लक्ष्मण के घायल होने का समाचार पाकर स्वयं भरत ने यह परिताप व्यक्त किया था, 'अहह दैव मैं कत जग जायऊँ, प्रभु के एकहु काज न आयउँ,[14] इस भावपूर्ण उक्ति का यह अर्थ नहीं है कि भरत प्रभु के किसी काम नहीं आये थे। यह तो प्रभु के अधिकाधिक काम में आने की लालसा की अभिव्यक्ति मात्र है। कुछ लोग अपने भोलेपन के कारण पूछ बैठते हैं कि भरत के मन में यदि इतना ही परिताप था तो वे तत्काल युद्ध में भाग लेने के लिए लंका चले क्यों नहीं गये? वे भरत रघुवर के 'अगम सनेह' को नहीं जानने के कारण ही ऐसा कहते हैं। 'सबतें सेवक धरमु कठोरा'[15] माननेवाले भरत उस समय भी 'अग्यासम न सुसाहिब सेवा'[16] के सिद्धांत का पालन करने के कारण ही अयोध्या में अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहे। तुलसीदास ने गीतावली में इस प्रसंग में भरत के अंतर्द्वंद्व का मार्मिक चित्रण इस प्रकार किया है—

आयसु इतहि स्वामि-संकट उत, परत न कछु कियो है।
तुलसिदास बिहरयो अकास सो कैसे के जात सियो है।।[17]

भरत ऊहापोह में पड़े सोच रहे हैं कि इधर स्वामी की आज्ञा है १४ वर्षों तक अयोध्या में रहकर राज्य संचालन करने की, उधर स्वयं स्वामी संकटग्रस्त हैं, कुछ करते नहीं बनता, मानो आकाश फट गया हो, वह कैसे सिया जाये ! फिर भी; अपनी भावनाओं पर पत्थर रखकर भी वे आज्ञापालन में ही रत रहते हैं, युद्ध के मोर्चे पर नहीं चढ़ दौड़ते। उनके इस सूक्ष्म कर्त्तव्य-ज्ञान को समझकर ही हनुमान की यह दशा हो गयी थी, 'धनि भरत ! धनि भरत ! करत भयो मगन मौन रहयो मन अनुराग रयो है।'[18] भरत अपने इस आचरण से यही दर्शाते हैं कि महत् कार्य की सिद्धि उस कार्य में रत व्यक्तियों द्वारा उसके बड़े-छोटे, आकर्षण-अनाकर्षण सभी अंगों को महत्त्व देकर गुरुजनों द्वारा प्रदत्त, सहज प्राप्त या स्वयं स्वीकृत कार्यांश को अनुशासनपूर्वक करते रहने से ही हो सकती है। अतः पताका के दंड की भाँति स्वयं प्रसिद्धिपराङ्मुख रहकर भी अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहना राम के सेवकों का सहज लक्षण होना चाहिए। अग्रिम मोर्चे पर रहकर यश प्राप्त करने की दुर्बलता उनमें नहीं होनी चाहिए।

फिर सच बात तो यह है कि मोर्चा कहाँ नहीं है! हर व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में काम करते समय मोर्चे पर ही तो खड़ा है। यहाँ तक कि हर एक के मन में भी राम-रावण युद्ध चल रहा है। यदि व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह का शिकार होकर विषय-वासना की तृप्ति को ही अपना परम ध्येय मान बैठता है तो मुँह से वह चाहे कुछ भी कहे, वास्तव में वह रावण के पक्ष में लड़ता है। तुलसीदास ने प्रत्येक व्यक्ति के वपुष ब्रह्माण्ड में चलनेवाले राम-रावण युद्ध का चित्रण करते हुए स्पष्ट कहा है, 'मोह दसमौलि, तदभ्रात अहंकार, पाकारिजित काम बिश्रामहारी। लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ठ, बिबुधांतकारी।।[19] अपना मोह (अज्ञान) ही रावण है, अहंकार,

ही कुंभकर्ण है, काम ही इंद्रजेता मेघनाद है, लोभ, मत्सर और क्रोध ही रावण के सेनानायक अतिकाय, महोदर और बिबुधांतक है। इसी तरह उसी पद में आगे कहा गया है कि यम-नियम आदि ही देवता हैं, मोक्ष के साधन ही राम की सेना के भालु-चंदर हैं, ज्ञान ही सुग्रीव है, वैराग्य ही हनुमान है। मोहग्रस्त व्यक्ति जब अपने भीतर के मोर्चे पर ही हार जाता है तब वह राम का काम कैसे कर सकता है। राम का काम तो अपने सद्गुणों को जगाकर अपने कर्त्तव्य कर्म में सेवा भाव से रत रहना ही है। अपने मोर्चे पर सफलता पानेवाले को प्रभु जो काम उचित समझेंगे, सौंपते चले जाएँगे। लक्ष्मण को भक्तियोग का उपदेश देते समय प्रभु ने उसका प्रथम साधन ही इसी भाव को बताया था। 'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती, निज-निज धरम-निरत स्रुति रीती।'[13] अपनी स्वस्थ परंपरा के प्रति श्रद्धावान् रहकर जो व्यक्ति अपना कर्त्तव्य कर्म करता रहता है, उसी के मन में विषयों के प्रति विराग होता है और तभी श्रीराम के धर्म के प्रति अनुराग संभव हो सकता है। स्पष्ट है कि तुलसीदास नामजप के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी निष्क्रियता के नहीं, कर्म को अपने में समेट लेनेवाली भक्ति के प्रचारक थे। तभी उन्होंने जंगमतीर्थराज संत समाज के संगम में यदि राम-भक्ति को गंगा और ब्रह्मविचार को सरस्वती कहा था तो विधिनिषेधमय कर्म की कथा को यमुना बताकर उसे ही कलिकाल का मल दूर करने में समर्थ बताया था।[14] इसी प्रकार 'सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग'[15] कहकर तुलसीदास ने गृहस्थों को तो अनिवार्यतः कर्म करते रहने का अर्थात् श्रीराम के अनुकूल कर्म करते रहने का निर्देश दिया है।

तुलसी के उपास्य श्रीराम स्वयं सैकड़ों संकट झेलकर भी अपने कठिन कर्त्तव्य कर्म का निर्वाह करते रहे। तुलसीदास ने बहुत उत्साह के साथ उनके दिव्य कर्मों का—मर्यादापूर्ण चरित का गुणगान किया है और बार-बार उनकी इस महिमा की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। रामतिलक के बाद वंदना करते हुए चारों वेदों के माध्यम से तुलसी ने दंडकारण्य के कंटकों से छिदे श्रीराम के चरण-युगल का भजन करने की प्रेरणा दी है—

ध्वज, कुलिस, अंकुस, कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।[16]

श्रीराम के चरण अपने कर्त्तव्य कर्म की पूर्ति में काँटों से छिदें और उनके भक्त निष्क्रिय रहें, यह कैसे संभव है। कर्मरत उपास्य की यह बाँकी छवि भक्तों को भी राम के काम के लिए केवल पैरों में नहीं, रोम-रोम में काँटे छिद जायें तो भी कर्त्तव्य पथ पर बढ़ते जाने के लिए अभिप्रेरित करती रहेगी। इसी स्तुति में वेदों ने यदि एक ओर 'जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सो समरामहे' कहकर नामजप के महत्त्व को स्वीकारा है तो 'मन, बचन, कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं' कहकर मन-वाणी और कर्म की एकता एवं निर्विकारता पर भी जोर दिया है। तुलसीदास ने यदि विनयपत्रिका में कहा है—

प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुं आदि मध्य परिनामो।[17]

तो गीतावली में यह भी कहा है—

मुद मंगल मय संत समाजू, जो जग जंगम तीरथ राजू।
राम भक्ति जहँ सुरसरिधारा, सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा।
विधिनिषेधमय कलिमल हरनी, करम कथा रविनंदनि बरनी।।

मानस १।२।७-९

नित नये मंगल मोद अवध सब, सब बिधि लोग सुखारे।
तुलसी तिन्ह सम तेउ जिन्हके प्रभुतें प्रभु-चरित निहारे।[२४]

एक ओर राम से भी अधिक प्रिय राम का नाम हो, दूसरी तरफ प्रभु से भी अधिक प्रिय प्रभु चरित हो तभी भक्त की भावना में पूर्णता आती है। राम नाम जपते हुए राम के चरित्र से प्रेरणा प्राप्त कर राम के काम में जुटे हुए भक्तों का निर्माण करना ही तुलसी का उद्देश्य है। इसीलिए उनका संदेश है—

राम सुमिरि साहसु करिय मानिय हिये न हारि।[२५] ●

संदर्भ संकेत :

१. परशुराम की प्रतीक्षा (प्र. सं.) पृ. २४
२. लो० तिलक कृत गीता रहस्य के दशम मुद्रण के पृ. ५२५ पर उद्धृत
३. देवर्षि नारद द्वारा कथित एवं चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित
४. सातुकर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। —नारदीय भक्ति-सूत्र, सं० २५
५. मानस ७।११९क
६. वही ४।३
७. वही ३।३१।९
८. मानस १।१८५।६
९. वही १।२९
१०. वही १।२२।६
११. मानस १।२७।७
१२. दोहावली २९
१३. मानस २।१९०।३
१४. वही ४।२२।६
१५. वही ४।२७।७-८
१६. वही ४।३०।६
१७. वही ५।९
१८. वही ५।२१।६
१९. वही ५।३०।४
२०. गीतावली ६।१३।९-४
२१. मानस ३।९
२२. वही २।१८३-१८४।९-३
२३. मानस ६।६०।३
२४. वही २।२०३।७
२५. वही २।३०१।४
२६. गीतावली ६।१०।७-८
२७. वही ६।११।८
२८. विनय पत्रिका ५७।७-८
२९. मानस ३।१६।६
३०. मानस १।२।७-९
३१. मानस २।५७२
३२. मानस ६।१३।४।३-४
३३. विनय पत्रिका २२८।१२
३४. गीतावली १।४४।९-१०
३५. रामाज्ञा प्रश्न ५।१।३

तुलसीदास की तेजस्विता

तुलसीदास की दीनता ही विख्यात है, तेजस्विता नहीं। किन्तु जिस प्रकार राजा जनक ने भोग में योग को छिपा रखा था' उसी प्रकार तुलसी ने अपनी तेजस्विता को दीनता के आवरण में इस तरह लपेट रखा है कि 'सहसा लखि न सकहिं नर नारी'। यों देखा जाये तो उनकी दीनता में भी अपूर्व तेजस्विता निहित है। तुलसी केवल श्रीराम के समक्ष दीन हैं और किसी के आगे नहीं, यद्यपि विनम्र वे सब के प्रति हैं। उनके आचरण में उनका यह विश्वास पूरी तरह उतर गया था कि, 'स्वारथ, परमारथ, सकल, सुलभ एक ही ओर। द्वार दूसरे दीनता ढाँचत न तुलसी तोर।'[1] कवितावली के अनेक छंदों में उन्होंने अपनी इस मान्यता को जरा बाँकपन के साथ व्यक्त किया है, 'जानकी जीवन को जन ह्वै, जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहिं'[2] 'जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की'[3] आदि-आदि।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि श्रीराम के सामने भी दीन होने का उनका आदर्श 'चातक' का है। एक ओर यदि वे बताते हैं कि तीनों लोकों और तीनों कालों में चातक ही यशस्वी है क्योंकि उसकी 'दीनता' कभी, किसी दूसरे नाथ ने नहीं सुनी,[4] तो दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि जो न याचना करता है, न संग्रह, न सिर झुका कर लेता है, ऐसे स्वाभिमानी चातक को मेघ के बिना और कौन दे सकता है।[5] मान और प्रेम दोनों का निर्वाह कैसे हो सकता है, यह चातक ही सिखा सकता है, क्योंकि स्वाति जल के अतिरिक्त और कुछ न ग्रहण करने वाला चातक वक्र स्वाति बूँद की भी उपेक्षा कर मान-रक्षण के अपने नियम का पालन करता है। इस संदर्भ में सचमुच बेजोड़ है तुलसी का यह दोहा—

तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
बक्र बूँद लखि स्वाति हू निदरि निबाहत नेम।।[6]

इसी तरह निस्संदेह कहा जा सकता है कि दीनता और तेजस्विता का युगपत् निर्वाह करना तुलसी को ही फबा है।

तुलसी की तेजस्विता पर विचार करने के पहले तेजस्विता के सामान्य स्वरूप को समझ लेना लाभदायक होगा। तेजस्विता का अर्थ है तेजस्वी होने का भाव और तेजस्वी वह होता है जिसमें तेज हो। तेजस् शब्द तिज् धातु में असुन् प्रत्यय जोड़ने से बनता है। तिज् धातु के प्रमुख अर्थ हैं सहन करना, साहस के साथ भुगतना, पैना करना, उत्तेजित करना आदि। हिन्दी शब्द सागर में 'तेज' के अट्ठाईस अर्थ दिये गये हैं। इस संदर्भ में उपयोगी सिद्ध होने वाले कुछ अर्थ हैं, दीप्ति, कांति, पराक्रम, ताप, प्रचंडता, प्रताप, प्राणभय की भी स्थिति में अपमान आदि न सहने की प्रकृति, दूसरों को अभिभूत करने की शक्ति। तेज को पंच महाभूतों में तृतीय माना गया है और उसके दो प्रधान गुण बताये गये हैं : ताप और प्रकाश। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार जो तेज को ब्रह्मरूप में उपासना करता है वह तेजस्वी होकर तेज-संपन्न प्रकाशमान लोकों को प्राप्त करता है। (६।१५।२) गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित दैवी संपदा के अंतर्गत आये 'तेजः' शब्द की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है, 'प्रागल्भ्यं न त्वन्यगता दीप्तिः'

अर्थात् यहाँ तेज का अर्थ त्वचागत दीप्ति न होकर प्रागल्भ्य (साहस, स्वाभिमान, वीरत्व आदि) है। साहित्य दर्पण के अनुसार तेज का लक्षण यह है—

अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तं परेण यत्।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं ततेजः समुदाहृतम्।।[1]

अर्थात् प्राणांत होने की स्थिति में भी अन्यों के द्वारा किये गये आक्षेप और अपमान आदि को न सहन करना ही तेज है। वाचस्पत्यम् संस्कृत अभिधान में 'तेजस्' शब्द का प्रयोग दीप्ति, प्रभाव, पराक्रम के अर्थ में विहित बताया गया है।

तुलसी साहित्य में तेजस्विता शब्द संभवतः नहीं आया है किन्तु तेज, तेजपुंज, तेजवंत, तेजनिधान, तेजसी जैसे शब्दों का व्यवहार कई अर्थों में कई बार हुआ है। तुलसीदास ने 'तेज' का प्रयोग कांति, दीप्ति, आभा[2], ताप[3], प्रकाश[4], प्रभाव, पराक्रम[5] आदि प्रचलित अर्थों में ही मुख्यतः किया है। केवल नन्दिग्राम में भरत की साधना के प्रसंग में आयी अर्धाली 'देह दिनहिं दिन दूबरि होई। घटइ तेजु, बलु मुखछबि सोई'[6] में उसका अर्थ मेद या चर्बी है।

इन अर्थों को दृष्टिगत रखते हुए भी हिन्दी शब्द सागर में 'तेजस्वी' की दो अर्थकोटियाँ निर्धारित की गयी हैं : १. कांतिमान्। तेजयुक्त। जिसमें तेज हो। २. प्रताप प्रतापवाला। प्रभावशाली। मानक हिन्दी कोश में दूसरी अर्थकोटि की अपर्याप्त व्याख्या करते हुए लिखा गया है, 'जिसके बल, बुद्धि, वैभव आदि का दूसरों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता हो।' पहली अर्थकोटि में यदि शारीरिक (मुख्यतः मुखमंडलीय) दीप्ति संकेतित है तो दूसरी में समस्त व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की प्रभविष्णुता। पहली अर्थकोटि भी तुलसीदास के लिए प्रयोज्य है किन्तु यहाँ हमारा अभिप्राय दूसरी अर्थकोटि से ही है। अतः तेज और तेजस्वी के प्रयोगगत विविध अर्थों के आधार पर तेजस्विता के संपृक्तार्थ का निरूपण कर लेना संगत है। संक्षेप में व्यक्ति की उस शक्ति को तेजस्विता कहते हैं जिससे अपनी मान्यता के औचित्य पर अथवा अपनी क्षमता पर गहरे विश्वास के कारण वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी दूसरों के द्वारा किये गये आक्षेपों, अपमानों का प्रत्युत्तर देता हुआ या उनकी उपेक्षा करता हुआ साहसपूर्वक अपने सिद्धान्त या निर्णय पर दृढ़ रहता है और अपने बल, बुद्धि, वैभव, कार्य आदि के द्वारा दूसरों को विशेषतः प्रतिपक्षियों को अभिभूत कर देता है। दूसरे शब्दों में आत्मविश्वास, आत्मगौरव, धैर्य, ऐश्वर्य, प्रताप, पराक्रम, प्रभाव आदि गुणों की समष्टि है तेजस्विता।

तेजस्विता संयत भी हो सकती है और उग्र भी। तुलसीदास के द्वारा चित्रित श्रीराम की तेजस्विता संयत है और लक्ष्मण की उग्र। अपमानित एवं आतंकित करने के परशुराम के प्रयासों से अप्रभावित रहते हुए श्रीराम द्वारा कथित ये पंक्तियाँ संयत तेजस्विता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ
तौ अस को जग सुभट जेहि भय बस नावहिं माथ।।
देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना।।
जौ रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ।।
क्षत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहिं पावँर आना।।
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।।
बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई।[7]

मर्यादा बोध के कारण श्रीराम प्रतिपक्षी को अपमानित नहीं करते जबकि लक्ष्मण श्रीराम के या अपने गौरव पर तनिक भी आँच आने पर कठोर प्रतिवाद करते हैं। जनक के 'वीरविहीन मही मैं जानी' कहने पर अथवा परशुराम के आस्फालन पर लक्ष्मण की उक्तियाँ उग्र तेजस्विता की सूचक हैं।[५] इसी तरह रावण की राज्यसभा में हनुमान की तेजस्विता संयत है और अंगद की उग्र। प्रतिपक्षी को अभिभूत दोनों करती हैं किन्तु पहली से श्रद्धा उपजती है तो दूसरी से भीति। अधिक प्रत्यक्ष होने के कारण कई बार दूसरी को ही लोग तेजस्विता मान बैठते हैं। जनक के दूतों ने दशरथ के सामने श्रीराम-लक्ष्मण का वर्णन करते हुए लक्ष्मण को ही तेजनिधान कहा था—

राजन रामु अतुल बल जैसें। तेजनिधान लखनु पुनि तैसें।
कंपहि भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरि किसोर के ताकें।।[६]

लक्ष्मण की नजर पड़ते ही राजाओं का काँप उठना उन दूतों को लक्ष्मण की तेजस्विता का अखंडनीय प्रमाण लगा था। किन्तु उग्रता ही तेजस्विता का चरम प्रमाण नहीं है। जिन परशुराम के द्वारा स्वाभाविक रूप से देख लिये जाने मात्र से ये राजागण समझ बैठते थे कि 'अब मरे' वे ही परशुराम श्रीराम की संयत तेजस्विता से पराभूत हो गये थे।

तुलसीदास तेजस्विता को दैवी भी मानते हैं और आसुरी भी। उन्होंने 'राम तेज, बल, बुधि, बिपुलाई, सेष सहस सत सकहिं न गाई'[७] भी लिखा है और कुंभकर्ण की मृत्यु पर यह भी लिखा है कि 'रोवहिं नारि हृदय हति पानी। तासु तेज, बल बिपुल बखानी'[८] कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई'[९] की मान्यता के अनुसार जो तेजस्विता 'सर्वहित' के (या व्यापक लोकहित के) अनुकूल होती है उसे दैवी और जो प्रतिकूल होती है, उसे आसुरी कहा जा सकता है। गीता के 'तेजस्तेजस्विनामहम्'[१०] वाक्य के अनुरूप तुलसीदास यह भी मानते हैं कि तेज चाहे किसी में भी क्यों न हो, अंततोगत्वा प्रभु का ही होता है। इसीलिए कुंभकर्ण और रावण की मृत्यु के बाद तुलसी ने दिखाया है कि उनका तेज प्रभु में समा गया।[११] व्यक्ति जब तेज को अपना मान बैठता है तब उसमें तेजस्विता के साथ-साथ अहंकार का भी उदय होता है जो कालांतर में उसके पतन का भी कारण हो सकता है।

तुलसीदास की तेजस्विता का उत्स है प्रभु से निरंतर जुड़े रहने का भाव जिसके कारण ही उनमें आत्मविश्वास, आत्मगौरव, साहस, धैर्य आदि का संचार होता है। तुलसी राम की शक्ति से ही शक्तिमान् हैं अतः सहज भाव से कहते हैं, 'तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै'[१२] उनके विरोधियों ने जब नाना प्रकार के अभियोग लगाकर उन्हें लांछित और प्रपीड़ित करना चाहा तब भी वे मस्ती के साथ कहते रहे, 'कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखि है राम तो मारिहै को रे'[१३] अपने व्यक्तिगत विरोधियों से तो तुलसीदास विचलित नहीं हुए थे किन्तु कलिकाल से अर्थात् तामसी प्रवृत्तियों के आंतरिक एवं बाह्य द्वंद्वों से[१४] वे बहुत परेशान रहे। उससे भी वे राम की शक्ति के सहारे ही जूझते और जीतते रहे। प्रचंड कलिकाल के साथ मिलकर तुलसी के दुष्ट मन ने जब उन्हें भँवर में चक्कर काटते रहने वाले भौंतुवा कीड़े के समान चंचल बना दिया तब भी वे आश्वस्त थे कि वे (श्रीराम के) बड़े ठिकानेठौर के हैं, अतः उनका अनिष्ट नहीं हो सकता—

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भोर को हौं।
तुलसिदास सीतल नित यहि बल बड़े ठेकाने ठौर को हौं।।[१५]

प्रभु के बल से बली होने के दो शुभ परिणाम स्पष्ट हैं। एक तो प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति या शक्तिशाली से शक्तिशाली प्रतिपक्षी के समक्ष भी तुलसी हिमालय के सदृश अडिग रह सके, दूसरे इसके चलते उनके

मन में अहंकार नहीं जागा। अभिमान या गुमान तो बल का ही होता है। बल अपना होता तो अहंकार होता, जब बल राम का है तो अभिमान या गुमान भी राम का ही हो सकता है। तुलसीदास ने इस अभिमान को न केवल स्वीकार किया है बल्कि इसका पोषण भी करना चाहा है। 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।'[१७] इस अर्धाली को यदि सुतीक्ष्णजी की उक्ति मानकर तुलसी के व्यक्तिगत भाव की प्रकाशिका न भी माना जाय तो भी कवितावली की ये पंक्तियाँ उनके इस भाव की निश्चित सूचिका हैं—

रावरो कहावौं, गुन गावौं राम रावरोई,
रोटी है हौं पावौं राम रावरी ही कानि हौं।
जानत जहान, मन मेरे हू गुमान बड़ो
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं।[१८]

राम के सेवक होने का अभिमान या गुमान जिस तेजस्विता को जन्म देता है वह दैवी होती है, सर्वहितकारिणी होती है, वैयक्तिक स्वार्थसाधिका नहीं।

इसी के साथ तुलसी ने तेजस्विता की प्राप्ति के लिए तीन और पहलुओं पर बल दिया है। वे हैं तप, निर्लोभिता और नैतिकता। तुलसी का कथन है, 'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा'[१९] अर्थात् क्या बिना तप के तेज का विस्तार हो सकता है, स्पष्टतः उनका मत है कि नहीं हो सकता। किन्तु तप तो कोई भी दृढ़व्रत व्यक्ति कर सकता है। आखिर रावण, कुंभकर्ण ने भी तप किया ही था और उसी के कारण उन्हें प्रचुर तेजस्विता प्राप्त हुई थी। अतः तपोलब्ध तेजस्विता मांगलिक ही होगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। तप के फल के रूप में व्यक्ति क्या चाहता है, किससे चाहता है, इस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। उग्र तप के बाद रावण, कुंभकर्ण ने अपने स्वार्थ के लिए ऐसी याचना की जो सर्वहित के विपरीत थी, अतः परिणाम मंगलमय नहीं हुआ। इसी तरह प्रतापभानु ऊपर से तो दिखाता था 'हृदय न कछु फल अनुसंधाना'[२०] और भीतर से चाहता था 'जरा मरन दुख रहित तनु, समर जितै जनि कोउ। एकछत्र रिपु हीन महि राज कलप सत होउ।'[२१] और यह याचना भी उसने कपटी मुनि से की, फलतः उसका अहित ही हुआ। करीब-करीब यही स्थिति विभीषण की भी थी। शरणागति के समय उनके मन में राज्य के प्रति कुछ लोभ था, यद्यपि वे उसे प्रकट करना नहीं चाहते थे। प्रभु के द्वारा लंकेश के रूप में संबोधित होने पर विभीषण को स्वीकार करना पड़ा, 'उर कछु प्रथम वासना रही'[२२] किन्तु यह गुप्त मनोकामना लेकर वे प्रभु के निकट गये थे, अतः उनका मंगल ही हुआ। प्रभु से की गयी याचना यदि अपने 'परमहित' के प्रतिकूल होती तो प्रभु उसे पूर्ण नहीं करेंगे किन्तु 'ताते नास न होइ दास कर।' इस संदर्भ में मानस में वर्णित नारद-मोह प्रसंग बहुत सटीक है। अतः तुलसीदास का सिद्धान्त है कि चेष्टा तो प्रभु से निष्काम प्रेम की ही करनी चाहिए किन्तु यदि मन में कामना जगे ही तो उसकी पूर्ति के लिए प्रभु पर ही निर्भर रहना चाहिए और उनके निर्णय को स्वीकार कर लेना चाहिए। अपने भले के लिए जो सामान्य लोगों की खुशामद करते रहते हैं, तुलसी ने उन्हें शून्य का सहारा लेनेवाला शठ कहा है।[२३] अपने लिए तुलसीदास का यही सिद्धान्त था, 'यथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।'[२४] उनकी दृष्टि में भौतिक ऐश्वर्य कौड़ी बराबर था। अपनी इसी निर्लोभिता के कारण वे तेजस्वितापूर्वक कह सके, 'मांगे को नरेस, देस देस को कलेस करै देहै तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बोड़िये।'[२५] राजा-रजवाड़े, सेठ-साहूकार जो दे सकते थे तुलसी के लिए उसकी कुछ कीमत ही नहीं थी अतः ऐसे स्वामी यदि मुफ्त में भी मिलें तो भी वे उनके लिए व्यर्थ थे, 'ब्योम रसातल भूमि भरे नृप क्रूर कुसाहिब सेंतिहु खारे।'[२६]

तुलसीदास की मान्यता थी कि 'राग-रिस' को जीत कर 'नीति पथ' पर चलना ही उचित है। कोई कितना भी तेजस्वी व्यक्ति क्यों न हो जैसे ही वह अनीति के पथ पर पाँव बढ़ाता है, उसका तेज नष्ट हो जाता है। यति का वेश बना कर सीता-हरण के लिए जब रावण चला तो उसकी मनःस्थिति का चित्रण करते हुए तुलसी ने लिखा—

सुन बोच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेखा।।
जा के डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं।।
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं।।[२०]

जब रावण जैसे तेजस्वी की मनोदशा अनीति करते समय श्वानतुल्य हो जा सकती है तो औरों की तो बात ही क्या। इसलिए गोस्वामी जी ने इसके बाद टिप्पणी जड़ी, 'इमि कुपंथ पग देत खगेसा, रह न तेज तन बुधि बल लेसा।'[२१]

तुलसीदास का लक्ष्य राम-गुण-गान था, अपना गुण-गान नहीं। अपने बारे में उन्होंने बहुत कम कहा और जो कुछ कहा भी, उसमें अपने दैन्य पर ही अधिक जोर दिया। अतः उनकी तेजस्विता की अभिव्यक्ति विरल प्रसंगों में ही हो पायी है। 'अतिसंघरषन जो कर कोई, अनल प्रकट चंदन ते होई'[२२] के सिद्धांतानुसार जब उन्हें लगता था कि मोह या निहित स्वार्थ के कारण श्रीराम के रूप के या लोककल्याण के मार्ग के संबंध में भ्रांति फैलाने की कुचेष्टा हो रही है अथवा अहंकारी लोग बड़बोलापन कर रहे हैं या जाति-पाँति का सवाल उठाकर हठाग्रही लोग सत्य को दंभ से दबाना चाह रहे हैं अथवा परद्वेषी, कपटी, दुष्ट जन समाज पर हावी हो रहे हैं तब उस निर्भीक, निःस्पृह संत का तेज जागता था। अन्याय के प्रति विधान के लिए अपनी 'तेजोमयी वाक्' का समर्थ प्रयोग कर 'तेजस्विनावधीतमस्तु!'[२३] (हमारी अधीत विद्या तेजस्वी हो!) की आर्ष प्रार्थना को उन्होंने चरितार्थ कर दिया। इन्हीं या इन जैसे प्रसंगों पर मानस में भी अपने पात्रों की तेजस्वी प्रतिक्रिया का चित्रण उन्होंने किया है।

तुलसीदास अपने समय की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों पर क्षुब्ध थे। मानस के उत्तर कांड में उन्होंने कलिकाल का जो भयावह चित्रण किया है, वह पूर्ववर्ती ग्रंथों की अनुगूँज मात्र नहीं है, उसमें उनके अपने अनुभवों का पुट भी है। जब समाज के पथप्रदर्शक ब्राह्मण आचार-विचार भूलकर वेद तक को बेचने लगें, प्रशासक-राजागण प्रजा का रक्षण करने के स्थान पर भक्षण करने लगें, तो और सारी व्यवस्था तो विश्रृंखल हो ही जायेगी। तुलसीदास ने बिना किसी लाग-लपेट के उन सबको फटकारा है जो समाज को खोखला बना कर व्यक्तिगत स्वार्थ साध रहे थे। धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त अनाचार-दुराचार पर अपनी व्यंग्य-वक्रबाणों से करारा प्रहार करते हुए उन्होंने जहाँ यह सब लिखा कि कलियुग में वही पंडित है जो गाल बजाना जानें, वही संत है जो आरंभ से ही झूठ और दम्भ में रत हो, वही ज्ञानी-विरागी है जो आचारहीन और वेद-मार्ग-त्यागी हो, आदि-आदि; वहीं यह भी लिखा कि 'विप्र निरच्छर, लोलुप, कामी, निराचार, सठ, वृषली स्वामी।'[२४] फलतः ऐसे धर्म-नेताओं का तुलसी पर क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था, जिनके लिए महत्ता का आधार एकमात्र जाति ही थी। उन्होंने तिलमिला कर तुलसीदास को जाति-पाँति को लेकर काफी शोरगुल मचाया, उन पर तरह-तरह के आक्षेप भी किये। तुलसीदास ने समाज व्यवस्था के रूप में वर्णाश्रम का समर्थन किया था किन्तु भक्ति के क्षेत्र में वे जाति-पाँति को महत्त्व नहीं देते थे। वैष्णव विनम्रता के साथ उन्होंने पहले तो यही कहा कि 'अपनी रुचि के अनुसार चाहे कोई मुझे धूर्त कहे या अवधूत, राजपूत कहे या जुलाहा, तो कहा करे। मुझे किसी की जाति नहीं बिगाड़नी है, किसी की बेटी से अपना बेटा नहीं ब्याहना है। राम का गुलाम हूँ, माँग कर खा लूँगा, मस्जिद में सो लूँगा, मुझे न किसी से कुछ लेना है, न किसी को कुछ देना।'[२५] इस पर भी जब लोग चुप नहीं हुए तब उन्होंने फटकार कर कह ही दिया—

मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहू की जाति-पाँति,
मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को।
अति ही अयाने उपखानो नहि बूझै लोग
साह ही को गोत, गोत होत है गुलाम को।
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को।[९]

इस पूरे छंद का तेवर देखने लायक है। खास कर इस उक्ति में तो उनकी तेजस्विता मूर्त्त हो उठी है कि लोग बहुत ही अज्ञानी हैं, इस उपाख्यान (कहावत) तक को नहीं समझते कि स्वामी का गोत्र ही सेवक का गोत्र होता है, मैं अच्छा होऊँ या बुरा, जो हूँ राम का हूँ, किसी के द्वार पर तो नहीं पड़ा हूँ।

तुलसीदास निर्गुण-निराकार का निषेध नहीं करते थे। उनका मत था कि जो प्रभु के उस रूप की साधना करना चाहें, खुशी से करें किन्तु इसके लिए यह आवश्यक तो नहीं है कि वे सगुण-साकार का विरोध भी करें, वह भी उसके तत्त्व-ज्ञान को बिना समझे-बूझे। जगजाहिर बात है, भक्ति साधना अपने भाव के अनुसार होती है। किसी के भाव को नष्ट करना उसका अकल्याण ही करना है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तुलसीदास के युग में निराकार की उपासना शासन द्वारा समर्थित भी थी और स्वदेशी-विदेशी धर्म-प्रचारकों द्वारा आक्रामक रूप से प्रचारित भी। उस समय सगुण-साकार का पक्ष-समर्थन करना वैचारिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में साहस का काम था। तुलसीदास ने निर्भीकतापूर्वक यही किया। सगुण-निर्गुण में तात्त्विक अंतर नहीं है, इसकी स्थापना के साथ ही साथ वे उन उद्धत निराकारवादियों को प्रखर उत्तर देने में प्रवृत्त हुए जो अज्ञान, अहंकार या निहित स्वार्थवश सगुण-साकार का उग्र खंडन किया करते थे। मानस के आरंभ में 'उमा-शंभु संवाद' में ऐसे लोगों की उन्होंने शिवजी के द्वारा कड़ी भर्त्सना करवायी है।[१०] उनका दृढ़ विश्वास था कि ऐसे लोग सगुण-निर्गुण-विवेक से रहित और 'महामोहमद' से ग्रस्त हैं अतः उनकी बात मानने योग्य नहीं है। ऐसे ही वितंडावादी को डाँटते हुए उन्होंने कहा होगा–

हम लखि, लखहिं हमार, लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखहिं राम नाम जपु नीच।।[११]

तुलसी का अभिप्राय था कि केवल अहंकारपूर्वक अलख-अलख चिल्लाने से कुछ हासिल नहीं हो सकता। पहले समझना चाहिए कि 'हम' कौन हैं, 'हमारा' कौन है तथा 'हम' और 'हमारे' के बीच कौन है, यह सब समझ में आये इसके लिए विनम्रतापूर्वक रामनाम जपना चाहिए। फिर अपने भाव के अनुसार निर्गुण या सगुण की उपासना करने के लिए हर व्यक्ति स्वतंत्र है।

तुलसीदास को वे पंडितम्मन्य नहीं सुहाते थे जो मान्य ग्रंथों के मर्मार्थ की उपेक्षा कर, शब्दार्थ को लेकर ही झगड़ते रहते थे। क्या करना, क्या पढ़ना उचित है, वेदों-शास्त्रों के अध्ययन का फल क्या है, इन सबका विचार किये बिना और राम नाम को भूलकर जो केवल वाद-विवाद के द्वारा क्लेश की ही सृष्टि किया करते हैं तुलसी के मतानुसार वे पंडित चारों वेदों, छहों दर्शनों, नवों व्याकरणों और अठारहों पुराणों के पाठ को कुकाठ की तरह व्यर्थ ही फाड़ते रहते हैं। तुलसी की स्पष्ट उक्ति है—

कोबे कहा, पढ़िबे को कहा फल? बूझि, न बेद को भेद बिचारै।
स्वारथ को परमारथ को कलि-कामद राम को नाम बिसारै।।
बादबिबाद बिषाद बढ़ाइ के छाती पराई औ आपनी जारै।
चारिहु को, छहु को, नव को, दस आठ को पाठ कुकाठ ज्यों फारै।।[५]

इसी तरह जो व्यक्ति राजहंस के बालकों को दूर ठेलकर उल्लुओं का पालन-पोषण करते हों, अच्छे पवित्र धान को एकत्र कर जला देते हों और फिर ऊसर में दाने बटोरते फिरते हों, मूसल बनाने के लिए कल्पवृक्ष को काटते हों अर्थात् तुच्छ स्वार्थ के लिए अपनी कल्याणमयी परंपरा को त्याग देते हों और फिर कष्ट पाते हों, ऐसे आचार-विचार-हीन व्यक्ति भले अपने ज्ञान के गुमान में फूले फिरें तुलसी उन्हें कुछ न देख-समझ पानेवाला धमधूसर मूर्ख मानते हैं—

राजमराल के बालक पेलिके, पालत, लालत, खूसर को।
सुचि सुंदर सालि सकेलि सुवारि के, बीज बटोरत ऊसर को।।
गुन, ज्ञान गुमान भभेरि बड़ौ, कलपद्रुम काटत मूसर को।
कलिकाल बिचार अचार हरो नहिं सूझै कछू धमधूसर को।।[६]

ऐसे लोगों की न तुलसी के समय कमी थी, न अब कमी है, जो बड़ों की पगड़ी उछाल कर ही बड़े बन जाना चाहते हैं। अपने हीन आचरणों की ओर देखे बिना श्रेष्ठजनों की निन्दा करना ही जिनका एकमात्र करतब है, उन पर व्यंग्य करते हुए अपने एक चुटीले कबित्त के अंत में तुलसी ने लिखा है कि कलि के कलुष ने उनके मन को इतना मलिन कर दिया है कि हाथ में मच्छर की पसली मात्र होने पर वे समुद्र पाटने का दावा करते रहते हैं, 'कलि को कलुष मन मलिन किये महत, मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियत है।'[७]

पाखंड के द्वारा अपना बड़प्पन साबित करने की कुचेष्टा करने वालों को दी गयी फटकार के पीछे तुलसीदास की यह मान्यता थी कि सामाजिक श्रद्धा का आधार 'आचरण' होना चाहिए वेष नहीं। यदि कोई सिंह का स्वांग बनाकर कुत्ते की करतूत करे और फिर भी कीर्ति, विजय, विभूति पाना चाहे तो तुलसीदास मौन नहीं रह सकते। उस समय मौन रहना, उसके षड्यंत्र में शामिल होने के समान है। तुलसीदास ने ऐसे लोगों को खुले शब्दों में धिक्कारा है—

सारदूल को स्वांग करि, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति बिजय बिभूति।।[८]

इसी तरह दूसरों की कीर्ति को मिटा कर जो स्वयं कीर्तिमान बनना चाहते हैं तुलसी के अनुसार उनके मुँह पर ऐसी कालिख लगेगी कि वे धोते-धोते मर जायेंगे भी तो वह नहीं मिटेगी,

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोइ।
तिनके मुँह मसि लागि है मिटिहि न मरिहैं धोइ।।[९]

ऐसे बहुतेरे 'तेजस्वी' मिल जायेंगे जो सामान्य जनों की गलतियों की भर्त्सना तो उग्र स्वर में करते हैं किन्तु शक्तिशालियों के कुकृत्यों को देख कर भी स्वार्थ या भय के कारण अनदेखा कर देते हैं। तुलसीदास ऐसों में नहीं थे।

उन्होंने अन्यायी राजाओं तक के विरोध में अपनी निर्भय वाणी का प्रयोग करते हुए कहा है कि जो राज्य करते हुए अकारण ही कुचाल चलते हैं, दुराचार करते हैं, वे दुष्ट राजा रावण और दुर्योधन की तरह नष्ट हो जायेंगे—

राज करत बिनु काज ही, करैं कुचालि समाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों जइहैं सहित समाज।
राज करत बिनु काज ही ठटहिं जे कूर कुठाट
तुलसी ते कुरुराज ज्यों जइहैं बारह बाट।[५]

ऐसा भी नहीं है कि तुलसीदास को अपनी इस तेजस्विता का मूल्य न चुकाना पड़ा हो। दुष्टों ने उन्हें भरपूर डराया, धमकाया, उत्पीड़ित भी किया किन्तु तुलसी अडिग रहे। शठों ने जब 'तुलसी' को कुचल कर 'सेंहुड़' लगाना चाहा था[६] तब भी प्रभु के भरोसे वे अंतर के सत्य को वाणी देते रहे। अपने बल के स्रोत पर उन्हें प्रगाढ़ विश्वास था, तभी वे कह सके थे—

तुलसी रघुबर सेवकहि, खल डाँटत मन माखि
बाजराज के बालकहि लवा दिखावत आँखि।[७]

अर्थात् ये दुष्ट मन में रोष कर श्रीराम के सेवकों को डाँटते हैं। ये नहीं जानते कि स्वयं लवा (तुच्छ पक्षी) होते हुए ये सर्वसमर्थ बाजराज (प्रभु) के बालकों को आँख दिखा रहे हैं। इसी प्रभु-निर्भरता के कारण उनकी तेजस्विता कभी अहंकार के रूप में विकृत नहीं हो पायी। अपनी संपूर्ण उपलब्धियों के बीच भी उन्हें यह सदा स्मरण रहा कि 'छार ते सँवारि के पहार हौं ते भारी कियो, गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ के'[८]—अर्थात् प्रभु ने ही कृपा कर मुझे धूल से संवार कर पहाड़ से भी अधिक भारी बना दिया, उन्हीं के पवित्र समर्थन के कारण पंचों में मेरा गौरव हुआ। इस बोध के कारण उनकी तेजस्विता संयत भी रही और लोकमंगल-विधायिनी भी।

तुलसीदास ने श्रीराम तक पहुँचने के लिए हनुमान जी को अपने अवलम्ब (उपाय) के रूप में ग्रहण किया था।[९] स्वभावतः तुलसीदास की तेजस्विता पर 'हनुमत् वृत्ति' की गहरी छाप है। सीता जी के संदेह-निवारणार्थ 'कनक भूधराकार सरीरा, समर भयंकर अति बलबीरा' रूप प्रकट करने के बाद हनुमान जी ने सहज विनय के साथ कहा था, 'हे माता, मैं साधारण बानर हूँ, मुझमें विशाल बल-बुद्धि नहीं है, किन्तु प्रभु के प्रताप से अत्यंत तुच्छ सर्प भी गरुड़ को खा सकता है—

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।[१०]

सीताजी के मन को संतोष देने वाली हनुमानजी की इस वाणी को तुलसी ने 'भगति, प्रताप, तेज, बल सानी' कहा है। कोटि-कोटि भक्तों को संतोष देने वाली तुलसी की वाणी के लिए भी यही सत्य है। सुनयना जी को समझाते हुए चतुर सखी ने कहा था, 'तेजवंत लघु गनिअ न रानी।'[११] भले ही अबुलफ़ज़ल ने लघु समझ कर 'आइने अकबरी' में तुलसी का उल्लेख न किया हो, इतिहास ने प्रमाणित कर दिया है कि वे लघु नहीं थे, सच्चे तेजवंत थे, सूर्य की तरह उनके तेजस्वी कर्तृत्व के लिए कहा जा सकता है, 'उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।'[१२] ●

संदर्भ संकेत :

१. 'जोग भोग महँ राखेउ गोई।'—मानस १।१७।२
२. दोहावली ५४
३. कवितावली ७।२६।४
४. वही ७।२७।४
५. 'तीनिलोक, तिहुँकाल जस चातक ही के माथ,
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ'—दोहावली २८८
६. वही २९०
७. दोहावली २८६
८. श्रीमद्भगवद्गीता के १६।३ श्लोक पर शांकरभाष्य

९. साहित्य दर्पण ३।५४

१०. मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा, सील, तेज की खानी (मानस १।१९०।७),
कनक बरन तन तेज बिराजा (मानस ४।३०।७),
जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई (मानस ७।९०।६)

११. तेज कृसानु रोष महिषेसा (मानस १।४।५),
जरे पंख अति तेज अपारा (मानस ४।२८।४)

१२. रबि सम तेज सो बरनि न जाई (मानस ७।१२।२)

१३. रूप तेज बल नीति निवासा (मानस १।१३०।३),
तेज, प्रताप, सील बलवाना (मानस, १।१५३।३),
ते द्वौ बंधु तेज बलसींवा (४।७।२८)

१४. मानस २।३२५।१

१५. मानस १।२८३ से २८४।५ तक

१६. देखिए मानस १।२५३। (पूरा प्रसंग)
तथा १।२७१ से १।२८० में लक्ष्मण की उक्तियाँ।

१७. मानस १।२९३।३-४

१८. मानस ५।५६।१

१९. वही ६।७२।५

२०. वही १।१४।९

२१. श्रीमद्भगवद्गीता १०।३६

२२. मानस ६।७१।८ तथा ६।१०३।९

२३. विनय पत्रिका १३७।१२

२४. कवितावली ७।४८।४

२५. तामस बहुत रजोगुन थोरा।
कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।।
—मानस ७।९०४।५

२६. विनय पत्रिका २२९।५-६

२७. मानस ३।११।२१

२८. कवितावली ७।६३।१-४

२९. मानस ७।९०।५

३०. वही १।१५६।१

३१. वही १।१६४

३२. वही ५।४९।७

३३. दोहावली ४९१

३४. विनय पत्रिका १७२।३

३५. कवितावली ७।२५।५-६

३६. वही ७।१२।२

३७. मानस ३।२८।७-९

३८. वही ३।२८।१०

३९. वही ७।१११।१६

४०. तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१

४१. मानस ७।९००।८

४२. कवितावली ७।१०६।
विनय पत्रिका ७६।३-१६ भी दर्शनीय

४३. कवितावली ७।१०७

४४. वही १६५।१-२

४५. दोहावली १९

४६. कवितावली ७।१०४

४७. कवितावली ७।१०३

४८. वही ७।९९।७-८

४९. दोहावली ४१२

५०. वही ३८९

५१. दोहावली ४१६, ४१७

५२. तुलसी दलि रूँध्यो चहैं, सठ साखि सिहोरे।
—विनय पत्रिका ८।८

५३. दोहावली १४४

५४. कवितावली ७।६१।१-२

५५. राहेव कहै न राम से, तो से न उसीले।
—विनय पत्रिका ३२।२

५६. मानस ५।१६

५७. वही १।२५६।६

५८. वही १।२५६।८

सत्य की गहरी चोटें यानी सर्वेश्वर के व्यंग्य

जो अनुचित और अभद्र है, उस पर शब्दों का ऐसा तीखा वार कि शिकार तो तिलमिला जाये किन्तु सुनने या पढ़ने वाले उसकी अवज्ञा से मुस्कुरा उठें, व्यंग्य (सेटायर) कहलाता है। जब प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था अथवा वर्ग विशेष या प्रभावशाली व्यक्ति विशेष की प्रवृत्तियाँ विकृत एवं पाखंडपूर्ण हो जाती हैं तब सामान्य शिष्टता एवं नैतिकता की पुनः प्रतिष्ठा के लिए उनका पर्दाफ़ाश करना आवश्यक हो जाता है। व्यंग्यकार स्थिति की विरूपता को, उसकी उपहासास्पद विसंगति को अपनी वचन-विदग्धता से मूर्त्त कर देता है। कलात्मकता और सामाजिक स्वीकृति व्यंग्य के अनिवार्य गुण हैं। स्थूल कटूक्ति, व्यक्तिगत विद्वेष के प्रकाशन मात्र को साहित्यिक व्यंग्य की गरिमा नहीं मिल सकती। व्यंग्य दुधारी तलवार है। कुशल प्रयोक्ता यदि उस के द्वारा सामाजिक अन्यायों और मूर्खताओं पर गहरी चोट कर सकता है तो अनाड़ी उससे अपने को ही क्षत-विक्षत कर ले सकता है। जीवन की विडंबनाएँ जैसे-जैसे बढ़ती जा रही हैं, वैसे-वैसे साहित्य की सभी विधाओं में व्यंग्य का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। नयी कविता में व्यंग्य का सशक्त प्रयोग बहुतेरों ने किया है किन्तु उसका सर्वाधिक समर्थ एवं सार्थक रूप संभवतः सर्वेश्वर की कविताओं में ही निखरा है।

व्यंग्यकार मूलतः अननुगामी (नॉन कॉनफॉर्मिस्ट) होता है। उसका विवेक समाज के विविध क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को सह न पाने के कारण और अपने भीतर सत्य की शक्ति का अनुभव करने के कारण विद्रोही हो उठता है। सर्वेश्वर की मनःप्रवृत्ति बहुत कुछ ऐसी ही है। 'तीसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा है, 'जो सत्य है, उसे चुपचाप अपनाये रहने भर से काम नहीं चलेगा, बल्कि जो असत्य है उसका विरोध करना पड़ेगा और मुँह खोलकर कहना पड़ेगा कि यह गलत है।' (पृ० ३३०) किन्तु केवल विरोध से व्यंग्य नहीं उभरता। वह तो तभी उभरता है जब चारों ओर लोग इस बात पर कमर बाँधे हों कि वे आपकी बात नहीं समझेंगे और आप हैं कि समय की चुनौती को स्वीकार कर लेने के कारण चुप नहीं बैठ सकते; तब आपके सामने यही रास्ता रह जाता है कि आप अपनी बात को 'इस ढंग से कहें कि सुननेवाले तिलमिला उठें, उनकी कलई उतर जाय।' इस रास्ते पर आप चल तभी सकते हैं जब आपकी 'आकांक्षा कुछ ऐसा करने की (हो) जिससे यह दुनिया बदल सके, जब आपकी हिम्मत इतनी हो कि जरूरत पड़ने पर किसी की परवाह न कर खरी बात कह सकें, जब आपकी सूझबूझ ऐसी हो कि आपके सधे हुए प्रहार में रचनाधर्मिता भी हो और परिहास-क्षमता भी।' सर्वेश्वर की रचनाओं ने प्रमाणित किया है कि उनमें बड़ी हद तक ये सभी गुण हैं। इसका ध्यान रहे कि सर्वेश्वर की व्यंग्य-प्रतिभा की परख केवल उन्हीं कविताओं के आधार पर नहीं की जानी चाहिए जो आद्योपांत व्यंग्य-कविता के रूप में लिखी गयी हैं। उनकी यह प्रतिभा बहुत-सी गंभीर मानी जानेवाली कविताओं में भी स्थान-स्थान पर झलकी है, जिसके फलस्वरूप उनकी बेधकता और बढ़ गयी है।

सर्वेश्वर यह नहीं मानते कि 'मर्म सहला कर व्यथा सुला देना' या 'पिचके गुब्बारों को गैस भर फुला देना' ही कवि-धर्म है; उनका कहना है कि यह जानते हुए कि 'सत्य की चोट बहुत गहरी होती है' मैं पाता हूँ कि 'चश्मे

के तले ही दृष्टि बहरी होती है/इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ/झूठी मुस्कानें नहीं बेचता।' (मैंने कब कहा : काठ की घंटियाँ) इन चोटों का लक्ष्य केवल तोड़ना नहीं है बल्कि आहत दुर्बलता में वह शक्ति जगाना भी है कि वह वज्र से भी अपनी टूटी पसलियाँ अड़ा दे।

सर्वेश्वर ने ये चोटें मुक्तहस्त होकर बाँटी हैं। ईश्वर, धर्म, प्रजातंत्र, समाजवाद, विश्व-शांति, स्त्री-स्वातंत्र्य आदि विषय कुछ लोगों के लिए इतने गंभीर हैं कि उनकी दृष्टि में इनका मजाक नहीं उड़ाना चाहिए। किन्तु सवाल उठता है कि यदि इनका लगातार दुरुपयोग होता रहे तो क्या किया जाये? चोट तो मानव-सद्भावना के उन प्रतीकों पर नहीं, इनका मुखौटा लगाकर अपना मतलब साधनेवाली प्रवृत्ति पर की जाती है। इस सूक्ष्म भेद को बिना समझे, हम व्यंग्यकार के प्रति अन्याय कर सकते हैं। यह भी साफ है कि जो प्रवृत्ति जितनी घातक होती है, उसके विरुद्ध व्यंग्य उतना ही प्रखर होता है।

शांति के नाम पर युद्ध का व्यवसाय करने वालों या भोली जनता का विश्वास प्राप्त कर उन्हें दगा देनेवालों पर लिखे गये सर्वेश्वर के व्यंग्यों में बहुत तीखापन है। एटम बमों से अपने तहखानों को भर लेने के बावजूद 'पीस पैगोडा' बनाने का पाखंड करनेवालों पर फब्ती कसते हुए उन्होंने कहा है, '.....राम का नाम लेने से जब पापी तर जाते हैं/ तो क्या शांति का नाम रटने से/ युद्ध नहीं रुक सकेंगे? जरूर मेरे दोस्त।' और फिर उन्हें एक नेक सलाह भी दी है कि यदि दुबारा पीस पैगोडा बनाना पड़े तो फौजी वर्दियों के ऊपर बौद्ध भिक्षुओं के गैरिक वसनों को ओढ़ना वे न भूलें, 'क्योंकि उन ढीले चोगों के नीचे/ बड़ी-बड़ी आटोमैटिक राइफलें तक आसानी से छिपायी जा सकती हैं।' (पीस पैगोडा : काठ की घंटियाँ) यह महीन काट कटूक्तियों से कहीं अधिक प्रभावशाली है। समाजवाद और देश-कल्याण का नारा लगाकर गद्दी दखल करनेवालों के कारनामों को देख-देखकर शक्की हो गये कवि की उक्ति है, 'जो भी आयेगा चला जायेगा/ मटका कर कूल्हा/ खाय लिया खिचड़ी/ सलाम भैया चूल्हा।' राह की तीन ईंटों को जोड़कर बनाये गये चूल्हे के प्रति भोजन बना लेने के बाद जैसे पथिक का कोई मोह नहीं रह जाता, वैसे ही चुनाव जीत लेने के बाद (कम से कम पाँच वर्षों के लिए) आज के नेताओं का जनता के प्रति कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता, इसे ये पंक्तियाँ बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं। सत्ता का खून मुँह में लग जाने पर चतुर और पाशविक बन गयी सभ्यता अपनी प्रवंचना से आदिम बर्बरता को भी मात कर देती है, इसे जताने के लिए सर्वेश्वर ने लिखा है, 'इनसे कहीं अच्छे थे वे/ जो नरमुंड की मालाएँ पहन कर/ अपने शौर्य पर इतराते थे/ कम से कम बंधुत्व और करुणा के/ गीत तो नहीं गाते थे।' (स्थिति यही है : गर्म हवाएँ) साधारण जन की असमर्थता को निर्मम स्वीकृति के साथ-साथ पाखंड के प्रति गहरी घृणा और क्रोध को व्यंजित करनेवाली ये पंक्तियाँ पाखंडियों को बेनकाब भी कर देती हैं।

गाँधीजी का नाम बेचकर खानेवाले नेताओं पर एक कोड़ामार कविता लिखी है सर्वेश्वर ने 'पंच धातु', जिसमें उन्होंने बताया है कि 'गाँधीजी की लंगोटी, लाठी, चश्मा, चप्पल और घड़ी का उनके तथाकथित अनुयायी क्या उपयोग कर रहे हैं। 'उनकी लंगोटी तो उत्सवों में अधिकारियों के / बिल्ले बनाने के काम आ गयी' जिसके सहारे ही वे भीड़ से बचकर विशेष सम्मानित द्वार से जा सकते थे और चप्पल 'गरीबी की चाँद गंजी/करने के काम आ रही है।' अंत में कवि की टिप्पणी है, 'अच्छा हुआ/तुम चले गये/ अन्यथा तुम्हारे तन का/ ये जननायक क्या करते/ पता नहीं।' (पंच धातु : गर्म हवाएँ) इस समाप्ति से वह विभीषिकापूर्ण संभावना पाठक के मन में कौंध उठती है कि ये स्वार्थी गाँधी-भक्त शायद उनकी बोटी-बोटी नोच कर भी बेच डालने में नहीं हिचकिचाते।

इसी क्रम में उल्लेखनीय है 'बाँस का पुल' में संकलित 'प्रगति का गीत'। बड़े भाग्य से मिली आजादी के बाद देश की पीठ पर सवार नेता अपने घोड़े से अपेक्षा करता है कि वह धूल सूँघता, रोड़े खाता आगे बढ़ता जाये, उसका नारा है, 'चल, आराम हराम है/ राह कठिन है/ और कमाना नाम है।/ बना योजना / दिखा काम ही काम है / ....चल, कह गधों से / कि वे घोड़े हो जायें / सरपट चलें व्यर्थ मत / अपना समय गँवाएँ।' पर घोड़ा कैसी सरपट चाल चलता है, इसका संकेत अंतिम पंक्तियों में स्पष्ट है, 'चल भाई घोड़े / अरे चल घोड़े / चल [illegible] घोड़े!!! (अरे निगोड़े चल) ....।' धन के लिए अमेरिका और नाम के लिए रूस का चक्कर लगानेवाले नेताओं ने गधों को घोड़ा बनाने के स्थान पर लगता है घोड़ों को ही गधा बना दिया है। 'एक सूनी नाव' की 'धन्त मन्त' कविता में भी भूसे के बने शेर की दूकान सजा कर नाम कमानेवाले नेता की उपलब्धि कवि की दृष्टि में यही है कि उसकी ऐसी मति फिरी कि 'पुरानी दीवार उठी, नयी दीवार गिरी।'

पूँजीवादी महानागरिक सभ्यता तो सर्वेश्वर को फूटी आँख नहीं सुहाती। अवश्य ही इसके पीछे गाँव से उखड़े भावुक व्यक्ति की रोमानी पीड़ा भी है, पर नगरों की चमक-दमक के भीतर छिपे खोखलेपन के अंधकार से जो परिचित हो चुके हैं, वे सर्वेश्वर के इस चुटीले निष्कर्ष से बहुत दूर तक सहमत होंगे कि इस सभ्यता के ध्वजाधारी केंद्र में 'बड़ी से बड़ी बात/हवा में धूल की तरह उड़ जाती है—/प्रार्थनाघरों के घंटे तक/जंगली जानवरों की तरह/दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं/और ईश्वर का नाम/हर कमीने चेहरे पर मुखौटा बन जाता है/आस्था के नाम पर मूर्खता/विवेक के नाम पर कायरता,/सफलता के नाम पर नीचता/मुहर की तरह हर व्यक्ति पर लगी हुई है/और एक लाश दूसरी लाश को/इन्हीं साँचों में ढालती जाती है/इस मृतनगर में।' (इस मृत नगर में : एक सूनी नाव)। जिस सभ्यता की नींव पैसे पर टिकी हो उसमें सब कुछ खरीदा-बेचा जा सकता है। खरीदनेवाला नाराज न हो जाय, इस भय से हर बिकने वाला संत्रस्त रहता है और सब प्रकार की विकृतियों से समझौता कर ऊपर से चिकना-चुपड़ा बने रहना चाहता है। गिरगिट की तरह रंग बदलनेवालों की मनोवृत्ति को उजागर करते हुए सर्वेश्वर ने लिखा है, 'भीतर कौन देखता है/बाहर रहो चिकने,/यह मत भूलो/यह बाजार है/सभी आये हैं बिकने/राम राम कहो/और माखन मिश्री घोलो/व्यंग्य मत बोलो' (एक सूनी नाव)। इस सभ्यता का ही फल है कि आज बाहरी सजधज और प्रचार के सामने सहज सत्य और मनुष्यत्व तिरस्कृत है। विवशता नहीं, कुतूहल खरीदनेवाली, शोख चेहरों के ही आँसू पसंद करनेवाली 'आज दुनिया में, विवशता, भूख, मृत्यु, सब सजाने के बाद ही पहचानी जा सकती है।" सौंदर्य-बोध की तरह ही इस सभ्यता का सामर्थ्य-बोध भी भिन्न है। कवि के शब्दों में : 'सामर्थ्य आज स्वयं कर्म करने का नहीं/दूसरे को अकर्मण्य बनाने का नाम है/ यदि तुम हर नाव के पेंदे में छेद कर दो/तो तुम भवसागर पार माने जाओगे।' (दो नेक सलाहें : काठ की घंटियाँ) इसी के साथ यह बोध भी जुड़ा हुआ है कि 'आज के जमाने में आदमी से बड़ा सत्य पोस्टर बन गया है,/चाहे वह किसी भी खेमे का क्यों न हो/आदमी भी पोस्टर ही बनता जा रहा है,/उसके भावों, उसकी मुद्राओं, उसके दिल-दिमाग पर भी प्रचारतंत्र कब्जा करता जा रहा है।' (पोस्टर और आदमी : काठ की घंटियाँ) पर सर्वेश्वर को इससे घृणा है। अपना भला-बुरा, व्यक्ति के स्तर पर हो या देश के स्तर पर, अपनी ही बुद्धि से सोचने के लिए वे दृढ़प्रतिज्ञ हैं। किसी भी खेमे के पोस्टर या पुछल्ले वे नहीं बन सकते। दूसरों की नकल कर आधुनिक बन जाने के सस्ते नुस्खे की खिल्ली 'गर्म हवाएँ' में संकलित 'दूसरों के कपड़े पहन कर' शीर्षक कविता में सर्वेश्वर ने बड़ी बेरहमी से उड़ायी है। दूसरों के कपड़े पहन कर, दूसरों की बोली बोलना तो आसान है किन्तु करनी के समय अधिकतर अनुकर्त्ता बगलें झाँकने लगते हैं, फिर वैसा स्वांग किया ही क्यों जाये?

इस कृत्रिम बाजारू वातावरण के दुष्प्रभाव से आधुनिकाओं का एक वर्ग किस कदर खोखला, नकलची और प्रदर्शन-प्रिय बनता जा रहा है, यह जगजाहिर है। नारी की मर्यादा और स्वतंत्रता के प्रति आस्थावान् होते हुए भी उनकी इस विकृति को सर्वेश्वर सह नहीं पाते। अपने वहशियाना मूड में वे उन पर पागल कुत्ते छोड़ देना चाहते हैं ताकि उनसे डर कर ये आधुनिकाएँ भागें और 'ऊपरी लड़क भड़क के/वे कफ़न फाड़कर/अंतर के सौंदर्य की लाश देखें,/उस पर आँसू बहायें/सच्चे प्रेम को समझें/क्षणिक उत्तेजक वासनाओं के नाम पर/सिर पटकें/हाथ मलें, पछतायें।' (खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ : काठ की घंटियाँ) अधिक संयत मनःस्थिति में ऐसी आधुनिकाओं की विलास-लोलुपता का खाका खींचते हुए उन्होंने इन्हें 'पढ़ी-लिखी मुर्गियाँ' कहा है जो 'बड़े-बड़े घरों के कचरे पर डोल रही/पता नहीं कहाँ-कहाँ गंदे पर खोल रही....जिस की ऊँची कलगी सब उसके साथ लगीं/उसकी ही चमक-दमक के हैं अनुराग-रँगी।' इनकी जठराग्नि इतनी तेज है कि अपाच्य से अपाच्य भी इन्हें सुपाच्य है, बशर्ते उसका घर बड़ा, कलगी ऊँची हो। उनके अन्य गुणों की भी एक झलक देखिए, 'साहस है, आपस में लड़ना है जानतीं/हैं स्वतंत्र, दरबे को मात्र कवच मानतीं/गूदा सब उतर गया/चीख रहीं चियाँ चियाँ/किड़ किड़ किड़ कियाँ कियाँ।/दरबे से निकली हैं/पढ़ी लिखी मुर्गियाँ।' किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था उनकी कीमत भी अंडे देने की उनकी क्षमता के अनुसार ही लगाती है।

इस भ्रष्ट व्यवस्था का जहर सिर्फ़ शहरों तक ही सीमित नहीं है, गाँव भी उससे जल रहे हैं। गाँवों, कस्बों में चलने वाली इस व्यवस्था की लूट के चित्र प्रश्नोत्तर की लोक शैली का उपयोग करते हुए सर्वेश्वर ने 'बुधाई मारो दुलहिन' शीर्षक कविता में खींचे हैं, जहाँ लाला माल लेकर खोटी दुअन्नी देते हैं, बाढ़पीड़ितों को तीस बुलौओं के बाद तीन रुपये इमदाद मिलती है, जहाँ हाकिम-उमरा-सिपाही की छीना-झपटी के बाद बचा-खुचा टैक्स में निकल जाता है, उस पर गाँधीजी का चेला 'बोली मारे/बात बात में गोली मारे/शोर मचाता घूमे/बच्चे ज्यों लूटें कनकौआ।' स्वाभाविक है कि ऐसे में केवल दुखियारी औरत की नहीं, हरएक की इच्छा हो कि 'डूब मरे गंगा जी में कह/आया राम-बुलौआ।' (काठ की घंटियाँ)

इतने तीखे तो नहीं पर कुछ खट्टमिट्ठे व्यंग्य सर्वेश्वर ने बुद्धिजीवियों और साहित्यिकों पर भी किये हैं। काम को दूर से ही सलाम कर केवल बातों से ही आसमान गिरानेवालों की बखिया उधेड़ने वाली उनकी कविता है 'बुद्धिजीवी'। 'हाँ-हाँ, 'नहीं-नहीं' की बहस उन्हें इतनी प्यारी है कि पुश्तैनी मेज और उसमें सुरक्षित सामग्री को नष्टभ्रष्ट कर देनेवाले चूहों का रास्ता बंद करने के लिए जोर लगाने का अनुरोध सुनकर भी वे कुछ नहीं करते। उनकी प्रतिक्रिया यही होती है कि 'हाँ-हाँ की गरदन हिली ऊपर-नीचे/नहीं-नहीं की दायें-बायें।/.....और बस हिलती ही रही इतनी ही मेहनत से उनकी रीढ़ की हड्डी जैसे पिघल गयी/खड़े-खड़े अपने ही पैरों पर गिर पड़े,/फिर, सरक कर/दुबक गये यहीं कहीं/एक थे हाँ-हाँ/एक थे नहीं-नहीं।' (गर्म हवाएँ)

सारे समाज को जगाने का ठेका लेने वाले कवि स्वयं जागें, इसकी क्या जरूरत है? वे ऊँघते-ऊँघते बल्कि खर्राटे भरते-भरते भी 'युग-जागरण का गीत' लिख सकते हैं क्योंकि 'सच्चा कलाकार/सोते-सोते ही/कला का सृजन कर जाता है,/ऐसी कला का—/जो सारे विश्व को जगा दे।' (काठ की घंटियाँ) समय की गति से अभेद रहकर युग-जागरण का संदेश देनेवालों पर इसमें अच्छी छींटाकशी की गयी है। इसी तरह साहित्यिक नोकझोंक का एक और पहलू प्रगतिवादियों से की गयी छेड़-छाड़ की कविताओं में उभरा है। व्यक्तिमन की गहराइयों में उतरनेवाले आत्मनिष्ठ लेखकों-कवियों के विरुद्ध प्रगतिवादी समीक्षकों ने धुआँधार हल्ला बोल कर यह माँग की थी कि साहित्य में विस्तार आना चाहिए। इसी सिद्धांत का आधार लेकर निहायत प्रचारधर्मी कृतियों की भी प्रशंसा

की जाने लगी थीं। सर्वेश्वर ने इस अतिरेकवादी मनोवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए लिखा कि कमल चूँकि सतह से ऊपर उठकर अकेला डोलता है, इसलिए आत्मनिष्ठ है और सीपी सतहज्ञान-रहित होने के कारण परिधिधर्मी है, भले गहराई चूमे अतः ये दोनों निंदनीय हैं और लेखकों के आदर्श नहीं हो सकते। अतः 'ओ भाई/आओ बनें काई—/सतह पर फैलें,/स्वयं को व्यापकता दें, —विस्तार दें/जन्म दिया है जिसने/सच्चे अर्थ में उस जल को तार दें।' (सामाजिक अभिव्यक्ति : काठ की घंटियाँ) इसी तरह 'तेजी से जाती हुई' तथा 'सरकंडे की गाड़ी' कविताओं में भी केवल अनुकरण कर या ढिंढोरा पीट कर प्रगतिशील एवं अच्छे साहित्यकार बन जाने की अहम्मन्यता की खिल्ली उड़ायी गयी है।

एक बहुत मीठा व्यंग्य उन पर है जो हर समय काम के नाम को रोते रहते हैं यहाँ तक कि खाली समय के निकम्मे कामों को भी 'काम' में शुमार करते हैं। सच है, बेचारों को 'खाली समय में भी बहुत-सा काम है/किस्मत में भला कहाँ लिखा आराम है' उनकी लंबी कार्य-योजना के एक छोटे अंश का मुलाहिजा फरमायें, 'गालियाँ दे-देकर मक्खियाँ उड़ायें/आँगन के कौओं को भाषण पिलायें/कुत्ते के पिल्ले से हालचाल पूछें/चित्रों में लड़कियों की बनायें मूँछें/धूप पर राय दें, हवा की वकालत करें/दुमड़-दुमड़ तकियें की जो कहिये हालत करें।' (खाली समय में : काठ की घंटियाँ)

स्पष्ट है कि सर्वेश्वर की कविताओं में व्यंग्य की परिधि बहुत विस्तृत है। अपने समय से संपृक्त रहने के कारण दूर-पास जहाँ उन्हें बनावट दिखी है, उसका मुखौटा उतारने का प्रयास उन्होंने किया है। जहाँ कृत्रिमता के साथ-साथ शोषण भी है और न्याय का पाखंड भी वहाँ उनकी चोट बेहद निर्मम है। किन्तु अभिव्यक्ति की स्थूलता एवं भाषा के फूहड़पन पर वे कहीं नहीं उतरे हैं, केवल गालियाँ उन्होंने नहीं दी है। उनके व्यंग्यों में सच्चाई का दर्द तो है ही, साहित्यिक गरिमा भी है।

सवाल है कि क्या व्यंग्य-कविता की मर्यादा कविता से कम होती है? अज्ञेयजी ने 'काठ की घंटियाँ' की भूमिका में कुछ ऐसा ही मत प्रकट किया है। उनका तर्क है, "जब भी कविता के साथ कोई विशेषण लगता है—और उस विशेषण का औचित्य मान लिया जाता है—तब यह विशेषण अनिवार्य भी हो जाता है और उस प्रकार की कविता को निर्विशेष्य रूप से कविता नहीं कहा जाता। जिसे हम 'सैटिरिकल पोएट्री' कहते हैं, उसे केवल 'सैटायर' भी कह देते हैं, किन्तु केवल 'पोएट्री' फिर नहीं कहते।" यह तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। कविता के साथ विशेषण उसकी प्रकृति को समझने-समझाने के लिए लगाया जाता है, उससे उसकी प्राथमिकता खंडित नहीं हो जाती। हिन्दी में भक्ति कविता, रीति कविता, राष्ट्रीय कविता और तो और नयी कविता जैसी संज्ञाएँ बहुप्रचलित हैं। क्या विशेषण लग जाने मात्र से इनकी मर्यादा 'कविता' के रूप में कम हो गयी है? साफ है कि यह तर्क किसी गहरे पूर्वाग्रह को ढाँकने के लिए दिया गया है।

सच्चाई यह है कि बहुत पुराने समय से पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं के आचार्यों द्वारा यह माना जाता रहा कि वस्तुतः महत्त्वपूर्ण साहित्य में 'औचित्य' एवं 'औदात्त्य' का होना अनिवार्य है। उनकी परिभाषाओं के अनुसार उचित और उदात्त केवल गंभीर ही हो सकता है। फलतः पूर्व में श्रृंगार, शांत और करुण रसों को एवं पश्चिम में 'ट्रेजेडी' (त्रासदी) को ही महत्त्व प्राप्त हुआ। इसी ऐतिहासिक पूर्वाग्रह के कारण संसार व्यंग्य-विनोद को पसंद करते हुए भी सम्मानित गंभीर माने जाने वाले साहित्य को ही करता रहा है।

पर अब पुराने सिद्धांतों को चुनौती दी जाने लगी है। ब्रेश्ट ने त्रासदी (ट्रेजेडी) को तिरस्कृत कर कामदी (कामेडी) को ही श्रेष्ठ नाट्यविधा कहा है। वास्तव में जीवन में ट्रेजेडी और कामेडी इस प्रकार संग्रंथित हैं कि एक

ही स्थिति में दोनों के अस्तित्व की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। बेकेट संभवतः इसीलिए त्रासद-कामदी (ट्रेजिक-कामेडी) का पक्षधर है। जो हो, यह तय है कि आज के जीवन के आतंक और तनाव को एक हद तक घुला देने की क्षमता व्यंग्य में है और इसीलिए उसका महत्त्व दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा है। अतः मैं यह नहीं मानता कि 'व्यंग्य' विशेषण लग जाने मात्र से कविता की प्राथमिकता खंडित हो जाती है। अन्य विशेषणयुक्त कविताओं की तरह व्यंग्य कविता की भी श्रेष्ठता-निकृष्टता अपने क्षेत्र में उसकी उपलब्धि पर निर्भर है। किसी सार्वजनिक अन्याय या पाखंड के विरुद्ध मन के भीतर पलनेवाले क्रोध, घृणा और क्षोभ के कारण उत्पन्न एवं उसके महिमा-मंडित आवरण को फाड़ कर उसका उपहासास्पद घिनौना रूप दिखा कर लोक की आंतरिक परितृप्ति करने में समर्थ व्यंग्य कविताओं को न मैं किंचित् कविता मानता हूँ, न तथाकथित गंभीर कविताओं से उन्हें हल्का दर्जा देना चाहता हूँ। इतना और जोड़ दूँ कि मेरी समझ के अनुसार सर्वेश्वर की अधिकांश व्यंग्य-कविताएँ बहुत कुछ ऐसी ही हैं। ●

मुक्तक

यह कठिन आघात भी तेरी कृपा है,
मेघ, उल्का-पात भी तेरी कृपा है।
है यही विश्वास अनुभवजनित मेरा,
क्रूरतम संघात भी तेरी कृपा है।।

●

तू अमंगल वेष में मंगलमयी है,
क्रोध की तो भूमिका, करुणामयी है।
तू कराती तप, रुला उर द्रवित करती,
प्रभु-कृपा तू सच बड़ी क्रीड़ामयी है।।

हृदयधर्मी, जनकवि नागार्जुन

परस्पर विरोधों के अद्भुत पुंज लगते थे बाबा नागार्जुन! परम्परा में पले, बढ़े, उससे उत्कट विद्रोह भी किया, परन्तु फिर भी उससे नाता बनाये रखा। गौने के दो वर्ष बाद ही बौद्ध भिक्षु बन गये, किन्तु वर्षों बाद जब गृहस्थाश्रम में पुनः लौटे तो पूर्व पत्नी को ही उन्होंने स्वीकार किया। मार्क्सवादी होते हुए भी राष्ट्रीय गरिमा पर आघात करने वाले मार्क्सवादी चीन का उग्र विरोध करने में वे झिझके नहीं। जुझारू कम्युनिस्ट होते हुए भी उन्होंने विवेक को बन्धक रखकर पार्टी के नेताओं की चाटुकारिता तो कभी की ही नहीं, उनके अतिरेकों का बोलकर, लिखकर प्रतिवाद भी किया। वे कब द्रवित हो जायेंगे, कब क्रुद्ध—कहना मुश्किल था। वे जितने अक्खड़ थे, उतने ही संवेदनशील भी थे। सूक्ष्मता से देखा जाये तो यह उनकी हृदयधर्मिता ही थी जो इन दो छोरों पर अभिव्यक्त होती रहती थी। इसी तरह उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में लिखा है, किन्तु उनकी साहित्यिक पहचान जनकवि के रूप में ही उभरी थी। अपनी सामान्य जनता के साथ विशेष कर उसके शोषित, पीड़ित, वंचित वर्ग के साथ समरस होकर उन्होंने उसके सुख-दुःख, व्यथा-वेदना-संघर्ष को वाणी दी थी। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसा करते समय वे किसी एक ही पार्टी से आबद्ध नहीं रहे। उन्होंने उसी आन्दोलन के पक्ष में कविताएँ लिखीं या काम किया जिसे उन्होंने जनता के लिए हितकर समझा। उनकी जनपक्षधरता को कोई चुनौती नहीं दे सकता। वैचारिक मतभेद के बावजूद हृदयधर्मी जनकवि के रूप में मैंने उनका सदा सम्मान किया। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उनका भरपूर स्नेह, सद्भाव मिला।

मैंने नागार्जुन को पहली बार १९५१ के उत्तरार्द्ध में आयोजित कोलकाता के एक कवि सम्मेलन में सुना था। उन्होंने जयप्रकाश नारायण की कटु आलोचना करते हुए एक कविता सुनानी शुरू की। सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ता भी उस कवि सम्मेलन में मौजूद थे। वे बहुत नाराज हो गये। उनके प्रबल विरोध के कारण नागार्जुन पूरी कविता नहीं सुना पाये। उन दिनों जयप्रकाश जी 'रेलवे मेन्स फेडरेशन' के अध्यक्ष थे। अपनी माँगों के पूर्ण न होने पर २७ अगस्त, १९६१ से फेडरेशन ने अखिल भारतीय हड़ताल करने का फैसला किया था। पं० नेहरू के आग्रह पर पाकिस्तानी आक्रमण की आशंका के परिप्रेक्ष्य में जयप्रकाश जी ने उस हड़ताल को स्थगित करने की घोषणा कर दी। इससे कम्युनिस्ट पार्टी बहुत क्षुब्ध हो गयी और उसने जयप्रकाश जी का उग्र विरोध किया। नागार्जुन जी ने इसी सन्दर्भ में कम्युनिस्ट की हैसियत से उस कविता में जयप्रकाश जी के विरुद्ध कड़वी बातें कही थीं। मुझे वह कविता अच्छी नहीं लगी और सोशलिस्टों का व्यवहार भी नहीं रुचा। मैं उन लोगों में था जिनके बीच-बचाव से बात ज्यादा नहीं बिगड़ी।

नागार्जुन उसके बाद भी कोलकाता आते रहे। कवि सम्मेलनों में मैं उन्हें सुनता रहा। १९५३ के अन्त में मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हो गया। नागा बाबा से मेरा परिचय तो उन्हीं दिनों हो गया, किन्तु उनसे मेरी घनिष्ठता हुई १९५९ के पिछले महीनों में जब वे लगातार कई महीनों तक कोलकाता में मेरे घर के पास ही रहे। बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बंगीय हिन्दी परिषद् आदि की साहित्यिक गोष्ठियों के माध्यम

से क्रमशः हम लोग एक-दूसरे के निकट आते गये। वे मुझसे १८ साल बड़े थे, प्रगतिवादी कवि एवं उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः मेरे लिए तो वे सम्मान्य थे ही। मैं भी साहित्यिक गोष्ठियों में जमकर बोलने लगा था। फलतः वे भी मेरी ओर आकृष्ट हुए। मेरे कई व्याख्यानों की उन्होंने प्रशंसा की। वे मेरे घर भी आने लगे। बलचनमा, बाबा बटेसर नाथ, दुखमोचन जैसे उनके उपन्यासों का मुझ पर अच्छा प्रभाव पड़ा था। मैं उनके यात्री प्रकाशन की पुस्तकों का स्थायी ग्राहक भी बन गया था। वे मुझे अपनी नयी कविताएँ भी सुनाने लगे थे। वे दिल के साफ और निश्छल व्यक्ति थे। तिकड़मी लोगों से उनकी नहीं बनती थी। वे जिससे नाराज होते थे उसकी आलोचना खुलकर करते थे। अर्थकष्ट से ग्रस्त होते हुए भी वे स्वाभिमान के विरुद्ध न किसी की लल्लो-चप्पो करते थे, न किसी का अहंकार सहते थे। अपने सीधे-सादे लिबास में, झुर्रियों से भरे साँवले चेहरे, खिचड़ी अनसँवरी दाढ़ी-मूँछ और अधपके बालों में वे एक सामान्य ग्रामीण व्यक्ति से दिखते थे। हाँ उनकी चमकदार, भेदक आँखें जरूर संकेत देती थीं कि साधारण-सा दिखता हुआ भी यह व्यक्ति असाधारण है।

अक्टूबर १९५९ में मैंने एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था, 'क्या शुक्ल जी वस्तुवादी थे?' इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को वस्तुवादी प्रमाणित करने की डॉ० रामविलास शर्मा की प्रचेष्टा का प्रतिवाद किया गया था। चूँकि वह लेख डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा सम्पादित 'समालोचक' में छपने वाला था; अतः मैंने उचित समझा कि मैं उसे नागा बाबा को पढ़कर सुना दूँ। यदि उन्हें उसमें कुछ अनुचित लगे तो उसे संशोधित कर दूँ। नागार्जुन मुझे देखकर प्रसन्न हुए, बोले— 'आइये, आइये, बैठिये, कविताएँ सुनिये।' और वे मुझे अपनी कविताएँ सुनाने लगे। दो कविताओं की मैंने प्रशंसा की। एक थी, 'फटी जुतियों का कोरस' और दूसरी थी, 'फूलों में काँटा उभरा काँटों में कली खिली है।' कविताओं का जब दौर थमा तो मैंने उन्हें अपना लेख सुनाया। उन्होंने कहा, 'अच्छा लिखा है, जैसा है वैसा ही भेज दीजिये!' मुझे तब सचमुच आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई जब डॉ० रामविलास शर्मा ने बिना कोई काट-छाँट किये उस लेख को तद्वत् छाप दिया और नये लेख की फर्माइश भी की।

नागा बाबा के साथ मेरी बैठक बीच-बीच में जमती रहती थी। जब वे तरंग में होते तो मजेदार लतीफे सुनाया करते थे। एक बार उन्होंने यह किस्सा सुनाया। एक धनी ग्वाला था। उसकी इच्छा यज्ञ करने की हुई। जो पण्डित जी यज्ञ कराने आये, वे उतने दक्ष नहीं थे। वहाँ एक-दूसरे पण्डित भी थे, जो शुद्धि होने पर बीच-बीच में उन्हें टोकने लगे। पण्डित जी ने एक श्लोक पढ़ा—

महामूर्खस्य वागोऽयं महिशी शत दक्षिणा।
तवार्धं च ममार्धं च विघ्नं मा कुरू पण्डिताय स्वाहा।।

अर्थात् यज्ञ कराने वाला महामूर्ख है (उसे यज्ञ की पद्धति का कुछ भी ज्ञान नहीं है), इस यज्ञ के लिए दक्षिणा में सौ भैंसें मिलेंगी, पचास तुम्हारी, पचास मेरी, अब टोका-टोकी कर विघ्न मत डालो, यह आहुति पण्डित के लिए है। दूसरे पण्डित भी यही चाहते थे; अतः वे भी मान गये और पहले पण्डित जी के स्वर में स्वर मिलाकर स्वाहा, स्वाहा करने लगे। और फिर उन्होंने मुझसे मुस्करा कर पूछा, क्या आजकल के नेता भी जनता के विरुद्ध ऐसी ही मिलीभगत नहीं कर रहे हैं? प्रश्न में ही उत्तर निहित था। अतः मैं भी मुस्कराने लगा।

कभी-कभी वे अपने बनाये विशिष्ट शब्दों का भी प्रयोग करते थे। एक बार एक सज्जन पर वे नाराज हो गये। मुझसे बोले, 'आपने उसके चौगद्य' पर ध्यान दिया? मैंने पूछा, चौगद्य? वे बोले— 'हाँ चुगदस्य भावः'। तब मेरी समझ में आया कि फारसी शब्द चुगद (महामूर्ख) की भाववाचक संज्ञा चौगद्य का मतलब है, महामूर्खत्व।

उन्हीं दिनों हुए राजेन्द्र यादव –मन्नू भंडारी के विवाह में वे मिल गये, बोले— 'आप सब लोगों से मिलने

के लोभ से ही मैं इस 'प्रीतिपाक' में चला आया।' प्रीतिपाक अर्थात् प्रीति-प्रेम के परिपाक का फल.....प्रेम विवाह! भारतीय मान्यता के अनुसार कर्मों के परिपाक के बाद ही उनका फल मिलता है। उसी तरह राजेन्द्र मन्नू में चल रहे प्रेम के परिपाक का फल है यह प्रेम विवाह.....वही उनका मन्तव्य था।

वे आजीवन अर्थकष्ट में रहे। उन दिनों भी अर्थकष्ट में थे। उनको कुछ राहत मिल सके, इसकी चेष्टा मैं करता रहता था। कितनी पीड़ा भरी सच्चाई है यह, कि केवल कविता लिखने से जीविका चलना बहुत मुश्किल है। कवि सम्मेलनों में कुछ दक्षिणा कभी-कभी जरूर मिल जाती थी, पर कठिनाई यह भी थी कि नागार्जुन सामान्य अर्थों में कवि सम्मेलनी कवि नहीं थे। लोक रिझाऊ कविता वे लिखते नहीं थे। अतः समृद्ध वर्ग के मनो-विनोदार्थ आयोजित कवि सम्मेलनों में वे कम बुलाये जाते थे। अपने तीखे व्यंग्यों से वे कभी-कभी सद्भाव सम्पन्न व्यक्तियों को भी नाराज कर देते थे—

कौआ करे गंग असनान, हर गंगा।
फिर हड्डी का टुकड़ा दान, हर गंगा।।

या

तरुणों को डाकू बनने दो, फिर करवाना आत्मसमर्पण।
अपराधों की राख मलो तो चमके प्रजातंत्र का दर्पण।।

या

श्रद्धा का तिकड़म से नाता जय है भिक्षुक जय है दाता।
पियो सन्त हुगली का पानी, पैसा सच है दुनिया फानी।।

जैसी उनकी तीखी पंक्तियाँ कई श्रोताओं को चुभ जाती थीं। फिर भी नागा बाबा सच को सच कहने से नहीं चूकते थे।

निश्चय ही नागार्जुन को ग्राम जीवन की विषमताओं और विसंगतियों का गहरा अनुभव था, जिन्हें अपेक्षाकृत समग्रता में उभारने के लिए उन्होंने अपने ढंग के आंचलिक उपन्यास लिखे। उपन्यास-लेखन के पीछे एक कारण यह भी हो सकता है कि उपन्यास ज्यादा बिकते थे और उन पर मानदेय कविता की तुलना में अधिक मिलता था। मैंने इस विषय पर उनसे सीधे बात तो नहीं की थी, किन्तु उन्होंने ही बताया था कि वे इन दिनों उपन्यास लिखने पर जुटे हुए हैं। १५ जनवरी, १९६० को उन्होंने बताया कि उपन्यास पूरा भी हो गया है और उसके प्रकाशन की बात भी पक्की हो गयी। उस दिन वे खुश थे। मुझे उनकी एक पुरानी कविता 'सौदा' की याद आ गयी जिसमें उपन्यासकार मंजु घोष के द्वारा अपने बीमार बेटे की चिकित्सा के लिए पचास रुपये अधिक माँगने पर फुफकार उठे थे प्रगतिशील पुस्तकों के पब्लिशर मिस्टर ओसवाल और लेखक को झक मारकर उतना ही लेना पड़ा था, जितना सेठ ने देना चाहा। नागार्जुन की ही एक कविता है 'कालिदास, सच-सच बतलाना' / इन्दुमती के मृत्युशोक से / अज रोया या तुम रोये थे?' उसी तरह मैं भी पूछ सकता हूँ कि मंजु घोष के दर्द में नागा बाबा का कितना दर्द मुखरित हुआ था?

नागा बाबा ने एक बैठक में मुझे यह भी बताया कि वे अपने पिता के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध होकर गृह त्यागी हुए थे, वैराग्य के कारण नहीं। मुख्यतः पितृद्वेष के कारण ही उन्होंने हिन्दू धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इसीलिए जब वे पुनः परिवार में लौटे तो उन्होंने सहज भाव से बहुत-सी पुरानी बातों को स्वीकार कर लिया। उनकी पत्नी अपराजिता देवी परम्परा के प्रति श्रद्धालु थीं। उन्होंने अपने बेटों के यज्ञोपवीत संस्कार करवाये

तो नागार्जुन ने कोई बाधा नहीं डाली। उन दिनों वे मैथिल पण्डितों के साथ ही रह रहे थे। धार्मिक त्यौहारों में उन लोगों के साथ भाग लेने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। उनकी कविताओं में भी यह वृत्ति कई बार झलकी है। "पछाड़ दिया है मेरे आस्तिक ने" उनकी विख्यात रचना है, जिसमें वे उगते हुए सूर्य के दर्शन कर उसे बहते नदी जल का अर्घ अर्पित करना चाहते हैं 'ओं नमो भगवते भुवन भास्कराय' आदि मंत्र पढ़-पढ़कर। कोलकाता में सरस्वती पूजा के अवसर पर उन्होंने एक कविता लिखी, जिसमें उन्होंने सरस्वती और लक्ष्मी के पारस्परिक सहयोग के द्वारा ही जनजीवन के मंगलमय होने की बात कही है। उस कविता की पंक्तियाँ हैं—

जग वसन्त की अगवानी में बाहर निकला
सरस्वती माँ ठौर-ठौर पर पड़ी दिखायीं।
प्रज्ञा की उस देवी का अभिवादन करने
आस्तिक-नास्तिक सभी झुक गये, माँ मुस्कायीं।
बोलीं, बेटे लक्ष्मी का अपमान न करना
जैसी मैं हूँ, वह भी वैसी माँ है तेरी।
धूर्तों ने झगड़े की बातें फैलायी हैं
हम दोनों ही मिल-जुल कर संसार चलातीं।
बुद्धि और वैभव यदि दोनों साथ रहेंगे
जगजीवन का यान तभी आगे निकलेगा।

देश के नव-निर्माण में तत्पर कोटि-कोटि कर चरणों के स्निग्ध इंगितों की उपेक्षा कर स्वयं अलस अकर्मा पड़े रहना उनके लिए असम्भव था। केवल अपने लिए जीना उन्होंने सीखा ही नहीं था। उनकी संस्कृति ने तो उन्हें सिखाया था कि परोपकार के लिए ही सज्जनों की विभूतियाँ होती हैं। अतः वे अपनी परिणत प्रज्ञा का फल समर्पित करने के लिए आतुर रहते थे। 'यह कैसे होगा, यह क्यों कर होगा', शीर्षक नागार्जुन की कविता इस सत्य का पुष्ट प्रमाण है कि वे केवल भौतिक उत्कर्ष या बाहरी चमक-दमक को महत्त्व नहीं देते थे। सच्चे विकास के लिए भीतर की आँखों का खुलना अनिवार्य था, जिनकी विमल दृष्टि का सम्बल प्राप्त कर ही सत्-असत् को अलग-अलग करने वाले विवेक का अनुशासन स्वीकारना व्यक्ति, समाज और देश के लिए सम्भव होता है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

भौतिक भोगमात्र सुलभ हों भूरि-भूरि,
विवेक हो कुंठित।
तन हो कनकाभ, मन हो तिमिरावृत!
कमलपत्री नेत्र हों बाहर-बाहर
भीतर की आँखें निपट-निमीलित!
यह कैसे होगा?
यह क्यों कर होगा?

हिन्दी-चीनी भाई-भाई और पंचशील का नारा लगाने वाले चीन ने १९६२ के अक्टूबर में भारत पर हमला कर दिया। सारा देश इस विश्वासघात से विक्षुब्ध हो उठा। स्वयं पण्डित नेहरू ने चीन को 'बेशर्म दुश्मन' कहा। सभी देशभक्त साहित्यकारों का स्वर उस आक्रमण के प्रतिवाद में मुखरित हुआ। मुझे इस बात की बहुत खुशी हुई

कि नागार्जुन जी ने भी पूरे आक्रोश के साथ चीन की भर्त्सना की। १५.११.१९६२ के अपने पत्र में उन्होंने मुझे लिखा, "मैं भी आक्रामक लालचीन के खिलाफ कविताएँ लिख रहा हूँ। कई रचनाएँ एक साथ तैयार होंगी, इसी सप्ताह में। .....मुलाकात हमारी आपकी मार्च में होगी। होगी हो। रामविलास ने भी चीनी आक्रमण के खिलाफ एक लेख लिखा है। २८ अक्टूबर वाले 'हिन्दी टाइम्स' में छपा है, कहीं देख लीजियेगा, अवश्य।" नागा बाबा से मिलने के पहले ही उनके प्रेरक कवित्त मैंने पढ़ लिए थे। जब नागा बाबा से भेंट हुई तो उन्होंने अपने तीन कवित्त सुनाये। मैंने उन तीनों कवित्तों को लिख लिया। बाबा ने उनके नीचे हस्ताक्षर कर दिया।

इन कवित्तों में पौराणिक संदर्भों का भरपूर उपयोग किया गया है। हिमालय तो पार्वती जी के पिता माने गये हैं। इस दृष्टि से पूरा हिमालय क्षेत्र भवानी की पीहर हुई। रावण शिवजी का शिष्य था, किन्तु उसने हिमालय को उठाने का दुःसाहस किया था। शिवजी ने जब अपने पैर के अंगूठे से हिमालय को दबाया तो उस दबाव को सह न पाने के कारण रावण को हिमालय को रख देना पड़ा था। चीन भी भारत का शिष्य है क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं ने यहाँ से जाकर ही चीन को बौद्ध बनाया था। तंजुर कंजुर तिब्बती में अनूदित बौद्ध ग्रन्थों के सामूहिक नाम हैं। तिब्बती रेशमी नीले वस्त्रों और कालीनों पर अजगर की तस्वीर कढ़ी रहती थी। उसे ही चीनी हिंसा एवं लोभ की प्रतिकृति बताया गया है। अब पेश है पहला कवित्त—

झुलस गये नुकीले दलों वाले देवदार
परतों पर परतें दरकीं हिमानी की।
लगा गया कौन दस्यु जाने किस भाँति आग
सहसा सुलग उठीं पीहर भवानी की।।
उफनाया कालकूट गर्म हुआ जटाजूट
बल पड़े भृकुटि में त्रिकालज्ञ ज्ञानी की।
फिर सौ-सौ युगों बाद ठिठके कैलाशपति
आयी याद रावण से शिष्य अभिमानी की।।

दूसरे कवित्त में बताया गया है कि उद्धत रावण जैसे शिष्य का स्मरण आने पर एक ओर शिवजी का त्रिशूल तना, डमरू डमडमा उठा, शिष्य (रावण/चीन) के दुस्साहस पर शिवजी मुस्कुरा उठे, भवानी भी अड़िग रहीं, हाँ हिमालय जरूर कुछ क्षणों के लिए डोल गया। पुराण से समसामयिक यथार्थ पर आते हुए नागार्जुन ने लिखा—

बढ़ गया दर्प ज्वर, भ्रमित हैं माउ-चाउ
बासी हुए पंचशील, दर घटा मोल गया।
कोई मुझे बतला दे तिब्बती पठारों पर
बारूदी बदबू कौन तुहिन में घोल गया।।

भले पहले तिब्बत पर अधिकार जमा कर अब भारत की ओर बढ़ते हुए चीन के 'लोभ के अजगर की नक्शा कढ़ी सौ गुनी', किन्तु उसे याद रखना चाहिए कि भारत रुद्र का.....महाकाल का उपासक है; अमिताभ, बुद्ध या मंजुश्री का ही नहीं। यहाँ चीन को लेने के देने पड़ जायेंगे। अपने बाँके तेवर में नागार्जुन ने लिखा—

औंधे पड़े अमिताभ, मूर्छित हुए मंजुश्री
रुद्र ने नगाड़े पर, खाल मढ़ी सौ गुनी।

कम्पित हुए दिक्पति, क्रुद्ध हुआ महाकाल
खौल उठा ब्रह्मपुत्र, लालों बड़ी सौ गुनी।।

स्वाभाविक था कि ऐसी कविताओं पर कम्युनिस्ट पार्टी के नेता नाराज होते, किन्तु इस राष्ट्रीय मुद्दे पर जनकवि ने जनता का साथ दिया पार्टी के नेताओं का नहीं। मई १९६४ में वर्द्धमान जनपद हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कवि सम्मेलन में मेरी ही अध्यक्षता में नागार्जुन ने अपनी अन्य कविताओं के साथ इन कविताओं का भी पाठ किया था और जनता ने बेहद गर्मजोशी के साथ इनका स्वागत किया था।

नागार्जुन जी जब-जब कोलकाता आते, मुझसे अवश्य मिलते। मैं भी उनके आवास में जाकर उनसे मिलता रहता था। उम्र के बढ़ते रहने पर भी उनके जुझारू तेवर में कोई कमी नहीं आयी थी। पं० नेहरू की मृत्यु के बाद लिखित उनकी कविता 'जो तुम रह जाते दस साल और' जितनी बेधक थी, उतनी ही धिक्कारमयी थी उनकी कविता 'शासन की बन्दूक'। वे मुझे अपनी नयी कविताएँ सुनाते तो मैं उनकी कुछ पंक्तियाँ अपनी डायरी में लिख लिया करता था और उन्हें याद कर मित्रों को सुनाया करता था।

बांग्लादेश के मुक्ति युद्ध के सहयोगी के रूप में १९७१ में मैं धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि में निरन्तर लिख रहा था। जून १९७१ में बांग्लादेश के मुक्ति युद्ध की अलख जगाने में कुछ बांग्लादेशी और भारतीय प्राध्यापकों के साथ इलाहाबाद, लखनऊ, अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों का दौरा कर दिल्ली पहुँचा। वहीं नागा बाबा मिल गये। उन्होंने जोश-खरोश के साथ मेरी पीठ ठोंकी और कहा, 'आप बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। इस मुक्ति युद्ध को मेरा भी पूरा समर्थन है।" वे साहित्यकारों की सभा में तो नहीं आ पाये, किन्तु इस मुक्ति युद्ध के लिए अपनी पूरी शुभकामनाएँ उन्होंने दीं।

१९७४ में बिहार के छात्रों ने कांग्रेसी कुशासन के खिलाफ आन्दोलन छेड़ दिया। लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने उनका नेतृत्व करना स्वीकार कर सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा दिया। नागार्जुन को लगा कि यह वास्तविक जन-आन्दोलन है। कांग्रेसी कुशासन का विरोध तो वे लम्बे समय से करते ही रहे थे। वे भी इस आन्दोलन में कूद पड़े। उनकी दो पंक्तियाँ तो इस आन्दोलन का प्रमुख नारा बन गयीं, 'क्या है दक्षिण क्या है वाम / जनता को रोटी से काम।' नागा बाबा भी गिरफ्तार किये गये, जेल में रहे। कम्युनिस्ट पार्टी इसके चलते उन पर बहुत नाराज भी हुई, पर नागार्जुन पार्टी के फतवे से ऊपर उठकर जनता के साथ थे। यह बात अलग है कि जब उन्हें लगा कि नारा भले सम्पूर्ण क्रान्ति का हो, किन्तु इसमें शामिल विभिन्न दल उसके तवे पर अपनी-अपनी रोटियाँ सेंक रहे हैं तो वे यह कहने से भी नहीं चूके, "खिचड़ी विप्लव देखा हमने/भोगा हमने क्रान्ति विलास।/अब भी खत्म नहीं होगा क्या पूर्ण क्रान्ति का भ्रान्ति विलास।" किन्तु जब श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अपनी गद्दी बचाने के लिए २६ जून, १९७५ को आपात्काल की घोषणा कर कम्युनिस्ट नेताओं को छोड़कर अन्य सभी विरोधी दलों के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया तो नागा बाबा ने कई तीखी कविताएँ इन्दिरा गाँधी एवं आपात्काल के खिलाफ लिखीं। इस मुहिम में अपने स्तर पर मैं भी आपात्काल विरोधी आन्दोलन में शामिल था। स्वाभाविक रूप से 'इन्दु जी इन्दु जी क्या हुआ आपको' और 'लगता है/हिन्द के आसमान में/सूरज पर भी लागू होंगे/आपातकालीन स्थिति वाले ऑर्डिनेन्स', जैसी उनकी रचनाएँ हम लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय थीं।

विवादास्पद होते हुए भी नागार्जुन प्रतिष्ठित कवि थे। उनसे नाराज लोग भी उनकी ईमानदारी के कारण, उनकी दीर्घकालीन जीवन्त साहित्य सेवा के कारण उनका सम्मान करते थे। उस समय तक जी सत्तर वर्ष की अपनी जीवन-यात्रा में उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अन्यायों के विरुद्ध लम्बा संघर्ष किया था। अतः

बीसवीं सदी के नवम् दशक में उनके कई अभिनन्दन हुए। ऐसे तीन अभिनन्दनों में सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे मिला। मुझे बराबर यह लगा कि उनके बारे में लोग आन्तरिकता के साथ बोलते हैं, कई बार असहमतियों के बाद आदर करते हैं।

१९८१ के दिसम्बर में अपने व्यक्तिगत कार्य से दिल्ली गया तो मालूम पड़ा कि पाँच दिसम्बर को नागार्जुन का अभिनन्दन समारोह है। उसमें सम्मिलित होकर मुझे हर्ष हुआ। त्रिलोचन शास्त्री अध्यक्ष थे, नामवर जी संचालन कर रहे थे। मुझे सबसे अच्छा व्याख्यान रघुवीर सहाय का लगा। उन्होंने अच्छे उद्धरण चुने थे, नागार्जुन की कविताओं से और उनकी संगत व्याख्या भी की थी। विश्वनाथ त्रिपाठी भी अच्छा बोले। नामवर जी का संचालन तो प्रशंसनीय था ही। नागार्जुन ने अपनी कई नयी पुरानी अच्छी कविताएँ सुनायीं। बाबा को अपनी आरम्भिक कविता 'बादल को घिरते देखा है' बहुत पसन्द है। वे उसे अक्सर सुनाते रहे हैं। यह कविता कालिदास के प्रति उनकी संसक्ति को प्रकट करती है। इस गोष्ठी में राजेन्द्र यादव, लक्ष्मी नारायण लाल, वचनदेव कुमार आदि से भी भेंट हुई। मुझे इसमें सम्मिलित हो पाना बहुत प्रीतिकर लगा।

जनवरी, १९८५ में डॉ० शंभुनाथ ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राक्तन छात्र संघ की ओर से नागार्जुन की सन्निधि में तरुण कवियों के एक चतुर्दिवसीय शिविर का आयोजन किया। उसके उद्घाटन समारोह में मैं भी गया था। मैंने इस आयोजन को बहुत सराहा। मैंने देखा है कि नागार्जुन छोटों के प्रति बहुत वात्सल्य भाव रखते हैं। उनकी एक बहुत ही अच्छी कविता है, 'शिशु की मुस्कान पर'। उसकी आरम्भिक पंक्तियाँ हैं 'तुम्हारी वह दंतुरित मुस्कान/मृतक में भी डाल देती जान'। छोटों को प्रोत्साहित करने में वे बहुत-सी उलझनों को सुलझा सकते हैं, अपनी कविताओं को सुधार सकते हैं, काव्य सर्जना के प्रति सही अर्थों में समर्पित हो सकते हैं। अतः मैंने यह आशा व्यक्त की कि यह शिविर नये कवियों को तो अनुप्रेरित करेगा ही, नागार्जुन को भी उद्दीप्त करेगा, काव्य सर्जना के अपने खट्टे-मीठे अनुभवों को नयी पीढ़ी के साथ बाँट कर उन्हें अधिक सर्जनक्षम बनाने के लिए। मेरी दृष्टि में यह नागार्जुन की प्रतिभा का सर्जनात्मक अभिनन्दन था।

१९-२० नवम्बर, १९८८ को डॉ० विजय बहादुर सिंह ने विदिशा के साहित्य प्रेमियों के सहयोग से ७५ वर्ष पूर्ण करने के उपलक्ष्य में नागार्जुन की द्विदिवसीय अमृत जयन्ती का आयोजन किया। नागार्जुन के प्रति श्रद्धा ज्ञापन करने के लिए इस आयोजन में नामवर सिंह, राममूर्ति त्रिपाठी, राधावल्लभ त्रिपाठी, शिवकुमार मिश्र, खगेन ठाकुर, मैनेजर पाण्डेय, अजय तिवारी आदि विद्वान पधारे थे। मैं भी आमंत्रित था। यह स्पष्ट है कि समागत विद्वानों में मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी दोनों थे। पहले दिन के दो प्रारम्भिक मार्क्सवादी वक्ताओं ने इस बात पर बल दिया कि मार्क्सवादी होने के कारण ही नागार्जुन महान् जनकवि हो सके। उन्हीं के बाद बोलने के लिए मुझे आमंत्रित किया गया। मैंने कहा कि नागार्जुन मूलतः जनकवि हैं, केवल मार्क्सवादी या कम्यूनिस्ट कवि नहीं। न तो पार्टी के, न मार्क्सवाद के घेरे में सीमित करके उनका पूरा और सही मूल्यांकन किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने मार्क्सवाद को एक बड़ी सीमा तक अपनाया और एक काल खंड तक वे कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य भी रहे। अतः यह भी ठीक है कि उनकी कविता के एक बड़े अंश में उनकी मार्क्सवादी प्रवृत्ति झलकती है। किन्तु यह भी ठीक है कि उनकी बहुत-सी रचनाएँ भारतीय परम्पराओं और जनगण की आशाओं, आकांक्षाओं, मान्यताओं से जुड़ कर ही सार्थकता पा सकती हैं। कई बार इन दोनों प्रवृत्तियों में टकराव भी हुआ है और कई बार उन्होंने कम्यूनिस्ट पार्टी और मार्क्सवाद से असहमति प्रकट करके भी अपने को जनता से जोड़ा है। उदाहरण के लिए चीन के आक्रमण के समय नागार्जुन की भूमिका पार्टी लाइन का उल्लंघन कर सामान्य भारतीय जनता की मान्यताओं

के अनुरूप रही है। 'झूलस गये नुकीले दलों वाले देवदार.....' तथा इसी क्रम के अन्य छन्दों के उद्धरण देकर मैंने यह प्रतिपादित किया कि सारे मार्क्सवाद और कम्यूनिस्ट पार्टी के आदेशों को ताक पर रखकर इन कविताओं में जन-कवि नागार्जुन अपनी जनता के साथ खड़े हैं। इन छन्दों का कुछ विस्तृत विवेचन मैं अपने इसी लेख में कर चुका हूँ। अतः दुहराना उचित नहीं समझता।

इसी तरह जब सोवियत रूस ने चेकोस्लोवाकिया पर उसके इस अपराध के कारण आक्रमण कर दिया कि वह मार्क्सवाद को उदार बनाना चाहता था तब फिर नागार्जुन चेक जनता की तरफ से गरज उठे थे।

उस गोष्ठी में तो मैं उनकी सोवियत रूस विरोधी कविता की पंक्तियों को याद न रहने के कारण उद्धृत नहीं कर पाया था, किन्तु यहाँ कर रहा हूँ। सोवियत रूस को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था—

क्रान्ति तुम्हारी तुम्हें मुबारक, भ्रान्ति तुम्हारी तुम्हें मुबारक।
कूट कपट की भीतरघाती, शान्ति तुम्हारी तुम्हें मुबारक।।
लाल चीन को वहम मुबारक, तुमको अपना अहम् मुबारक।
पूज रहे जो तुम्हें उन्हें भी, उनका गहमा-गहम मुबारक।।
अर्धशती अभिमान मुबारक, अन्तरिक्ष अभियान मुबारक।
एक आँख का भौतिकवादी, द्वन्द्वात्मक विज्ञान मुबारक।।
क्रान्ति जवाबी तुम्हें मुबारक, समझ जवाबी तुम्हें मुबारक।
मार्क्स और लेनिन, स्तालिन के, ताला चाबी तुम्हें मुबारक।।

कविता की पंक्तियाँ स्वतः स्पष्ट हैं। केवल एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। इस कविता की रचना करते समय नागार्जुन यह मानने लगे थे कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विज्ञान एक आँख का ही है। इसी कविता की कुछ अगली पंक्तियाँ भी उद्धृत कर रहा हूँ—

तुम्हें चाहिए अन्ध अनुगमन, तुम्हें चाहिए ठकुरसुहाती।
अनुजों तक के स्वाभिमान से, अब तो तुमको हिचकी आती।।
....
भूतनाथ हो, बाँस-देव हो, यों तो साथी ब्रेजनेव हो।
ध्वस्त हो गया मोह हमारा, तुमने ऐसा डंडा मारा।।
....
शरणागत का वधिक क्रेमलिन। क्रूर अधिक से अधिक क्रेमलिन।

क्या इसके बाद भी नागार्जुन को केवल मार्क्सवादी, केवल कम्यूनिस्ट कहना और इसी आधार पर उनके काव्य का मूल्यांकन करना न्यायोचित है?

'बादल को घिरते देखा है, कालिदास सच-सच बतलाना' तथा 'यह कैसे होगा, यह क्योंकर होगा' प्रकृति की प्राणवन्त छवियाँ अंकित करने वाली उनकी कविताएँ भी उन्हें भारतीय जनता का सच्चा प्रतिनिधि जनकवि ही सिद्ध करती हैं।

नागार्जुन की प्रतिभा ने पार्टी के अनुचित अंकुश को मानने से बार-बार इन्कार कर दिया था। जनसंघी कार्यकर्त्ताओं के साथ सम्पूर्ण क्रान्ति के आन्दोलन के दौर में उनके जुड़ने पर जब पार्टी के नेताओं ने आपत्ति की थी तो उन्होंने कहा था, "१९६७ में जब आप लोग जनसंघियों के साथ 'नितम्ब-निघर्षण' करके सरकारें चला रहे

थे, तब भी मैं जनता के साथ था, आज भी जनता के साथ हूँ।" मुझे यह प्रकरण अटल बिहारी वाजपेयी जी ने सुनाया है। नागा बाबा यहीं बैठे हैं, मैं चाहता हूँ कि वे इसके सही / गलत होने के बारे में बतायें।

स्पष्टतः मेरे व्याख्यान ने वातावरण को काफी गरमा दिया। विजय बहादुर ने चाहा कि नामवर जी मेरे इस वक्तव्य की समीक्षा करें, किन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। जब खगेन ठाकुर बोलने के लिए खड़े हुए तो नामवर जी ने कहा, "गोष्ठी को वाद-विवाद का रूप न दिया जाये। खगेन जी अपनी बात कहें।" खगेन जी ने मेरी बातों से मर्यादापूर्वक असहमति प्रकट करते हुए अपनी बातें कहीं। नागा बाबा ने अपने वक्तव्य में मेरे कथन का समर्थन किया, अटल जी के कथन को सत्यापित करते हुए उन्होंने कहा मैंने तो नितम्ब-निघर्षण से भी भयंकर बात कही थी। मार्क्सवादी मित्र मन मसोस कर रह गये। गोष्ठी के बाद मैनेजर पाण्डेय ने मुझसे कहा, "आपसे संवाद हो सकता है क्योंकि आप हमारी धारा की रचनाओं को पढ़ते भी हैं और एक हद तक उनके महत्त्व को स्वीकारते भी हैं।" नागा बाबा ने तो मुझे बहुत प्रेम दिया ही; नामवर जी, राममूर्ति त्रिपाठी, अजय तिवारी आदि भी प्रेमपूर्वक मिले।

शाम को मुख्य आयोजन था। अध्यक्ष थे भाऊ समर्थ। वक्ता थे कमलेशदत्त त्रिपाठी, राधावल्लभ त्रिपाठी, राममूर्ति त्रिपाठी, विष्णुकान्त शास्त्री और नामवर सिंह। सभी लोग नागा बाबा के प्रति बहुत सम्मान और प्रेम के साथ बोले। मैंने नागा बाबा की तीन कविताएँ भी सुनायीं और यह भी कहा कि नागार्जुन के कारण अतिशय व्यक्तिवादी कविताओं का स्वर बहुत मुखर नहीं हो पाया। नामवर जी ने अपने व्याख्यान में मेरी इस बात का उल्लेख कर उसका समर्थन किया। थोड़ा-सा नागा बाबा भी बोले। वे इस आयोजन से परम प्रसन्न थे।

२० तारीख को जब गोष्ठी चल रही थी तभी 'महाभारत' धारावाहिक का समय हो गया। बाबा उचक कर भागे, बोले— मैं तो महाभारत देखूँगा। फिर गोष्ठी कैसे चलती? अधिकांश लोग महाभारत देखने चले गये। ७५ वर्ष की उम्र में बाबा की यह हृदयधर्मिता मुझे तो प्रीतिकर ही लगी।

अपराह्न में कवि सम्मेलन था। नागा बाबा ने अपनी कई कविताएँ सुनायीं। मैंने नागा बाबा की बँगला कविताओं का पाठ किया और हिन्दी में उनका धारावाहिक अनुवाद भी किया। इस गोष्ठी में मुझे नागा बाबा का भरपूर प्रेम और आशीर्वाद मिला।

अप्रैल १९९२ में नागार्जुन सम्भवतः आखिरी बार कोलकाता आये। राष्ट्रीय संग्रहालय कोलकाता में राहुल शतवार्षिकी मनायी गयी। उसमें नागार्जुन, मुल्कराज आनन्द और विष्णुकान्त शास्त्री के व्याख्यान हुए। नागार्जुन ने अपने लम्बे साहचर्य के आधार पर बताया कि राहुल जी अपने विश्वासों में आये परिवर्तनों के अनुरूप अपनी भूमिका बदलते रहे, भले ही उससे उन्हें नुकसान ही उठाना पड़ा हो। विश्वास की कीमत चुकाने की उनकी यह निष्ठा, उनकी विद्वत्ता, अहर्निश कार्य करने की उनकी क्षमता, लेखनपटुता,.....आदि उनकी गुणावली, उन्हें असाधारण मानव सिद्ध करती है। मैंने यह बात जोड़ी कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रश्न पर उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के निर्देश को अस्वीकार कर अपनी हिन्दी निष्ठा प्रमाणित की थी।

३० अप्रैल, १९९२ को कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में नागार्जुन के सम्मान में गोष्ठी आयोजित थी। नागार्जुन अस्वस्थता के कारण नहीं आ सके। मैं उनसे मिलने गया। वे श्री गीतेश शर्मा के घर ठहरे हुए थे। मुझे देखकर नागार्जुन और गीतेश जी दोनों प्रसन्न हुए। अच्छी चर्चा हुई। मैंने नागार्जुन को उन्हीं की तीन कविताएँ सुनायीं। वे तो खुश हुए ही, गीतेश जी बहुत प्रसन्न हुए। कौन जानता था कि नागार्जुन जी से मेरी यह भेंट आखिरी सिद्ध होगी। अगले पाँच-छः साल सम्भवतः वे कोलकाता नहीं आ पाये या यदि आये भी हों तो मैं उन दिनों कोलकाता नहीं रहा।

६ नवम्बर, १९९८ ई० को जब नागार्जुन के दिवंगत होने का दुःसंवाद मिला तो मैं स्तब्ध रह गया। हिन्दी का घनघोर जुझारू कवि चला गया। उन्हीं के शब्दों में उनके कृतित्व को श्रद्धांजलि दे रहा हूँ—

अग्नि बीज
तुमने बोए थे!
रमे जूझते
युग के बहु आयामी
सपनों में, प्रिय
खोए थे!
अग्निबीज
तुमने बोए थे!! ●

मुक्तक

मौन रहना चाहकर भी रह कहाँ पाया
और कहना चाहकर भी कह कहाँ पाया।
दान पीड़ा का दया कर दे गये, उसको,
हाय! सहना चाहकर भी सह कहाँ पाया!!

●

अपने दिल से पार पाना है नहीं आसान
मृदु हँसी का सार पाना है नहीं आसान।
है बहुत आसान अग-जग की घृणा पाना
पर किसी का प्यार पाना है नहीं आसान।।

●

बात सच है क्यों करूँ इन्कार
प्रेरणा देता किसी का प्यार।
जो बनाती धूल को भी फूल,
पीर वह इन मुक्तकों की धार।।

शालीनता और संवेदनशील विद्वत्ता के मूर्त रूप

रामस्वरूप चतुर्वेदी

लोकगीत की एक पंक्ति है, 'उड़ गये फुलवा रह गई बास!' फूल तो चले गये पर सुगन्ध अब भी बसी हुई है। रामस्वरूप जी के चले जाने के बाद यह पंक्ति मुझे बार-बार याद आ रही है। व्यक्ति तो चला जाता है पर उसके प्रियजनों के मनों में उसके स्नेह-सद्भाव की, उसकी उपलब्धियों की, उसकी देनों की प्रीतिकर स्मृतियों की सुगन्ध बसी ही रहती है। सच, कितने शालीन, कितने सौम्य स्वभाव के थे रामस्वरूप जी! उनका आत्मीयता से भरा मुस्कराता हुआ चेहरा आश्वस्त करता था कि इस व्यक्ति से मन खोलकर बात की जा सकती है। मैंने उनसे कभी किसी की निन्दा नहीं सुनी, जिन्होंने उनको क्षति पहुँचायी थी, उनकी भी वे निन्दा नहीं करते थे। उनके साथ बिताया हुआ समय अत्यन्त प्रीतिकर होता था। हम लोग ज्यादातर साहित्य की ही चर्चा करते थे। उनके विशद् अध्ययन का प्रमाण पग-पग पर मिलता था किन्तु उसमें न दिखावा होता था, न अपने को थोपने का प्रयास। दूसरों की बातों को भी वे ध्यान से सुनते थे, सहमति भी प्रकट करते थे और असहमति भी, किन्तु मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं करते थे। हाँ बीच-बीच में मीठी चुटकियाँ वे लेते रहते थे, जिनके कारण बातचीत में और रस आ जाता था। वे सुलझे दिमाग के अच्छे विचारक तो थे ही, बहुत अच्छे आदमी भी थे। आड़े वक्त लोगों के काम आना, किसी के फटे पर पाँव न रखना उनका सहज स्वभाव था। मेरी उनकी पटरी बहुत बैठती थी। कई बार हम लोगों ने घण्टों बात की है.... विशेषकर जब हम लोग कोलकाता, इलाहाबाद के बाहर किसी संगोष्ठी में मिलते थे, तब अवकाश के समय का सदुपयोग घूमने-फिरने 'माथा-चटौअल' यानी 'ब्रेनपिकिंग' अर्थात् एक-दूसरे के ज्ञान से सहज ही लाभान्वित होते रहने में किया करते थे। मेरी उनकी निकटता भी इसी प्रक्रिया के कारण सम्भव हुई थी।

बात १९६६ के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह की है। भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन में डॉ० बलदेव उपाध्याय, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जैसे वरिष्ठ गुरुजन भी पधारे थे। 'रीतिकाव्य का पुनर्मूल्यांकन' एवं 'आधुनिक समीक्षा : पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क' इन दो विषयों पर उस अधिवेशन में विचार गोष्ठियाँ आयोजित हुई थीं। मैं दोनों में बोला था, रामस्वरूप जी समीक्षा वाली गोष्ठी में बोले थे। हम दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए थे। जब निबन्ध गोष्ठी में निबन्ध पढ़े जाने लगे तो हम दोनों धीरे से सरक गये। बाहर डॉ० निर्मला जैन मिलीं, शम्भुनाथ सिंह को भी मैंने साथ ले लिया। हम चारों शिप्रा तट पर घूमने चले गये। वहाँ बहुत अच्छी ठण्डी हवा बह रही थी। मेरे मुँह से अनायास कालिदास की पंक्ति निकली, 'शिप्रावातः प्रियतम, इव प्रार्थनाचाटुकारः'। फिर तो वहाँ गप-शप के साथ-साथ कविताएं भी सुनायी जाने लगीं। हम लोग एक-दूसरे के निकट आते गये।

२९ दिसम्बर को प्रातःकाल आचार्य पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी के आमंत्रण पर पण्डित उमाशंकर शुक्ल, डॉ० रघुवंश, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा के साथ मैं भी उनके घर जलपान करने गया। गुरुजनों की उपस्थिति में हम लोग कम बोले पर इतना तै हो गया कि पंडित उमाशंकर शुक्ल, रघुवंश जी, जगदीश गुप्त और रामस्वरूप जी के साथ मैं भी जबलपुर जाऊँगा। हम लोग साथ-साथ ही धुँआधार, भेड़ाघाट आदि की

सैर करने गये। मुझे तो धुँआधार के झरने से भी रम्यतर लगा भेड़ाघाट में संगमरमर की शिलाओं से आवृत नर्मदा का अभिभूतकारी सौंदर्य। जीवन भर अविस्मरणीय रहेगा वह पावन अनुभव। थोड़ी देर हम लोग मौन बैठे रहे उस शान्त सौन्दर्य का अंग बन जाने के लिए, उसे आत्मसात् करने के लिए। चाँदनी रात में कभी पुनः उस दिव्य रूप के दर्शन करने की लालसा लेकर हम लोग लौटे। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और माँ जी ने हम लोगों को बहुत प्रेम से भोजन कराया। रामस्वरूप जी तो श्रीमती वर्मा को मम्मी ही कहते थे। मैं भी उस सारस्वत परिवार का अंग बन गया। वहीं से मैं जगदीश जी के साथ खजुराहो गया, रामस्वरूप जी आदि, इलाहाबाद लौटे।

कोलकाता पहुँचकर मैंने रामस्वरूप जी को जो पत्र लिखा उसमें 'शुद्ध कविता' के सम्बन्ध में उनके चिन्तन की प्रशंसा की थी। पत्र पाते ही ०९.०१.१९६७ को उन्होंने उसके उत्तर में लिखा, "आपका स्नेह पत्र मिला। तो आप खजुराहो होते हुए कोलकाता पहुँच ही गये। मुझे तो लगता है कि हम लोगों की यात्रा अभी चल ही रही है। सचमुच साथ-संग में वर्ष का अंतिम सप्ताह बहुत अच्छा बीता। और अन्त अच्छा रहा तो मानूँगा कि पूरा वर्ष ही अच्छा रहा। इस दृष्टि से इस यात्रा का अतिरिक्त महत्त्व रहेगा।

शुद्ध कविता की खोज तो 'सामूहिक प्रक्रिया' है। भला उस पर अकेले मेरा दावा कैसे हो सकता है? नये वर्ष की शुभकामनाओं के साथ....."

इस तरह हम लोगों का जो पत्राचार शुरू हुआ, वह उनके जीवनकाल भर चलता रहा।

१९६८ के दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में श्रीमती उमाराव ने कोलकाता की प्रमुख हिन्दी नाट्य संस्था **अनामिका** को इलाहाबाद में दो नाटकों के प्रदर्शन के लिए आमंत्रित किया था। अनामिका का सभापति होने के कारण मैं भी साथ गया था। मुझे यह देखकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि स्टेशन पर हम लोगों का स्वागत करने श्रीमती उमाराव के साथ डॉ० रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि विशिष्ट साहित्यकार भी आये थे। अनामिका के नाटकों को देखने के लिए सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा जैसी साहित्यिक विभूतियाँ पधारी थीं। हम लोग गद्गद् हो गये। प्रसिद्ध बंगला नाटककार बादल सरकार के प्रयोगशील नाटक 'एवं इन्द्रजित' का प्रदर्शन श्यामानन्द जालान ने इतनी कुशलता के साथ किया कि इलाहाबाद का साहित्य जगत अभिभूत हो गया। रामस्वरूप जी इन दोनों नाटकों को देखने तो आये ही, इस अवसर पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी में आयोजित गोष्ठी में 'जयशंकर प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता' पर उन्होंने एक बहुत अच्छा लेख पढ़ा और यह प्रतिपादित किया कि प्रसाद जी के नाटकों को अनभिनेय कहना गलत है। अपने लेख पर किये गये प्रश्नों के उत्तर भी उन्होंने बहुत कुशलतापूर्वक दिये। विषय की जानकारी और निरूपण की जिन्दादिली दोनों दृष्टियों से उन्होंने श्रोताओं को प्रभावित किया। इलाहाबाद के मित्रों के आतिथ्य सत्कार और कला प्रेम ने हम लोगों को मंत्र-मुग्ध कर लिया। कोलकाता पहुँचकर मैंने रामस्वरूप जी को पत्र लिखा, "एक गहरी अतृप्ति लिए इलाहाबाद से लौटा हूँ। कहीं दो दिन में भी मन भरता है! भगवान की इच्छा हुई तो कभी दस-पन्द्रह दिनों तक प्रयाग में धूनी रमाऊँगा और तब इलाहाबाद के साहित्यिक वैशिष्ट्य का कुछ प्रत्यक्ष परिचय पा सकूँगा। सुमन जी की एक पंक्ति है, 'दो घड़ी की भेंट वर्षों तक अखरती है।' तो दो दिनों की भेंट तो युगों तक चुभती रहेगी। अच्छा ही है, वही चुभन प्रेरित करेगी कि चलो फिर दोस्तों के साथ गोष्ठी सुख लूट आओ!" रामस्वरूप जी का तो खुला निमंत्रण था, इलाहाबाद आते रहने का।

'परिमल' के विचारकों में धर्मवीर भारती, केशव चन्द्र वर्मा, विजय देवनारायण साही, रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त आदि के साथ रामस्वरूप चतुर्वेदी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। अपनी पुस्तक 'हिन्दी नवलेखन' के द्वारा रामस्वरूप जी ने यह प्रतिपादित किया था कि यूरोपीय नवलेखन से कुछ प्रभाव ग्रहण करते हुए भी हिन्दी

का नवलेखन केवल अनुकरण नहीं है, भारतीय परिस्थितियों की उपज है। उनकी यह भी स्थापना थी कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का पर्यवसान हिन्दी के नवलेखन में हो गया है। दूसरी स्थापना कुछ विवादास्पद हो सकती है किन्तु मुझे यह बात काफी हद तक स्वीकार्य लगी कि अतिरेकों का त्याग करने पर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद के नाम पर लिखे जा रहे साहित्य को नवलेखन की संज्ञा दी जा सकती है। यह सभी मानते हैं कि नयी कविता, नये साहित्य को प्रतिष्ठा दिलाने में परिमल के विचारकों ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

अत: फरवरी, १९७० के दूसरे सप्ताह में 'परिमल पर्व' में भाग लेने के लिए जब मुझे आमंत्रण मिला तो मैं सहर्ष इलाहाबाद पहुँचा। सभी मित्र बहुत प्रेमपूर्वक मिले। मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि परिमल पर्व की संयोजन समिति में न रघुवंश जी का नाम था, न रामस्वरूप चतुर्वेदी का। मैंने जब इस सम्बन्ध में रामस्वरूप जी से पूछा तो वे बात टाल गये, यही बोले कि हम सब लोग साथ ही हैं। बाद में मुझे पता चला कि परिमल के मित्रों में आपस में कुछ खटक गयी है, किन्तु रामस्वरूप जी ने अपनी तरफ से इसका कोई आभास नहीं होने दिया। वे उसी प्रकार हँसते बोलते रहे। कोलकाता-इलाहाबाद के सम्बन्ध में छेड़छाड़ करते रहे। उद्घाटन गोष्ठी में डॉ० शिवप्रसाद सिंह एवं दूधनाथ सिंह में कुछ कटु शब्दों का आदान-प्रदान हो गया। मैंने रामस्वरूप जी से कहा, यह अच्छा नहीं हुआ। उन्होंने शमशेर की प्रसिद्ध पंक्तियाँ सुना दीं, "जो नहीं है/उसका क्या गम/जैसे कि सुरुचि!" साही जी के लम्बे व्याख्यान पर भी उन्होंने चुटकी लेते हुए कहा था, "साही जी की वक्तृता ऐसी लम्बी दिलचस्प कहानी है, जिसे सुनते समय तो मजा आता है, पर अन्त में यह समझ में नहीं आता कि हासिल क्या हुआ?"

बांगलादेश के 'मुक्ति आन्दोलन' के समर्थन में १९७१ में पूरी तरह जुट गया था। 'कोलकाता विश्वविद्यालय बांगलादेश सहायक समिति' ने यह फैसला किया कि चटगाँव विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० अजीजुर्रहमान मल्लिक के नेतृत्व में प्राध्यापकों का एक शिष्ट मण्डल उत्तर भारत के कुछ प्रमुख विश्वविद्यालयों का दौरा कर बांगलादेश पर हो रहे जघन्य पाकिस्तानी अत्याचारों का पर्दाफाश करे और बांगलादेश को मुक्ति दिलाने के सम्बन्ध में अनुकूल वातावरण की सृष्टि करे। मुझे भी इस शिष्ट मण्डल में शामिल किया गया था। हम लोगों का पहला गन्तव्य ही था इलाहाबाद विश्वविद्यालय। मुझे यह देख कर आन्तरिक सन्तोष हुआ कि इलाहाबाद के बौद्धिकों ने बांगलादेश की स्वतंत्रता का समर्थन पूरे जोश-खरोश के साथ किया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सॉर्थ हॉल में, हिन्दुस्तानी एकेडेमी में डॉ० अजीजुर्रमान मल्लिक, डॉ० अनीसुज्जमान आदि के व्याख्यान तो हुए ही कॉफी हाउस में भी डॉ० अनीसुज्जमान और मुझको आग्रहपूर्वक ले गये डॉ० रघुवंश, विजय देवनारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, नरेश मेहता, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि मित्रगण और खोद-खोदकर बांगलादेश के मुक्तिकामी कवियों, लेखकों, बौद्धिकों के बारे में पूछते रहे। डॉ० मल्लिक, डॉ० अनीसुज्जमान एवं शिष्टमण्डल के अन्य सदस्य पुलकित होकर मुझसे बोले कि हम लोगों की धारणा नहीं थी कि इलाहाबाद के विद्वान और लेखकगण बांगलादेश की समस्याओं के सम्बन्ध में इतने जागरूक और सहानुभूति सम्पन्न होंगे।

१६ दिसम्बर, १९७१ को बांगलादेश आजाद हुआ। रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने ०७.०१.१९७२ के पत्र में मुझको लिखा, "बधाई के योग्य तो इस समय आप हैं जो इतने व्यापक और विराट् आन्दोलन को सफलता मिली। आपके माध्यम से इस आन्दोलन में एक व्यक्तिगत सम्पर्क का भाव बना रहा। इस विजय में विष्णुकान्त शास्त्री और 'धर्मयुग' का भी योगदान है।" वे जानते थे कि मैंने बांगलादेश की श्रेष्ठ संग्रामी कविताओं का हिन्दी में अनुवाद किया है। उन्होंने पं० उमाशंकर शुक्ल जी को प्रेरित किया कि उनका पाठ करने के लिए हिन्दुस्तानी एकेडेमी मुझे आमंत्रित करे। मुझे आमंत्रण मिला और मैंने हिन्दुस्तानी एकेडेमी में २१.०१.१९७२ को बांगलादेश की श्रेष्ठ संग्रामी

कविताओं का पाठ उनके हिन्दी अनुवाद के साथ किया। मैं यह देखकर चकित हो गया कि श्रोताओं में सुमित्रानन्दन पन्त, अमृत राय, उमाशंकर शुक्ल, विजय देवनारायण साही, रघुवंश, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी, उपेन्द्रनाथ अश्क, नरेश मेहता जैसी साहित्यिक हस्तियाँ विराजमान थीं। उनकी अनुकूल प्रतिक्रियाओं ने मुझे उल्लसित कर दिया। इलाहाबाद के साहित्यिक समाज के प्रति बहुत ही सम्मान एवं आत्मीयता का भाव लेकर मैं लौटा।

विविध विश्वविद्यालयों एवं साहित्यिक संस्थाओं द्वारा आयोजित गोष्ठियों में रामस्वरूप जी के साथ भेंट होती रही। हम दोनों ही वार्तालाप रसिक होने के कारण समशील मित्रों के साथ देर तक गपशप करते रहते थे। अपने एक पत्र में रामस्वरूप जी ने मुझे लिखा था, "दिल्ली की गोष्ठी में आप लोगों ने मुझे स्मरण किया, यह जानकर खुश हूँ। अगली बार हम लोगों को यत्न करना होगा कि अपनी गोष्ठी बेहतर ढंग से जमे और इसे हम 'परिषद्' के बीच 'अपरिषद्' मानेंगे। अकविता, अकहानी आदि में मेरी आस्था नहीं, पर 'अपरिषद्' का समर्थन जरूर करूँगा।" इन्हीं महत्त्वपूर्ण (!) 'अपरिषदों' के कारण हम लोगों को कितने साहित्यिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर सोचने-विचारने और लिखने की प्रेरणा मिली, कैसे बतलाऊँ? एक दूसरे के लेखन के सम्बन्ध में भी हम लोग बराबर रचनात्मक चर्चा करते थे। ऐसी ही एक 'अपरिषद्' के बाद रामस्वरूप जी ने मुझे लिखा था, "मेरी लिखावट को आपने चिन्ता की, इसके लिए आभारी हूँ, कहना पर्याप्त नहीं लगता। 'कहे बिनु रहो न परत कहे राम रस न रहत।' इस विडम्बना को आप जानते हैं। इस अमानवीकरण के जमाने में कुछ मानवीय मित्र हों तो यह बड़ी उपलब्धि है। और कम से कम इस माने में मैं अपने को सौभाग्यशाली पाता हूँ।"

मित्रों की इस मणिमाला में विजय देवनारायण साही मध्यमणि जैसे थे। उनके गुजर जाने का धक्का सचमुच बहुत करारा था। उनकी तेजोदीप्त वाणी, सच्चाई के पक्ष में उनका दो टूक कथन, उनकी मर्मस्पर्शी सहृदयता के हम दोनों कायल थे। मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा था जायसी के सम्बन्ध में उनके अभिनव विवेचन का। परमगुरु कबीर के प्रति उनकी कविता को मैंने न जाने कितनी बार मित्रों को सुनाया था। २२.११.१९८२ को जब मैं रामस्वरूप चतुर्वेदी के साथ उनके घर गया तो कंचन जी को सान्त्वना देने की मेरी हिम्मत ही नहीं पड़ी। मैं करीब-करीब चुप-ही रह गया। वे सचमुच बहुत असमय में चले गये। रामस्वरूप जी तो मुझसे भी ज्यादा आहत थे। उन्होंने अपने कई पत्रों में अपनी पीड़ा व्यक्त की कि 'साही जी का अभाव यहाँ बहुत खलता है।' प्रायः प्रतिदिन जिसके साथ 'सार्थ गोष्ठी' जमा करती थी, उसका अभाव तो खलेगा ही खलेगा। ऐसे अभाव झेलते रहने के लिए हम सब अभिशप्त हैं, रामस्वरूप जी के जाने के बाद यह बोध और तीक्ष्णता के साथ हुआ।

उनके पिताजी की मृत्यु पर मैंने पत्र लिखा तो उनका उत्तर आया, "पिताजी के न रहने पर एक रिक्तता का बोध तो रहता ही है, आप जैसे सात्त्विक बन्धु की सच्ची सहानुभूति से कष्ट कटता है।" स्नेहीजनों की सद्भावना बल देती है, यह तो सच है किन्तु झेलना तो खुद को ही पड़ता है। रामस्वरूप जी विपरीत परिस्थितियों को भी बिना विचलित हुए झेल लेते थे और अनुकूल परिस्थितियों में वे मर्यादा का पालन करते थे। वे विभागाध्यक्ष हुए तो उन्होंने मुझे भी हिन्दी बोर्ड का सदस्य बना लिया। मैंने देखा कि वे सब काम सहयोगियों से परामर्श करके करते थे, अपने को बलपूर्वक थोपते नहीं थे। एक बार प्रवक्ता पद पर नियुक्ति के लिए चयन समिति के विशेषज्ञों को समागत अभ्यर्थियों में कोई भी व्यक्ति उपयुक्त नहीं जँचा तो उन्होंने पद के लिए पुनः विज्ञापन देने का उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। इस बात का हठाग्रह उन्होंने नहीं किया कि समागतों में से ही किसी को नियुक्त कर दिया जाये।

मेरे आमंत्रण पर १९८७ के मार्च के दूसरे सप्ताह में रामस्वरूप जी ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में मैथिलीशरण गुप्त, छायावाद और समकालीन कविता पर तीन महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों

की विशेषता यह थी कि इनके माध्यम से रामस्वरूप जी ने यह दिखाया था कि आधुनिक हिन्दी काव्य की संवेदना का विकास बदलती हुई परिस्थितियों में प्रत्यक्ष बोध के आधार पर नवीन विषयानुभूतियों के कारण कैसे हुआ है? उनकी स्थापना थी कि आध्यात्मिकता को अस्वीकार न करते हुए भी ऐहिकता की ओर.....राष्ट्रीयता की ओर हिन्दी कवियों का झुकाव भारतेन्दु के समय से ही दृष्टिगोचर होने लगता है। मैथिलीशरण गुप्त में यह वृत्ति मूर्त हो उठी है। सहज देशभक्ति को पराधीन भारत में स्वाधीनता के लिए आन्दोलित राष्ट्रीयता में परिवर्तित करना ही मैथिलीशरण जी की 'भारत भारती' का मुख्य उद्देश्य है। मुसलमानों को भी इसमें सम्मिलित करने के उद्देश्य से ही गुप्त जी ने उन्हें सम्बोधित करते हुए लिखा था—

हिन्दू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ,
जो एक का होगा अहित तो दूसरे का हित कहाँ?
सप्रेम हिल-मिलकर चलो यात्रा सुखद होगी तभी,
पीछे हुआ सो हो गया, अब सामने देखो सभी।।

साहित्य को देशभक्ति से सीधे जोड़ने का मैथिलीशरण गुप्त का काव्यात्मक प्रयास अन्य आलोचकों द्वारा भी मान्य रहा है, फिर भी उसे युक्तियुक्त ढंग से विवेचित कर चतुर्वेदी जी ने विद्यार्थियों और प्राध्यापकों पर अच्छी छाप छोड़ी थी।

अपने दूसरे व्याख्यान में छायावाद को शक्ति-काव्य के रूप में प्रतिपादित कर चतुर्वेदी जी ने हम लोगों को थोड़ा चौंकाया। प्रकृति-प्रेम, रहस्यवाद, अंग्रेजी कवियों के स्वच्छन्दतावाद आदि से प्रभावित माने जाने वाले छायावादी काव्य को शक्ति काव्य के रूप में रेखांकित करना निश्चय ही साहस की बात थी। किन्तु चतुर्वेदी जी ने प्रसाद की 'कामायनी'; निरालाकृत 'राम की शक्ति पूजा' एवं 'तुलसीदास'; पन्त जी के 'ज्योति भारत' तथा महादेवी जी के गीत 'जाग तुझको दूर जाना' आदि से उपयुक्त उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया कि छायावादी काव्य में भारत की समग्र चेतना को जगाने का आह्वान उसकी अन्तर्निहित शक्ति के विकास के आधार पर किया गया है। इसीलिए छायावादी काव्य को सांस्कृतिक जागरण के रूप में देखना चाहिए। यह भी याद रखना चाहिए कि छायावाद में राष्ट्रीयता के आधार के रूप में राजनीति से कहीं अधिक संस्कृति को प्रधानता दी गयी है। मैंने व्याख्यान के बाद रामस्वरूप जी को गले लगा लिया। मैं उनकी पैनी दृष्टि का कायल तो था ही, इस व्याख्यान ने तो मुझे जीत ही लिया।

हिन्दी की समकालीन कविता पर तीसरा व्याख्यान देते हुए चतुर्वेदी जी ने उसे यांत्रिकी युग की चुनौती की उपज बताया। अतिशय यांत्रिक विकास के कारण जीवन की गति बहुत बढ़ गयी है, उसी अनुपात में संसार छोटा होता गया है। सम्पर्क की अधिकता के कारण अनुभूति की तीव्रता कम होती जा रही है। फलतः मानवीय सम्बन्धों में कोमलता लुप्त होती जा रही है। द्वन्द्व, संघर्ष बढ़ता जा रहा है। मनुष्य ही मनुष्य से नहीं टकरा रहा है, विविध राष्ट्रों की जीवन पद्धतियाँ, संस्कृतियाँ भी टकरा रही हैं और अर्थहीनता के बोध को प्रखर बना रही हैं। दूसरी तरफ साहित्य का प्रमुख लक्ष्य जीवन की सार्थकता की तलाश रहा है। समकालीन कविता इन्हीं परस्पर विरोधी दबावों को झेल रही है और अपनी सर्जनात्मकता के सहारे अर्थहीनता के बोध से उबरने की चेष्टा कर रही है। मुझे लगा कि यह बोध भारतीय जीवन का कम और पश्चिमी जीवन का अधिक है। पर हम लोगों के देश में नगरीय जीवन की विसंगतियाँ जिस गति से बढ़ रही हैं, उनकी परिणति क्या होगी, कौन जाने?

वह निस्संदेह कहा जा सकता है कि उनके व्याख्यानों ने छात्रों-प्राध्यापकों के बीच उनकी छवि को उज्ज्वलतर बनाया। हम लोगों का सम्बन्ध और अधिक आत्मीय हो गया। विश्वविद्यालय के बाहर भी उन छह-सात दिनों में हम लोग खूब घुले-मिले। मैंने अपने घर तो रामस्वरूप जी, सुषमा जी को भोजन के बहाने गपशप के लिए आमंत्रित किया ही, प्रो० कल्याणमल लोढ़ा एवं डॉ० प्रतिभा अग्रवाल के घर भी अच्छी गोष्ठी जमी। उन दिनों की स्मृतियाँ बहुत मधुर हैं।

१९८८ के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में मुझे यह दुःसंवाद मिला कि रामस्वरूप चतुर्वेदी जी को दिल का दौरा पड़ा है। २६.१२.१९८८ को जब मैं उन्हें देखने पहुँचा तो उनकी स्थिति में स्थिरता आ चुकी थी। मैं देर तक उनके पास बैठा रहा। उन्हें ज्यादा बोलने नहीं दिया। मुझे घरवालों ने और डॉक्टरों ने आश्वस्त किया कि वे अब खतरे के बाहर हैं। प्रभु कृपा से वे धीरे-धीरे ठीक हो गये। स्वास्थ्य का ध्यान रखने के लिए लिखित मेरे पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा, "अब ठीक हूँ। दैनन्दिन काम पर वापस आ रहा हूँ। विश्वविद्यालय जाना भी शुरू किया है"। हिन्दी के सौभाग्य से वे उस समय स्वस्थ हो गये।

मैंने दर्जनों विभागाध्यक्षों को सेवानिवृत्त होते देखा है। प्रायः मुझको लगा है कि सेवानिवृत्ति को अध्यक्षगण सहज स्वीकार नहीं कर पाते। पद के साथ अधिकार जुड़े रहते हैं, जिनसे वंचित होना बहुतों को पीड़ादायक लगता है। पदारूढ़ होने पर जो सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है, पदमुक्त होने के बाद उसमें भी काफी कमी आ जाती है। इस दंश को झेलना भी कठिन काम है। इसीलिए सेवानिवृत्ति के बाद कुछ लोग असन्तुलित भी हो जाते हैं। रामस्वरूप जी के लिए विभागाध्यक्षता से मुक्त होना उल्लास का विषय था। ०५.०५.१९९१ का उनका लिखा पत्र इसका प्रमाण है, जिसमें उन्होंने केवल इतना लिखा था—

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में।

सादर, साभार —रामस्वरूप चतुर्वेदी

विभागाध्यक्षता उनके लिए बोझ के समान थी, भादों की उफनती नदी में की जाने वाली खतरनाक यात्रा के समान थी, उससे ससम्मान निवृत्ति, उनके लिए उसके पार पहुँचने के समान, भारमुक्त होने की समान थी। सब भार भाँड़ में झोंककर पार उतर जाने की प्रसन्नता, निश्चिन्तता इस बात की द्योतिका है कि कर्त्तव्य निर्वाह की अनिवार्यता के कारण उन्होंने उस कठोर उत्तरदायित्व को स्वीकार कर उसे निभा तो दिया, पर उसके मायापाश में वे रमे नहीं, उससे छूटने की राह ही देखते रहे। साभार शब्द में यह ध्वनि भी निहित है कि हिन्दी बोर्ड के सदस्य के रूप में मेरे सहयोग के लिए वे कृतज्ञता अनुभव करते थे। मैंने प्रभु से प्रार्थना की कि अपने अधूरे प्रकल्पों को पूरा करने में वे जुट जायें और नवलब्ध अवकाश के समय का पूरा सदुपयोग करें। उन्होंने सचमुच ऐसा ही किया। एक के बाद एक उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित होती रहीं। 'हिन्दी काव्य संवेदना का विकास' का प्रकाशन तो उनकी मृत्यु के कुछ दिनों बाद ही हुआ। मेरा विश्वास है कि अब भी उनकी कुछ अधूरी/अप्रकाशित रचनाएँ किसी कुशल सम्पादक की प्रतीक्षा कर रही होंगी।

रामस्वरूप जी के द्वितीय पुत्र डॉ० विनय स्वरूप की नियुक्ति वर्ल्ड बैंक में प्रमुख अर्थशास्त्री के रूप में हुई। सम्भवतः १९८८ से रामस्वरूप जी सुषमा जी के साथ बीच-बीच में अमेरिका जाने लगे। वहाँ भी वे पढ़ाई-लिखाई पर जुटे रहते थे। उसका सुफल हम लोगों को 'भारत और पश्चिम-संस्कृति के अस्थिर संदर्भ' शीर्षक उनकी पुस्तक के रूप में मिला। इस पुस्तक में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उन्हें लगा है कि अपनी अपेक्षया पिछड़ी स्थिति और उन्नत संसार की क्षिप्रगति के बीच रिक्तता का अनुभव करने के कारण कुछ

भारतीय लेखक तनाव का अनुभव कर रहे हैं और अन्तर्राष्ट्रीय बनने के लिए अंग्रेजी लेखकों की टोली में शामिल हो रहे हैं। इस हानिकर प्रवृत्ति का विरोध करते हुए चतुर्वेदी जी ने इस तनाव से मुक्ति पाने के सही रास्ते का निर्देश करते हुए लिखा है, "हमारा साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचने के लिए भारतीय होगा, अपनी जातीय और सांस्कृतिक विशेषताओं और वैचित्र्य के साथ। बिना भारतीय हुए वह न तो अन्तर्राष्ट्रीय हो पायेगा, न साहित्य ही।" चतुर्वेदी जी के अनुसार भारतीय होने का अर्थ है, "एक ओर इतिहास को और दूसरी ओर समकालीन साहित्य को सही रूप में सम्पृक्त करना। विरुद्धों के इस सामंजस्य विधान से ही पूर्व और पश्चिम के अवरोधों को हटाना सम्भव होगा।"

अंग्रेजी में लिखने वाले कुछ भारतीय लेखकों के इस मत का भी चतुर्वेदी जी ने इस पुस्तक में सप्रमाण खण्डन किया है कि सांस्कृतिक भूमण्डलीकरण के इस युग में अंग्रेजी में लिखा साहित्य ही वास्तविक भारतीय साहित्य है, भारतीय भाषाओं में लिखा साहित्य नहीं। उनके अनुसार यह मानसिकता मैकाले द्वारा बलात् आरोपित सांस्कृतिक अवमिश्रण की चरम परिणति है। अमेरिकी और पश्चिमी सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के विविध प्रदूषणों का वर्णन करने के बाद उनके प्रतिविधान का जो मार्ग इस पुस्तक में चतुर्वेदी जी ने निरूपित किया है, वह यही है कि पश्चिम की प्रोन्नत वैज्ञानिक प्रविधि पर आश्रित अर्थ-केन्द्रित सभ्यता का अन्धा अनुकरण हमें नहीं करना चाहिए। उसकी अच्छाइयों को ही हमें ग्रहण करना चाहिए, बुराइयों को नहीं। अपने विश्वसनीय 'आत्म' को प्राप्त करने के लिए हमें शक्ति की मौलिक कल्पना करनी होगी और उसी पर निर्भर रहकर हम अपने साहित्य का, अपनी संस्कृति का वास्तविक विकास कर सकेंगे।

साहित्य के प्रति रामस्वरूप जी की निष्ठा अविभाज्य थी। एक आदर्श प्राध्यापक के रूप में साहित्य को समझना, समझाना ही उनका जीवन-व्रत था। इसके लिए उन्होंने शोध और आलोचना के क्षेत्रों तक ही अपने को सीमित रखा। साहित्य के बाहर का कोई भी क्षेत्र उन्हें आकृष्ट नहीं कर सका, साहित्य की अन्य विधाएँ भी उन्हें अपनी ओर खींच नहीं पायीं। इसी एकनिष्ठ समर्पण के कारण उनकी आलोचना उत्तरोत्तर गम्भीर और प्रखर होती गयी। उनकी पहचान बनी थी नवलेखन के आलोचक के रूप में किन्तु क्रमशः वे समग्र हिन्दी साहित्य के समर्थ व्याख्याता के रूप में मान्य हो गये। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की दृष्टि को आगे बढ़ाने वाला साहित्येतिहास है रामस्वरूप चतुर्वेदी कृत 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास'। इस ग्रन्थ की व्यापक मान्यता का आभास इन्हीं तथ्यों से हो सकता है कि इसी के कारण एक ओर रामस्वरूप जी को 'व्यास सम्मान' प्राप्त हुआ और दूसरी ओर सत्रह वर्षों में इसके सोलह संस्करण हो चुके हैं। ऐसे बहुत कम ग्रन्थ होते हैं जो विद्वानों और विद्यार्थियों के लिए समान रूप से अपरिहार्य हों। मैं उनकी सतत लेखन क्षमता का भी प्रशंसक हूँ। बहुत से लेखक हैं जो अपनी पुरानी कमाई को ही भुनाते रहते हैं, किन्तु रामस्वरूप जी का अध्ययन, चिन्तन, मनन, लेखन सतत चलता रहा। वे बराबर नयी जमीन तोड़ते रहे। अतः कभी बासी नहीं पड़े।

आलोचना का क्षेत्र ही ऐसा है जिसमें दूसरों के मतों से टकराना पड़ता है। रामस्वरूप जी ने भी पुराने, नये कई आलोचकों से अपनी असहमति व्यक्त की है, किन्तु उनकी शालीनता ने कभी उनकी लेखनी को कटु नहीं होने दिया। अपने मत के समर्थन में वे बराबर दृढ़ रहे, किन्तु दूसरे को अपमानित करने का प्रयास उन्होंने कभी नहीं किया। पिछले दिनों कबीर के एक पद 'काजी, तैं कवन कतेब बखानी' की व्याख्या को लेकर नामवर जी के साथ उनकी अच्छी नोंक-झोंक हुई। रामस्वरूप जी ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू परम्परा के अनेक तत्त्वों के तीखे आलोचक होते हुए भी हिन्दू जीवन-मूल्यों में आस्था कबीर के कवि व्यक्तित्व के केन्द्र में है, इसीलिए वे बलपूर्वक किये जाने वाले धर्मान्तरण के विरोधी हैं।

पिछले अढ़ाई वर्षों में कई साहित्यिक, सांस्कृतिक आयोजनों में इलाहाबाद जाते रहने का सौभाग्य मुझे मिला। प्रायः हर बार रामस्वरूप जी से सत्संग होता और अध्ययन, चिन्तन, लेखन के स्तरों पर एक-दूसरे की गतिविधि से हम लोग परिचित होते रहते। मुझे लगा कि भूमण्डलीकरण के नाम पर बढ़ते बाजारीकरण से वे बहुत क्षुब्ध थे। उन्हें लगता कि क्रमशः बढ़ते वैज्ञानिक, औद्योगिक व्यापारिक अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के फलस्वरूप बाजारी एकीकरण हमें, हमारी पहचान को ग्रस सकता है। अपनी अस्मिता या हस्ती को बचा पाना हमारे लिए तभी सम्भव होगा, जब हम अपनी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को अपना कवच बना सकेंगे। इसी विषय पर उनका एक छोटा-सा लेख 'सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के लिए' नयी दिल्ली की जनसत्ता के ७ मई, २००२ के अंक में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने उसकी एक प्रति मुझे दी। मुझे इससे हार्दिक प्रसन्नता हुई। मुझे फिर लगा कि हम लोगों की विचारधारा में बहुत समानता है।

रामस्वरूप जी से मेरी अन्तिम भेंट १८ मई, २००३ को इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकेडेमी की एक साहित्यिक गोष्ठी में हुई। यह और भी सौभाग्य की बात थी कि हम दोनों के बड़े भाई सदृश श्री टी. एन. चतुर्वेदी भी उस गोष्ठी में पधारे थे। गोष्ठी के बाद सर्किट हाउस में हम लोगों ने साथ-साथ भोजन किया और देर तक गपशप की। चतुर्वेदी जी ने हम दोनों को बंगलौर आने का स्नेहपूर्ण आमंत्रण भी दिया। कौन जानता था कि उसके दो महीने बाद ही रामस्वरूप जी हम लोगों को छोड़कर चले जायेंगे। इतना सहृदय व्यक्ति इतनी निष्ठुरता वरत सकता है, इसकी धारणा भी नहीं की जा सकती थी। २१ जुलाई को मुझे दुःसंवाद मिला कि चतुर्वेदी जी को फिर दिल का दौरा पड़ा है। यह सूचना मुझे कोलकाता से डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी ने दी। इसके पीछे भी चतुर्वेदी जी की कर्त्तव्यनिष्ठा निहित है। मित्रों के आग्रह पर उन्होंने अगस्त के पहले सप्ताह में कोलकाता में आयोजित होने वाले दो साहित्यिक कार्यक्रमों में आना स्वीकार कर रखा था। दिल के दौरे के पहले झटके से उबरते ही उन्होंने प्रेमशंकर को फोन करवाया था कि अस्वस्थता के कारण वे कोलकाता नहीं आ पायेंगे, वे लोग विकल्प-व्यवस्था कर लें। कितने लोग ऐसे संकट के समय दूसरों की असुविधाओं का इतना ध्यान रख पाते हैं। मैं रोज उनके परिवारजनों से उनके स्वास्थ्य के बारे में जानकारी लेता रहा। २३ जुलाई को उनके पुत्र विनीत ने बताया कि पापा की तबीयत ठीक है। वे लोग २४ को उन्हें लेकर गहन चिकित्सा के लिए दिल्ली जा रहे हैं। पर २४ को तो वज्रपात ही हो गया। उन दिनों उत्तर प्रदेश की अस्थिर राजनीतिक स्थिति का इतना दबाव था मुझ पर कि मैं चाहकर भी उनकी अन्त्येष्टि में सम्मिलित नहीं हो पाया।

मैं एक अगस्त को इलाहाबाद पहुँचा। उस दिन उनकी सद्गति के लिए हवन का आयोजन था। इलाहाबाद के बौद्धिक वर्ग का पूरा प्रतिनिधित्व तो था ही, बंगलोर से टी. एन. चतुर्वेदी भी आये हुए थे। उनके साथ मैं सुषमा जी से मिला। प्रभु से मन ही मन प्रार्थना की कि वे उन्हें ही नहीं हम सबको इस आघात को झेलने की शक्ति दें। बात शब्दों के परे की थी, पर फिर भी उन्हीं का आश्रय लेने को हम विवश हैं। उसी विवशता में कुछ कहा, कुछ सुना।

आदरणीय टी. एन. चतुर्वेदी जी ने रामस्वरूप जी के मरणोपरान्त प्रकाशित उनकी पुस्तक 'हिन्दी काव्य-संवेदना का विकास' की प्रति मुझे दी। टी. एन. चतुर्वेदी की हस्तलिपि में उसके भीतर के पृष्ठ पर लिखा हुआ था 'विलक्षण काव्य मर्मज्ञ विष्णुकान्त शास्त्री के लिए पहली प्रति", यह रामस्वरूप जी ने अपने दैनन्दिनी में २ जुलाई के पृष्ठ पर लिख रखा था, यह भी चतुर्वेदी जी ने उसी पर लिख दिया था। मैं तो विह्वल हो गया। कितना स्नेह-सद्भाव था मेरे प्रति उनके मन में। अब और नहीं लिख पाऊँगा, शमशेर की एक पंक्ति कौंध रही है, उसे उद्धृत कर दूँ— "दर्द की इंतहा नहीं होती!" ●

सागर से सँवरा पुरी का सिंगार

तुलसीदास का एक दोहा है—

भव भुवंग तुलसी नकुल, डसत ज्ञान हरि लेत।
चित्रकूट इक औषधी, चितवत होई सचेत।।

जरा सोचिये, तुलसी जैसे महान् भक्त काशी-अयोध्या में वास करते हुए भी संसार-सर्प के दंश से व्याकुल हो उठते थे। उन्हें भी अपना मानसिक सन्तुलन प्राप्त करने के लिए नेवले की तरह जीवन-युद्ध से विरत होकर चित्रकूट रूपी औषधि की शरण में बार-बार जाना पड़ता था। तब भला कलकत्ते में रहते हुए और आधुनिक जीवन के तनावों को झेलते हुए यदि मैं बीच-बीच में पुरी न जाऊँ तो कैसे जिऊँ। जाने को तो और भी जगहें हैं और दाँव लगने पर इधर-उधर के चक्कर भी लगा ही आता हूँ किन्तु पुरी की बात ही और है। बच्चन के शब्दों में पुरी के प्रति मैं कह सकता हूँ, 'विचरण को सौ ठौर बसेरे को केवल गलबाँह तुम्हारी।' कम-से-कम बारह-तेरह बार तो पुरी गया ही होऊँगा फिर भी असंख्य बार जाने का इरादा है। आप यदि इस पर पूछ बैठें क्यों, तो युक्ति तर्क देने के स्थान पर मैं पुरी के अपने ताजे अनुभव ही आप को सुनाना उचित समझूँगा।

* * * *

अक्टूबर ६८ का उत्तरार्ध ! पूजा की आधी छुट्टियाँ तो कलकतिया किच-किच में ही बीत गयीं। 'गयी सो गयी, अब राखु रही को' की भावना से अनुप्रेरित हो हम पति-पत्नी अपने बिस्तर गोल कर पुरी के लिए चल पड़े। भुवनेश्वर में दिन भर रुकने के कारण जब पुरी पहुँचे तो रात उतर आयी थी। पुरी में मैं ठहरता समुद्र के किनारे ही हूँ। शहर के बीच रहना पड़े तो मेरी दृष्टि में पुरी का आनन्द चौथाई रह जाता है, फिर पुरी आने से लाभ ही क्या? 'काशी बस कर क्या किया, पर औरंगाबाद' वाली बात समझिये।

रात हो गयी थी तो क्या हुआ.....समुद्र मुझे बुला रहा था, मैं कैसे रुक सकता था। आह, इसी हवा के लिये, लहरों के इसी संगीत के लिए मैं इतना बेचैन था। रात अँधेरी थी और बादल छाये हुए थे। पर मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। मैंने समुद्र स्पर्श किया, मार्जन किया और थोड़ी देर तक मुग्ध दृष्टि से उस कृष्ण सौंदर्य को देखता रहा। मीराँ की पंक्ति है, 'धराँ साँवरा ध्यान चित्त उजला करौं' उस साँवरिया की झलक तो ध्यान में भी मेरे चित्त को नहीं दिखती, उसके बारे में मैं क्या कहूँ, किन्तु यह जो लहराता हुआ, गाता हुआ साँवरिया मेरे सामने था उसकी ओर निहारते-निहारते मेरा चित्त कुछ-कुछ 'उजलाने' लगा है, इसका अनुभव मैं कर रहा था।

दूसरे दिन हम लोगों को उठने में कुछ देर हो गयी। समुद्र के किनारे पहुँचे तो सूर्योदय हो चुका था। लगा, जैसे कोई अपराध हो गया, हमलोगों से। तट पर रहते हुए भी यदि समुद्र के गर्भ से उठते हुए तेजस्वी रक्तकमल के दर्शन नहीं किये तो क्या किया। भविष्य में और जल्दी उठने का हमलोगों ने सम्मिलित संकल्प किया।

चिरपरिचित और अत्यन्त प्रिय वयस्य की तरह समुद्र अपनी उल्लसित तरंगों के द्वारा हम लोगों का स्वागत कर रहा था। विशाल के सम्पर्क में आने पर मन में विशालता आती है। कलकत्ते की संकुचित और परस्पर विरोधी

क्षुद्र परिधियों से घिरा मन अपना चैतन्य, अपना स्वातंत्र्य पाने लगा और कुछ देर के लिए हम लोग चुपचाप समुद्र की शोभा देखते रहे।

रात को तो समुद्र के सान्निध्य का अनुभव भर किया था, उसकी हवा से, उसकी बेचैन आवाज से, सामने के फैले हुए आकारहीन विस्तार से, उसकी टूटनेवाली तरंगों के धवल फेनिल बिखराव से। उसका रूप तो अभी ही देख पाया। दृष्टि की सीमा के पार तक फैली हुई हिल्लोलित नील जलराशि, बादलों से छन कर आनेवाली सूर्यकिरणों से जो कहीं हीरों की क्यारियों के समान झिलमिला रही थी, कहीं छाया की श्यामलता से मंडित हो सघन नीलकान्ति छिटका रही थी। उल्लास चपल पवन उसकी तरंगों में उद्दाम आवेग भर रहा था। ज्यों-ज्यों किनारा पास आता-जाता, त्यों-त्यों तरंगों की विह्वलता बढ़ती जाती थी.....मानो उसी को सम्हाल न पाने के कारण वे वर्तुलाकार उमड़तीं, एक क्षण के लिए लगता कि शेषनाग के सहस्र फण तन गये हों, दूसरे क्षण ही वे वेग से विवश हो अपने फणों को पटक देतीं.....एक गंभीर ध्वनि, असंख्य बुदबुद और फेन की दूर तक फैली हुई दुधिया चादर! फिर तरंग बनती, फिर उमड़ती, फिर बिखरती.....और किनारे पर पहुँच कर तो इस आकुल भाव से उसे भेंटने के लिए उमगती कि उससे एकदम टकरा जाती, अपने को तो धुन ही डालती, उसे भी खूँद डालती। फेन, बुलबुलों और बालू से भरी उसकी वेगवती हिलोर तट की ऊँचाई को अर्घ्य चढ़ाकर जब तक लौटती, तब तक दूसरी तरंग आ जाती और यह क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहता। कौन जाने इसके पीछे कोई सचेत इच्छा है या केवल जड़ प्राकृतिक नियमों का अंकुश मात्र!

★ ★ ★ ★

समुद्र तट पर प्रातर्भ्रमण। सूर्योदय के पहले ही हम लोग किनारे पहुँच जाते, मैं हाफ पैंट और कमीज में, दर्शन सलवार-कमीज में। दोनों ही नंगे पाँव। बालू में जूता चप्पल पहन कर चलना जहमत मोल लेना है। सुबह की ठंडी हवा बहुत मीठी, बहुत प्यारी गुदगुदी कर हम लोगों से स्नेह-संभाषण करती। घूमने का मजा इसमें है कि आप समुद्र के बिलकुल किनारे टहलें। इससे एक लाभ तो यह है कि पानी से गीली बालू कुछ अधिक जमी रहती है, उस पर चलना सुगम होता है, उसका स्पर्श भी बहुत सुखद होता है, दूसरा और वास्तविक आनन्द है तरंगों का एक के बाद एक आकर आपके पैरों को भिगोते रहना। कैसी प्यारी अनुभूति होती है, जब लहरों का हल्का कुनमुना सा पानी आकर पैरों को भिगोता हुआ आगे बढ़ता और फिर वापस चला जाता है। वापस लौटते समय आपको मीठा सा निमंत्रण दे जाता है, समुद्र में प्रवेश करने के लिए। आपके पैरों तले की बालू उस लौटते हुए जल के साथ खिसकने लगती है और एक सुरसुरी सी चढ़ती है टाँगों में। बिलकुल नये लोग तो डर जाते हैं कि समुद्र उन्हें खींच रहा है, किन्तु हम लोग तो उसको छेड़छाड़ के अभ्यस्त हो चुके हैं। कभी-कभी जोर की तरंग आती और एक छपाके के साथ मेरा हाफ पैंट और उसकी सलवार कमीज भिगो जाती। समुद्र की इस दुष्टता से उस पर और प्यार आता और हम लोग थोड़ा और भीतर की ओर कदम रख कर चलते।

काफी दूर तक नेत्रों का आनन्द लूटते हुए हम लोग टहलते चले जाते। इतने सबेरे टहलने वालों की संख्या बहुत कम, कभी-कभी तो शून्य रहती। हम लोगों को अच्छा ही लगता। जाते समय हम पूर्व की ओर जाते, समुद्र की शोभा के साथ-साथ आकाश की शोभा भी देखते हुए। कैसे-कैसे रंगबिरंगे ज्योतिपुष्प तैरते रहते गगन समुद्र में। उड़ते हुए बादलों पर उषा की तूलिका न जाने कितने रंग फेरती रहती। कहीं नील, कहीं अरुणिम, कहीं स्वर्णिम, मेघ-खंड। जब हम लोग समुद्र तट पर पहुँचते, तब प्रायः अंधेरा रहता। धीरे-धीरे पौ फटती, बिलकुल दबे पाँवों

किन्तु दृढ़ संकल्प के साथ प्रकाश बढ़ने लगता। मैंने वहाँ अभिधार्थ में देखा है, 'बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे।' समृद्ध से समृद्ध चित्रकार के कोष में कितने रंग हो सकते हैं, मूलतः तो वे सात ही हैं, उनके वह कितने सम्मिश्रण कर सकता है। वहाँ जो रंगों का मेला लगता, उनकी अलग-अलग वर्णच्छायाओं के लिए शब्द कहाँ से लाऊँ। कितनी जल्दी जल्दी वे रंग घुलमिल जाते और नये रूप धारण कर लेते। सुषमा की लूट सी मची रहती। सच, प्रकृति की उदारता की कोई सीमा नहीं है।

ऐसे में होता है सूर्योदय। दूसरे दिन की पुलक भरी स्मृति जीवन भर हरी रहेगी। चलते चलते सहसा मेरे पैर थम गये थे, दर्शन को भी मैंने बिना बोले रोक लिया था। समुद्र और आकाश के पूर्वीय मिलन-स्थल पर मुझे एक अरुण रेखा दीख गयी थी और मेरी अन्तःप्रज्ञा ने तत्काल बता दिया था कि नयन-महोत्सव का अपूर्व क्षण उपस्थित है, समुद्र के गर्भ से भगवान् भुवन-भास्कर का उदय हो रहा है! देखते ही देखते रेखा, चापखंड बनी, चाप अर्धवृत्त और फिर पूर्ण वृत्ताकार अग्नि-कन्दुक के सदृश शान्त किन्तु अपार महिमामय सूर्यनारायण प्रत्यक्ष हुए। मेरा संस्कारशील आस्तिक मन श्रद्धा से झुक गया और ओठों से स्वतः गायत्री मंत्र फूट पड़ा, 'मैं भूः, भुवः, स्वः को प्रकाशित करने वाले सवितृ के वरेण्य तेज का ध्यान करता हूँ, वह मेरी बुद्धि को शुद्ध कर शुभ कार्यों में प्रवृत्त करे.....ओं.....मैं हाथ जोड़े सूर्य भगवान् के दर्शन एवं गायत्री मंत्र का जप करता रहा। किन्तु कहाँ, कुछ ही क्षणों में उस हिरण्यगर्भ की प्रज्वलित कान्ति को निहारना कठिन हो गया। अल्प सामर्थ्यवान् हम मनुष्य प्रभु के व्यक्त तेजस्वी रूप के दीर्घकालीन दर्शन कैसे कर सकते हैं। किन्तु भले ही कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो, मन तो अमृत का आस्वाद पा पवित्र हो चुका था। समुद्रोत्थित उदीयमान बाल सूर्य के रूप को हृदय में धारण कर मैंने मन-ही-मन तुलसी की चौपाई दुहराई, 'बन्दौं बाल रूप सोइ रामू, सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू'। उस दिव्य प्रभा की एक रेखा भी यदि हृदय के अन्धकूहर में प्रवेश कर जाये तो सब सिद्धियाँ अनायास सुलभ हो जायें।

यह सच है कि प्रतिदिन सूर्योदय के ऐसे दर्शन नहीं होते। ऊपर का आकाश चाहे खुला हो किन्तु समुद्री क्षितिज पर प्रायः मेघखंड घिरे रहते हैं और सूर्य के उदयकालीन सौन्दर्य के लिए आवरण बन जाते हैं। अपने पन्द्रह दिनों के प्रवास में हम केवल दो बार सूर्योदय देखने का सौभाग्य पा सके। देखने वाले जानते हैं कि प्रतिदिन सूरज एक ही तरह नहीं उगता, हर बार उसमें कुछ नयापन रहता ही है तभी तो प्रकृति को चिर पुरातन होते हुए भी चिर नवीन कहा जाता है। मैंने ही अपने दो दर्शनों में सूर्य के दो रूप प्रत्यक्ष किये थे। पहली बार यदि बाल रवि रक्ताभ थे और अपेक्षाकृत रूप से कहीं अधिक स्निग्ध एवं शान्त, वहीं दूसरी बार थे तप्तकांचन वर्ण.....अत्यन्त भास्वर, इतने अधिक ज्योतिर्मय कि आँखें न ठहरें। उस तेज की झलमलाहट वर्णनातीत है।

* * * *

महिलाओं के लिए प्रातर्भ्रमण में एक और आकर्षण है—सीपियाँ चुनना। दर्शन घूमते समय चाहे बातें करती रहतीं, चाहे गीत गाती रहतीं, दृष्टि उसकी किनारे की सीपियों को ढूँढ़ती रहती। जहाँ कोई साबित सीपी दिखाई पड़ती, दन से उठा लेतीं। ये सीपियाँ कुछ तो समुद्री लहरों के साथ किनारे आ लगतीं हैं, कुछ उन मछुआरों द्वारा फेंकी रहती हैं जो सुबह-सुबह जाल लेकर किनारे की लहरों पर छोटी-छोटी मछलियाँ पकड़ने की घात में लगे रहते हैं। वे लोग जाल में फंसी मछलियों और सीपियों में मछलियाँ रखकर प्रायः सीपियाँ फेंक देते हैं। इतने सवेरे घूमने आने का फायदा उठाकर दर्शन उनमें से अच्छी-अच्छी सीपियाँ चुन लेती, इतनी कि मेरे पैंट की दोनों जेबों में जगह ही नहीं रह जाती। कभी-कभी विशेष आकार-प्रकार की दुर्लभ सीपी पाने पर तो दर्शन की आँखें खुशी से चमक

उठतीं, सेबलाया-सा गुलाबी चेहरा दमक उठता। परिवार के बच्चों के लिए यह खजाना बटोरते समय वात्सल्य के साथ-साथ उसके मन में कर्तृत्व का गौरव बोध भी जाग उठता।

★ ★ ★ ★

घोर की सैर में एक और रोमांचक दृश्य दिखता है, मछुओं की नावों के सागर-प्रवेश का। मछुए नाव को उठाकर तीर पर वहाँ तक ले जाते, जहाँ लहरें आ-आकर टूटतीं। फिर बड़ी तरंग की प्रतीक्षा करते रहते। जैसे ही बड़ी तरंग आती, चार-पाँच मछुए उसके लौटते समय नाव को सागर की ओर उसके साथ-साथ ढकेलते। जिन मछुओं को नाव पर जाना होता, वे पीछे की ओर होते और नाव के जरा-सा गहरे जल में पहुँचते ही देखने लायक फुर्ती के साथ एक-एक कर उछल कर नाव पर चढ़ जाते और खड़े-खड़े लगते दनादन डाँड़ चलाने। प्रायः एक-एक नाव में दो, दो मछुए जाते। समुद्र शान्त तो बैठा नहीं रहता उनके लिए, एक के बाद एक उसकी तरंगें तो आती ही रहतीं। जैसे ही नाव जरा बड़ी तरंग में पड़ती, इस तरह डगमगाती कि लगता अब उलटी कि तब उलटी। प्रायः नावें उलट ही जाती हैं किन्तु वे साहसी, हिम्मती मनुपुत्र समुद्र की चुनौती को स्वीकार करते हुए उलटी नाव को फिर सीधा करते हैं, बहे हुए डाँड़ों को पकड़ कर फिर नाव पर चढ़ते हैं और उन उग्र तरंगों को काटते हुए समुद्र के भीतर घँस ही जाते हैं। भग्न तरंगों का क्षेत्र पार कर मछुए पाल बाँधते और फिर धीरे-धीरे उस विशाल की गोद में आँखों से ओझल हो जाते, जीविका की तलाश में।

जितनी कठिन है उनकी जीविका, उतना ही कष्टमय है उनका जीवन। एस. ई. आर. होटल में डेढ़-दो मील पूर्वोत्तर जाने पर समुद्र के पास ही दीखतीं हैं धरती की छाती पर फोड़ों के समान उठी हुई उनकी कच्ची, गन्दी झोंपड़ियाँ। छः-छः सात-सात साल के उनके अभागे बच्चों को, जिनकी कमर में पूरी लंगोटी भी नहीं होती, पढ़ने-लिखने, खेलने-खाने की उम्र में ही जीविकोपार्जन के काम में जुट जाना पड़ता है और फिर भी पेट भर खाना और तन ढँकने को कपड़ा मयस्सर नहीं होता। उनके लिए स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? इक्कीस वर्षों में उनकी आर्थिक सामाजिक स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ है? दिल्ली के सब से ऊँचे तख्त पर गोरी चमड़ीवाला न बैठकर भूरी चमड़ी वाला बैठता है, इससे उनका क्या बना? स्वतंत्रता शब्द मात्र न रहकर सामान्य जन-जीवन में प्रतिफलित हो, अभीतक हम ऐसा नहीं कर पाये हैं, मालूम नहीं कब कर सकेंगे।

★ ★ ★ ★

समुद्र स्नान.....मेरा अत्यन्तप्रिय मनोविनोद! सारे भारत में भ्रमण करने योग्य न तो पुरी जैसा समुद्र तट है, न स्नान करने योग्य पुरी जैसा समुद्र। हाथ उठा-उठा कर बुलानेवाला ऐसा क्रीड़ा-सहचर मित्र कहीं मिलेगा भला। आप पहाड़ों पर जायें तो वहाँ की प्रकृति निष्क्रिय स्वागत करती है आपका, अपनी इच्छा से आप जितना चढ़ें, उतरें, उछलें, कूदें, वह स्वयं शान्त बनी रहती है। पर समुद्र.....स्वयं आपके साथ खेलता रहता है, आपको सदा जागरूक एवं सक्रिय रखता है। उसकी अनवरत उठती, गिरती, टूटती, झपटती तरंगें आपको मथती रहती हैं। नौसिखुओं को वह जरा ज्यादा डराता है ताकि डरपोक आगे बढ़ने का साहस न करें। पर यह तो उस परम विनोदी का ऊपरी रूप है। यदि आपको तैरना आता है और आप में साहस है तो समुद्र में तैरने का गुण सीखते आपको देर नहीं लगेगी। प्रायः लोग भग्न तरंगों के इस पार ही नहाते हैं। याद रखने की बात सिर्फ इतनी है कि तरंग यदि ठीक आपके सामने या ऊपर ही टूटे तो एकदम तल के निकट तक डुबकी लगानी चाहिए, यदि आती हुई भग्न तरंग ऊँची हो और उसका वेग प्रखर हो तो साधारण डुबकी लगाना काफी है, यदि तरंग छोटी और धीमी हो तो उसके

कन्धे तक आने पर हौले से उछल जाना चाहिए। समुद्र में नहाते समय बिल्कुल ऐसा नहीं लगता कि आप अकेले है। कोई और मनोनुकूल साथी रहे तो आनन्द बढ़ जाता है, न रहे तो भी ऊब नहीं होती क्योंकि वास्तविक साथी तो समुद्र है, अत्यन्त सक्रिय, विनोदप्रिय और कभी-कभी तो दण्ड देनेवाला भी। आप असावधान नहीं हो सकते, एक भी तरंग को ठीक से समझने में एवं तदनुकूल क्रिया करने में यदि आप से चूक हुई तो करारा थपड़ा खाने या बालू में रगड़ दिये जाने या कलाबाजी खाते समय घबरा कर पानी पी जाने को आप निश्चित ही समझें। यदि आप सावधान रहें और प्रत्युत्पन्नमति का परिचय देते रहें तो समुद्र में नहाने या तैरने से थकना तो दूर रहा, आपकी सारी शारीरिक और मानसिक थकावट को समुद्री लहरें बहा कर ले जायेंगी और आप तरो-ताजा होकर लौटेंगे।

हम लोग बीच-बीच में सुस्ता कर दो-दो अढाई-अढाई घंटे नहाते। मैं खुद तो जाता ही, दर्शन को भी तरंगों के टूटने के क्षेत्र के पार ले जाता। टूटती हुई तरंगों को पार करने का रोमांस ही और है। वे उग्र, भग्न तरंगें धुँआधार फेन उगलती, गरजती चिंघाड़ती हुई इस तरह धक्के मारती हैं कि आदमी तैरकर जितना आगे बढ़ता है, उतना ही और कभी-कभी उससे भी ज्यादा पीछे चला जाता है और यदि आप किसी तरंग के आवर्त्तन में आ गये तो एक दो बार वह आपको पानी के भीतर ही घुमा भी देगी। पर आप यदि घबरायें नहीं और दो तरंगों के बीच जो अवकाश मिलता है, उसमें तेजी से पानी काट कर भीतर की ओर जायें तो थोड़ी ही देर में आप पायेंगे कि आप पूर्ण तरंगों के क्षेत्र में आ गये हैं। यहाँ पहुँचते ही संघर्ष की इति हो जाती है और आप तरंगों के साथ ही झूला झूलने लगते है। तरंग आती है तो आप ऊपर चले जाते हैं, बिना कुछ किये ही; निकल जाती है तो नीचे आ जाते हैं। आप यदि चित होकर तैरना जानते हों तो और भी आनन्द पा सकते हैं। मैं चित तैरता रहता और दर्शन ट्यूब के सहारे पालने की पैंगों का आनन्द लेती रहती। अवश्य ही हम लोगों के साथ एक मछुआ भी रहता। बिना मछुए को साथ लिए समुद्र में ज्यादा भीतर जाना खतरनाक हो सकता है। ऐसा दुःसाहस करने का दंड दो बार भोग चुका हूँ, किन्तु वह सब तो चलता ही रहता है। उसकी शिक्षा यही है कि अहंकारी नहीं होना चाहिए, बस !

समुद्र जितना उग्र होता है, मुझे उतना ही आनन्द आता है। शान्त समुद्र में नहाते समय तो लगता ही नहीं कि समुद्र में नहा रहा हूँ। इस दृष्टि से पूर्णिमा और अमावस्या तथा उसके निकट के दिनों में समुद्र स्नान कर मुझे बहुत सुख मिलता है। इस बार तो पुरी में रहते समय बहुत भीषण तूफान आया था। समुद्र जैसे खूँखार और मदोन्मत्त हो उठा था। उसकी तरंगों की उछाड़ की शक्ति सौ गुनी हो गयी थी। उस दिन न तो नौकाएँ ही भीतर गयी थीं, न नहाने वाले ही जल में उतरे थे। किन्तु मैं उस दिन भी अपने मछुए के साथ दो घंटे तक नहाता रहा था। हाँ, उस दिन चेष्टा करके भी भग्न तरंगों के पार नहीं जा सका था, पर समुद्र स्नान की जीवन्तता का प्रगाढ़ परिचय उसी दिन मिला। उस दिन मुझे अपनी ही चतुष्पदी बार-बार याद आयी,

हृदय मिलता नहीं, लिया जाता है,
काम होता नहीं, किया जाता है,
किनारे बैठना तो साँस लेना है,
बीच तरंगों के जिया जाता है।

★ ★ ★ ★

भगवान् जगन्नाथजी का महिमा-मंडित, विशाल एवं गगनचुम्बी मन्दिर। जगन्नाथ जी का क्षेत्र होने के कारण ही पुरी को चार धामों में एक धाम तथा सात मोक्षदायिका नगरियों में एक नगरी माना गया है। भारत भर से

तीर्थयात्रियों का अजस्र प्रवाह उमड़ता रहता है भगवान् के दर्शनों से अपने जीवन को धन्य बनाने के लिए। यहाँ आकर छुआछूत, ऊँच नीच, कच्ची पक्की रसोई का भेदभाव मिट जाता है। ब्राह्मण और अंत्यज एक साथ भगवान् के महाप्रसाद का भात खाते हैं। कहते हैं, यह समताविधायिनी व्यवस्था चैतन्य महाप्रभु के आदेश से प्रवर्तित हुई थी। काश, यह व्यवस्था भारत के सभी मन्दिरों में क्रियान्वित होती।

मन्दिर के सिंहद्वार के सामने ही है कोणार्क से लाकर स्थापित किया गया नील प्रस्तर निर्मित अरुण-स्तंभ। सिंह द्वार की प्रशस्त पौर का कक्ष पार कर पच्चीस सीढ़ियाँ चढ़कर भीतरी परकोटे का द्वार आता है। फिर क्रम से नाट मन्दिर, भोग मन्दिर, जगमोहन एवं विमान अथवा श्रीमन्दिर हैं। मुझे लगता है कि मन्दिर की दीवारों के चारों ओर बाद में जोड़ी गयी दीवारों और दूसरी क्षेपक रचनाओं के कारण उसका मूल स्वरूप बहुत कुछ छिप गया है। नाट मन्दिर की भित्ति पर अनेक कलात्मक मूर्त्तियाँ हैं जो कोणार्क का स्मरण दिलाती हैं किन्तु, जगमोहन आदि के चारों ओर की मूर्त्तियाँ एवं चित्रकारी अर्वाचीन हैं। कला की दृष्टि से उनकी स्थूलता को देखकर दुःख होता है।

मन्दिर के गर्भगृह में मुख्य दर्शन भगवान् जगन्नाथ जी, सुभद्रा जी और बलभद्र जी की विशालकाय काष्ठ मूर्त्तियों के हैं। भगवान् की और उनसे भी बढ़कर उनके भक्तों की लीला अपरम्पार है। 'झारखंड में आन विराजे वृन्दावन के वासी' यदि भगवल्लीला है तो उनकी ऐसी विकराल एवं अपूर्ण प्रतिमा की पूजा करना भक्तों की लीला है। मैं इन दोनों के सम्बन्ध में कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं हूँ किन्तु अपने मन की बात तो कह ही सकता हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण को ललित मोहन रूप में देखने की अभ्यस्त आँखें उन्हें इस रूप में देख कर सुख नहीं पातीं। मेरा मन बार-बार यह भी कहता है कि श्रीमन्दिर की बाहरी दीवार के बीचो बीच तीनों ओर जिन्होंने महावाराह, नृसिंह और त्रिविक्रम की अद्भुत महिमामयी प्रस्तर मूर्त्तियाँ निर्मित की थीं, उन्होंने मूल प्रतिमाएँ भी प्रस्तर की और अत्यन्त कलापूर्ण बनायी होंगी। ये दारुमय और विरूप मूर्त्तियाँ किस प्रकार और कब से पूजित होने लगीं, यह मैं नहीं जानता, नहीं कह सकता। अपने इस विश्वास के लिए अनुमान के अतिरिक्त मैं और कोई प्रमाण भी नहीं दे सकता। सिर्फ संशयालु पाठकों से अनुरोध कर सकता हूँ कि एक बार श्रीमन्दिर के त्रिपार्श्व में स्थापित वराह, नृसिंह और त्रिविक्रम की मूर्त्तियों के दर्शन करें, विमला (बलभद्र-पत्नी) एवं लक्ष्मी जी की प्रतिमाओं को निहारें और फिर उसकी संगति बैठायें कि अन्य समस्त कलात्मक प्रस्तर प्रतिमाओं के मध्य आदिम भयमूलक भावनाओं की प्रतीक सी ये काष्ठमयी मूर्त्तियाँ उन शिल्पियों एवं प्रतिष्ठाताओं ने क्यों कर रची एवं प्रतिष्ठित की होंगी।

जो हो, उस समय तो जनजन के अन्तःकरण की पावन श्रद्धा मेरे वितर्कों को डुबा देने में समर्थ हुई। विशेषतः मूर्त्तिमती श्रद्धा की उपस्थिति में ये कुतर्क व्यक्त ही नहीं किये जा सकते थे। मैंने भी भक्तिपूर्वक पूजा की और 'जगन्नाथः स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे' का पाठ करते हुए उनकी परिक्रमा की।

मन्दिर के परकोटे के भीतर छोटे बड़े, नये पुराने अन्य कई मन्दिर हैं जिनमें मुख्य हैं विमला जी एवं लक्ष्मी जी के मन्दिर। उनके तथा अन्य मन्दिरों के दर्शन से ही पुरी यात्रा की सिद्धि होती है। अन्य दर्शनीय मन्दिरों एवं मठों में गुंडीचा मन्दिर, आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित गोवर्धनपीठ, रामानुजाचार्यजी का एमार मठ, चैतन्य महाप्रभु का निवास स्थान गंभीरा मठ आदि मुख्य हैं, किन्तु तीर्थयात्री के रूप में पुरी की परिक्रमा का वर्णन विस्तार से फिर कभी लिखूँगा।

* * * *

समुद्र तट पर सान्ध्य भ्रमण। आकाश में सँवलाते हुए सिन्दूरी मेघों का मेला और सागर के किनारे सजे बजे, रंग-बिरंगे कपड़े पहने स्त्री-पुरुषों और बच्चों का रेला। अठखेलियों में एक दूसरे से होड़ लेती हुई समुद्री हवा

और तरंगें। सबेरे की सैर से कितनी भिन्न होती है शाम की सैर। उस चहलपहल को और गुंजाते रहते हैं पुरुषों के कहकहे, महिलाओं के उत्फुल्ल वार्तालाप और बच्चों के कलरव। स्वर्ग द्वार से पुरी होटल तक का किनारा तो एकदम गुलजार रहता है। ट्रांजिस्टरों का उत्पात बढ़ चला है, जो निश्चय ही अखरता है। किन्तु युग के प्रवाह को कौन रोक सकता है। युवा स्त्री-पुरुषों के जोड़े टहलते रहते हैं, प्रौढ़ों वृद्धों के दल बैठकर गपशप करते हैं, लड़के उछल कूद मचाते हैं और लड़कियाँ घरौंदे बनाती रहती हैं। केवल पर्यटक ही नहीं पुरी के शौकीन भी शाम को वहीं हवा खाने आते हैं।

सूर्यास्त की करुणा अपनी गरिमा में प्रभविष्णु है किन्तु समुद्र के बदले स्थल की वृक्षराजि में ओझल हो जाने के कारण सूर्य की शोभा उतनी नहीं होती।

और फिर उतरती है धीरे धीरे रहस्यमयी रात्रि। चहलपहल कम होती जाती है, भीड़ छँटती जाती है किन्तु बहुत से जोड़े देर तक सागर किनारे बैठे स्वप्नों के जाल बुनते रहते हैं। कुछ दिलजले अकेले ही अपने सीने के घावों पर कल्पना का, समुद्री हवा का, एकान्त जनित शान्ति का मरहम लगाते रहते हैं। कुछ ध्यानधारणा करने वाले साधक भी होते हैं, जिनमें एकाध अमेरिकन हिप्पी भी दिख जाते हैं।

सागर किनारे रात के समय बातें करना ही नहीं, चुपचाप साथ-साथ बैठे रहना भी अच्छा लगता है। निराला की उक्ति की सत्यता की गवाही दे सकता है—वहाँ सचमुच मौन मधु हो जाता है।

और यदि चाँदनी रात हो तो फिर कहना ही क्या। मन मोहाविष्ट हो जाता है। घंटों बैठे रहकर चाँद, चाँदनी और सागर की रूपहरी लहरों का श्रृंगार देखते-देखते वह अघाता नहीं। धूलि धूएँ से मुक्त पुरी के परिवेश में चाँदनी में कुछ अँधेरा कुछ उजाला नहीं होता, अद्‌भुत शीतल उज्ज्वलता होती है। बच्चन के शब्दों में वहाँ की "चाँदनी में वह सफेदी है कि जैसे धूप ठंडी हो गयी है।" वह ठंडी धूप आधुनिक जीवन की ज्वालाओं से झुलसे मन को कितनी ठंडक पहुँचाती है, इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, अनुभव से ही जाना जा सकता है।

अब आपकी इच्छा, पुरी जायें या न जायें, मैं तो फिर पुरी जाने के लिए बेताब हो उठा हूँ। ●

ईशावास्य प्रवचन

काम करते हुए ही सौ बरस तक जीने की इच्छा करें

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

मनुष्य काम करते हुए ही सौ बरस तक जीने की इच्छा करे। **'एवं त्वयि नान्यथे तोऽस्ति'**— इसी प्रकार और किसी दूसरे प्रकार से नहीं, कर्म करने पर। **'न कर्म लिप्यते नरे'**— कर्म मनुष्य से लिप्त नहीं होता। इस मंत्र में दो बातें कही गयी हैं। एक बात यह कि मनुष्य काम करते-करते हुए ही सौ वर्ष जिए। उसके अलावा उसके लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं है। और दूसरी बात यह कि विशेष प्रकार से कर्म करते रहने पर कर्म लिप्त नहीं होता। गीता में कहा गया है— **'लोकोऽयं कर्मबन्धनः'** कर्म ही मनुष्य को बाँधता है। ये दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के द्योतक वाक्य हैं। इन दोनों बातों में अनिवार्य विरोध नहीं है। हमें यह समझना चाहिए कि कर्म क्यों और कैसे मनुष्य को बाँधते हैं और किन स्थितियों में वे मनुष्य को नहीं बाँधते, उनसे लिप्त नहीं होते। इन दोनों बातों में से पहली बात की चर्चा पहले करेंगे कि मनुष्य कर्म करते-करते हुए ही क्यों जिये। वह कौन सा कौशल है, जिसका प्रयोग करने पर कर्म लिप्त नहीं होता? कौन से कर्म लिप्त होते हैं? कौन से कर्म लिप्त नहीं होते और कर्म लिप्त न हों तो क्या होगा? इन सभी प्रश्नों पर विचार अगले प्रवचन में किया जायेगा।

पहली बात विचारणीय है कि इस मंत्र की स्थिति दूसरे मंत्र के रूप में क्यों है? पहले मंत्र के बाद दूसरे मंत्र में ही काम करने का स्पष्ट निर्देश क्यों दिया गया? इस पर विचार करना आवश्यक है। बात यह है कि पहले मंत्र का मर्मार्थ ग्रहण करने पर साधारण तौर पर कर्म करने की प्रेरणा निरस्त होती है। कैसे होती है? जरा इस पर विचार कीजिए कि मनुष्य काम क्यों करता है? साधारण तौर पर मनुष्य तीन एषणाओं से प्रेरित होकर काम करता है। एषणा माने इच्छा, अभिलाषा। इनमें सबसे स्थूल है— वित्तैषणा, उसके बाद है पुत्रैषणा, उसके बाद लोकैषणा। वित्तैषणा यानी— अर्थ प्राप्त करने की इच्छा। इसकी पूर्ति के लिए काम करना पड़ेगा। चाणक्य सूत्र में सीधे-सीधे कहा गया है—

अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः — अर्थ के लिए लोग किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं। यह स्पष्ट है कि दुनिया के प्रायः सभी लोग कुछ न कुछ काम करते ही रहते हैं। इनमें ज्यादातर लोग काम करना चाहते हैं पैसा कमाने के लिए। **कार्यमूलं अर्थः** — साधारणतः काम करने के मूल में पैसा कमाने की इच्छा रहती है क्योंकि पैसा हमारे और सब प्रयोजनों की पूर्ति का साधन है। काम करने की यह सबसे स्थूल प्रेरणा है। **अर्थ्यते इति अर्थः** — मनुष्य उसको चाहता है इसलिए उसका नाम अर्थ है। अर्थ के बिना अधिकतर कार्य सिद्ध नहीं होते इसलिए अर्थ को हम लोग पुरुषार्थ मानते हैं। चार पुरुषार्थों में अर्थ प्रथम पुरुषार्थ है। लेकिन अर्थ साधन होना चाहिए, साध्य नहीं—इस बात को बार-बार समझाया गया है। पहले मंत्र में कहा गया है— **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** — गिद्ध की तरह लालच मत करो। **कस्यस्विद्धनम्**— इसके दो अर्थ होते हैं—किसी दूसरे के धन का लालच मत करो—यह पहला अर्थ है। दूसरा अर्थ है धन किसका है? अर्थात् किसी का नहीं है। इसलिए धन का लालच मत करो। तो जो पहली प्रेरणा है

काम करने की वित्तैषणा, यह यदि इस आदेश को स्वीकारने पर निर्मूल नहीं होगी तो दुर्बल तो हो ही जायेगी। पहली प्रेरणा दुर्बल हो गयी। फिर मनुष्य काम क्यों करता है?— पुत्रैषणा से। पुत्रैषणा माने काम भोग की इच्छा की पूर्ति के लिए। **कुर्वते कर्मभोगाय।** यह दूसरा सूत्र है। पैसा भी मनुष्य कमाता है मुख्यतः काम की तृप्ति के लिए। काम का मतलब है सम्पूर्ण कामनाएँ। काम का मतलब केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध नहीं है। यह भी है लेकिन उसके अलावा भी बहुत कुछ है। काम पुरुषार्थ से हमारी सारी सौन्दर्यानुभूति चरितार्थ होती है। हम वस्तु को, स्थिति को, अपने सम्बन्धों को अधिक सुन्दर, अधिक रमणीय बनाना चाहते हैं। सारा साहित्य, सारा नाट्य, सारा नृत्य, संगीत, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र सृष्टि की वे सारी प्रचेष्टाएँ जिनसे हम वस्तुओं, स्थितियों, सम्बन्धों को रमणीय बनाकर प्राप्त करना चाहते हैं काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आती हैं। इस काम पुरुषार्थ की तृप्ति के लिए किसी भी परिमाण में लोग रुपया खर्च कर देते हैं। इसलिए काम पुरुषार्थ अर्थ पुरुषार्थ से बड़ा है। मनुष्य भोग के लिए कर्म करता है। पुत्रैषणा मनुष्य के कर्म की बहुत शक्तिशाली प्रेरणा है। किन्तु पहले मंत्र में बताया गया है **तेन त्यक्तेन भुंजीथाः** इसलिए त्याग के द्वारा भोग करो। या शंकराचार्य के अनुसार अपनी आत्मा का परिपालन करो। रामानुजाचार्य के अर्थ हैं— इसलिए उसने तुमको कृपापूर्वक जो दिया **तेन** भगवान के द्वारा, **त्यक्तेन**—दत्तेन दिया हुआ, भगवान के द्वारा तुमको जो दिया गया, उसी के अनुरूप भोग करो। इससे **कुर्वते कर्म भोगाय** भोग के लिए कर्म करने की जो दूसरी प्रेरणा है, वह शिथिल हो जाती है। भोग भी, जितना रामजी ने हमको दिया, उतना ही हमको करना है, उसी परिधि में रहना है, तो हम अधिक कर्म क्यों करें? उससे सूक्ष्म प्रेरणा है—कर्म करने की लोकैषणा। सम्मान पाने के लिए लोकमान्यता के लिए काम करने की इच्छा इसके अन्तर्गत आती है। एक बड़ा प्रसिद्ध श्लोक है—

अधमाः धनमिच्छन्ति, धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमाः मानमिच्छन्ति, मानोहि महतां धनम्।।

जो अधम कोटि के लोग होते हैं, वे केवल धन प्राप्त करना चाहते हैं। अर्थैषणा, वित्तैषणा—वह सबसे स्थूल भूमिका है काम करने की। किसी भी प्रकार से अपमान झेलकर किसी भी प्रकार से अपने को बेचकर पैसा कमाना हो यदि कर्म करने की सबसे बड़ी प्रेरणा है तो यह अधम जन का लक्षण है। जो मध्यम कोटि के मनुष्य होते हैं, वे धन और मान दोनों प्राप्त करना चाहते हैं। **उत्तमाः मानमिच्छन्ति**—जो उत्तम कोटि के मनुष्य होते हैं, वे मान ही प्राप्त करना चाहते हैं। **मानोहि महतां धनम्** जो महान् पुरुष हैं, श्रेष्ठ पुरुष हैं उनका धन तो उनका मान ही है। मान अनायास नहीं प्राप्त होता। मान प्राप्त करने की प्रेरणा सहज रूप से मनुष्य को बताती है कि जब आप लम्बे समय तक लोक-हितकर कार्य करेंगे तभी आपको सम्मान प्राप्त होगा। मान कब मिलता है? किसी गुण में पारंगत होने के कारण। और वह गुण ऐसा हो जो केवल आपके व्यक्तिगत कार्य के लिए हो न हो, जो लोक मंगल के लिए प्रयुक्त होता हो। अन्यथा मान प्राप्त नहीं होगा। बड़े से बड़े करोड़पति हैं। मान उनको प्राप्त होता है, जो दान देते हैं। बड़े से बड़े कलाकार हैं, मान उनको प्राप्त होता है जो अपनी कला को लोकहित के लिए समर्पित कर देते हैं। हम लोग साहित्य के विद्यार्थी हैं। कोई रचना साहित्य के अन्तर्गत आती है कि नहीं, इसका मानदंड तो उसमें निहित साहित्यिक मूल्य हैं, लेकिन कोई रचना महान है कि नहीं इसका मानदंड लोकहित है। बाबा तुलसीदास ने कहा है—

कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

भणिति—साहित्य। काम का चरम पुरुषार्थ कोई सिद्ध कर ले, बड़ा कलाकार हो जाए, लेकिन जब उसकी

रचना में लोकहित का तत्त्व आता है तभी उसे मान मिलता है। इसलिए मान प्राप्त करने के लिए कर्म करना—कर्म करने की स्थूल प्रेरणाओं में सूक्ष्मतम है। अच्छा व्यक्ति चाहता है कि ऐसा काम करूँ जिससे मेरा नाम बढ़े, यश हो किन्तु पहले मंत्र का पहला वाक्य है,

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्—जिसका मर्मार्थ है कि आपका नाम रूप मिथ्या है। कौन सा रूप आपका रूप है? जब पैदा हुए थे वह, कि जब दस साल के थे वह, कि जब बीस साल के थे, कि अभी और दस साल बाद जो होगा? कौन सा नाम? कैसे यह नाम आपका नाम हो गया? आपके पिता ने आपको कोई एक नाम दे दिया, आपको नाम मिल गया! आपके साथ चिपक कैसे गया? वे कोई दूसरा नाम आपका रख देते तो आपका वही नाम हो जाता। अतः नाम ऊपर से चिपकाया हुआ है। तत्त्वतः तो ये सारे नाम रूप मिथ्या हैं। एक ही तत्त्व है सारी सृष्टि में ईश। ईश्वर ही आच्छादित किये हुए है सारी सृष्टि को। इसको प्रेरणा ग्रहण करने पर लोकैषणा की प्रवृत्ति भी दुर्बल हो जाती है क्योंकि जिस नाम को यशस्वी करने की इच्छा थी वह नाम रूप ही मिथ्या साबित हुआ। क्या होगा यश प्राप्त करके? तो काम करने की तीनों प्रेरणाएँ जो साधारण संसारी मनुष्य को कर्मरत करती हैं वे तीनों प्रेरणाएँ दुर्बल हो गयीं। तो क्या आदमी हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाए? तो क्या वह काम न करे? काम न करने के लिए कुछ लोग तात्त्विक युक्ति भी देते हैं—**कर्मणा बद्ध्यते जन्तुः विद्ययातु प्रमुच्यते।**

कोई काम करता है तो बँध जाता है। जब हम कहते हैं कि मोक्ष, तो किससे मोक्ष? कर्मबन्धन से मोक्ष। तो हम कर्म नहीं करेंगे तब तो कर्म से नहीं बँधेंगे। यह बहुत स्थूल बात हुई। कुछ न करके बैठना भी एक प्रकार से काम करना है क्योंकि बैठना भी एक काम है। इसलिए शास्त्र को अकर्मण्यता इष्ट नहीं है। जब पहले मंत्र में कहा गया कि आप अर्थ की प्रेरणा से ही काम मत करें, भोग की प्रेरणा से ही काम मत करें, लोक-मान्यता प्राप्त करने के लिए ही काम मत करें, तो कोई कह सकता है चलो हम काम ही नहीं करते। उपनिषत्कार कहता है—नहीं, नहीं तुम काम अवश्य करो। अब हम क्यों काम करें इस पर थोड़ा गंभीर विचार आवश्यक है।

हिन्दू जीवन-दर्शन का, भारतीय जीवन-दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त है। इस कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करके ही भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। कोई भी वैदिक सम्प्रदाय क्यों न हो, शैव हो, वैष्णव हो, शाक्त हो, गाणपत्य हो, सौर हो, कोई भी भारतीय अवैदिक सम्प्रदाय क्यों न हो, जैन हो, बौद्ध हो, सिख हो, भारतवर्ष में जितने सम्प्रदाय विकसित हुए हैं उन समस्त सम्प्रदायों में, समस्त मार्गों में, समस्त पंथों में कर्म सिद्धान्त परम आदरणीय सिद्धान्त के रूप में गृहीत है। केवल चार्वाक सम्प्रदाय ऐसा है जो कर्म को भोग के लिए प्रेरक मानता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा, घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

जब तक जिओ, सुख से जिओ, कर्ज लेकर घी पिओ। मर जायेगा आदमी तो जल जाएगा फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होगा। पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त का उपफल है। चार्वाक सिद्धान्त भी कर्म को स्वीकार करता है लेकिन **कुर्वते कर्म भोगाय** केवल भोग के लिए कर्म करो इसको मानता है और भोग के लिए कर्म करने के बाद कर्म की परिणति कहाँ तक जाती है इसके ऊपर विचार नहीं करता। कर्म सिद्धान्त में मोटे तौर पर माना जाता है कि— 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

हमने जो अच्छे शुभ या बुरे अशुभ कर्म किए हैं, उन कर्मों का फल हमको अवश्य भोगना होगा—

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ, सो तस फल चाखा।।'

जो जैसा कर्म करेगा, उसको वैसा फल मिलेगा। कर्म-सिद्धान्त कहता है कि हमने जो काम किया, उसका हमको फल मिलेगा, हम अच्छा काम करेंगे तो अच्छा फल मिलेगा, बुरा काम करेंगे तो बुरा फल मिलेगा। इसमें संशय तब उत्पन्न होता है जब हम देखते हैं कि कुछ कर्मों का फल तो मिलता है, पर कुछ कर्मों का फल तो इस जीवन में मिलता ही नहीं।

परीक्षा के लिए परिश्रम किया तो उत्तीर्ण हुए। परीक्षा के लिए परिश्रम नहीं किया तो अनुत्तीर्ण हो गए। कर्म का फल मिल रहा है। आपने किसी से अच्छा व्यवहार किया तो उससे मित्रता हुई, किसी से बुरा व्यवहार किया, उससे शत्रुता हो गयी। कर्म का फल मिल रहा है यह हमारे प्रतिदिन का अनुभव है। काम करते-करते थक गए तो सो गए। सो गए तो हरे-भरे हो गए। थकावट दूर हुई। तो काम करने से थकावट और काम की थकावट दूर करने के लिए विश्राम, जिससे थकावट से मुक्ति यह अनुभव की बात है। यानी कर्म करने का फल एक बड़ी सीमा तक मिलता है यह प्रत्यक्ष है। लेकिन यह भी सच है कि बहुत से कर्म हम करते हैं और ऐसा लगता है उनका फल तो नहीं मिला। यह भी सच है कि बहुत बार जो अच्छा काम कर रहे हैं उनको दुःख मिल रहा है—यह दिखाई पड़ता है। और यह भी सच है कि बहुत बार जो लोग बुरा काम कर रहे हैं, वे बहुत मौज-मजे में हैं ऐसा भी लगता है। तो फिर इस कर्म-सिद्धान्त को सही कैसे माना जाये ?

संसार का जो लक्षण शंकराचार्यजी ने बताया है उसके अनुसार कर्तृत्व भोक्तृत्व ही संसार है। कर्तृत्व माने कर्त्तापन, मैं काम करने वाला हूँ, भोक्तृत्व माने भोक्तापन, मैं अपने कर्मों का फल भोगने वाला हूँ। जो पुण्य करता है वह पुण्यात्मा है और उसका भला होना चाहिए, उसे सुखी होना चाहिए। जो पाप करता है, वह पापात्मा है और पाप का फल दुःख उसको मिलना चाहिए। कई बार विचित्र अनुभव होता है। हम लोग जानते हैं कि पुण्य क्या है? और पाप क्या है? लेकिन पुण्य और पाप को जानने के बाद भी, पुण्य का फल चाहते हुए भी हम पुण्य नहीं करते। पुण्य मतलब जिससे अपना उन्नयन हो, अपनी उन्नति हो, जिससे अपना भला हो और दूसरों का भला हो वह पुण्य है। पुण्य की भले ही कोई शास्त्रीय परिभाषा हो किन्तु व्यावहारिक स्तर पर पुण्य वह है जिससे मेरा भला होता है और दूसरों का भी भला होता है। पाप वह है जिससे मेरा पतन होता है और दूसरों का भी पतन होता है। पुण्य के फल से सुख मिलना चाहिए। पाप के फल से दुःख मिलना चाहिए। जो पुण्य, पाप करता है वह पुण्यात्मा, पापात्मा है—यह कर्तृत्व है और उसके कारण जो सुखी दुःखी होना है—यह भोक्तृत्व है। मनुष्य जो करता है, वही भोगता है। ऐसा कभी नहीं होता कि— 'आन करे अपराध कोउ, आन पाव फल भोग।'

मैं अगर कर्म करूँगा तो मैं ही उसका फल भोगूँगा—यह कर्म सिद्धान्त का अखण्डनीय अर्थ है। किन्तु जीवन में एक विचित्र विरोधाभास आता है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति जन्तवः।
न पाप फलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।

हम सब लोग पुण्य का फल तो चाहते हैं लेकिन पुण्य नहीं करना चाहते क्योंकि पुण्य कष्टसाध्य होता है। उत्थान का रास्ता, उन्नति का रास्ता, अपने और दूसरों के मंगल का रास्ता तपस्या से होकर गुजरता है, यज्ञ से होकर गुजरता है। हम उस तपस्या से, उस यज्ञ से बचना चाहते हैं लेकिन हम चाहते हैं कि पुण्य का फल भोगें।

न पापफलमिच्छन्ति—कोई पाप का फल भोगना नहीं चाहता। पाप अपने बाहरी रूप में कई बार अत्यन्त

आकर्षक लगता है। **पापं कुर्वन्ति यत्नतः**—कई बार लगता है झूठ बोलकर, धोखा देकर हमें बहुत लाभ हो जायेगा। अतः लोग यत्नपूर्वक पाप करते हैं और फिर भी पाप के फल से बचना चाहते हैं। इसमें देखा यह जाता है कि कभी-कभी सचमुच जो पुण्य कार्य कर रहा है वह दुःखी है और जो सचमुच पाप कर रहा है, वह खूब मौज-मजा कर रहा है। ऐसा क्यों होता है? हम जो कर्म कर रहे हैं उसका फल तत्काल ही मिले, यह नियम नहीं है। हम जब बीज बोते हैं तो बीज बोते ही क्या उसका फल मिलता है? जब गेहूँ, धान बोते हैं, तो वे तीन महीने बाद पकते हैं। जब हम आम का बीज बोते हैं, तो वह पाँच साल में फलता है। अगर कलमी आम लगाएँ तो भी फल मिलने में डेढ़ दो साल लगते हैं। बीज बोने और फल मिलने में समय का अन्तराल दृष्टिगोचर होता है। उसको परिपाक का समय कहते हैं। इसी तरह कर्म करना और उसके पककर फल देने के समय तक को कर्म-परिपाक का समय कहते हैं। अतः हमने जो कर्म किया, उसका फल अभी इसी जन्म में मिल जाए सब समय ऐसा नहीं होता। जो अधिक उग्र कर्म होते हैं, जो अधिक प्रभावशाली कर्म होते हैं वे अपना फल तत्काल देते हैं। जो तुरन्त फल नहीं देते वे दो प्रकार से अपने फल देते हैं। तत्काल तो उनका सूक्ष्म मानसिक फल होता है। उनका जो बाहर दिखायी पड़ने वाला स्थूल फल होता है, वह कर्म-परिपाक के साथ आता है। एक बात पर ध्यान दीजिए। कोई अच्छा काम कीजिए आपको उसको करके परितोष होता है कि नहीं? कोई बुरा काम कीजिए, मत पकड़े जाइए आप, लेकिन आपको ग्लानि होती है कि नहीं? यह जो भीतर का परितोष और भीतर की ग्लानि है यह कर्म का तात्कालिक सूक्ष्म फल है। इसी को आधार बनाकर कौन सा कर्म करें और कौन सा कर्म न करें इसकी प्रेरणा देते हुए मनुस्मृति में कहा गया है—

यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।।

जिस काम को करते समय या करने के बाद अपनी अन्तरात्मा में परितोष का अनुभव होता है वह अच्छा काम है। किसी गरीब की मदद कीजिए। आपको अपनी आत्मा में परितोष का अनुभव होगा। किसी दुखी का दुःख दूर कीजिए, आपको परितोष होगा। जिस काम के करने में भीतरी परितोष होता है **तत् प्रयत्नेन कुर्वीत**— उस काम को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। **विपरीतं तु वर्जयेत्**, जिससे हमको भीतरी परितोष नहीं होता, जिससे हमको भीतरी ग्लानि होती है उसका वर्जन करना चाहिए, उसको नहीं करना चाहिए। कैसा कर्म करना चाहिए इस श्लोक द्वारा उसका अच्छा सुझाव दिया गया है। अतः कर्म का सूक्ष्म फल तो मानसिक होता है जिसका तत्काल अनुभव होता ही होता है। कर्म का जो स्थूल फल होता है, कई बार तत्काल इस दुनिया में, इस जीवन में वह फल नहीं दिखता है। कर्मसिद्धान्त मानता है कि उस कर्म का फल देने का समय अभी नहीं हुआ है। उस कर्म के फल विपाक के लिए जितना समय अपेक्षित था उतना अभी नहीं हुआ। उसका फल मिलने के पहले अगर शरीर छूट जाए तो क्या कर्म फल अभुक्त रह जाएगा? मैंने कोई अच्छा-बुरा काम किया। उस अच्छे बुरे काम का जो सूक्ष्म फल है वह तो तत्काल मिल गया, लेकिन उसका जो स्थूल फल मुझे मिलना था इस जीवन में दृश्यमान फल वह फल नहीं मिला। तो क्या चार्वाक का कथन सत्य है? कि शरीर मर गया, जला दिया गया अब उसका और कोई परिणाम नहीं होगा। अगर मर जाने के कारण कर्म का फल नहीं मिले तो कर्म-सिद्धान्त खण्डित हो जायेगा। तो कर्म सिद्धान्त की जो भूलभूत प्रतिज्ञा है कि **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्**— मैंने जो अच्छे या बुरे काम किये हैं, उनका फल मुझको भोगना ही पड़ेगा, यह प्रतिज्ञा खण्डित हो जाएगी। अगर यह खण्डित नहीं होनी है तो फिर कर्म

का फल हमको मिलना ही चाहिए। कर्म का फल दो और सूक्ष्म कारणों से मिलना चाहिए। जो मैं कर रहा हूँ अगर उसका फल नहीं हुआ तो क्या हो गया? कृत प्रणाश—किए हुए का नाश हो गया। अच्छाई का नाश हो जाएगा अगर किए हुए अच्छे कर्मों का फल नष्ट हो जाएगा। फिर कोई क्यों अच्छा काम करेगा? तब तो बुराई का बोलबाला हो जाएगा। किये हुए कर्म का फल नष्ट हो जाना एक बहुत बड़ा अपराध है। ऐसा नहीं होना चाहिए।

दूसरा, **अकृताभ्युपगम**— जो हमने किया नहीं उसका फल हमको क्यों मिलना चाहिए? हमारा जन्म किसी परिवार-विशेष में, किसी स्थिति विशेष में हुआ, क्यों हुआ? हमारे किसी कर्म के बिना क्या वह फल हमको मिला? क्या भगवान पोपाबाई की तरह बिल्कुल अंधेरगर्दी चलाते हैं? ऐसा नहीं होता। भगवान के बारे में जो अनेक बातें कही गयी हैं उनमें एक है **कर्माध्यक्षः**। परमात्मा कर्माध्यक्ष है। सारे कर्मों को देखता रहता है। कर्मों का निरीक्षण करता है। वह परम न्यायी भी है। इसलिए जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा फल देता है। तुलसी ने कहा है—

'कोउ न काहु सुख-दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।।'

कोई किसी के सुख-दुःख का दाता नहीं है। जो हम सुख भोग रहे हैं, अपने किए हुए कर्म के कारण भोग रहे हैं। जो हम दुःख भोग रहे हैं अपने किये हुए कर्म के कारण भोग रहे हैं। क्योंकि परमात्मा न्यायी है, कर्माध्यक्ष है इसलिए वह हमको जिस स्थिति में जन्म दे रहा है, वह अकारण नहीं दे रहा है। वह उसके पीछे निहित एक हेतु से, एक युक्ति से वैसा फल दे रहा है। **कृत प्रणाश और अकृताभ्युपगम**, किए हुए कर्म के फल का नाश और बिना किए हुए काम के फल की प्राप्ति—ये तो अटपटी बातें हैं। इसलिए मनुष्य अगर कोई कर्म करता है और उसका फल भोगे बिना मर जाता है तो ऐसा नहीं है कि कर्म उसको भूल जाता है, तो ऐसा नहीं है कि फल उसको भोगना नहीं पड़ेगा। अगर उसने इस जन्म में कर्म का फल नहीं भोगा तो अगले जन्म में उसे भोगना पड़ेगा। अतः कर्म-सिद्धांत का उपफल है—जन्मांतरवाद। अगर हमने कर्म-सिद्धांत को स्वीकार किया, अगर हमने यह मान लिया कि हम जो कर्म करते हैं, उसका फल भोगते हैं, अगर हमने यह मान लिया कि हम अपने किये हुए का सुख और दुःख भोगते हैं तो अगर हम इसी जन्म में अपने किए हुए का कर्म-फल नहीं पाते तो वह कर्मफल नष्ट नहीं हो सकता। अगर वह कर्मफल नष्ट नहीं होता, तो उसके कारण हमको अगला जन्म मिलता है जिसमें हमें कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इसलिए हिन्दू समाज यानी भारत में जन्म लेने वाले किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी समाज कर्म सिद्धांत तो मानता ही है कर्म-सिद्धांत के उपफल के रूप में जन्मांतरवाद को भी मानता है। अगर हमने जन्मांतरवाद, पुनर्जन्मवाद को माना तो इस बात को माना कि हमने अपने असंख्य पूर्व जन्मों में निरन्तर कर्म किए हैं। उन असंख्य जन्मों के जिन कर्मों के फल हमने भोग नहीं किए हैं (क्योंकि हमारा जीवन तो छोटा है और ऐसे कर्मों की संख्या बहुत बड़ी है) तो हमारे जो अभुक्त कर्म हैं, जिनको हम नहीं भोग पाए हैं वे सब नष्ट नहीं होते बल्कि इकट्ठे होते हैं। उन इकट्ठे कर्मों का सामूहिक नाम है संचित कर्म। संचित कर्म किसे कहते हैं? हमारे असंख्य जन्मों के वे समस्त कर्म जिनका फल अभी तक हम भोग नहीं पाए हैं, वे नष्ट नहीं हुए, वे सब के सब जमा हुए, उन असंख्य जन्मों के अभुक्त कर्मों का जो जोड़ है, वह है हमारा संचित कर्म। और हमारे कर्म का वह छोटा सा हिस्सा जिसने फल देना शुरू किया है, वह है प्रारब्ध। आरब्ध माने जो काम आरंभ हो गया है, शुरू हो गया है और 'प्र' माने प्रकृष्ट या अच्छी तरह से। शान्त माने जो स्थिर है, संयत है, चंचल नहीं है और प्रशांत माने ज्यादा शान्त। बुद्ध माने ज्ञानी और प्रबुद्ध माने जो ज्यादा ज्ञानी है। वीर-प्रवीर, अध्यापक-प्राध्यापक। इसी तरह से आरब्ध और प्रारब्ध। संचित कर्मों का जो छोटा सा हिस्सा अपना फल देने लगा है, उसे कहते हैं प्रारब्ध। इस प्रारब्ध के अनुसार तीन बातें होती

हैं। अगर क्लेश मूल वृत्तियों का कर्माशय बना है, तो **दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः**—तो इस जन्म में और अगले जन्म में उसका फल होगा—

'सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।' *(पातंजल योगदर्शनम् २/१३)*

अगर कर्मों का मूल रह गया है तो, कर्मों का मूल रह जाने से—सतिमूले—कर्म की जड़ के रह जाने पर, प्रारब्ध के अनुसार हमको तीन चीजें मिलती हैं—जाति, आयु और भोग। जाति माने जन्म। जिस परिवार में, जिस देश में हमारा जन्म हुआ है उस परिवार में, उस देश में जन्म लेने के लिए हमने क्या कहीं आदेश दिया था कि वहाँ जन्म हो, इसके लिए हमने ज्ञात रूप से कुछ किया था क्या? ज्ञात रूप से हमने कुछ नहीं किया। मैं आज जो आपके सामने बोल रहा हूँ, घर जाते-जाते मर नहीं जाऊँगा, इसका क्या ठीक है? यह साँस कब, कहाँ, किस समय रुक जाएगी— हमें इसका कोई ज्ञान नहीं है। आयु कहाँ कब पूर्ण हो जाएगी इसको कोई नहीं जानता। जन्म कहाँ कब होगा, मृत्यु कब कहाँ होगी—इसे कोई नहीं जानता। इसी तरह इस जन्म में सुख-दुःख रूपी भोग की जो समष्टि है वह समष्टि भी हमारे हाथ में नहीं है। हम उसको भोगने की अपनी दृष्टि में थोड़ा परिवर्तन कर सकते हैं, लेकिन सुख-दुःख के भोग की समष्टि हमको भोगनी ही पड़ेगी। यही है जाति, आयु और भोग जो प्रारब्ध के अधीन है।

प्रारब्ध क्या करता है? प्रारब्ध हमको जन्म देता है। प्रारब्ध हमको आयु देता है और प्रारब्ध हमको सुख-दुःख के भोग की समष्टि देता है। तो क्या हम पूर्णतः प्रारब्ध के अधीन हैं? क्या हम खुद कुछ नहीं कर सकते? ऐसा नहीं है। हम बहुत कुछ कर सकते हैं। आप लोगों ने बराबर यह बात सुनी होगी कि हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं और फल भोगने में परतंत्र हैं। इसका क्या मतलब है? कहाँ तक स्वतंत्र है? कैसे परतंत्र हैं? मैंने अभी बताया कि जन्म-जन्मांतर के अभुक्त कर्मों का जो पुंजीभूत रूप है— वह है संचित कर्म। और इस संचित कर्म का छोटा सा हिस्सा जो अपना फल दे रहा है, उसको कहते हैं प्रारब्ध। क्या कर्म के दो ही रूप हैं? नहीं। एक तीसरा रूप भी है। उसका नाम है क्रियमाण। क्रियमाण कर्म उसको कहते हैं जो हम इस जन्म में कर रहे हैं। जो हम कर रहे हैं—वह क्रियमाण कर्म है। भारतीय कर्म-सिद्धांत मुसलमानों का मुकद्दर या किस्मत नहीं है। ईसाइयों की डेस्टिनी या 'लक' नहीं है। हमारा प्रारब्ध उन्हीं अभुक्त कर्मों का समन्वित फल है, जिन्हें कभी हमने किया था। किसी जन्म के क्रियमाण कर्म या कई जन्मों के क्रियमाण कर्म ही आज हमारा प्रारब्ध बन गये हैं। इसलिए क्रियमाण कर्म बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मेरी दृष्टि में संचित और प्रारब्ध से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है— क्रियमाण कर्म। क्योंकि क्रियमाण कर्म हमारे हाथ में हैं। उस क्रियमाण कर्म में हम कहाँ तक स्वतंत्र हैं इस बात पर भी विचार करें। क्या हम इस संसार में सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं? नहीं। यह बोलना झूठ होगा। ऐसा बोलना अहंकार होगा।

'कर्त्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथा कर्तुं समर्थ'—तो केवल परमात्मा है। **कर्त्तुम्** माने करने में, **अकर्त्तुम्** माने नहीं करने में, **अन्यथा कर्त्तुम्** माने दूसरे ढंग से करने में समर्थ तो केवल परमात्मा है। जीव भी कर्म करने में एक सीमा तक स्वतंत्र है—हम जब यह कहते हैं तो प्रश्न उठता है कि वह किस मात्रा में स्वतंत्र है।

प्रारब्ध ने हमारी स्वतंत्रता को एक बड़ी सीमा तक सीमित किया है। जिस देश में, जिस कुल में हम पैदा हुए उसकी एक वैचारिक स्थिति है, बौद्धिक स्थिति है। उसकी एक आर्थिक स्थिति है, एक सामाजिक स्थिति है। उन तमाम स्थितियों के कारण हमारा कर्म सीमित होता है। फिर भी क्यों ईशोपनिषद् ने कहा है कि आप कर्म करें ही? यह बात समझ में आनी चाहिए कि चौरासी लाख योनियाँ है इनमें तिरासी लाख निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे योनियाँ केवल भोग योनियाँ हैं। हम क्यों कहते हैं कि मनुष्य जन्म सबसे बड़ा है? **न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।**

मनुष्य से बड़ा कुछ नहीं है यानी मनुष्य से बड़ी और कोई योनि नहीं है, क्यों नहीं है? **'सबार ऊपरे मानुष सत्य'** क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि तिरासी लाख तिन्यानबे हजार नौ सौ तिन्यानबे योनियाँ भोग योनियाँ हैं। केवल मनुष्य योनि कर्म योनि और भोग योनि दोनों है। इस बात का मतलब समझिए। हम लोग जितने जीव-जन्तु इस संसार में देखते हैं, पशु-पक्षी, पौधे, तमाम जलचर, स्थलचर, नभचर, जीव यहाँ तक कि स्वर्ग के देवता भी और नरक के जीव भी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि ये सब की सब भोग योनियाँ हैं। सब अपने किये हुए कर्मों का अच्छा बुरा फल भोग रही हैं। एक योनि में अपने किए हुए का अच्छा बुरा फल भोग लेने के बाद फिर उनको दूसरी योनि में जन्म लेना पड़ेगा। फिर उनको दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। कभी करुणा करके प्रभु उनको मनुष्य जन्म देते हैं। मनुष्य योनि एकमात्र ऐसी योनि है जो एक ही साथ कर्मयोनि भी है और भोग योनि भी है। अगर यह केवल भोग योनि होती तब तो हम पूर्णतः प्रारब्ध के अधीन होते और परतंत्र होते। चूँकि यह कर्म योनि भी है, इसलिए एक सीमा तक हम प्रारब्ध के अधीन होते हुए भी एक सीमा तक स्वतंत्र हैं। स्वर्ग में जाने वाले लोग भी परतंत्र ही हैं। स्वर्ग क्या है? एक तरह का फाइव स्टार होटल है। जितना पुण्य रूपी रुपया आपने जमा करा दिया उसके अनुसार उतने दिनों तक मौज-मजा कर लीजिए और उसके बाद जब रुपया खत्म हो गया यानी अच्छे कर्मों का पुण्य समाप्त हो गया तो गलाधक्का। चले आइये संसार में। फिर मनुष्य होकर पैदा होइये और फिर आपको मोक्ष प्राप्त करना है तो उसकी साधना कीजिये। इसीलिए मानव शरीर को **'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'** कहा गया है। इसीलिए कहा गया है कि **'नर तन सम नहि कवनिहुँ देही'**।

मनुष्य शरीर के समान कोई दूसरा शरीर नहीं है। क्योंकि मनुष्य शरीर एक ही साथ कर्म योनि और भोग योनि दोनों है। दस हजार साल पहले बन्दर जैसे होते थे आज भी वैसे ही हैं। सिंह, भालू, बाघ, कोयल, चीता, मैना, तोता, कौआ, दस हजार साल पहले जैसे थे आज भी करीब करीब वैसे ही हैं। किन्तु दस हजार साल पहले मनुष्य जैसे रहता था, आज वैसे ही नहीं रहता। क्यों नहीं रहता? क्योंकि मनुष्य योनि कर्म योनि है। कर्म करते हुए उसने निरन्तर अपने को बदला और सुधारा है। निरन्तर बदलाव और सुधार करने का उसका जो अधिकार है, वह एक सीमा के भीतर है। वह सीमा उसके प्रारब्ध की भी है, उसके पूर्व जन्मों की भी है। वह उनके भोग, भोग रहा है किन्तु कर्मयोनि के कारण कर्म करने में एक सीमा तक वह स्वतंत्र भी है। विचार करना चाहिए कि व्यवहार में मनुष्य कितना स्वतंत्र, कितना परतंत्र है? अच्छा देखिये ताश खेलते समय कोटपीस हो या ब्रिज, चार आदमियों में पत्ते बाँटे जाते हैं—पत्ते बँट गए। तेरह-तेरह पत्ते जो आपको मिले, वे आपके चुनाव के पत्ते नहीं हैं। वे आपको मिले हुए पत्ते हैं। पत्तों को प्राप्त करने के लिए आपने ज्ञात रूप से कुछ नहीं किया फिर भी साधारण पत्ते लेकर भी आप अगर अच्छे ढंग से खेलें तो जीत जाएँगे। यह आपका कर्म स्वातंत्र्य है। कभी आपने नाटक किया है? नाटक में सारी बातें तो निर्धारित हैं। नाटककार ने लिख दिया नाटक। लेकिन नाटककार ने जो लिखा है, क्या वही नाटक हम लोग देखते हैं? नाटककार का नाटक ही क्या अन्तिम है? जो लोग भी नाटक से सम्बन्ध रखते हैं वे जानते हैं कि नाटक केवल नाटककार का नहीं होता। नाटक निर्देशक का भी होता है। नाटक अभिनेता का भी होता है। नाटक जब अभिनीत होकर दर्शक के द्वारा देखा जाता है तभी वह सफल या असफल होता है। नाटक एक सीमा तक पूर्व निर्धारित है। नाटक की भूमिकाएँ प्रदत्त हैं। हो सकता है कि हमको नायक की भूमिका न मिली हो। हमको खलनायक की भूमिका मिली हो। हो सकता है कि हमको अच्छी भूमिका न मिली हो, हमको बुरी भूमिका मिली हो। हो सकता है कि मुख्य भूमिका न मिली हो, हमको गौण भूमिका मिली हो, लेकिन जैसी भूमिका हमको मिली है, उसका अभिनय अगर हमने अच्छी तरह से किया तो हमको स्वर्ण-पदक मिल सकता है।

एक बार विद्यासागर नाटक देखने गए। उसमें एक अभिनेता बुरी भूमिका निभा रहा था, लेकिन उसने बुरे आदमी का अभिनय इतनी अच्छी तरह से किया कि विद्यासागर भूल गए कि वे नाटक देख रहे हैं। उन्होंने उसको चप्पल मार दी। उस अभिनेता ने अपने जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार विद्यासागर की मारी हुई चप्पल को माना। मैं यही बताना चाह रहा हूँ कि नाटक दिया हुआ है, नाटक की भूमिकाएँ दी हुई हैं। किन्तु उन भूमिकाओं में अच्छा अभिनय करना हमारे वश में है। उन भूमिकाओं में अच्छा अभिनय करके पुरस्कार पाना हमारे अपने हाथ में है। अच्छी भूमिका को बुरे ढंग से करके हास्यास्पद हो जाना भी हमारे ही हाथ में है। कर्म का स्वातंत्र्य प्रारब्ध के द्वारा सीमित होने पर भी बना हुआ है। हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं, फल भोगने में परतंत्र हैं। यह कर्म स्वातंत्र्य हमको इस बात की प्रेरणा देता है कि हम कर्म करने से पहले विवेक से उसकी पद्धति चुनें। उस विवेक के कारण चुनाव में जितनी उत्कृष्टता होगी, हमारा कर्म उतना ही उत्कृष्ट होता जाएगा। यह मनुष्य योनि कर्म योनि है। इसी का यह निश्चित अर्थ है कि हम कर्म करने में एक सीमा तक प्रारब्ध के द्वारा बँधे हुए भी हैं। लेकिन जो लोग निरे प्रारब्धवादी हैं, वे भारतीय संस्कृति के कर्म-सिद्धांत को पूरी तरह नहीं जानते हैं। प्रारब्ध-दैव केवल पाँचवाँ हिस्सा है किसी कर्म प्रचेष्टा का। गीता में भगवान ने कहा है—

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।। *(गीता-१८।१४)*

कोई बड़ा काम, छोटा काम, साधारण काम, असाधारण काम, अच्छा काम, बुरा काम पाँच बातों से होता है। **अधिष्ठानं**— अर्थात् काम के लिए चुना गया स्थान। आपने काम करने के लिए अधिष्ठान कैसा चुना है? आप कैसे कर्त्ता हैं? मतलब कि आप सत्त्वगुणी कर्त्ता हैं कि रजोगुणी या तमोगुणी। आपने कर्म के कैसे साधन चुने हैं, कैसी चेष्टा की है। इन चार बातों में आप स्वतंत्र हैं। दैव प्रारब्ध तो कर्म का कुल पाँचवाँ हिस्सा है। जब ईशावास्य उपनिषद् कहता है कि मनुष्य काम करते हुए ही जिए तो उसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य काम किये बिना नहीं रह सकता। काम किये बिना क्यों नहीं रह सकता? क्योंकि उसकी आन्तरिक निर्मिति ऐसी है कि वह काम किये बिना नहीं रह सकता। आन्तरिक निर्मिति का मतलब हमारी बनावट ही ऐसी है? हमारी बनावट प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वों से है। जो लोग अद्वैतवादी हैं वे तो प्रकृति को माया कह देंगे। लेकिन हमारे शरीर की निर्मिति उसी से हुई है। पुरुष अर्थात् हमारा जो जीवात्मा है, (चाहे वह परमात्मा ही हो, अद्वैतवादियों की दृष्टि में या विशिष्टाद्वैतवादियों की दृष्टि में उनका अंश हो)। वह तो शुद्ध, बुद्ध सच्चिदानन्द तत्त्व है, उसको तो कर्म स्पर्श नहीं करते। लेकिन इस जीवात्मा को धारण करने वाला यह जो शरीर है जिसके द्वारा जीवात्मा काम करवाता है वह प्रकृति द्वारा निर्मित है। काम करने के लिए हमारे पास दस बाहरी कारण हैं और चार भीतरी कारण हैं। कारण यानी औजार तो कुल चौदह औजार जीवात्मा को परमात्मा ने दिये हैं। काम करने के लिए हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो बाहर की चीजों की सूचना भीतर ले जाती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जो भीतर के निर्णय को बाहर क्रियान्वित करती हैं। ये जो दस इन्द्रियाँ हैं, इनको कहते हैं—बाह्य करण। और जो भीतरी औजार हैं वे हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। उसको कहते हैं अंतःकरण। जीवात्मा का जो चैतन्य है, वह अंतःकरण पर प्रतिबिम्बित होता है और वह उससे चेतन होकर काम करता है। लोहे के गोले को जब हम आग से तपाते हैं तो वह लाल-लाल होकर दहकने लगता है। लोहे का लक्षण दाहकता नहीं है। लोहे का लक्षण प्रकाश नहीं है। यह दाहकता, यह प्रकाश अग्नि का गुण है जो लोहे के गोले में आ गया है। और गोल-गोल दिखायी पड़ना, अग्नि का लक्षण नहीं है, गोल होना अग्नि का गुण नहीं है।

यह जो अग्नि का रूप गोल-गोल दिखायी पड़ता है यह लोहे के गोले का धर्म है जो अग्नि में आ गया है। तो यह चेतना, यह सत्ता, यह प्रियता यह जो चैतन्य तत्त्व का लक्षण है जो हमारे अंतःकरण में प्रतिबिम्बित हुआ है। हमारे शरीर की ही तरह हमारा अंतःकरण प्रकृति का बना हुआ है। भगवान कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। *(गीता ९/१०)*

इस संसार में जो चराचर वस्तु है, वह प्रकृति की बनायी हुई है, मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सारी सृष्टि की रचना करती है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वे तीनों गुण हैं सत्त्व, रज, तम। सृष्टि के सारे पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। हमारे ऋषियों ने सृष्टि को तीन बातों से चिह्नित किया, तीन बातों में सीमित कर दिया। प्रकाश, क्रिया और स्थिति। सृष्टि पर विचार कीजिये। विषय के रूप में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और गुण के रूप में केवल तीन चीजें सारी सृष्टि में है—प्रकाश, क्रिया और स्थिति। प्रकाश का मतलब है ज्ञान, प्रकाश का मतलब है सुख। प्रकाश का मतलब है करुणा, दया, परदुःखकातरता। ये सारे गुण सत्त्व गुण के हैं। क्रिया का मतलब है हलचल। कोई कहीं स्थिर नहीं है। क्रिया का मतलब है प्रतिस्पर्धा। सामने वाले को परास्त कर दो, हरा दो इसे। क्रिया का मतलब है—लालसा। यह पाना है, वह पाना है। क्रिया का मतलब है राग-द्वेष, लालसा, यह निरन्तर कर्मठता, यह निरन्तर व्यस्तता, यह निरन्तर अधिकाधिक वस्तुओं को पाने की इच्छा—मनोनुकूल वस्तुओं को पाने की इच्छा, मन के प्रतिकूल पड़ने वाली वस्तुओं को त्यागने की इच्छा, वह दूर रहे हमसे—ये हमारे साथ जुड़े, यह राग-द्वेष, यह सब क्रिया का परिणाम है। स्थिति का मतलब है जड़ता, तम, आलस्य, प्रमाद, अज्ञान, निद्रा।

किस-किस को याद कीजिए, किस-किस को रोइये।
आराम बड़ी चीज है, मुँह ढँक के सोइये।।

या

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों।
बक-बक मूरख क्या करता है, जीना है अभी बरसों।।

यह जो सारी की सारी आलस्य की प्रक्रिया है—यह जड़ता की प्रक्रिया है। जड़ता केवल स्थितिशून्यता ही नहीं है। जड़ता—अज्ञान, नासमझी है। जड़ता—कर्त्तव्य का विस्मरण है, जड़ता-आलस्य है। अब ये तीनों गुण हर एक में हैं। दुनिया में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो त्रिगुणात्मक न हो। हममें रजोगुण है। इसलिए हम अपनी अन्तः निर्मिति के कारण, जिससे हमारी बनावट हुई है अपनी उस बनावट के कारण बिना काम किए नहीं रह सकते। हाथ पर हाथ रखकर बैठ जायेंगे? बैठना भी काम है। सो जायेंगे। सोना भी काम है। जम्हाई लेना भी काम है। उसका भी फल हमको बाँधेगा। कर्म से कैसे बचेंगे? यह जो हमारी निर्मिति है, हमारी बनावट है, उस बनावट के ये जो अन्तर्भूत तीन तत्त्व हैं—सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से प्रेरित होकर मनुष्य काम करने के लिए बाध्य है। काम तो करना ही पड़ेगा और काम कैसे होता है? इस पर ध्यान दीजिए।

कर्म के लिए रजोगुण मूल प्रेरक है। **रजो रागात्मकं बिद्धि, तृष्णा संग समुद्भवम्**। रजोगुण रागात्मक है, तृष्णा, आसक्ति से उद्भूत है। **राजसं चलमध्रुवम्** चंचल अध्रुव रजोगुण के कारण हम छटपटा रहे हैं, हम परेशान हैं? सत्त्व गुण अगर प्रधान हो, रजोगुण उसका सहायक हो तो हम अच्छे काम करेंगे, हम परोपकार करेंगे, हम प्रवचन सुनने आयेंगे, सत्त्व गुण की प्रधानता से जब रजोगुण प्रेरित, अनुशासित होता है तब हम अच्छे काम करते हैं। जब मनुष्य तमोगुण से अनुशासित होकर काम करता है तो हिंसा करता है, मार-पीट करता है, गालियाँ

देता है, क्रोध करता है, आलसी होता है, प्रमादी होता है, सोता ही रहता है। जब तमोगुण और सत्त्व गुण बराबर होते हैं और रजोगुण की प्रधानता होती है तो छटपटाता रहता है। यहाँ भागता है, वहाँ भागता है। इसको हरा दो, उसको जीत लो। मनुष्य इन तीन गुणों का पुतला है। इसलिए मनुष्य बिना काम किये रह नहीं सकता। काम करते रहने की विवशता का अनुभव करने वाला जो मनुष्य है, वह मनुष्य हाथ-पर-हाथ रखकर नहीं बैठ सकता। वह कैसे दी हुई स्थिति का सदुपयोग करे? कैसे दी हुई स्थिति का सदुपयोग करके वह उन्नत स्थिति में जाए—इसका विधान बार-बार किया गया है। हमारे पुरखों ने सारे कर्मों को कई श्रेणियों में बाँटा है। वह है नित्य कर्म, काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म और प्रायश्चित्त कर्म। नित्य कर्म हमको अवश्यमेव करने चाहिए। नित्य कर्म करने का पुण्य नहीं होता। नित्य कर्म न करने का पाप होता है। नित्य कर्म पाँच यज्ञों पर निर्भर है पहला है ब्रह्म यज्ञ। ब्रह्म यज्ञ माने अच्छी, बुद्धि को शुद्ध करने वाली पुस्तकों का पढ़ना। श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि ये सब ब्रह्म यज्ञ हैं।

ब्राह्मण के लिए बताया गया कि उसे छहों अंगों के साथ चारों वेद अकारण अर्थात् बिना लोभ की प्रेरणा से पढ़ना चाहिए। स्वाध्याय और प्रवचन—ये भी ब्रह्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। देव यज्ञ माने प्रातः संध्या, सायं संध्या, मध्याह्न संध्या करना। देव यज्ञ यानी भगवान को प्रणाम करना, ठाकुर घर में जाकर बैठना, भगवान का कुछ भजन करना ये सब देव यज्ञ हैं। पितृ यज्ञ माता-पिता की सेवा करना, मरे हुए पितरों का श्राद्ध करना—यह पितृ यज्ञ है। भूत यज्ञ—संसार के समस्त प्राणियों के लिए हमारा कुछ दान होना चाहिए, कौवे के लिए भी, कुत्ते के लिए भी, पशु के लिए भी, पक्षी के लिए भी इसको बलिवैश्यदेव भी कहते हैं और नृयज्ञ अतिथि यज्ञ। जो अतिथि हमारे घर में आ गया उसकी अभ्यर्थना करनी चाहिए क्योंकि अतिथि देव सदृश है। अतिथिदेवो भव—ये पाँच यज्ञ नित्य कर्म हैं, नैमित्तिक कर्म हैं, इसके बाद। नैमित्तिक कर्म किसको कहते हैं? किसी विशेष निमित्त के कारण किया गया कर्म। पुत्र पैदा हो गया तो उसका जात कर्म करना चाहिए। कोई बड़ा त्योहार आ गया—रामनवमी आ गयी, दुर्गाष्टमी आ गयी, शिवरात्रि आ गयी तो तदनुरूप पूजा करनी चाहिए, ये नैमित्तिक कर्म हैं। अवश्य करने चाहिए। काम्य कर्म यानी जो हमारी इच्छा की पूर्ति के लिए किये गये कर्म हैं। यदि हम चाहें कि हमारा बेटा हो जाए, हमें नौकरी मिल जाए, हम परीक्षा में पास हो जाएँ तो, इसके लिए जो कर्म किया जाता है, वह है काम्य कर्म। निषिद्ध काम यानी जो कर्म नहीं करने चाहिए। जो पाप कर्म हैं, वे निषिद्ध कर्म हैं। चोरी करना, मिथ्या बोलना, व्यभिचार करना आदि। अगर निषिद्ध कर्म हो जाएँ तो उनके फल से बचने के लिए और उन्हें पुनः न करने के संकल्प को दृढ़ करने के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए। ये सारी बातें कर्म-सिद्धांत के अनुसार बतायी गयी हैं। लेकिन इस पूरे कर्म सिद्धांत के पीछे जो बड़ी प्रेरणा है, वह यह है कि हम अपने कर्म के द्वारा निरन्तर अग्रसर हो सकते हैं। भगवान् ने गीता में यह बात कही है— न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति। *(गीता ६/४०)*

जो मनुष्य कल्याण के कर्म करता है, जो अच्छे काम करता है, कभी उसको बुरी गति प्राप्त नहीं होती है। भगवान ने यह भी कहा है कि—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। *(गीता ६/५)*

मनुष्य को अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए। **उद्धरेत्-उद्धार** करना चाहिए, ऊँचे उठना चाहिए। **आत्मना आत्मानं**—अपने को अपने द्वारा ही ऊपर उठाना चाहिए।

नात्मानं अवसादयेत—अपने को नीचे नहीं गिराना चाहिए। **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु आत्मैव रिपुरात्मनः**—अपना मन ही अपना सबसे बड़ा मित्र है, अपना मन ही अपना सबसे बड़ा शत्रु है—

बन्धुरात्मत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। *(गीता ६/६)*

जिसने अपने मन को जीत लिया है—उसका मन उसका सबसे बड़ा मित्र है। और जो मन के अधीन हो गया है, वह गाना है न..... 'मन जो कहेगा, मानेंगे, दुनिया में हमारा मन ही तो है' तो वह गड्ढे में गिरेगा। मन तो बहिर्मुख है, मन तो इन्द्रियों द्वारा विषय में ही जाएगा। हम आँख से नहीं देखते। हम मन से आँख के द्वारा देखते हैं। हम कान से नहीं सुनते। हम कान के द्वारा मन से सुनते हैं। हम रसना से आस्वाद नहीं लेते। मन के द्वारा रसना से आस्वाद लेते हैं। हम कोई दिलचस्प उपन्यास पढ़ते हैं और माँ पुकारती रहे तो सुनाई पड़ता है? उपनिषदों में आया है कि एक कर्मकार था— लुहार। वह रथ का पहिया बना रहा था। गाजे-बाजे के साथ राजा की सवारी चली गयी, वह अपना पहिया बनाता रहा। दूसरे ने पूछा राजा की सवारी इधर से गयी? उसने कहा—भैया? मुझे तो नहीं मालूम। इसका मतलब यह हुआ कि मन का सहयोग न होने के कारण उसके कानों ने उस गाजे-बाजे को सुना ही नहीं।

मन इन्द्रियों के माध्यम से विषय की ओर जाता है। विषय यानी शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध। **विषयान्ति इति विषयाः**— जो विष की ओर ले जाए वह है विषय। इन्द्रियाँ विषयों से आसक्त होकर मन को फँसाती हैं। आँख सुन्दर रूप देखना चाहती है। जवान लड़के लड़कियों को देखना चाहेंगे। जवान लड़कियाँ लड़कों को देखना चाहेंगी और अगर वह आसक्ति बढ़ी तो अवैध कर्म करेंगे। पेट खराब है, रसना कहेगी, गोलगप्पा खायेंगे। सर्दी है लेकिन क्वालिटी की आइसक्रीम को न कैसे करें। इन्द्रियों को केवल विषय दीखता है और विषय के पीछे जो बन्धन है वह नहीं दीखता। अच्छे कर्तों की प्रवृत्ति यह नहीं होनी चाहए। केवल मन के द्वारा प्रेरित होकर काम नहीं करना चाहिए। बुद्धि के द्वारा, विवेक के द्वारा अनुशासित होकर काम करना चाहिए। विवेक के द्वारा अनुशासित कर्म से मनुष्य की उन्नति होगी।

उद्धरेदात्मनात्मानम् हम सब काम करने में स्वतंत्र हैं। हम सब अपना उद्धार स्वयं कर सकते हैं। हम सब पतन के गड्ढे में जा सकते हैं। कैसा काम करने से उद्धार होता है? कैसा काम करने से पतन होता है? इसका विवेक होना चाहिए। गीता के अट्ठारहवें अध्याय में बिल्कुल स्पष्ट कहा गया है—

यज्ञोदानं तपः कर्मः न त्याज्यं कार्यमेव तत्। *(गीता १८/५)*

यज्ञ, दान, तप ये मनीषियों को भी पवित्र करने वाले कर्म हैं। ये यज्ञ, दान, तप हम निरन्तर करते रहें। यज्ञ, दान, तप—पुरानी शब्दावली के नये अर्थ दिये हैं। गीता में विनोबा भावे ने कहा है कि गीता अहिंसात्मक वैचारिक क्रांति करती है। यज्ञ का क्या अर्थ था? इसका अर्थ था सामूहिक रूप से प्रयास करके वेदी बनाओ, उसमें अग्नि प्रज्वलित करो, उसमें आहुति दो—

इदं इन्द्राय, इदं न मम, इदं इन्द्राय स्वाहा।
इदं अग्नये, इदं न मम, इदं अग्नये स्वाहा।।

अग्नि के लिए, इन्द्र के लिए, वरुण के लिए देवताओं के लिए हम आहुति दें। यह यज्ञ था। गीता में चौबीस प्रकार के यज्ञ वर्णित हैं। श्रीकृष्ण ने कहा कि यह जो द्रव्य-यज्ञ है, वह तो सबसे स्थूल यज्ञ है। गीता में सबसे सूक्ष्म यज्ञ ज्ञान-यज्ञ को कहा है। याद रखिये जब हम सामूहिक प्रयास करके सामूहिक मंगल की साधना करते हैं तो यज्ञ होता है। आज भी जब हम सामूहिक प्रयास करके सामूहिक मंगल के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं तब यज्ञ करते हैं। पुस्तकालय चला रहे हैं—यज्ञ कर रहे हैं। विद्यालय चला रहे हैं—यज्ञ कर रहे हैं। सामूहिक मंगल के लिए सामूहिक प्रयास में अंश ग्रहण करना यज्ञ है। न्यायोपार्जित द्रव्य को योग्य व्यक्ति को देना—यह दान है। ध्यान दीजिए—

यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि।।

जो धन तुम किसी अच्छे काम के लिए किसी अच्छे व्यक्ति को दे देते हो वही तुम्हारा धन था। तुमने उसका सही उपयोग किया। भगवान की कृपा से तुमको अनन्त रूप में उसका फल मिलेगा। हाँ जिस धन का तुम अपने लिए उपयोग कर लेते हो वह भी तुम्हारा धन है, पर उसका उपयोग मध्यम कोटि का है। शेष धन तो किसी और का है। तुम उसके रखवाले भर हो। अपने धन को जीवन रहते अच्छे काम में लगाओ, जीवन रहते अच्छी तरह से जीवन जिओ—

मौत न नीति गलीत ह्वै जो रखिए धन जोरि।
खाए, खरचै जो जुरै तो जोरिए करोरि।।

मित्र! यह नीति नहीं है कि गलित होकर आप करोड़ों रुपये इकट्ठा करें।

तोको न भुनैहौं, तोरा भैया और मिलैहौं— चमड़ी जाए तो जाए मगर दमड़ी न जाए—यह नीति की बात नहीं है। आपका धन वही है जो आपने दान में दे दिया। आपका धन वही है जो आपने अच्छी तरह से जीवन जीने के लिए भोजन, वस्त्र, आच्छादन में खर्च किया। बाकी का धन कहने के लिए आपका है लेकिन, वास्तव में वह किसी और का है। यज्ञ, दान, तप। तप क्या है? जंगल में जाकर रहना तप नहीं है। किसी बड़े लक्ष्य को सामने रखकर जब कोई लगातार सतत परिश्रम करता है, तब वह तप करता है। किसी बड़े लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया गया सतत परिश्रम ही तप है। गीता में तीन अद्भुत तप बताए हैं— एक शारीरिक तप है, एक वाचिक तप है, एक मानसिक तप है। गीता में बताया गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। *(गीता १७/१४)*

देवता, द्विज, गुरु, विद्वान को नमन करना चाहिए, इनकी सेवा करनी चाहिए। इनके सामने सिर झुकाना चाहिए इससे आपकी श्रद्धा बढ़ेगी। गुण का विकास होगा। गुण को सम्मान देने से गुण का विकास होता है। आजकल का सारा समाज धन को सम्मान देता है इसलिए गलत नीति से लोग धन कमाते हैं। अतः गुण संकुचित हो रहे हैं। अच्छे लोग कुंठित हो रहे हैं।

बाहरी और भीतरी शुचिता होनी चाहिए, सरलता होनी चाहिए, ब्रह्मचर्य होना चाहिए, अहिंसा होनी चाहिए—ये सब शारीरिक तप हैं। वाणी का तप कितना बढ़िया बताया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रिय हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

वाणी का तप—ऐसी बात बोलें, जिससे किसी को उद्वेग न पहुँचे **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं**— सच बोलें प्रिय बोलें। लोगों के लिए हितकर बोलें। जो बोलें स्वाध्याय करके, बड़ी कृतियों का अध्ययन करके बोलें। स्वाध्याय का, अच्छी बात बोलने का अभ्यास करें—यह वाणी का तप है—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।

हमारा भाव शुद्ध हो, किसी के लिए दुर्भाव न हो। मन कभी विषण्ण नहीं होना चाहिए। जय हो, पराजय हो,

अनुकूलता हो, प्रतिकूलता हो, मानसिक प्रसन्नता बनी रहे। तब सौम्यता आएगी। कर्कशता, उग्रता, कठोरता नहीं आएगी। मौनं—मुनि की तरह मननशील होंगे। मौन माने चुप रहना नहीं है। मुँह से चुप हैं और भीतर-भीतर गालीं दिए जा रहे हैं—यह मौन नहीं है। **मुनेःभावः मौनम्-मुनि** का भाव ही मुनि का भाव अर्थात् मननशीलता। चुप रहकर हम किसी बड़े सिद्धांत का मनन कर रहे हैं यह मौन है। **आत्म निग्रहः**— अपने मन के ऊपर नियंत्रण, भाव संशुद्धि—भाव में भी किसी का अहित नहीं चाहें। गीता कहती है कि अगर आप अपने को ऊपर उठाना चाहते हैं, अगर अपना उद्धार करना चाहते हैं तो यज्ञ करें, दान दें, तप करें। लेकिन ये ही सारी बातें कर्मयोग नहीं हैं। यह मनुष्य के उन्नयन का रास्ता तो है, अच्छे कर्म का रास्ता तो है लेकिन इन सब में कर्तृत्व का बोध होता है इसलिए भोक्तृत्व भी होगा और हम जब तक कर्त्ता और भोक्ता बने रहेंगे तब तक हम बन्धन में बँधे रहेंगे। ये सारे अच्छे से अच्छे कर्म यज्ञ भी, दान भी, तप भी हमको लिप्त होंगे।अतः ईशावास्य की यह शिक्षा है कि इस तरह कर्म करना चाहिए कि कर्म लिप्त न हो। ●

मुक्तक

सौंप जब तुमको दिया इस जिन्दगी का भार रघुवर,
तब मुझे क्या सोचना है, जीत हो या हार रघुवर।
सिर्फ इतनी शक्ति मुझको दो कि मैं अन्तःकरण से
कर सकूँ स्वीकार सब कुछ, जो तुम्हें स्वीकार रघुवर।।

●

बहुत कठिन है राम जगत् में राह तुम्हारी चलना,
कहना सुगम, निभाना दुर्गम, कैसी-कैसी छलना।
अनजाने ही अहं ग्रास कर लेता मेरे मन को,
काम-क्रोध की कठिन आग में निशिदिन होता जलना।।

गीता में तप की अवधारणा

गीता के माहात्म्य को बताते हुए कहा गया है :—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

इस श्लोक में गीता की कई विशेषताओं का सार्थक संकेत है। पहली बात तो यह कि गीता समस्त उपनिषदों का सार है। इससे गीता की महत्ता का आभास मिलता है। दूसरी बात यह कि यह सार संकलन स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने किया है। इसका अर्थ यह है कि उपनिषदों के मर्म को गीता में अधिकृत रूप से उद्भासित किया गया है क्योंकि श्रीकृष्ण से अधिक प्रामाणिक आचार्य और कोई हो ही नहीं सकता। चूँकि उपनिषदों को गाय कहा गया है और श्रीकृष्ण को दोग्धा, अतः रूपक को और अधिक सार्थक बनाने के लिए अर्जुन को बछड़ा कहा गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जब तक बछड़ा गाय के थन में मुँह नहीं मारता तब तक उसका दूध नहीं उतरता। यह अर्जुन की जिज्ञासा का ही फल है कि श्रीकृष्ण ने उपनिषदों का रहस्य गीता में प्रकट कर दिया गीतामृत के रूप में। जिस विशेष बात की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ वह यह है कि गीता के दुग्धामृत का पान करने वाले श्रेष्ठ बुद्धि वाले ही हो सकते हैं। ये श्रेष्ठ बुद्धिवाले भोक्ता किसी भी देश में, किसी भी काल में हो सकते हैं। अर्थात् अर्जुन के माध्यम से गीता का उपदेश देशकालनिरपेक्ष उन सभी आस्थावान् जिज्ञासुओं को दिया गया है जो श्रद्धापूर्वक परमसत्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। उपनिषदों को वेदों का ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपनिषदों ने वेदों के ज्ञान को ही निरूपित किया है। इस तरह यह अनायास कहा जा सकता है कि गीता में वेदों, उपनिषदों के ज्ञान का सार समाहित है।

गीता में तप की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए मुझे यह उचित प्रतीत होता है कि वेदों, उपनिषदों में तप का निरूपण जिस प्रकार किया गया है उसकी भी एक झलक प्रस्तुत की जाय और उस सन्दर्भ में यह दिखाया जाय कि गीता ने तप का विवेचन किस प्रकार प्रस्तुत किया है। वेदों में तप को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद की घोषणा है, **अतप्त तनूर्न तदामो अश्नुते** (६/८३/१) अर्थात् जो अतप्त तनु है, जिसका शरीर तप से कसा नहीं गया है वह आम अर्थात् कच्चा है। वह परमात्मा को प्राप्त करने की योग्यता नहीं रखता। बिना तप के परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता, वेद की यह स्पष्ट घोषणा है। ऋग्वेद में अन्यत्र कहा गया है **ओं ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोध्यजायत.....** अर्थात् अभीद्ध....चारों ओर से प्रकाशमान तप के द्वारा या अभीद्ध तपरूपी परमात्मा के द्वारा ऋत और सत्य पैदा हुए। ऋत परमात्मा का सत्य संकल्प है जो सारी सृष्टि का संचालन करता है। सत्य यथार्थ भाषण है। अब स्वयं इससे भी तप की महिमा स्पष्ट होती है कि स्वयं परमात्मा रूपी तप के द्वारा ऋत और सत्य का आविर्भाव हुआ। उपनिषदों में भी इस दृष्टि का समर्थन किया गया है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि जब ६ ऋषिकुमार महर्षि पिप्पलाद के पास ब्रह्म की जिज्ञासा लेकर आये तो महर्षि ने उन्हें तुरन्त उपदेश नहीं दिया। उन्होंने कहा कि तुम लोग एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक तप करो तभी तुम लोग ब्रह्म का विवेचन सुनने के

अधिकारी बनोगे। ब्रह्म संबंधी गंभीर प्रश्न करने की पात्रता भी तप के द्वारा ही अर्जित की जा सकती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी इस सत्य को दोहराया गया है। **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व....** अर्थात् तप के द्वारा ब्रह्म को जानने की चेष्टा करो। महर्षि पिप्पलाद के आदेशानुसार छहों ऋषिकुमारों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक एक वर्ष तक तप किया, तब वे प्रश्न पूछने के अधिकारी हुए। कात्यायनकबंधी ने पहला प्रश्न पूछा कि नाना रूपों में विद्यमान यह संपूर्ण प्रजा किस कारण विशेष से उत्पन्न हुई। महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर दिया,

प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तत्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्यतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।

अर्थात् जब प्रजापति के मन में इच्छा हुई कि वह प्रजा उत्पन्न करे तो उसने तप किया। तप के द्वारा उसने रयि और प्राण के मिथुन को उत्पन्न किया, जिनसे ये सारी प्रजा उत्पन्न हुई। प्रजापति को भी तप करना पड़ता है सृष्टि की उत्पत्ति के लिए। वेदों, उपनिषदों का यह निश्चित मत है कि कोई भी बड़ा कार्य बिना तप के नहीं किया जा सकता है। तप का अर्थ है पवित्र उद्देश्य की सिद्धि के लिए की गई आत्मनियंत्रणपूर्ण कड़ी साधना। इसी तप से वह शक्ति प्रकट होती है जो बड़े कार्यों को सम्पन्न कर सकती है। श्रीमद्भगवद्गीता ने वेदों, उपनिषदों की इस दृष्टि को स्वीकार किया है।

गीता की एक और विशेषता की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ। गीता ने अरण्य की विद्या को रण में प्रस्तुत किया है। परम्परानुसार ब्रह्मविद्या का उपदेश अरण्यों में दिया जाता था। गीता ने रणभूमि में अर्जुन को ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्रदान किया। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गीता का उपदेश केवल महाभारत के युद्ध तक ही सीमित नहीं है। गीता की ही उक्ति है — **तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च** (८/७)। अर्थात् प्रत्येक क्षण मेरा स्मरण करते हुए युद्ध करते रहो। महाभारत का युद्ध तो एक कालविशेष में हुआ। आज भी अगर यह उपदेश हम पर लागू है तो यह युद्ध हम सबका जीवनयुद्ध है। हम लोग अपने-अपने जीवन में पाप और पुण्य के युद्ध से गुजर रहे हैं। देवासुर संग्राम हमारे भीतर और समाज में भी चल रहा है। तुलसीदास ने विनयपत्रिका में कहा है कि **मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित कामबिस्रामहारी** (५८/७)। अर्थात् हमारा मोह (अज्ञान) ही रावण है। हमारा अहंकार ही उसका भाई कुंभकर्ण है और हमारा कामभाव ही इन्द्रजित् मेघनाद है। प्रत्येक मानव के जीवन में एवं समाज में भी ज्ञान एवं न्याय रूपी राम तथा अज्ञान एवं अन्याय रूपी रावण का जो युद्ध चलता रहता है उसी की ओर गीता की उल्लिखित पंक्ति संकेत कर रही है। जीवन के इस युद्ध को अपने कार्यक्षेत्र में ही हमको जीतना होगा और हम जीत सकें इसके लिए हमको तप करना होगा। अपनी इसी मान्यता के कारण गीता तप के लिए किसी को वन में जाने की प्रेरणा नहीं देती, न पंचाग्नि तापने की, न सर्दियों में गले-गले तक पानी में खड़े होकर तपस्या करने की प्रेरणा देती है। गीता ने इन सबका विरोध भी नहीं किया है, किन्तु तप के जिस रूप को गीता ने प्रतिपादित किया है वह हमारे प्रतिदिन के कार्य व्यापार में..... जीवनयुद्ध में विजय पाने के लिए किया गया तप है। अरण्य की साधना को जीवन रण में निभाने की प्रेरणा गीता तप के क्षेत्र में भी देती है।

गीता उन विचारकों की मान्यता से सहमत नहीं है जो कर्ममात्र को दोषपूर्ण मानकर उनका त्याग करने के समर्थक हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा है,

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। (१८/५)

अर्थात् श्रीकृष्ण का मत है कि यज्ञ, दान और तप ये कर्म कदापि त्याज्य नहीं हैं। इन्हें करना ही चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान और तप मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं। तप को श्रीकृष्ण ने कितना महत्त्व दिया है, यह इस बात से समझ में आ सकता है कि उन्होंने गीता में बार-बार तप की महिमा गाई है। वे चौथे अध्याय में तप को यज्ञतुल्य बताते हैं *(४/२८)*। सातवें अध्याय में वे कहते हैं कि मैं तपस्वियों में तप हूँ, **तपश्चास्मि तपस्विषु** *(७/९)*। नवें अध्याय में वे कहते हैं कि तुम जो कुछ करते हो, जो भोजन करते हो, जो यज्ञ करते हो, जो दान करते हो, जो तप करते हो वह सब मुझे अर्पित कर दो, **यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्** *(९/२७)*। दसवें अध्याय में वे कहते हैं कि तप की प्रेरणा भी मैं ही देता हूँ *(१०/५)*। श्रीकृष्ण ने गीता में जब दैवी सम्पदा का वर्णन किया है तो उसमें तप का भी उल्लेख किया है। *(१६/१)*। सत्रहवें, अठारहवें अध्याय में तो तप का विस्तृत निरूपण किया ही गया है। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मानव जीवन की उदात्तता के लिए श्रीकृष्ण तप को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं।

हमें कैसा तप करना चाहिए, इसका निर्देश देने के पहले गीता ने इसका निरूपण किया है कि हमें कैसा तप नहीं करना चाहिए। गीता के समय में भी कुछ तमोगुणी साधक गलत ढंग से तप करते रहे होंगे, अतः तामसिक तप की निन्दा करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है,

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। *(१७/५-६)*

अर्थात् जो व्यक्ति दम्भ और अहंकार के कारण कामना और आसक्ति से प्रेरित होकर शास्त्रविरुद्ध उग्र तप करते हैं, वे अज्ञानीजन अपने शरीर में विद्यमान पंचभूतों को तो कष्ट देते ही हैं मुझे भी मेरा आदेश न मानकर पीड़ित करते हैं। ऐसे लोगों को निश्चय ही असुरभावापन्न मानना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण दिखावे के लिए किये गये लोकार्षक उग्र तपों को निन्दनीय मानते थे। तप दम्भ और अहंकार के लिए नहीं किया जाना चाहिए। मनुस्मृति में भी कहा गया है, **तपः क्षरति विस्मयात्,** अर्थात् अहंकार करने से तप का नाश हो जाता है। तप अगर कामना या आसक्ति के वशीभूत होकर किया जाता है तो भी वह मंगलमय नहीं हो सकता क्योंकि वास्तविक तप का फल तपस्वी स्वयं नहीं भोगता औरों को बाँट देता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से अपना मत बताते हुए कहा है कि यज्ञ, दान, तप आदि को भी आसक्ति और फल की आशा का त्यागकर निष्काम भाव से करना चाहिए (गी. १८/६)। गीता काम्य कर्मों को महत्त्व नहीं देती है, उसका आदर्श निष्काम कर्म साधना ही है और यह बात तप पर भी लागू होती है, किन्तु निष्काम कर्म निष्प्रयोजन कर्म नहीं है। कोई व्यक्ति हाथ में लाठी लेकर तालाब में खड़ा हो जाये और पानी पीटता रहे एवं पूछने पर कहे कि मैं निष्काम कर्म कर रहा हूँ तो विद्वान इसे मूर्खता कहेंगे, निष्काम कर्म नहीं। निष्काम कर्म का भी बड़ा प्रयोजन होना चाहिए, उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए हमें समर्पण करना चाहिए, तपस्या करनी चाहिए। बड़े लक्ष्य की सिद्धि के लिए किया गया तप या स्वेच्छया कष्टवरण ही गीता की दृष्टि में समुचित कर्त्तव्य है। उपनिषद् में भी कहा गया है कि बड़ा काम सिद्ध होता है, तप के प्रभाव से और भगवान की कृपा से, **तपः प्रभावात् देवप्रसादाच्च**। हमारे दो बड़े शत्रु हैं, आलस्य एवं अहंकार। तप के द्वारा बड़ा कार्य होता है यह कहना वास्तव में आलस्य का निषेध करना है। बड़े लक्ष्य की पूर्ति के लिए बड़ा

तप अनिवार्य है और यदि इस तप का अहंकार हो गया तो भी पतन होगा। अतः ऋषि कहते हैं कि बड़ा काम तप के प्रभाव से एवं प्रभु की कृपा से ही सम्पन्न होता है। प्रभु के प्रसाद की भावना मन में आते ही अहंकार शान्त हो जाता है और हम अपने कर्त्तव्य कर्म पर जुटे रहते हैं।

तप की महिमा को बार-बार निरूपित करने के बाद श्रीकृष्ण ने तप के व्यावहारिक रूप का प्रस्तुतीकरण शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तप के रूप में किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण तप की साधना को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाना चाहते हैं। श्रीकृष्ण का संकेत है कि यदि आपको कोई सूक्ष्म कार्य सिद्ध करना है तो सीधे सूक्ष्म से मत टकराइये। पहले उसके स्थूल साधनों पर विजय प्राप्त कर लीजिए और तब सूक्ष्म पर अपना ध्यान केन्द्रित कीजिए, और सिद्धि पाइए। भारतीय परम्परा यह मानती रही है कि मन ही हमारे मोक्ष और बन्धन का कारण है। विष्णुपुराण का एक श्लोक याद आ रहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः।।

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन बन्धन का कारण है और निर्विषय मन मुक्ति का कारण है। लेकिन मन को विषयों से विमुख कैसे किया जाय। सामान्यतः मन इन्द्रियों के माध्यम से विषयों का उपभोग करने के लिए लालायित रहता है। उसे विषयविमुख करना बहुत कठिन है। यह तो स्पष्ट है कि मन पर नियंत्रण करना होगा, किन्तु मन से सीधे टकराना खतरनाक है, इसलिए भगवान कहते हैं कि आप पहले शरीर पर नियंत्रण करें फिर वाणी को नियंत्रित करें और तब तप के द्वारा मन पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं। अतः साधना में भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना होता है। यदि शरीर और वाणी पर नियंत्रण नहीं होगा तो मन पर नियंत्रण करना असंभव है। यह भी समझ लेना चाहिए कि शारीरिक और वाचिक तप में भी मन का योगदान रहता है। मन के सूक्ष्म योगदान के बिना शरीर और वाणी के तप भी नहीं हो सकते हैं, फिर भी जिस तप में जिस साधन की प्रधानता है उसको उसी की संज्ञा देना समुचित है। यह भी स्पष्ट है कि शरीर, वाणी और मन का यह तप भारतीय शिष्टाचार का आदर्श रूप प्रस्तुत करता है। इन तीन तपों में निष्णात साधक मानव व्यवहार का आदर्श रूप प्रस्तुत करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

शारीरिक तप की चर्चा करते हुए भगवान ने कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। *(१७/१४)*

अर्थात् देव, द्विज, गुरु एवं विद्वानों का पूजन, शुचिता, ऋजुता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन ही शारीरिक तप है। शारीरिक तप में भगवान ने पहली बात यह सिखाई है कि जो हमसे बड़ा है उसके सामने हमें विनम्रतापूर्वक झुकना ही चाहिए। इन बड़ों की श्रेणी में उन्होंने सबसे पहले देवताओं को रखा है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, आदि देव-देवी हों या जो हमारे इष्ट देव हों उनके प्रति हमको विनम्र होना ही चाहिए क्योंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि उन्हीं की कृपा से चल रही है। देव ऋण को स्वीकार कर हमें उनके प्रति कृतज्ञता रखनी चाहिए और उनकी पूजा करनी चाहिए। फिर वे द्विजों को सम्माननीय बताते हैं। प्रसिद्ध उक्ति है—

'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते'

संस्कार सम्पन्न होकर जिन्होंने हमारी आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक आदि परम्पराओं को आगे

बढ़ाया है उनके प्रति विनम्रता होनी ही चाहिए। गुरु के अन्तर्गत विद्या गुरु और दीक्षा गुरु तो आते ही हैं, माता-पिता आदि गुरुजनों को भी इसी में सम्मिलित करना चाहिए। अलग से प्राज्ञ का उल्लेख करने का तात्पर्य यह भी है कि हमारे गुरु भले ही बहुत विद्वान न हों तो भी उनका सम्मान किया जाना चाहिए। प्राज्ञ का अर्थ है प्रज्ञा.....श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त व्यक्ति, जो बुद्धिमान है, विद्या, बुद्धि में श्रेष्ठ है, जिनसे हम कुछ सीख सकते हैं उनका भी हमें सम्मान करना ही चाहिए। अच्छे व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए कि हम जीवन की अंतिम सांस तक सीखते रहें, अपने ज्ञान की परिधि को बढ़ाते रहें। श्री रामकृष्ण परमहंस देव कहा करते थे— **'जतो दिन बाँची, ततो दिन शीखी।'**

अर्थात् मैं जब तक जिऊँगा तब तक सीखता रहूँगा। यह आदर्श हम लोगों का भी होना चाहिए। सतत सीखने की यह प्रक्रिया प्राज्ञजनों के सम्मानपूर्वक सत्संग से ही संभव है। पूजन का अर्थ चन्दन-अक्षत आदि से किया गया पूजन ही नहीं होता, पूजन तो श्रद्धा से भी होता है, विनम्रता से भी होता है। बड़ों के सामने झुकने पर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। हमारी मान्यता है कि— **'पैंचे असीस लचैंचे जो सीस लची रहिये तब ऊँची कहैये।'**

अगर हम बड़ों के सामने झुकेंगे तो हमें उनका आशीर्वाद मिलेगा। हमारी गर्दन झुकी रहेगी तभी ऊँची उठती जायेगी। इस विरोधाभासी कथन का अभिप्राय यह है कि विनम्र व्यक्ति ही उन्नति कर सकता है। अहंकारी का तो पतन निश्चित है। यह विनम्र भाव, यह झुकना मन का भी होना चाहिए और तन का भी। चूँकि शरीर के द्वारा वह लक्षित होता है इसलिए इसे शारीरिक तप की संज्ञा दी गयी है।

शारीरिक तप के क्रम में बड़ों के पूजन के बाद श्रीकृष्ण ने शौच को गिनाया है। शौच का अर्थ है शुचिता, पवित्रता, शरीर, कर्म और जीवन की शुद्धि। इसमें भी शारीरिक शुचिता के साथ-साथ मानसिक शुचिता भी आती है। यदि हम ठीक-ठीक शौच का पालन करेंगे तो हम समझ सकेंगे कि हमारा शरीर तो अपवित्र वस्तुओं का भण्डार ही है। हम अपने शरीर को जितना सजायें, सँवारें वह तो मलिन ही होता रहता है। आप इस बात पर ध्यान दें कि जिस शरीर के प्रति हमारी इतनी आसक्ति है, इतना अहंकार है वह तो अशुचिता का पुंज ही है। इस शरीर से जो भी निकलता है वह सब अशुद्ध है, अपवित्र है, जैसे मल-मूत्र, थूक, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, चर्म, अस्थि आदि। इन सब में पवित्रता क्या है, क्या है शुचिता? इसीलिए योगसूत्र में कहा गया है— **'शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः'।**

अर्थात् शौच का पालन करने पर अपने ही अंगों के प्रति उनकी मलिनताओं के कारण घृणा होती है और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा पनपती है। केवल किसी का स्पर्श सुख पाने के लिए कभी-कभी हम कितना असंगत व्यवहार करते हैं, कितना गिर जाते हैं। शौच के सम्यक् पालन से दूसरों के प्रति अगर असंसर्ग की भावना दृढ़ होगी तो हम बहुत सी कमजोरियों से बच पायेंगे। जैसे पहले कहा गया है कि शारीरिक तप में सूक्ष्म रूप से मन का योग बना रहता है, अतः बिना मन के योग के केवल शारीरिक क्रिया तो पाखण्ड हो जायेगी। मनु महाराज ने कहा है कि सबसे बड़ा शौच आर्थिक शौच है। उनका श्लोक है—

सर्वेषामेव शौचानां अर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः सः शुचिः नमृद्वारि शुचिः शुचिः।।

अर्थात् सब प्रकार की शुचिताओं में अर्थशुचिता सबसे बड़ी है, जो आर्थिक क्षेत्र में पवित्र है, वही पवित्र है। केवल मिट्टी से हाथ धो लेने या नहा लेने से कोई पवित्र नहीं हो जाता। इस श्लोक के संदर्भ में यदि आज के जीवन को हम देखें तो पायेंगे कि भ्रष्टाचार का गंदा नाला हमारे पूरे सामाजिक जीवन को अतिशय दूषित कर रहा है। भीतरी और बाहरी शुचिता की भावना को हम अगर दृढ़ कर पायें तो बहुत प्रकार के दोषों से हम बच सकते हैं।

तप के रूप में शौच को स्वीकार करने का अर्थ यह है कि हमारा शरीर, मन, वस्त्र आदि तो स्वच्छ, पवित्र हों ही हमारा व्यवहार भी स्वच्छ, पवित्र हो।

इसके बाद शारीरिक तप में आता है आर्जव।

आर्जव अर्थात् ऋजुता, सरलता। तपस्वी को सरल होना चाहिए, कुटिल नहीं। कुटिलता तो तप से भ्रष्ट करने वाली वृत्ति है, इसीलिए महाभारत में कहा गया है—

सर्वे जिह्मं मृत्युपदं आर्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञान विषयः किं प्रलापः करिष्यति।।

अर्थात् सभी कुटिलताएँ मृत्यु की ओर ले जाती हैं। ऋजुता....सरलता से ही ब्रह्म की ओर जाया जा सकता है। ज्ञान का विषय तो इतना ही है, और व्यर्थ प्रलाप करके क्या होगा। कुटिल लोग भीतर दूषित भाव रखकर भी बाहर से अच्छा व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु यह पतन का ही मार्ग है, उत्थान का नहीं। एक कविता याद आ रही है—

दिल में नफरत है मगर हँसते हैं,
क्योंकि मुस्कान में सब फँसते हैं।

किसी को फँसाने के लिए मुस्कराना कुटिलता का लक्षण है। कुटिलता से सामयिक रूप से कोई लाभवान भले ही हो जाये, अंततोगत्वा उसका पतन ही होता है। इसके विपरीत सरल व्यक्तियों पर ही प्रभु का अनुग्रह होता है। तुलसीदास ने लिखा है—

सूधे मन सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर प्रेम प्रसूति।।

सूधा अर्थात् सीधा। राम के प्रेम से उत्पन्न होने वाली विधियाँ सरल हैं। रामजी से प्रेम करने का अर्थ होता है कि मन, वचन और कर्म सब प्रकार के व्यवहारों में सरलता होनी चाहिए। अर्जुन शब्द की व्युत्पत्ति भी दो प्रकार से होती है। अर्जनात्, अर्थात् अर्जन करने के कारण, संग्रामों में विजय प्राप्त करने के कारण उसे अर्जुन कहते थे। दूसरी व्युत्पत्ति है, ऋजुत्वात्, अर्थात् सरलता के कारण उसको अर्जुन कहते थे। अर्जुन इतना ऋजु, सरल था कि उसने निश्छल भाव से प्रभु के समक्ष अपना विषाद भी निवेदित कर दिया। इसीलिए उसका विषाद, विषाद नहीं रहा, विषादयोग हो गया।

शारीरिक तप के ही अन्तर्गत श्रीकृष्ण ने ब्रह्मचर्य और अहिंसा को भी गिनाया है। ब्रह्मचर्य के द्वारा काम का एवं अहिंसा के द्वारा क्रोध का नियंत्रण किया जाता है। श्रीकृष्ण ने गीता में ही बताया है कि मनुष्य काम और क्रोध से प्रेरित होकर ही अधिकांश पाप करता है। किसी वस्तु को पाने की लालसा काम का उद्रेक करती है और एक बार काम का भाव जाग जाय तो उचित, अनुचित, संगत, असंगत का विवेक नष्ट हो जाता है। हम जिसको पाना चाहते हैं उसे अधर्म के द्वारा भी प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। जिसके कारण हमारा काम फलीभूत नहीं होता, कुंठित हो जाता है, उसके प्रति हमारा क्रोध जागता है। क्रोध काम का ही रूपान्तरण है। श्रीकृष्ण ने इसीलिए **'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः'** *(३/३७)* यह काम है, यह क्रोध है कहते हुए 'समुद्भवः' कहा है, 'समुद्भवौ नहीं। जो काम है वही जब विघ्नित होता है तो क्रोध होता है। क्रोध काम का ही परिवर्तित रूप है। इसीलिए एक वचन का प्रयोग किया गया है, द्वि वचन का नहीं। इसीलिए श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि हम अनुचित

काम का, अवैध काम का संयमन करें। गृहस्थ जीवन में भी हम यदि संयमपूर्वक रह रहे हैं तो हम ब्रह्मचारी हैं क्योंकि श्रीकृष्ण ने गीता में ही कहा है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' (७/११)

अर्थात् मैं प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध.....धर्मानुकूल काम हूँ। अर्थात् यदि पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति ही अनुरक्त होकर विधिपूर्वक रह रहे हैं तो वे सदाचारी ही हैं, ब्रह्मचारी ही हैं, ऐसा मानना चाहिए। जब हम असंयत होते हैं, काम द्वारा प्रेरित होकर गलत दिशाओं में जाते हैं तभी हमारा पतन होता है। इसी तरह जो हमारी कामना की पूर्ति में बाधा डालता है उस पर हमें क्रोध आता है और क्रोध में भी हम संयम खोकर बहुत गलत काम कर बैठते हैं। उसके कारण भी हमारी बहुत बड़ी हानि होती है। गहराई से सोचा जाये तो काम और क्रोध दोनों मानस भाव हैं। अतः ब्रह्मचर्य और अहिंसा को भी मानस धर्म कहा जाना चाहिए। शारीरिक तप के अन्तर्गत उनकी गिनती करने का अर्थ यह है कि मानसिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य, अहिंसा की सिद्धि बाद में होगी। पहले उन भावों के मन में आ जाने पर भी उनको शारीरिक परिणति को रोकने का प्रयास किया जाना चाहिए। काम और क्रोध की दुर्वासनाओं को क्रिया में परिणत होने से रोकना शारीरिक तप है। काम और क्रोध की दुर्वासना क्रिया में परिणत होगी तो पतन होगा ही। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है कि कलियुग में **'मानस पुन्य होइ नहिं पापा'**। अर्थात् कलियुग में मानस पुण्य तो होता है, यदि अच्छे-अच्छे कार्यों का मानसिक संकल्प भी किया तो उसका पुण्य मिलेगा, किन्तु यदि मन में दुर्भावनाएँ आ गयीं और उनको क्रियान्वित नहीं किया गया तो उसका पाप नहीं लगेगा। इसका अर्थ यह है कि यदि हम दुर्वासनाओं को मन में आने से रोक नहीं सकते हैं तो कम से कम उनको क्रिया में परिणत तो न होने दें। इस तरह अपने शरीर पर नियंत्रण कर काम और क्रोध को वश में किया जा सकता है। यदि हम शारीरिक तप सफलतापूर्वक कर सकें तो हम शरीर से होने वाले तीन बड़े पापों से बच जायेंगे। शरीर से किये गये वे तीन बड़े पाप हैं—

अदत्तानामुपादानं, हिंसाचैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।।

अदत्त उपादान अर्थात् अन्याय से उपार्जित द्रव्य। यह स्मरण रखना चाहिए कि अपनी मेहनत की कमाई के बिना शरीर पवित्र नहीं हो सकता। जो शारीरिक तप करेगा वह भ्रष्टाचारी नहीं बनेगा, बेईमानी से रुपया नहीं कमायेगा। इसी प्रकार दूसरा बड़ा शारीरिक पाप है विधान विरोधी, धर्म विरोधी हिंसा करना..... हिंसाचैवाविधानतः। इससे यह भी संकेतित है कि विधानसम्मत हिंसा पाप नहीं है। देश की रक्षा के लिए सैनिक अगर आक्रमणकारियों का वध करें तो उससे पाप नहीं लगेगा, वह पुण्य है। किन्तु दुर्बल की हत्या कर उसे लूट लेना विधान विरोधी हिंसा है, अतः यह पाप है। तीसरा बड़ा पाप है— परनारी का उपभोग करना। इसका निराकरण ब्रह्मचर्य के द्वारा हो जायेगा। अतः गीता के अनुसार शारीरिक तप करने वाला इन तीनों बड़े पापों से बच जायेगा।

श्रीकृष्ण ने शारीरिक तप के बाद वाङ्मय तप का, वाणी के तप का निरूपण करते हुए कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। (१७/१५)

इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि सार्थक वाणी का सम्यक् प्रयोग करना मनुष्य की अपनी विशेषता है। पशु-पक्षी केवल सीमित मात्रा में ही वाणी का प्रयोग कर पाते हैं। मनुष्य वाणी के द्वारा ही गम्भीर चिन्तन कर पाता है और साहित्य, शास्त्र आदि की रचना कर पाता है, जिससे वह विकास की ओर अग्रसर होता है। जिस प्रकार

वाणी का समुचित प्रयोग करने से मनुष्य की उन्नति होती है उसी प्रकार उसका अनुचित प्रयोग करने से उसकी अवनति होती है। इसलिए वाणी के सद्व्यवहार का उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि हमें ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जिससे दूसरे को उद्वेग न हो, पीड़ा न पहुँचे। हम अपने अहंकार के ही कारण दूसरों को चोट पहुँचानेवाली भाषा का प्रयोग करते हैं। इसीलिए सन्तों ने कहा है—

ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करे आपहुँ सीतल होय।।

अहंकार का त्याग कर अगर हम वाणी का प्रयोग करेंगे तो हम भी ठण्डे रहेंगे और दूसरों को भी ठण्डक पहुँचायेंगे। यदि हम अहंकार और क्रोध से प्रेरित होकर कटु वाणी का, उद्वेगकारी वाणी का प्रयोग करेंगे तो हम अपने विरोधी ही उत्पन्न करेंगे। विदुर नीति में कहा गया है—

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम्।।

अर्थात् बाण से विधा घाव भी भर जाता है और फरसे से काटा गया वन भी फिर उग आता है, किन्तु कटुवाणी से किया गया घाव कभी नहीं भरता। माँ और बाप की जोरू का मतलब तो एक ही होता है, किन्तु किसी प्रौढ़ा महिला को माँ कहकर आप उसका सद्भाव प्राप्त कर सकते हैं और बाप की जोरू कहकर उसका दुर्भाव। अतः हमें प्रयासपूर्वक ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जो दूसरों के लिए उद्वेगकारी न हो, जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे। वाणी के अन्य गुणों का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमारी वाणी सत्य, प्रिय और हितकारी होनी चाहिए। अपनी जानकारी, अपने अनुभवों के आधार पर किया गया कथन हमारा सत्य है। सत्य भाषण का अर्थ यही है कि अपने देखे, परखे, अनुभव किए हुए का यथार्थ कथन। यह बहुत ध्यान देने वाली बात है कि श्रीकृष्ण सत्य को प्रिय बनाकर कहने का उपदेश दे रहे हैं। यह हमारे सनातन धर्म के अनुरूप ही है।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः।।

अर्थात् सनातन धर्म यही है कि सच बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए और प्रिय मिथ्या भी नहीं बोलना चाहिए। यह कहना कि सत्य कड़ुवा होता है, ठीक नहीं है। बहुत बार हमलोग दूसरों को अपमानित करने के लिए सत्य को कड़ुवा बनाकर बोलते हैं, इसी तरह प्रिय बोलने के लिए झूठ नहीं बोलना चाहिए। यदि हम सत्य को प्रिय बनाकर बोलते हैं, तो हम वाणी की सच्ची तपस्या करते हैं। श्रीकृष्ण का इस बात पर भी बल है कि हमारी बात हितकर भी होनी चाहिए। हितकर वाणी में अगर थोड़ी अप्रियता हो तो वह भी क्षम्य है। इसलिए नीतिशास्त्र में कहा गया है—

सुलभाः पुरुषाः राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।।

अर्थात् ऐसे व्यक्ति तो सुलभ हैं जो बराबर प्रिय वाणी का प्रयोग करें, किन्तु अप्रिय होते हुए भी हितकारी वाणी का प्रयोग अधिक मंगलकारक है। इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अप्रियता अकारण न हो, अप्रियता कम से कम हो। बहुत बोलना भी अच्छी बात नहीं है, थोड़ा बोलना ज्यादा अच्छा है। यथासम्भव निर्विवाद वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए, विवाद को बढ़ावा देने वाली वाणी का नहीं। हमारे आयुर्वेद शास्त्र में कहा गया है—

सत्यं हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्। *(कश्यपसंहिता)*

अर्थात् यदि हम स्वस्थ रहना चाहते हैं, तो हमें सत्य, हितकर, परिमित, निर्विवाद मनोहर वाणी बोलनी चाहिए। श्रीकृष्ण इस बात पर बल देते हैं कि ये गुण तभी आयेंगे, जब हम निरन्तर स्वाध्याय का अभ्यास करते रहें। स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। उसका मुख्य अर्थ है —श्रेष्ठ ग्रन्थों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन। ज्ञान-विज्ञान के जो प्रामाणिक ग्रन्थ हैं उनका अध्ययन करने पर ही हम सत्य, हितकारी वाणी का प्रयोग करने में समर्थ हो सकते हैं। बड़े ग्रन्थों को एक ही बार पढ़कर उनका मर्मार्थ नहीं समझा जा सकता। उन्हें तो बार-बार पढ़ना पड़ता है। उनका अभ्यास करना पड़ता है। तुलसीदास ने कहा है— 'सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।'

हमारा स्वाध्याय जितना गहरा होगा, हमारी वाणी उतनी ही प्रामाणिक और हितकर होगी। तैत्तिरीय उपनिषद में यह वर्णन आया है कि एक बार सब ऋषियों ने इस बात पर विचार किया कि सबसे बड़ा तप क्या है ? अलग-अलग ऋषियों ने अलग-अलग बातें कहीं, उनमें एक ऋषि नाको मौद्गल्य थे, उन्होंने कहा—

स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः तद्धि तपस्तद्धि तपः।। *(शिक्षाध्याय-वल्ली नवम् अनुवाक-१)*

अर्थात् मुद्गल ऋषि के पुत्र नाक ने कहा कि स्वाध्याय और प्रवचन ही सबसे बड़ा तप है। सब ऋषियों ने उनका समर्थन करते हुए कहा, 'हाँ, वही तप है, वही तप है'। बड़े प्रामाणिक ग्रन्थों का श्रद्धापूर्वक अनुशीलन करके ही कोई अच्छी और बड़ी बात कह सकता है। स्वाध्याय शब्द का एक दूसरा अर्थ है—अपना अध्ययन करना, अपने को ठीक-ठीक समझ लेना। मुझमें कौन से दोष हैं, कौन से गुण हैं ? यह जानने के लिए हमें अपना अध्ययन करना चाहिए। हमें दूसरों के दोष तो अनायास दिखते हैं, यहाँ तक कि दुर्जनों को दूसरों का सरसों बराबर भी दोष दिख जाता है और अपना बेल बराबर दोष भी नहीं दिखता है। प्रसिद्ध श्लोक है—

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनः बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।।

केवल खलों को ही नहीं, सज्जनों को भी अपने दोष मुश्किल से दिखते हैं। एक सूक्ति है 'ब्रह्मज्ञा अपि सुलभाः स्वाज्ञानज्ञानिनो विरलाः।' अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति भी सुलभ हो सकते हैं, किन्तु अपने अज्ञान को, अपने दोषों को जानने वाले अत्यंत विरल हैं, दुर्लभ हैं। अतः जो अपना विकास करना चाहते हैं, उन्हें अपना सम्यक् अध्ययन करना चाहिए। अपने दोषों को जानकर ही हम उन्हें दूर कर सकते हैं, अपने गुणों को जानकर उनका विकास कर सकते हैं। अपने को जानने का अर्थ यह जानना भी है कि हम वास्तव में कौन हैं ? इसका भी विचार करना चाहिए कि हम शरीर हैं, कि मन हैं, कि बुद्धि हैं, कि आत्मा हैं? इन सबका विचार करने पर ही हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान सकते हैं, यह भी तप है। स्वाध्याय का तीसरा अर्थ है अपने इष्ट देव का जो मंत्र गुरु ने दिया है, उसका निरन्तर जप करना। इससे भी वाणी शुद्ध और पवित्र होती है। स्वाध्याय के तीनों अर्थों में अधिकतर विद्वानों के अनुसार पहला अर्थ ही सबसे अधिक प्रशस्त है। तपःपूतवाणी सुभाषिता होती है अर्थात् अच्छी तरह से अच्छे शब्दों के द्वारा कही जाती है और वह हमारे कल्याण का साधन बनती है। दुर्भाषिता वाणी हमारे लिए अत्यंत हानिकर होती है। इसी सत्य का निरूपण विदुर ने इस श्लोक में किया है—

अध्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते।।

अतः वाङ्मय तप का महत्त्व स्वतः स्पष्ट है।

जो वाणी का तप करता है, वह वाणी के चार पापों से बच जाता है। वाणी के ये चार बड़े पाप हैं—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।

पारुष्य अर्थात् कठोरता, कटुता, अनृत अर्थात् असत्य, पैशुन्यं अर्थात् चुगलखोरी और असम्बद्धप्रलाप अर्थात् विषयविमुख अनर्गल कथन। जो गीता में कथित वाणी का तप करेगा, वह कभी इन चार पापों का भाजन नहीं हो सकता। न वह कठोर वाणी का प्रयोग करेगा, न झूठ बोलेगा, न चुगलखोरी करेगा और न प्रसंगविमुख अर्थहीन प्रलाप करेगा। वाङ्मय तप का अर्थ है सद्ग्रन्थों के अनुशीलन के द्वारा परिपक्व, सत्य, प्रिय, हितकारी वाणी के प्रयोग का संयमपूर्ण अभ्यास।

इसके बाद आता है मानस तप,

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (१७/१६)

मानसतप का पहला ही लक्षण है मनःप्रसादः अर्थात् मन की प्रसन्नता या मन की निर्मलता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि के द्वारा मन मलिन हो जाता है। मलिन मन से उत्तम कार्य नहीं किया जा सकता। मन को निर्मल बनाकर ही उत्तम कार्य किये जा सकते हैं। गीता के अनुसार मन मलिन होता है विषयों का ध्यान करते रहने पर। यदि हम किसी विषय को प्रीतिकर मानकर उसका ध्यान करते रहेंगे तो उसके प्रति हमारे मन में संग या आसक्ति उत्पन्न हो जायेगी। इसी आसक्ति के कारण हम उसको प्राप्त करने की कामना करेंगे। इस कामना में विघ्न पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होगा। क्रोध से सम्मोह और सम्मोह से स्मृतिविभ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है और स्मृतिभ्रष्ट होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि नाश होने पर मनुष्य का विनाश हो जाता है। (२/६२-६३) यह पतन का रास्ता है। उत्थान का रास्ता बताते हुए गीता में कहा गया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। (२/६४-६५)

अर्थात् राग और द्वेष से मुक्त अन्तःकरण के द्वारा वशीभूत की गयी इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करने वाला.....पदार्थों का उपयोग करने वाला मनुष्य चित्त की निर्मलता, प्रसन्नता प्राप्त करता है। चित्त के प्रसन्न, निर्मल हो जाने पर उस मनुष्य के समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं और उस निर्मल चित्त व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही शान्ति में स्थित हो जाती है। इसका अर्थ हुआ मन की निर्मलता प्राप्त करने के लिए पहले इन्द्रियों का और फिर अन्तःकरण का नियमन करना होगा। वृत्तियों को राग और द्वेष से मुक्त करना होगा, तभी मन में प्रसन्नता, स्वच्छता, निर्मलता का आविर्भाव होगा। इसलिए पहले शारीरिक और वाचिक तप का विधान गीता में किया गया है।

मानस तप का दूसरा लक्षण है सौम्यता। सोम का अर्थ है — चन्द्रमा। चन्द्रमा की बहुत बड़ी विशेषता है उसकी शीतलता और प्रियता। चन्द्रमा को देखकर मन में बहुत शीतलता आती है और प्रियता आती है। यह गुण मन की तपस्या से ही अर्जित किया जा सकता है। हम प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्वयं शीतल रहें और दूसरों को भी शीतलता प्रदान करते रहें। हमारा अपना स्वभाव भी मृदु हो, प्रीतिकर हो और यह मृदुता और प्रीति हमारे प्रभाव से दूसरों में भी संक्रमित हो सके।

मानस तप का तीसरा लक्षण है मौन। साधारण तौर पर लोग मौन का अर्थ करते हैं— चुप रहना। यह तो केवल उसका बाहरी पक्ष है। यदि कोई बाहर से चुप रहकर भी भीतर-भीतर खौल रहा है तो वह मौन नहीं है। मौन का अर्थ है मुनियों का भाव। मुनि कहते हैं मननशील को। अतः मौन का वास्तविक अर्थ हुआ कि चुप रहकर किसी बड़ी बात का भीतर-भीतर शान्त भाव से मनन करते रहना। मौन में आप अपने साथ रहते हैं। बहुत से लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें अपना साथ नहीं भाता। वे अकेले देर तक मौन नहीं रह सकते। ऐसे लोगों से पूछना चाहिए कि यदि आपको अपना ही साथ अच्छा नहीं लगता तो आप अपने को दूसरों पर क्यों थोपते हैं, दूसरों को आपका साथ कैसे अच्छा लगेगा। अतः हमें मौन रहकर गंभीर विषयों पर मनन करते रहना चाहिए, जिससे हम सत्य को ग्रहण करने में समर्थ हो सकें।

मानस तप का अगला लक्षण श्रीकृष्ण ने बताया है— आत्मविनिग्रह अर्थात् अपने पर नियंत्रण, आत्मसंयम। अपने ऊपर पूरा नियंत्रण तभी होगा जब हम इन्द्रिय, मन और बुद्धि के ऊपर नियंत्रण करने में समर्थ होंगे। किसी ने चेष्टा की कि हमें क्रोध आ जाये और हमें क्रोध आ गया, तो हम हार गये, वह जीत गया। हमारा अपने ऊपर इतना नियंत्रण होना चाहिए कि वह सौ बार भी क्रोध दिलाने की चेष्टा करे तो भी हमें क्रोध न आये। यदि हमारा अपने ऊपर नियंत्रण है तो कोई लोभ दिखाकर भी हमें आकृष्ट नहीं कर पायेगा। हमारा अपने मन के ऊपर इतना नियंत्रण होना चाहिए कि जगत का कोई भी व्यक्ति, कोई भी वस्तु हमारी इच्छा के विरुद्ध हमें अपनी ओर नहीं खींच पाये।

मानसिक तप का अंतिम लक्षण श्रीकृष्ण ने बताया है भाव संशुद्धि। हमारे भाव शुद्ध हों, यह मानस तप का सबसे कठिन पक्ष है। हमारा भाव शुद्ध हो, न किसी के प्रति हमारे मन में राग हो, न किसी के प्रति द्वेष हो। दर्पण के समान हम बिल्कुल अनासक्त हों, जो भी हमारे सामने हो, उसे ज्यों का त्यों अभिव्यक्त करें। न प्रीतिकर होने पर बढ़ाएँ, न अप्रीतिकर होने पर घटाएँ और उसके चले जाने पर हमें लेशमात्र भी न हर्ष हो, न विषाद। जो अपने को हमारा शत्रु मानते हैं, उनके प्रति भी हमारा भाव दूषित न हो, उनका भी हम कल्याण चाहें। जिनका अन्तःकरण सद्भाव सम्पन्न होता है, वे गुणग्राही होते हैं, दोषग्राही नहीं। प्रभु कृपा से हमारे विचारों में, भावों में ऐसी शुद्धि आ जाए कि हम सबका मंगल चाहें, सबके कल्याण की कामना करें। यह मानस तप हमें तीन बड़े मानस पापों से बचाता है—

परद्रव्येष्वभिध्यानं, मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।।

साधारण लोग बराबर दूसरों के द्रव्यों का ध्यान करते रहते हैं, दूसरों की थाली में लोगों को लड्डू बड़े-बड़े दिखते हैं। रवीन्द्रनाथ की एक सुन्दर चतुष्पदी याद आ रही है, जिसका मैंने हिन्दी में अनुवाद किया है—

नदी का यह पार बोला छोड़कर निःश्वास,
सुख सभी उस पार मेरा है यही विश्वास।
नदी का वह पार बोला साँस लम्बी छोड़,
हाय सुख जितने सभी तो रह गये उस ओर।

नदी का यह किनारा कहता है कि वह किनारा सुखी है, वह किनारा कहता है कि यह किनारा सुखी है। वास्तव में कोई सुखी नहीं है। दूसरे के पास कितनी सम्पत्ति है, यह सोच-सोच कर हमको क्या मिलेगा, यह तो हमारी हीनताग्रन्थि के कारण उत्पन्न ईर्ष्या को ही बढ़ाने वाली बात है, यह पाप है। हमें इसका बिल्कुल त्याग करना

चाहिए। इसी तरह अपना या दूसरे का अनिष्ट चिन्तन करना भी मन की बहुत बड़ी कमजोरी है। हम अनिष्ट चिन्तन क्यों करें, हम सबके मंगल की कामना क्यों न करें ? हमें अनिष्ट का चिन्तन त्यागकर इष्ट का, मंगल का चिन्तन करना चाहिए।

वितथाभिनिवेश का अर्थ है कि बिना ठीक-ठीक जाने ही किसी बात को सच समझकर उसकी मान्यता बना लेना। यह तो अज्ञानमूलक कृत्य है। हमें अमूलक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करना चाहिए। हमें उन्हीं मान्यताओं को स्वीकार करना चाहिए जिन्हें हमने आप्त ग्रन्थों या व्यक्तियों से ग्रहण किया है, या जिन्हें हमने विवेकपूर्ण अनुभवों से अर्जित किया है। ये तीनों प्रकार के मानस पाप गीता में बताये गये मानस तप का निर्वाह करने पर निश्चिह्न हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि गीता में निरूपित शारीरिक, वाचिक और मानस तप की साधना के द्वारा हमारा आचरण पूर्णतः निष्कलुष हो जायेगा।

शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों तपों का निरूपण करने के बाद श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये तीनों तप कर्ता की भावनाओं के अनुरूप सात्त्विक, राजस या तामस हो सकते हैं। इन तीनों प्रकार के तपों के लक्षण भी उन्होंने दिये हैं। सात्त्विक तप का निरूपण करते हुए उन्होंने कहा है—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।। (१७/१७)

अर्थात् उपर्युक्त तीनों प्रकार के तप जब किसी योगयुक्त व्यक्ति के द्वारा परम श्रद्धा के साथ फलाकांक्षा का त्याग कर निष्काम भाव से किये जाते हैं तो वे सात्त्विक होते हैं। श्रद्धा महत्त्व की अनुभूति के कारण होती है। किसी लक्ष्य के प्रति हम समर्पित तभी होंगे, जब हम उसे बड़ा मानेंगे, उसकी प्राप्ति से अपने जीवन को सार्थक मानेंगे। यह श्रद्धा द्वारा ही संभव है। यह उत्कृष्ट और बड़ा कार्य भी निष्काम भाव से किया जाना चाहिए, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं। अन्यथा उसके लिए किये गये तप को सात्त्विक नहीं माना जा सकता।

राजस तप का लक्षण बताते हुए गीता में कहा गया है—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। (१७/१८)

यदि कोई व्यक्ति मान सम्मान पाने के लिए, अपनी पूजा करवाने के लिए, अपने को ज्यादा बड़ा दिखाने के लिए तप करता है तो उसका तप राजस है। राजस तप का फल स्थायी नहीं होता, अल्पकालिक होता है और उसका फल मिलेगा कि नहीं मिलेगा, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण दिखावे के लिए, मान सम्मान को प्राप्त करने के लिए किये गये तप को उच्च कोटि का तप नहीं मानते।

तामस तप तो और भी निकृष्ट होता है। तामस तप की व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१७/१९)

अर्थात् मूढतापूर्ण आग्रह के कारण अपने को कष्ट पहुँचाते हुए किया जाने वाला तप या दूसरों के विनाश के लिए किया गया तप तामस तप है। गीता विवेक का समर्थन करती है, मूढ़ता का नहीं। सबका मंगल चाहती है, अमंगल नहीं। अतः तामस तप उसके अनुसार अत्यन्त निकृष्ट तप है।

गीता के अनुसार हमें सात्त्विक तप ही करना चाहिए। अठारहवें अध्याय में यज्ञ, दान और तप को मनीषियों

को भी पवित्र करने वाले कर्म बताते हुए दो टूक शब्दों में कहा गया है कि इन कर्मों को भी आसक्ति और फलेच्छा का त्याग कर ही करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि गीता शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों तपों को सात्त्विक भाव से ही करने का समर्थन करती है। राजस और तामस तप उसकी दृष्टि में प्रशंसनीय नहीं हैं।

गीता का यह भी निर्देश है कि अपना तप प्रभु को अर्पित कर देना चाहिए—

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्। (९/२७)

अर्थात् हे अर्जुन तू जो तप करता है उसे मुझे अर्पित कर दे। इस समर्पण द्वारा ही यह सिद्ध होगा कि हमने अपने लिए नहीं, प्रभु की प्रसन्नता के लिए तप किया था। यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि गीता यह मानती है कि प्रभु ही हमारे तप के वास्तविक भोक्ता हैं (५/२९)। अतः हमें विनम्र भाव से फल की आशा, आकांक्षा का त्याग कर परम श्रद्धापूर्वक कर्त्तव्य के रूप में सात्त्विक भाव से ही तप करना चाहिए और उस तप को प्रभु को अर्पित कर देना चाहिए।

गीतोक्त तप की साधना करके हम निष्कलुष हो जायेंगे और तभी हम भगवत् पथ के पथिक बनने के अधिकारी हो सकेंगे। ●

मुक्तक

पीढ़ियों से जो बिछुड़कर आ बसे इस देश में
हम रहे पहचान उनको इस नये से वेष में।
हाँ, सतह पर दिख रहे अंतर, समय सक्रिय रहा
किन्तु मन अब भी रमा है, जानकी-अवधेश में।।

●

यह पड़ाव है मंजिल सचमुच बहुत दूर है प्यारे,
किन्तु यहाँ आ सके क्योंकि हम हिम्मत कभी न हारे।
राम कृपा का सुदृढ़ भरोसा और हौसला मन में
हो, यदि तो फिर दूर नहीं हैं आसमान के तारे।।

डोडा में आतंकवादियों की उग्र गतिविधि चिंताजनक

क्षेत्र को सेना के हवाले किया जाय

(राज्यसभा में शास्त्रीजी का वक्तव्य १५ जून १९९४)

विष्णुकान्त शास्त्री (उत्तर प्रदेश) : आदरणीय उपसभापति जी, मैं आपके माध्यम से इस सदन और भारत सरकार का ध्यान एक अत्यन्त लोमहर्षक परिस्थिति की ओर आकर्षित करना चाहता हूं। जम्मू-कश्मीर राज्य के डोडा जिले में पाकिस्तान द्वारा पोषित आतंकवादियों की उग्रतापूर्ण कार्यवाही दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही है। कश्मीर घाटी से तीन लाख हिन्दुओं को निकाल बाहर करने के बाद अब उनकी खूनी नजर डोडा जिले पर टिकी हुई है। वे चाहते हैं कि वहाँ के समस्त हिन्दू कश्मीर घाटी के हिन्दुओं की तरह शरणार्थी बन जाँय जिस प्रकार से उन्होंने कश्मीर में किया है वैसे ही यहाँ करना चाहते हैं। मुझे इस बात का बड़ा दुख है कि बार बार सचेत करने के बावजूद हमारी सरकार इस समस्या की, गंभीरता को समझ नहीं पा रही है। मेरी पार्टी ने दो बार वहाँ शिष्ट मंडल भेजे। मैं उन दोनों शिष्ट मंडलों में था। मैंने उन दोनों मंडलों के बाद अपनी रिपोर्ट माननीय गृह मंत्री को भेंट की और गृह मंत्री ने मुझे उस समय आश्वासन भी दिया कि वे इस पर सख्त कदम उठायेंगे। मुझे इस बात पर बहुत ही दुख है कि कोई कदम, कोई वास्तविक कदम अभी तक नहीं उठाया गया है। स्थिति यह है कि डोडा जिला जो १२ हजार स्क्वायर किलोमीटर का जिला है और जो कश्मीर घाटी से करीब दूना क्षेत्रफल रखता है उसकी रक्षा के लिये ६ बटालियन सीमा सुरक्षा बल और छोटी सी सैनिक टुकड़ी वहाँ पर उपस्थित है। स्थिति यह है कि पिछले दो वर्षों में उन खूनी आतंकवादियों ने, जिनमें बहुत से अफगान हैं हमारे ६० सुरक्षा कर्मियों की हत्या की है। इसके मुकाबले में केवल ३७ आतंकवादी या तो मारे गये हैं या आहत हुए हैं। १५० से ज्यादा नौजवान वहाँ शहीद हो चुके हैं। मेरी अपनी पार्टी के विशिष्ट कार्यकर्त्ता और उस जिले के महासचिव, श्री संतोष कुमार, एडवोकेट, वहाँ के उपाध्यक्ष श्री स्वामीराज किट्टल और अभी अभी भद्रवाह मंडल के हमारे अध्यक्ष रूचिर कुमार की वहाँ शहादत हुई है। हमारे ५० से अधिक कार्यकर्त्ता वहाँ के हिन्दुओं में मनोबल बढ़ाने के काम जुटे रहने के कारण अपनी बलि चढ़ा चुके हैं। लेकिन कैसा आश्चर्य है कि हमारी सरकार केवल घोषणाएँ करती है। हमारी सरकार केवल बहस के मुद्दे के समान इसको उछालती है। लेकिन इसके समाधान के लिए कोई वास्तविक कदम नहीं उठाया जाता है। इतनी भयंकर स्थिति है। वहाँ ६ पुलिस चौकियों को लूटा जा चुका है, तीन हजार करोड़ रुपये की सरकारी लकड़ी को जला दिया गया है, ११८ थ्री नॉट थ्री पुलिस की राइफलें, १४ पिस्तौलें, १६ वायरलेस सेट छीन लिये गये हैं और दर्जनों विद्यालयों, सरकारी इमारतों और पुलों को जला दिया गया है। २५०० करोड़ रुपये की वहाँ विकास योजनाएं ठप पड़ी हैं। वहाँ न तो राज्यपाल जनरल कृष्णा राव गये हैं और न उनका कोई सलाहकार वहाँ गया है। स्थिति यह है कि माननीय श्री राजेश पायलट जी वहाँ गये थे, जिन्होंने वहाँ घोषणा की कि वहाँ दो बटालियन रेपिड एक्शन फोर्स को भेजेंगे। कल १४ तारीख तक वहाँ एक भी व्यक्ति नहीं पहुँचा है। स्थिति यह है कि मैंने स्वयं माननीय गृह मंत्री जी से निवेदन किया था कि वहाँ के वीर भूतपूर्व सिपाही यह माँग करते हैं कि उनको हथियार दिये जाएं।

आखिर वह लाठी से ए. के. ४७ का मुकाबला कैसे कर सकते हैं, थ्री नॉट थ्री से कैसे मुकाबला कर सकते हैं? माननीय गृह मंत्री जी ने आश्वासन दिया था कि वे देंगे लेकिन उनको कोई सहायता नहीं दी गई है। यह सारी की सारी स्थिति इतनी भयावह है कि इसको लोकसभा या राज्यसभा की बहस का मुद्दा नहीं बनाया जा सकता। यह किसी राजनीतिक दल का सवाल नहीं है। वहाँ नौजवानों और देशभक्तों का खून बह रहा है। वहाँ माँगे पुँछ रही हैं, हमारी बहनों की इज्जत लूटी जा रही है, डकैतियाँ हो रही हैं। वहाँ अफगान अब्दुल्ला जो खूनियों का सबसे बड़ा सरगना है उसको कसाई कहा जाता है क्योंकि वह गला रेत-रेत कर अपने शिकार की हत्या करता है। वहाँ की पुलिस उनसे मिली हुई है। पुलिस के सुपरिंटेंडेंट श्री जावेद मखदूमी साहब ने कहा है कि हमारी कोई जिम्मेदारी नहीं है वहाँ के आतंकवादियों से लड़ने की। वहाँ के सुरक्षा बलों के अधिकारियों ने कहा है कि पुलिस उनको कोई सुराग नहीं देती है, इसलिए वे आतंकवादियों का पता लगाने में असमर्थ है। इतनी भयावह स्थिति वहाँ पर हो चुकी है। हमारी सरकार हमारी इन माँगों को स्वीकार नहीं करती कि डोडा जिले को अशान्त क्षेत्र घोषित किया जाए, डोडा को तुरंत सेना के हवाले किया जाए, जो वहाँ तीन हजार के करीब आतंकवादी हैं उनको गिरफ्तार किया जाए, उनको दंड दिया जाए, तीन सौ से अधिक परिवार डोडा छोड़ कर सुरक्षित स्थानों पर चले गये हैं, एक हजार से ज्यादा लोग वहाँ से भाग कर हिमाचल प्रदेश चले गये हैं, उनका आरोप यह है कि वे आतंकवादियों का मुकाबला तो कर सकते हैं लेकिन यदि कोई आतंकवादी मुकाबले में मारा जाता है तो वहाँ की पुलिस उन के ऊपर अत्याचार करती है। यह कहर है, यह अनर्थ है। मैं सरकार पर यह आरोप लगाता हूँ कि दो वर्ष से जो घटनाएं वहाँ घट रही हैं जिनमें ६० सुरक्षा कर्मी मारे गये हैं, शहीद हुए हैं, डेढ़ सौ से ज्यादा नौजवान मारे गये हैं, मैं जानना चाहता हूँ क्या किया है उनके सन्दर्भ में हमारी सरकार ने सिवाय घोषणाओं के? सौभाग्यवश हमारे गृह मंत्री जी और गृह राज्य मंत्री जी उपस्थित हैं, इन लोगों ने बार बार यह आश्वासन दिया है लेकिन आश्वासन केवल कागजी केवल शाब्दिक हैं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह कैसे सम्भव है, कल १४ तारीख तक वहाँ एक भी अतिरिक्त सुरक्षा कर्मी नहीं पहुँचा। यह मेरी बात नहीं है यह 'हिन्दू' की रिपोर्ट है और 'हिन्दू' कोई भाजपा का अखबार नहीं है। मैं माँग करता हूँ, हमारे सभी सम्माननीय सदस्य भी इससे सहमत होंगे कि डोडा जिले के लोमहर्षक अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए अगर हमारी सरकार दृढ़ कदम नहीं उठा सकती तो उसको त्याग-पत्र देना चाहिये। उसको घोषणा करनी चाहिये कि डोडा अशान्त क्षेत्र है, उसको घोषणा करनी चाहिये कि डोडा सेना के हवाले किया जाता है। उनको खुद वहाँ जाना चाहिये। आखिर गवर्नर वहाँ किस लिए हैं। दो साल से राज्यपाल हैं लेकिन एक बार भी वहाँ नहीं गये। राज्यपाल के सलाहकार भी वहाँ नहीं गये। मैं यह जानना चाहता हूँ कि आखिर वहाँ की जनता का मनोबल कैसे बढ़ेगा? मैं जानना चाहता हूँ कि माननीय गृह मंत्री जी और गृह राज्य मंत्री जी इस संबंध में क्या करना चाहते हैं? उनको केवल शब्दों के द्वारा नहीं, शब्दों के बाद कर्म के द्वारा यह प्रमाणित करना होगा कि उस क्षेत्र में भारत की अखंडता की रक्षा के लिए, वहाँ के नागरिकों के मनोबल को दृढ़ बनाने के लिए वे वह सब कदम उठाएँगे जो इस सरकार के द्वारा संभव है। नमस्कार। ●

बड़ा काम कैसे होता है

(जयपुरिया प्रबन्ध संस्थान के पंचम दीक्षान्त समारोह के अवसर पर महामहिम राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री जी का सम्बोधन। स्थान : लखनऊ। दिनांक : १३ अप्रैल, २००१)

दीक्षान्त समारोह शिक्षण संस्थान के जीवन में और उससे भी अधिक उपाधि प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राओं के जीवन में एक विशिष्ट अवसर होता है। जिन लोगों को आज उपाधि मिली है, वे अब जीवन के सफर में प्रवेश करने जा रहे हैं। लेकिन इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए कुछ आधारभूत गुण चाहिए। मैं विद्यार्थियों को ही सम्बोधित कर रहा हूँ, क्योंकि आज तो अवसर उन्हीं का ही है और शेष लोग तो आमन्त्रित किए गये हैं। मैं उनके उज्ज्वल भविष्य के प्रति अपनी मंगलकामना व्यक्त करता हूँ और उनको कुछ सुझाव भी देना चाहता हूँ।

मैं विद्यार्थियों को इस पुनीत अवसर पर कुछ परामर्श देना चाहता हूँ जिससे शायद उनको अपने जीवन में कुछ लाभ भी हो। आज का जो जीवन है, बहुत ही कठिन जीवन है, बहुत ही कड़ी प्रतिस्पर्धा है। कहने के लिए संसार आज कहता है कि विश्व ग्राम हो गया है। जो लोग ग्लोबल विलेज या विश्व ग्राम की बात करते हैं उनकी दृष्टि में विश्व वास्तव में बाजार है। इस बात को ध्यान में रखिए हम लोगों की परम्परा में या हम लोगों की संस्कृति में बार-बार यह कहा जाता है— "वसुधैव कुटुम्बकम् यत्र विश्वम् भवति नीड़म्।" सारा संसार जहाँ एक परिवार हो जाता है। हम इस बात को कहने के अधिकारी हैं क्योंकि हमने दुनिया को जीतने के लिए कहीं सैनिक अभियान नहीं किए। हमने दुनिया को अपने ज्ञानी भेजे, धर्म प्रचारक भेजे, विद्वान भेजे। उन्होंने लोगों को जीवन में उन्नयन के मार्ग बताए। उस दृष्टि से अगर हम कहते हैं कि हम सारे संसार को एक परिवार मानते हैं तो उसका एक ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पीछे है। जो लोग अब कहते हैं कि दुनिया एक छोटा सा गाँव हो गया है और हम सब उस गाँव के निवासी हो गए हैं तो वह ठीक कहते हैं। मैं उनका स्वागत करता हूँ। लेकिन उनका पिछला इतिहास ऐसा नहीं है। जिससे यह भय होता है कि वे एक-दूसरे प्रकार की दृष्टि से सारे विश्व पर अपना अधिकार, अपना आधिपत्य जमाने की चेष्टा कर रहे हैं। यह शंका बहुत अच्छी नहीं है। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि मेरी यह शंका निराधार हो। लेकिन इसकी संभावना से तो इंकार नहीं किया जा सकता है और इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे जो नौजवान आज उपाधि प्राप्त करके जीवन में प्रवेश करने वाले हैं उनको इस बात का आभास होना चाहिए कि बहुत बड़ी प्रतिस्पर्धा में, एक बहुत कड़े मुकाबले में, एक बहुत कठिन चुनौती में वे अपने को झोंक दें। मैं यह मानता हूँ कि जो चुनौतियों का योग्य प्रत्युत्तर देते हैं, वे सफल होते हैं। चाहे वे व्यक्ति हों, चाहे इंसान हों या चाहे राष्ट्र हों। जितनी बड़ी चुनौती उसके योग्य उतना ही बड़ा प्रत्युत्तर। यह विकास की माँग है। और जब हम चुनौती का प्रत्युत्तर नहीं दे पाते तो हम पिछड़ने लगते हैं। यह कभी मत समझिए कि आप किसी एक बिन्दु पर स्थिर रह सकते हैं।

"जो न करेगा, सीना आगे पीठ उसे खींचेगी पीछे।
जो ऊपर को उठ न सकेगा, उसको जाना होगा नीचे।
अस्थिर दुनिया में थिर होकर कोई वस्तु नहीं रहती है,
हे मन के अंगार, अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे।"

अब यह आप पर निर्भर करता है कि आप अपने मन के अंगार से वो लौ, वो दीपशिखा प्रज्ज्वलित कर सकते हैं कि नहीं? जिससे चारों तरफ प्रकाश भी फैलेगा और आप को भी यश प्राप्त होगा। जीत कैसे हो? बड़ा काम कैसे हो? अपने काम में सफलता किसको मिलती है? जो चीज हमने सीखी है, वह तो हमारे लिए उपकरण है, वो तो एक औजार है, एक हथियार है। औजार ऐसा होता है जिससे जीतने की संभावना बढ़ती है, लेकिन जीतता वही है जो औजार का उपयोग भी कर सके, जो अपने ज्ञान को ठीक-ठीक काम में ला सके और उसके लिए कुछ आधारभूत गुण चाहिए। इन आधारभूत गुणों को अपने अंदर विकसित करना एक लम्बी साधना का फल होता है।

"बड़ा काम कैसे होता है पूछा मेरे मन ने,
बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय, मृदुवाणी।
किन्तु अहं छोटा हो जिससे सहज मिलें सहयोगी,
दोष हमारा श्रेय राम का यह प्रवृत्ति कल्याणी।।"

बड़ा काम कैसे होता है? बड़ा काम कौन करता है? पहली बात यह है कि बड़ा काम वही कर सकता है जिसका लक्ष्य बड़ा हो। आपका लक्ष्य क्या है? आपने एक अच्छी उपाधि प्राप्त कर ली, इस उपाधि के द्वारा आपको अच्छी नौकरियाँ मिलेंगी। आपका लक्ष्य क्या है? थोड़ा सा रुपया कमा लेना? आपका लक्ष्य क्या है? अपने व्यक्तिगत जीवन में थोड़ी शान-शौकत, थोड़ी विलासिता, थोड़ा सा पाखंड-आडम्बर, जितने बड़े हम उससे बड़ा कुछ घर को दिखाने का प्रयास, यही लक्ष्य है? यह बहुत छोटा लक्ष्य है। बड़ा लक्ष्य वह होता है जब हम अपने साथ अपने पूरे देश को आगे ले जाएँ—

"हम बड़े बन जायें इसकी है नहीं इच्छा जरा भी,
किन्तु यह तय है कि हम तुमको बड़ा कर जायेंगे।"

हम अपने देश को बड़ा बनायेंगे। यह एक बड़ा लक्ष्य है। अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर पूरे देश के मंगल के लिए पूरे देश के उज्ज्वल भविष्य के लिए हम पूरे जीवन प्रयास करेंगे। यह एक बड़ा लक्ष्य है। बड़ा लक्ष्य अगर सामने रखते हैं और उस लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाते तो भी कोई बात नहीं। इससे हम अपनी ऊँचाई से बड़े हो तो एक बात और अगर लक्ष्य सचमुच बड़ा है तो आने वाली पीढ़ियाँ उसको पूरा करती हैं। हमारे इतिहास में, हमारे पुराणों में पर्याप्त प्रमाण हैं, सगर तो गंगा नहीं ला सके लेकिन सगर ने गंगा लाने की प्रतिज्ञा की। एक बड़ा लक्ष्य रखा। उनकी तीसरी-चौथी पीढ़ी में भगीरथ गंगा लाए। लेकिन बड़ा लक्ष्य तो सगर ने ही सामने रखा। एक बड़ा लक्ष्य तो सामने रखना चाहिए अगर आप सचमुच बड़े बनना चाहते हैं तो बड़े लक्ष्य के लिए बड़ी तपस्या करनी होगी। तपस्या शब्द का अर्थ यह नहीं कि आप जंगल में जाकर जटा बढ़ा लें। तपस्या का अर्थ है कि हम इसी समाज में रहते हुए, इसी समाज की आवश्यकताओं को स्वीकार करते हुए अपने ऊपर संयम रखें, अपने को नियंत्रित करें। जो प्रलोभन हैं, आकर्षण हैं जो हमको हमारे पथ से विचलित करते हैं हम उनकी ओर नहीं जायेंगे। हम एकाग्र होकर अपने लक्ष्य से न भटकने के लिए अपनी सारी शक्ति का प्रयोग करेंगे। इसका मतलब है तपस्या। तपस्या का अर्थ है अपने कार्यक्षेत्र में एकाग्रचित्त से किया गया कठोर परिश्रम। बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय। हम लोगों को बुद्धि

बड़ी तेज होती है और आप लोगों ने इतनी बड़ी परीक्षा पास की है तो आप लोगों की बुद्धि तो तेज होगी ही। लेकिन ज्यादा बुद्धि वाले ज्यादा खतरनाक भी होते हैं। आप आमतौर पर ध्यान दें कि आज हमारे देश में जो सारी समस्याएँ उत्पन्न करने वाले लोग हैं वे कम बुद्धिमान हैं? या वे तेज बुद्धि वाले हैं? और अब तो जो साइबर क्राइम हो रहे हैं उन्हें कौन कर रहा है? कम बुद्धि वाले कर रहे हैं? हमारे देश में एक अच्छा श्लोक है—

"साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एक केवलम्।
सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुंचते"।।

बड़ी बुद्धि वाले, तेज-तर्रार बुद्धि वाले जब वे विपरीत होते हैं तो साक्षरा को उलट देते हैं यानी राक्षस। तो जिनकी बुद्धि बहुत तेज है वे जब विपरीत होते हैं तो साक्षर से राक्षस हो जाते हैं। और जिनका हृदय बड़ा है, जो सरस लोग हैं, जो अपने साथ सभी का भला चाहते हैं, वे अगर विपरीत भी होंगे तो 'सरस' को उलट दें तो क्या बना? सरस ही है। जिनकी बुद्धि बड़ी है, उनकी बुद्धि में कहीं स्वार्थ आ जाएगा, संकीर्णता आ जायेगी, उनका दिल छोटा होगा, उनकी दृष्टि होगी तो वे समाज के लिए खतरनाक हो सकते हैं। इसलिए छोटे दिल वाले बड़ा काम नहीं कर सकते। बड़ा काम वही करते हैं जिनका हृदय बड़ा हो। हम लोगों के देश में एक ही महापुरुष को महामना की उपाधि मिली है—महामना अर्थात् बड़े मन वाला। वे हैं मदन मोहन मालवीय। जिस महापुरुष ने भीख माँग-माँग कर हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय स्थापित किया, जिस महापुरुष को लगता था कि उसके महाविद्यालय में पढ़ने वाले सात हजार विद्यार्थी उसके अपने बेटे हैं, उसके अपने पोते हैं। जो महापुरुष आते-जाते लड़कों की बाँहों को दबाकर कहता था — "तुम कसरत नहीं करते? दूध नहीं पीते? व्यायामशाला में जाया करो।" बड़ा काम बड़े दिल से होता है बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय मृदुवाणी। वाणी में कोमलता होनी चाहिए। बहुत से लोग मिलते हैं कि हम बड़े अफसर हो गए, हम ऊँचे पद पर हैं। ऊँचे पद पर हैं तो क्या कर सकते हैं? दूसरे को अपमानित कर सकते हैं? कड़वा बोल सकते हैं। हुकुम दे सकते हैं। आतंक सृष्टि कर सकते हैं। आतंक से सच्चा मान मिलता है।

"जो मिला आतंक से वह मान भी क्या मान है?
प्रेम से जो है मिला वह मान तो सम्मान है।"

आतंक उत्पन्न करने वाले अधिकारी बड़े नहीं होते। आप में, अपने में गुण है कि नहीं? आप में, अपने में आत्मविश्वास है कि नहीं? आप अच्छा काम कर रहे हों, सही काम कर रहे हों, अगर आप में अपने में गुण हो अपने में आत्मविश्वास हो तो कोई आवश्यकता नहीं कि आप आतंक की सृष्टि करें। आप प्रेम से लोगों को जीत सकते हैं और जो प्रेम से सम्मान मिलता है उसकी कोई भी तुलना नहीं हो सकती। मृदुवाणी, कोमलवाणी, मीठी वाणी, सच्चे मन से सबको अपना समझ कर कही गई वाणी हो। किन्तु अहम् छोटा हो। सबके सहयोग को प्राप्त करने की संभावना केवल बढ़े हुए अहंकार से नहीं हो सकती। सबका सहयोग उसी को प्राप्त होगा जिसका अहम् छोटा होगा। वह दूसरों की सही बात सुनेगा, मानेगा। किन्तु अहम् छोटा हो जिससे सहज मिले सहयोगी। दूसरी बात, बहुत कठिन बात—दोष हमारा श्रेय राम का यह प्रवृत्ति कल्याणी। सोचिए, मनुष्यों में साधारण तौर पर क्या प्रवृत्ति होती है—यदि किसी से कोई गलती हो जाए, दोष हो जाए तो क्या वो सहज में अपनी गलती मानता है? नहीं? और अगर प्रथम आ जाय तो सहज में दूसरों को श्रेय देता है? यह कठिन परीक्षा है। बड़ा काम वे कर सकते हैं जो अपने संगठन में हुई गलतियों की जिम्मेदारी खुद उठायें।

दोष हमारा—अगल गलत काम हुआ ? टकराहट किस बात की होती है? धातुओं की टकराहट होती है?

कभी बहुत कम। संगठनों में टकराहट अहम् की होती है। मैं बड़ा, मैं बड़ा, मेरी बात माननी पड़ेगी, मैंने हुकुम दिया है।

"मैं, मैं बड़ी बला है सकी तो निकसो भाग,
कहै कबीर-कबरे रही रुई लपेटी आग।"

रूई से अगर आग को छिपाओ, रूई जलेगी और आग तो प्रकट हो ही जायेगी। दृष्टि बड़ी हो किन्तु अहम् छोटा हो। आप में से प्रत्येक व्यक्ति में अहम् है। मुझमें भी है। इसे नियन्त्रित किया जा सकता है। इस अहंकार को सरल बनाया जा सकता है। यह समझ में आना चाहिए कि जो बड़ा काम हो रहा है वह केवल मेरे कारण नहीं हो रहा है। एक सामूहिक प्रयास है। उस सामूहिक प्रयास में सबके प्रयास हैं। अगर कल गलती हो गई है तो गलती मान लेने में क्या आपत्ति है? हम सब मनुष्य हैं। किससे गलती नहीं होती? मुझसे तो हजारों गलतियाँ हुई हैं, केदारनाथ अग्रवाल की पंक्तियाँ हैं—

"हारा हूँ सौ बार गुनाहों से लड़-लड़कर,
लेकिन बारम्बार लड़ा हूँ मैं ऊठ-उठकर।
इससे मेरा हर गुनाह भी मुझसे हारा,
मैंने अपने जीवन को इस तरह सुधारा।।"

गलती करना कोई बड़ी बात नहीं। जो काम करते हैं उन्हीं से गलती होती है। जो काम नहीं करेगा उससे गलती नहीं होगी। काम न करना तो सबसे बड़ी गलती है। गलती हो गई तो गलती मान लेनी चाहिए। 'ऐब यह है कि करो ऐब हुनर दिखलाओ' गलती मान लेना बड़प्पन की निशानी है। दोष हमारा और हमारे संगठन का जो उत्तरदायी है। और अगर गलत काम हो गया, गलती हो गई तो जो सबसे बड़ा अधिकारी है उसको गलती मान लेनी चाहिए। 'दोष हमारा श्रेय राम का' और अपने में रत्ती बराबर भी कोई ऐब मिल जाए तो उसे मानना चाहिए। गुण हमारा नहीं, गुण राम का। गुण भगवान की कृपा से हम में आया है और उसका श्रेय हमको नहीं लेना चाहिए। उसका श्रेय राम को दे देना चाहिए। भगवान की कृपा हो, लोगों का सहयोग हो। सहयोग दें और कड़ी चुनौतियों को झेलने का साहस हो। हिम्मत के साथ काम कर रहे हों। चुनौतियों का सामना कर रहे हों। विश्वास के साथ जो लोग काम करते हैं, वे निश्चय ही बड़ा काम करते हैं। ●

वैज्ञानिक चेतना को विकसित करना होगा

(८१वें भारतीय विज्ञान समापन समारोह में महामहिम राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री जी का सम्बोधन। स्थान : लखनऊ, जनवरी २००२)

मैं सचमुच अभिभूत हूँ। इतना बड़ा काम आप सबके सहयोग से इतनी अच्छी तरह हो गया कि मैं चकित हूँ। हम लोगों को यह लगता है कि हम कोई बड़ी योजना केवल अपने बलबूते पर बनाते हैं, परन्तु मैं मानता हूँ कि उसमें कहीं भगवान का आशीर्वाद होता है। मैं बहुत ही विनम्रता से यह स्वीकार करता हूँ कि इतना अच्छा आयोजन, इतने अच्छे ढंग से चला, इसमें हमारा जो कृतित्व है वह बहुत साधारण है, लेकिन भगवान की कृपा से यह आयोजन इतना सफल हुआ कि मैं उसकी प्रशंसा करते थक नहीं सकता। मैं आपसे सच कहता हूँ कि जितने बड़े-बड़े विद्वान् वैज्ञानिकों ने यहाँ व्याख्यान दिये, उसकी जो विवरणी प्रतिदिन अखबारों में पढ़ता था तो चकित होता था और अपनी आँखों से मैंने यहाँ की विज्ञान प्रदर्शनी देखी तो एक आत्मविश्वास हुआ कि हमारा देश न केवल सुरक्षा की दृष्टि से बल्कि विकास की दृष्टि से भी पूर्णतः आत्मनिर्भर हो सकता है। हमें किसी दूसरे देश का आश्रय लेने का, मोहताज होने का कोई कारण नहीं है। हमारे वैज्ञानिकों ने वे सारी बातें सम्भव की हैं, जिनसे हमारा देश बड़ा हो सकता है। अब आवश्यकता इस बात की है कि दृढ़ राजनीतिक इच्छाशक्ति के द्वारा हम उन उपलब्धियों को व्यवहार में ला सकें।

मैं एक छोटा-सा रहस्य आपको बताना चाहता हूँ कि मैं विज्ञान का भगोड़ा छात्र रहा हूँ। कलकत्ता विश्वविद्यालय से मैंने बी-एस.सी. किया। मैं साइंस का स्नातक हूँ, विज्ञान का स्नातक हूँ। साहित्य में बाद में आया। लेकिन मैं यह समझता हूँ और मानता हूँ कि आज का विश्व बिना विज्ञान की सहायता के चल नहीं सकता। भारतवर्ष को अगर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने को प्रतिष्ठित करना है तो हमको अंतर्राष्ट्रीय स्तर की मेधा को पराजित करने वाली मेधा अपने में उत्पन्न करनी होगी। यह मुकाबले का, प्रतिस्पर्द्धा का युग है। हम किसी देश की वैज्ञानिक प्रतिभा से भारतीय वैज्ञानिक प्रतिभा को कम न होने दें, इसके लिए पूरी सरकार, पूरा समाज आपके साथ है। मेरा विश्वास है कि आपकी प्रतिभा देश को उसी प्रकार अपनी सेवाएँ अर्पित करती रहेगी जैसे अभी तक आप करते रहे हैं।

अपने देश की दो विशेषताओं की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। हमारे देश में विज्ञान और पुराण का सह अस्तित्व रहा है। आप इस बात पर विचार कीजिये कि हमारे देश में कभी किसी वैज्ञानिक को दण्डित नहीं किया गया। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, किसी को नहीं। हम सब जानते हैं कि विज्ञान का अपना क्षेत्र है। महाभारत के युद्ध की कथा आपने पढ़ी होगी। जब सूर्य ग्रहण लगा तो युद्ध रोक कर लोग कुरुक्षेत्र में स्नान करने गये। यह सूर्य ग्रहण पहले से कैसे घोषित किया गया होगा? क्या केवल राहु-केतु के कारण? गणित ज्योतिष के

आधार पर, हमारे पंचांगों में ठीक समय पर, कब सूर्य ग्रहण होगा, कब चन्द्र ग्रहण होगा—इसका निर्देश रहता है और साधारण जनता के लिए राहु-केतु की कहानी भी चलती है। यह विज्ञान और पुराण का सह अस्तित्व है। हम यह मानते हैं कि मनुष्य के कई स्तर होते हैं। वैज्ञानिक जिस स्तर पर है, साधारण मनुष्य उस स्तर पर नहीं पहुँचा तो कोई बात नहीं। उसके स्तर को देखो, उसको ऊपर उठाओ। असली बात है कि हम उसे ऊपर उठा रहे हैं कि नहीं? भिन्न-भिन्न स्तरों पर, साथ-साथ काम करते हुए, जब तक हम अपने समाज को ऊपर उठाते रहे, तब तक विज्ञान आगे बढ़ता रहा।

मैं यह मानता हूँ कि विज्ञान की प्रगति रुकने के कारण ही भारत पराजित हुआ। मैं यह मानता हूँ कि विज्ञान की प्रगति जितनी कम होती गयी, दुनिया की दौड़ में हम पिछड़ते चले गये। इसलिए आज के युग में हमको विज्ञान को पुनः आगे लाना है, वैज्ञानिक चेतना को विकसित करना है। वैज्ञानिक चेतना के विकास से ही भारतवर्ष आगे बढ़ेगा। पौराणिक चेतना उसके साथ अपना योगदान देती रहेगी। लेकिन वैज्ञानिक चेतना को विकसित करने के लिए मैं आपसे बहुत विनम्रता के साथ प्रार्थना करना चाहता हूँ कि हम भारतीय भाषाओं का सहयोग लें। बिना भारतीय भाषाओं के वह काम आगे नहीं बढ़ेगा। भारतीय भाषाओं में, अगर वैज्ञानिक चेतना के ग्रन्थ नहीं आये, दृष्टि नहीं आयी, तो हमारा साधारण भारतीय नागरिक कैसे वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त कर सकेगा? क्या केवल अंग्रेजी के माध्यम से? आज भी, इतने लम्बे काल के बाद भी अंग्रेजी का शिक्षण हमारे देश की जनता में चार-पाँच प्रतिशत से ज्यादा नहीं है। ९५ प्रतिशत लोगों के लिए हम क्या करेंगे? ९५ प्रतिशत लोगों के लिए, मेरी अपील है कि हम सब अपनी-अपनी मातृ भाषाओं में, मैं किसी एक भाषा का नाम नहीं ले रहा हूँ— अपनी-अपनी मातृ भाषाओं में, सामान्य रूप से सामाजिक/वैज्ञानिक चेतना उत्पन्न करने का प्रयास करें। बी.ए. तक की परीक्षा मातृभाषा में क्यों नहीं हो सकती है? हमारी पत्रिकाओं में, भारतीय भाषाओं में, क्यों नहीं वैज्ञानिक चेतना के लोकप्रिय निबंध आ सकते? हमारा उद्देश्य है कि साधारण नागरिक विज्ञान की चेतना से युक्त हो। जितना वह युक्त होगा, हमारे बड़े वैज्ञानिकों को उतनी ही शक्ति प्राप्त होगी। यह काम भी, लोकप्रिय वैज्ञानिक लेखन का काम भी आप ही लोगों को करना है। और कौन करेगा? जो विज्ञान को जानता है, जो विज्ञान के साथ समरस हुआ है वही विज्ञान की चेतना को सामान्य जनता के स्तर पर उतारने के लिए जब मातृभाषा के माध्यम से अच्छे लेख लिखेगा, वैज्ञानिक दृष्टि को लोकप्रिय बनायेगा, तभी हमारा देश आगे बढ़ेगा। मैंने अपनी मन की बात, अपने दिल का दर्द आपको सुनाया है। मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा, अगर यह दर्द आपके दिल में भी जागे।

मित्रों! हम आपको इस बात का आश्वासन देना चाहते हैं कि उत्तर प्रदेश की सरकार विज्ञान की चेतना का विकास करने के लए भरसक प्रयास करेगी। आप सब पधारे, हम सब कृतज्ञ हैं, हम सब कृतार्थ हुए कि इतने बड़े-बड़े विद्वानों को, इतने बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को हम लखनऊ में पा सके, देख सके, उनको सुन सके और उनके ज्ञान से हमारे पूरे देश के वैज्ञानिकों में एक नया स्पन्दन आया। मैं जानता हूँ कि विद्वानों का जब सम्मेलन होता है तो हम अपनी-अपनी उपलब्धियों को कैसे बाँट लेते हैं—मैंने कोई काम किया, किसी क्षेत्र में मुझे कोई उपलब्धि प्राप्त हुई, उस उपलब्धि पर जब तक आपकी मोहर नहीं लगेगी मैं कैसे मानूँगा कि वह मेरी उपलब्धि है। और आपने, बड़े वैज्ञानिकों ने, कोई बड़ा काम किया है, जब तक मैं उससे परिचित नहीं हूँगा तब तक मेरा विकास कैसे होगा? बड़े वैज्ञानिक और नये वैज्ञानिकों का यह साथ-साथ मिलना-जुलना, एक-दूसरे को प्रभावित करना, एक-दूसरे को आगे बढ़ने की प्रेरणा देना, यह ऐसे सम्मेलनों का मुख्य कार्य होता है। मुझे विश्वास है, इस सम्मेलन में

इस प्रकार का कार्य पारस्परिक सहयोग द्वारा, अपनी-अपनी जानकारी को बाँट लेने का कार्य, बहुत बड़े पैमाने पर हुआ है और उसका बहुत बड़ा लाभ, हमको अपने विज्ञान जगत में प्राप्त होगा।

मैं सचमुच इस बात से प्रफुल्लित हूँ कि हमारे नये छात्रों ने नये ढंग से सोचने की शुरुआत की। मैं टेलीविजन पर देख रहा था। एक लड़का बोला "मैंने देखा है कि नारंगी के छिलकों के ऊपर मक्खियाँ नहीं हैं अभी, मच्छर नहीं है, तो मैंने सोचा इसमें जरूर कोई खास बात होगी।" और उसने ऐसी चीज बनायी जिससे मक्खी, मच्छर दूर हो सकें। छोटे बच्चे को यह दृष्टि प्राप्त हुई। उस छोटे बच्चे ने आप लोगों का आशीर्वाद प्राप्त किया। हमारे विद्यार्थी आप लोगों से बातचीत कर सके, यह कितनी बड़ी उपलब्धि है। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि इस प्रकार का विद्वत्तापूर्ण समागम हमारे प्रदेश में बार-बार होता रहे और आप सबका आशीर्वाद उत्तर प्रदेश को, भारतवर्ष को, मिलता रहे। ●

मुक्तक

दर्द साँप है दूध पिलाना छोड़ो
फटे चिथड़ों को सिलाना छोड़ो
आँसुओं में मुस्कुराना सीखो
सहज रोना औ' रुलाना छोड़ो।।

●

मजा चलने का चलनेवालों से पूछो
रोशनी क्या है, जलनेवालों से पूछो।
न हल होंगे किताबों से प्रश्न जीवन के
इन्हें तूफान में पलनेवालों से पूछो।।

●

मैं बहुत ऊँचा हूँ रहूँ अलग सब से
मन में पहाड़ के ये बात आयी जब से।
सूख गया रस, तन-मन बने पत्थर के
भूमि पर लदा है बोझ सा वह तब से।।

कलकत्ता विश्वविद्यालय का अधिग्रहण
चरम स्वेच्छाचारिता

(प० बंगाल विधानसभा में ८ मार्च १९७८ को श्री शास्त्री का वक्तव्य)

सरकार की ओर से माननीय शिक्षामंत्री श्री शंभु घोष ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिग्रहण के सम्बन्ध में जो विधेयक प्रस्तुत किया है, मैं उसका पूर्णतः विरोध करने हेतु खड़ा हुआ हूँ। जैसा कि आपने अवश्य ध्यान दिया होगा कि इस अधिग्रहण, इसके कारण एवं उद्देश्यों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था चूँकि विश्वविद्यालय की विभिन्न संस्थाएँ जैसे सिनेट, सिंडिकेट, एकेडमिक काउन्सिल आदि अवैध कार्यों से भर गयी थी एवं चूँकि वे विश्वविद्यालय को सुदक्ष प्रशासन उपहार स्वरूप देना चाहते हैं अतः वे विश्वविद्यालय के अधिग्रहण की व्यवस्था कर रहे हैं। अवश्य ही उन्होंने यह भी कहा है कि शिक्षा विभाग एक नया कानून लाना चाहता है। नया कानून लागू करने से पहले विश्वविद्यालय का अधिग्रहण कर लेने की सरकारी प्रचेष्टा उचित नहीं कही जा सकती। इसलिए अभी उनके व्यवहार को देखकर हम स्थिर नहीं कर पा रहे हैं कि सरकार कितनी दूर तक क्षमता का अपव्यवहार कर सकती है। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारीगण विभिन्न संस्थाओं का कार्यकाल पूरा हो जाने पर भी जबरदस्ती अपने-अपने पदों पर कब्जा किये बैठे रहे। वे क्षमता लोभी थे, अदक्ष थे अच्छी तरह अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पा रहे थे। यदि सचमुच ऐसा होता तो उनको बर्खास्त करने के लिए मांगे गये समर्थन का निश्चय ही मैं स्वागत करता। हमें इस पर विचार करना होगा कि वास्तव में तथ्य क्या है? आप यदि गहराई से देखें तो स्वीकार करेंगे कि दिसम्बर १९७६ में नये चुनाव होने की बात थी साथ ही मैं यह भी याद दिलाना चाहता हूँ कि उन दिनों की कांग्रेस सरकार ने अध्यादेश निकालकर ६ महीनों के लिए चुनाव को स्थगित कर दिया था। स्थगन काल की अन्तिम तारीख थी १९ जून १९७७। मैं फिर आपलोगों को याद दिलाना चाहता हूँ कि २० जून १९७७ को रजिस्ट्रार ने नयी नोटिस जारी करके चुनाव की घोषणा की थी। आपलोगों को यह भी याद दिलाना चाहता हूँ कि १० हजार रजिस्टर्ड ग्रेजुएट फार्म तब बिक्री हुए थे। चुनाव का कार्यक्रम भी तय हो गया था। माननीय शिक्षामंत्री ने नेताजी नगर कॉलेज अधिग्रहण विधेयक में भी एक बात कही थी। मैं उन्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि ११ जुलाई १९७७ को डब्लू.बी.सी., यू.टी.ए तथा सी.यू.टी.ए का जो शिष्टमंडल शिक्षा के बारे में श्री सलिल सरकार के नेतृत्व में उनसे मिला था उसमें मैं भी शामिल था। हमलोगों ने उस समय यह अनुरोध किया था कि हमारे विश्वविद्यालय का जो नवीन चुनाव हो रहा है उसे हमलोगों का समर्थन प्राप्त है और हम उम्मीद करते हैं कि आपलोगों की ओर से उसमें किसी भी प्रकार की बाधा नहीं डाली जायेगी। क्योंकि हमलोगों ने ऐसा सुना है कि सरकार इस चुनाव से खुश नहीं है। तब उन्होंने हमें कहा था कि वे एक नया कानून लागू करना चाहते हैं एवं वह नया कानून वे तीन महीनों के भीतर ही लाना चाहते हैं उसके बाद उस नये कानून के अनुसार चुनाव कराया जायेगा। जरा गौर से देखने पर आप पायेंगे कि उन्होंने तभी यह तय कर लिया था कि वे चुनाव नहीं होने

देंगे। ठीक उसी के अनुसार तीन दिनों बाद १४ जुलाई १९७७ को शिक्षा विभाग के एसिस्टेंट सेक्रेटरी ने विश्वविद्यालय पर यह हुक्म जारी किया कि यह चुनाव नहीं होगा। एक पत्र के माध्यम से उन्होंने चुनाव स्थगित कर दिया। इस प्रकार मात्र एक चिट्ठी देकर चुनाव स्थगित करना अवैध कार्य है। अध्यादेश जारी किये बिना चुनाव स्थगित किया जाना कतई उचित नहीं कहा जा सकता। यह सरकार काम कानूनी है कि गैर कानूनी इसकी कोई परवाह नहीं करती है। स्वयं ही चुनाव स्थगित करके, चुनाव स्थगन के लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय को उन्होंने जिम्मेदार ठहराया। सर, इस चुनाव के नहीं होने का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व इस सरकार का ही है। मुँछ रख कर रावण का और मुँछ मुड़ाकर मंदोदरी का अभिनय करना एक साथ नहीं चल सकता। एक तरफ तो वे स्वयं चुनाव नहीं करने देंगे दूसरी ओर चुनाव नहीं किये जाने के अपराध में अधिग्रहण करेंगे यह बात नहीं चल सकती है। सर, यह एक प्रकार का स्वेच्छाचार है। इस तरह की स्वेच्छाचारिता मार्क्सवादी सरकार ही कर सकती है। ऊपर से वे दूसरा कारण बताते हुए कहते हैं कि कलकत्ता विश्वविद्यालय अक्षम है उसकी परिचालन क्षमता अपटु है। उन्होंने यह बात कह तो दी पर अक्षमता या अपटु परिचालन क्षमता का कोई संकेत भी वे नहीं दे सके।

स्नातकोत्तर विभागों में जो पढ़ाई होती है, उससे उन्हें शिकायत है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अर्थनैतिक कार्यकलाप पर उन्हें आपत्ति है या किसी और क्षेत्र में उन्हें आपत्ति है इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के परीक्षा विभाग से संबंधित कार्यकलाप में गुरुतर आपत्तियों के कारण हैं। आपलोगों ने समाचार पत्रों में पढ़ा होगा कि कलकत्ता विश्वविद्यालय की सिनेट का एक सदस्य होने के नाते मैंने इस संबंध में बार-बार अपनी आपत्ति जतायी है। मैंने कहा था कि जब तक गनी कमेटी की सिफारिश क्रियान्वित नहीं होती है तब तक इस कार्यालय को भली भाँति नहीं चलाया जा सकता है। गत वर्ष इस विभाग की जिन दुर्नीतियों को लक्ष्य किया गया, उनके कई बड़े कारण हैं। सर, ये परीक्षा विभाग प्रो-वाईस चांसलर (एकेडेमिक) के अधीन कार्यरत है। जैसा कि आप सभी जानते हैं पुराने प्रो-वी.सी. (एकेडेमिक) का कार्यकाल २७ सितम्बर १९७६ को पूरा हो गया था फिर भी उसके एक साल एक महीना बाद २४ अक्टूबर १९७७ में माननीय शिक्षामंत्री ने नये प्रो-वी.सी. (एकेडेमिक) को नियुक्त किया। अपने शासनकाल के पाँच महीनों तक इस महत्वपूर्ण पद के लिये उन्होंने किसी की भी नियुक्ति नहीं की। यदि प्रो-वी.सी. (एकेडेमिक) नहीं रहेंगे तब तो निश्चित रूप से परीक्षा दफ्तरों में गोलमाल बढ़ेगा। मैंने इसके लिए अभियोग भी किया है। सर, मैं ऐसा मानता हूँ कि इस गोलमाल के बढ़ने के पीछे पश्चिम बंग सरकार का यथेष्ट योगदान है। मेरा प्रश्न है कि यदि परीक्षा विभाग में कुछ अपटुता हो भी तो क्या पूरे विश्वविद्यालय का इस प्रकार अधिग्रहण किया जायेगा? आपलोग पटुता-अपटुता की बातें भी करते हैं। इस सम्बन्ध में मैं आपका ध्यान आकृष्ट करते हुए यह बताना चाहता हूँ कि कार्यकारी अधिकारीगण ही पटुता या अपटुता के लिये जिम्मेदार हैं। देखना ये है कि आखिर कौन है ये कार्यकारी अधिकारी? वाइस चांसलर, दो प्रो० वाइस चांसलर, रजिस्ट्रार सेक्रेटरी इत्यादि। किन्तु एक भी कार्यकारी अधिकारी को उसके पद से हटाया नहीं गया है। ऐसी अवस्था में कैसे कहा जा सकता है कि अपटुता के कारण ही अधिग्रहण किया जा रहा है।

मैं आपके सामने इस सरकार के द्वारा पटुता लाने की जो चेष्टा की जा रही है या जिस नई दक्ष परिचालना को वे उपहारस्वरूप देना चाह रहे हैं उसका एक छोटा सा नमूना पेश करना चाहता हूँ। आपलोग जान ही गये हैं कि १४ जुलाई १९७७ के दिन इन्होंने निर्वाचन बन्द करने का हुक्म दिया था। १४ जुलाई १९७७ से कलकत्ता विश्वविद्यालय अच्छी तरह नहीं चल पा रहा था। इसके बाद १९७७ में दिसम्बर महीने के अन्तिम सप्ताह में इन्होंने विश्वविद्यालय के उपाचार्य को यह निर्देश दिया कि वे सिंडिकेट की अब और कोई मीटिंग नहीं बुलायें। और १२

जनवरी १९७८ को उन्होंने विश्वविद्यालय का अधिग्रहण कर लिया और ३१ जनवरी १९७८ के दिन काउन्सिल का गठन किया गया। इस प्रकार दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह से लेकर पूरी जनवरी अर्थात् पाँच सप्ताहों तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में कोई भी निर्णय नहीं किया जा सका। कलकत्ता विश्वविद्यालय की इस अचल अवस्था के लिए उसका अधिग्रहण किया गया है, ऐसा दावा करने वाले ही उसके लिए जिम्मेदार हैं। पाँच हफ्तों तक विश्वविद्यालय में किसी काम का नहीं होना इनकी अकुशल परिचालन क्षमता का परिणाम था। उस पर तुर्रा यह कि दावा किया जाता है कि सुदक्ष परिलाचना के लिये ही कलकत्ता विश्वविद्यालय का अधिग्रहण किया गया है। माननीय अध्यक्ष महाशय, आपने यह ध्यान दिया होगा कि ये दोनों ही अभियोग जिनका यहाँ उल्लेख किया गया है, वस्तुतः अनुपयुक्त हैं। चुनाव नहीं हो सका इसके लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय जिम्मेदार नहीं है। अक्षमता की बातों को काफी बढ़ा चढ़ा कर कहा गया है, उससे कहीं ज्यादा त्रुटियाँ उस लाल मकान में हैं जहाँ से आपने यह आदेश जारी किया है। ऐसे में क्या उस लाल मकान का भी अधिग्रहण किया जायेगा? यदि ये दोनों कारण अधिग्रहण के असली कारण नहीं है तो क्या हैं वे असली कारण? शांत, शिष्ट शंभु ने अचानक रौद्र रूप धारण कर प्रचण्ड ताण्डव करते हुए अपने त्रिशूल से क्यों एक के बाद एक कई विश्वविद्यालयों को वेध दिया है? इसका असली कारण क्या है? 'कारणं बिना मंदोऽपि न प्रवर्त्तते', कालिदास ने कहा है कि बिना किसी कारण के मूर्ख भी काम नहीं करता है। इन लोगों को मैं स्वार्थ साधक मानता हूँ बुद्धिहीन नहीं। अब मैं एक एक करके असली कारणों को आपके समक्ष स्पष्ट करना चाहता हूँ। आप देखेंगे कि इसके पीछे दो बड़े कारण हैं। पहला कारण है बंगाल के स्वाधीनचेता शिक्षाविदों को दबाकर उनके आत्म सम्मान को नष्ट कर उनपर जुल्म करते हुए उनसे अपने हुक्म के अनुसार काम करवाने की इच्छा।

दूसरा कारण है अपने विचार के, अपने दल के लोगों को समस्त शिक्षण संस्थानों पर थोप देना। इन दोनों कारणों को मैं बिल्कुल साफ-साफ करके आपके समक्ष रखना चाहता हूँ। कलकत्ता विश्विविद्यालय की एकेडेमिक काउन्सिल को उनलोगों ने ही यह निर्देश दिया था कि उनकी बात को मानकर दो साल का पास कोर्स एवं तीन साल का ऑनर्स कोर्स करना पड़ेगा। जबकि कलकत्ता विश्वविद्यालय की एकेडेमिक काउन्सिल के सदस्यों अर्थात् हमलोगों ने बंगाल के छात्र-छात्राओं के हित में यह तय किया था कि दोनों कोर्स दो-दो साल के हों। ऑनर्स कोर्स किसी भी कारण से तीन साल का कर हमलोग बच्चों का एक साल यूँ ही नष्ट नहीं कर सकते थे। क्योंकि ऑनर्स के बाद एम.ए. करने में भी दो वर्ष और लगेंगे। इसीलिये सरकार के इस आदेश को एकेडेमिक काउन्सिल ने अस्वीकार किया था। सरकार की नाराजगी का यही कारण था एकेडेमिक काउन्सिल में यह प्रस्ताव रखा गया था लेकिन काउन्सिल ने इसे अस्वीकृत कर दिया था। यह सोचकर कि बंगाल के लाखों छात्रों का भविष्य.... उनका एक वर्ष, सरकार की गलत मंत्रणा के कारण क्यों नष्ट किया जाय। इसी बात पर सरकार नाराज हो गई। यही प्रथम कारण था।

दूसरा कारण है उनलोगों ने प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स को बंद करने की बात कही थी आप लोगों ने निश्चय ही देखा होगा कि पूजा की छुट्टियों के उपरांत आश्चर्यजनक रूप से प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स को बंद करने का उन्होंने सीधा हुक्म दे दिया। तबतक तीन चार महीनों की पढ़ाई सभी कॉलेजों में हो चुकी थी और छात्र-छात्राओं ने पुस्तकें भी खरीद ली थीं उसके पाँच महीने बाद परीक्षाएँ थीं। लेकिन यह सरकार का आदेश था जिसे वह बदल नहीं सकती थी। हमलोगों ने ना ही इसे स्वीकार किया और ना ही उनलोगों के समक्ष अपना मस्तक झुकाया। छात्र-छात्राओं के हितों की रक्षा करने हेतु हमने कहा था कि हम प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स को जारी रखेंगे। प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स को बंद

करके यदि ग्यारहवीं-बारहवीं कक्षा में भर्ती करने की व्यवस्था की गयी तब तो छात्रों के ऊपर यह जघन्य अत्याचार होगा।

किन्तु इस सर्व शक्तिमान सरकार का परिचालन कौन करता है किसके हित के लिये यह परिचालित होती है, मैं नहीं जानता लेकिन उन्होंने कहा प्री यूनिवर्सिटी कोर्स को बंद करना होगा और उसे बंद कर दिया गया। उसके बाद हमने देखा कि प्री मेडिकल कोर्स १९७७-७८ में उन्होंने बंद कर दिया। हमलोगों ने यूनिवर्सिटी की ओर से कहा था कि इस कोर्स को बंद करने से छात्र-छात्राओं पर अन्याय, अत्याचार होगा आपलोग इसे इस प्रकार बंद नहीं कर सकते यह सर्वथा गैर कानूनी एवं त्रुटिपूर्ण है। बाध्य होकर उन्हें दो वर्षों के लिये प्री मेडिकल कोर्स लागू करना पड़ा। आपलोगों ने अवश्य ध्यान दिया होगा कि एक के बाद एक भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर इस सरकार ने जो भी करना चाहा है स्वाधीनचेता शिक्षाविदों ने उसे अमान्य करार दिया है। विद्यासागर एवं आशुतोष के उत्तराधिकारी यदि सरकार के लाल मकान के हुक्म के प्रति नतमस्तक होकर आत्म समर्पण करते तो मैं समझता हूँ कि हमारे पूर्वज हमें कभी क्षमा नहीं करते। इन्हीं बातों से नाराज होकर उन्होंने कहा था कि इन शिक्षाविदों को एक पाठ पढ़ाना होगा और इसीलिये उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय का अधिग्रहण किया। भीतर की बातों को गोपनीय रखते हुए सिर्फ चुनाव न करा पाने को ही अधिग्रहण का कारण बताया गया। इसके बाद जो दूसरा मतलब है वो तो और भी निकृष्ट है, जिसे मैं आपके सामने लाना चाहता हूँ। जैसा कि आप जानते हैं इस बीच सरकार ने समस्त स्पांसर्ड कॉलेजों की संचालक समितियों को भंग कर दिया है। उसके बाद सभी गैर-सरकारी कॉलेजों में कार्यरत पूर्व सरकार द्वारा मनोनीत सभी प्रतिनिधियों को निकाल दिया गया है। हम अच्छी तरह जानते हैं कि इन रिक्त स्थानों की पूर्ति वे स्वयं अपने दल के लोगों द्वारा करेंगे।

उनकी दक्ष परिचालना के अनुसार इस बीच काउन्सिल ने कैसे एक कदम आगे बढ़ाया है जरा गौर फरमायें। मैं उस दक्ष परिचालन का एक नमूना आपके समक्ष पेश करना चाहता हूँ समस्त कॉलेज कमेटियों में जितने लोग हैं इस बीच उन्हें बदलने का एक प्रस्ताव इन्होंने पारित किया है। सिर्फ कमेटी के सदस्यों को ही बदलने का यह प्रस्ताव है। ये तो आप सभी जानते हैं कि यह काउन्सिल किन लोगों द्वारा बनी है। राजनीतिक दलबन्दी में लिप्त लोग ही इस काउन्सिल में शामिल हैं। जिन्होंने कभी सिंडिकेट में जाने का स्वप्न भी नहीं देखा था वे लोग पिछले दरवाजे से काउन्सिल में भर गये हैं और ऐसा करके उन्होंने अपनी राजनीतिक स्वार्थ लिप्सा की पूर्ति की है। इस कदम पर आकर ही वे ठहर नहीं गये हैं इनका अगला कदम होगा कि समस्त कॉलेजों की गवर्निंग बॉडी में वे अपने ही लोगों को मनोनीत कर बैठा दें। आज हम यही देख पा रहे हैं। इसका एक नमूना और आपके समक्ष पेश करता हूँ। इस बात से सभी वाकिफ हैं कि विगत सिंडिकेट ने जो चयन समितियाँ बनाई थीं उन सभी समितियों को इन्होंने भंग कर दिया है। शिक्षा विभाग से एक पत्र दिया गया कि विगत सिंडिकेट ने जिन चयन समितियों का गठन किया था, वे सभी समितियाँ अब कोई कार्य नहीं कर सकती हैं। क्यों नहीं कर सकती हैं? क्या चयन समिति का कोई वर्चस्व नहीं? चयन समिति क्या विगत सिंडिकेट द्वारा निर्मित नहीं हैं? इन आदेशों को मान लेने पर विगत सिंडिकेट के द्वारा पास किये गये सभी प्रस्ताव भी निरर्थक हो जाते हैं। क्या यह संभव है? आज जिस सिंडिकेट को अतिक्रमण किया जा रहा है, अतिक्रान्त होने से पहले उस सिंडिकेट ने कानून के अनुसार जिन चयन समितियों का गठन किया था, उन्हें किस अधिकार से भंग किया जा रहा है? अत्यन्त अन्याय से भरे इस कार्य को करने की क्षमता इस काउन्सिल या शिक्षा विभाग की कैसे हो सकती है? आप इसे भली भाँति जानते हैं कि ये अब फिर से चयन समितियों का गठन करके समस्त पदों पर अपने चमचों को नियुक्त करना चाहते हैं।

अधिग्रहण करने के पीछे उनकी जो कामना रही है वह इन बातों से स्पष्ट है फिर यह क्यों कहा जाता है कि चुनाव नहीं होने के कारण या कलकत्ता विश्वविद्यालय की अयोग्य परिचालन क्षमता के कारण उन्हें स्वस्थ परिचालन क्षमता का उपहार देने हेतु अधिग्रहण किया जा रहा है।

इस प्रकार भाषा के ऊपर किया गया अत्याचार चल नहीं सकता है? अपनी गोपनीय कामनाओं को पूर्ण करने हेतु इतने घिनौने दाँवपेंच मैंने पहले कभी नहीं देखे। गणतांत्रिक पद्धति की दुहाई देते हुए आज के शिक्षा जगत की हत्या की जा रही है। मैं आपलोगों को याद दिलाना चाहता हूँ कि आपलोगों ने शैक्षणिक स्वाधीनता एवं स्वायत्तता चाही थी पर आपकी कथनी और करनी के बीच की लम्बी दूरी मैं आपकी आँखों के समक्ष रखना चाहता हूँ। आपने कहा था कि यह काउन्सिल विश्वविद्यालय को दक्ष परिचालनक्षमता उपहार में देगी। पर कैसी दक्ष परिचालना का उपहार (?) उसने दिया है उसका एक उदाहरण आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। गत ३१ जनवरी को गठित हुई इस काउन्सिल के गठन को पाँच सप्ताहों से अधिक हो गया और ये सभी जानते हैं कि अगले महीने उच्च माध्यमिक की परीक्षाएँ शुरू होने वाली है और आश्चर्य इस बात का है कि उच्च माध्यमिक के छात्र क्या पढ़ेंगे, क्या उनका सिलेबस होगा इन महत्त्वपूर्ण बातों का निर्धारण अभी तक नहीं किया गया है। अभी तक इस काउन्सिल द्वारा किसी भी अंडर ग्रेजुएट बोर्ड का गठन नहीं किया गया है। पहले नये सिरे से बोर्डों का गठन करना होगा तभी यह तय किया जाएगा कि क्या कोर्स होगा, क्या सिलेबस होगा? उसी के अनुसार नई पुस्तकें भी लिखी एवं छापी जाएँगी? उसके बाद छात्र-छात्राएँ उन पुस्तकों को पढ़ेंगे? इस प्रकार की कुशल परिचालना के फलस्वरूप तो छात्रों को एक वर्ष तक पुस्तकें ही नहीं मिल पाएगी। और इसे दक्ष परिचालना कहा जा रहा है। मैंने अर्थशास्त्र में लॉ ऑफ डिमिनिशिंग रिटर्न की बात पढ़ी है। उस आधार पर एक और उदाहरण देते हुए यह कहना चाहता हूँ कि यह काउन्सिल लॉ ऑफ डिमिनिशिंग अटेंडेंस का पालन कर रही है। इतने दिनों में इस काउन्सिल की पाँच बैठकें हुई हैं। पाँचों बैठकों की क्रमशः तारीखें एवं सदस्यों की उपस्थिति इस प्रकार है- १४ फरवरी-३५ सदस्य, २१ फरवरी-३३ सदस्य, २७ फरवरी-३० सदस्य, २ मार्च-२७ सदस्य और ७ मार्च को जो मीटिंग हुई उसमें २५ सदस्य उपस्थित थे। इस प्रकार यदि उपस्थिति क्रमशः कम होती रही तो अतिशीघ्र ही कोरम भी पूर्ण होगा या नहीं, कहा नहीं जा सकता और जिनलोगों को आपने नियुक्त किया है उनमें जो शिक्षाविद हैं वे ऐसा देखकर स्वयं हट जाएँगे। राजनीतिक दलबन्दी में लिप्त लोग ही यहाँ बैठकर अब हुक्म चलाया करेंगे। करणीय और अकरणीय कार्यों का निर्धारण भी वे ही करेंगे जबकि इसके लिये काउन्सिल गठित की गई है। मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि आखिर किस सिद्धान्त एवं नीति के आधार पर इस काउन्सिल का गठन किया गया है। आज ये कह रहे हैं कि वे जनगण का समर्थन लेकर आये हैं। उन्हें मैं यह बात याद दिलाना चाहता हूँ कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्रों ने इस अधिग्रहण के विरुद्ध हड़ताल की थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापकों ने एक सभा के माध्यम से इस अधिग्रहण के विरुद्ध एक धिक्कार प्रस्ताव पारित किया था। समस्त शिक्षकों की किसी भी संस्था ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया था। फिर भी किनके समर्थन एवं प्रयास से यह कार्य हुआ है, यह हमें ज्ञात है। अलीमुद्दीन स्ट्रीट की सुपर गवर्नमेंट के द्वारा ये निर्देश दिये गये हैं। मुझे पता है कि शम्भु बाबू ऐसा करना नहीं चाह रहे थे। वे दुविधा में पड़ गये थे।

शम्भुबाबू ने कहा था मैं 'सुपरसीड' नहीं 'टेक ओवर' करूँगा, किन्तु 'टेक ओवर' की जगह 'सुपरसीड' ही किया गया है। उन्होंने कहा था कि केवल कुछ महीनों के लिए ले रहा हूँ। माननीय मुख्यमंत्री की धारणा है कि सात-आठ महीनों के भीतर नया निर्वाचन कराया जा सकेगा।

मैं लेफ्टिनेंट जेनरल जियाउलहक की एक बात स्मरण दिलाना चाहता हूँ। उन्होंने कहा था कि कुछ ही महीनों के लिये वे सत्ता ग्रहण कर रहे हैं। उन्होंने भी पाकिस्तान में चुनाव कराने की बात कही थी जो कि इन दो वर्षों के मध्य नहीं हुआ। ठीक उसी प्रकार यह काउन्सिल भी अपना काम करेगी। ११ जुलाई १९७७ के दिन माननीय शंभु बाबू ने मुझे वचन दिया था कि वे एक नया बिल लाना चाहते हैं। ११ जुलाई १९७७ से मार्च १९७८ हो गया इतने दिनों में नये बिल के बारे में न तो विचारा ही गया न ही उसकी रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ तय किया गया। इतने महीनों में जो एक बिल की रचना नहीं कर सके वे आने वाले छह महीनों में कर पायेंगे इसका क्या भरोसा है? इसकी क्या गारंटी है? मैं तो इतना जानता हूँ कि ऊपर से और कुछ बोलने का वास्तविक अर्थ हमारी क्षमता में दखलअंदाजी करना है। वे जानते हैं कि जो नए चुनाव होंगे उसमें उनकी वापसी सहज नहीं है अतः वे अभी से उसकी भूमिका तैयार कर रहे हैं।

वे चाहते हैं कि इस काउन्सिल के द्वारा जब सभी कॉलेजों में उनके लोग पहुँच जायें तब चुनाव हो जिससे वे सभी विश्वविद्यालयों को दखल कर सकें। एक दो साल बाद जब चुनाव होंगे तब सभी विश्वविद्यालयों में उनके ही चमचे जीत कर आ जायेंगे, यही है उनका षड्यंत्र। यह है वह असली कारण जिसके चलते शम्भु रुद्र रूप धारण कर एक के बाद एक सभी विश्वविद्यालयों को अपने शूल से वेध दे रहे हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस प्रकार की बात नहीं चल सकती। इन्दिरा गाँधी ने भी इसी प्रकार चाहा था कि इमरजेन्सी लगाकर सारे भारत में जब वे चुनाव करवायेंगी तब सारे उन्हीं के लोग जीत कर आ जायेंगे। पर ऐसा हुआ नहीं। आप इस बात को याद रखें कि जो शैक्षणिक स्वाधीनता की हत्या कर इस अधिग्रहण के द्वारा एक के बाद एक चार्ज शीट लगाना चाहते हैं वे स्वप्न देख रहे हैं कि आगामी चुनाव में उन्हीं के लोग जीत कर आयेंगे। उन्हें मैं बताना चाहता हूँ कि उनका यह स्वप्न जरूर टूटेगा। वे यह सीखेंगे कि बंगाल की संग्रामी एवं स्वाधीन चेतना उनके समक्ष अपना सर नहीं झुकायेगी और वे उन्हें झुका भी नहीं सकेंगे। इन्हीं शब्दों के साथ शम्भु बाबू द्वारा लाये गये बिल का विरोध करते हुए तथा श्री किरणमय नन्द एवं श्री प्रद्योत महन्ती महाशय द्वारा लाये गये कट मोशन का समर्थन करते हुए अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। ●

(मूल बंगला वक्तव्य का हिन्दी रूपान्तर)

विष्णुकान्त शास्त्री

विकट तूफान की झड़ियाँ

राष्ट्रीय अस्मिता के स्वाभिमान की रक्षा के संग्राम में अपना विनीत योगदान देने के लिए अयोध्या पुकार रही थी। इस पुकार का उत्तर न देना असम्भव था। श्रीराम के जन्म-स्थान पर ही रामलला के मन्दिर के निर्माण के लिए कलकत्ता के अन्य रामभक्तों के साथ मैंने भी अपनी सेवा अर्पित करने का संकल्प किया।

२५ अक्तूबर १९९० को ८० कार्यकर्ताओं के साथ मैं हावड़ा से बनारस का टिकट ले कर देहरादून एक्सप्रेस पर चढ़ा। हम लोगों ने अपने जत्थे को तीन टुकड़ों में बाँट दिया था। २५ कार्यकर्ता सीधे मेरे अधीन थे तथा दो टुकड़े अलग-अलग दूसरे व्यक्तियों के अधीन थे। सब लोग अलग-अलग डिब्बे में बैठे थे। मैं जिस डिब्बे में बैठा था वहाँ मैं अकेला था। वहाँ मैंने महसूस किया कि बहुत-से लोग साजिशभरी आँखों से हम लोगों की गतिविधि को देख रहे हैं और एक ने तो सीधे आ कर मुझसे पूछ ही लिया कि क्या आप कारसेवा करने के लिए अयोध्या जा रहे हैं? बाद में उसने बता भी दिया कि वह गुप्तचर विभाग का आदमी है। मुझे इस बात की जानकारी थी कि पहले जत्थे के लोगों को मुगलसराय में गिरफ्तार कर लिया गया था। मैंने अपने सहयोगियों को तीन-चार स्टेशन गुजरने के बाद बुलाया और हम लोगों ने फैसला किया कि हम चन्दौली यानी मुगलसराय से ठीक एक स्टेशन पहले उतर जायेंगे। हम २५ लोग वहाँ उतर गये। वहाँ से कुछ दूर पैदल, फिर रिक्शा और फिर तिपहिये से मुगलसराय पहुँचे। हमने अपने जत्थे को चार-चार के गुट में बाँट दिया था। मेरे साथ श्री शिवनारायण मूँधड़ा थे। हम लोग सीधे बनारस पहुँचे। जिस दिन हम लोग बनारस पहुँचे थे उसी दिन अखबारों में यह समाचार छपा था कि सरकार के निर्देश पर श्रीराम-जन्मभूमि मन्दिर के शिलान्यास की छतरी तोड़ दी गयी है। अतः सारा बनारस क्रोधपूर्वक बन्द मना रहा था। दुकानें बन्द थीं, जगह-जगह लोग एकत्र थे—मुझको जन-विद्रोह का पूर्व आभास प्रतीत हो रहा था। हम लोगों ने गंगा-स्नान किया। बाबा विश्वनाथ, माता अन्नपूर्णा तथा ढुंढिराज के दर्शन के बाद मैंने स्थानीय कार्यकर्ताओं से सम्पर्क किया। उनमें से कुछ का मत था कि आप लोग मुश्किल से ही वहाँ पहुँच पायेंगे, अतः जिस तरह से यहाँ लोग गिरफ्तारी दे रहे हैं उसी तरह से आप लोग भी चाहें तो यहीं नारा लगा कर गिरफ्तारी दे सकते हैं। हम लोगों ने बताया कि हम अयोध्या जाने के लिए आये हैं, बनारस में गिरफ्तारी देने के लिए नहीं। अयोध्या पहुँचने का संकल्प हम सभी ने दुहराया।

मेरे एक स्थानीय मित्र ने (जिनका पत्रकारों से बहुत अच्छा सम्बन्ध है) हमारे लिए गोपनीय संवाददाता-सम्मेलन का आयोजन किया। बाद में मैंने सुना कि उसकी रपट काफी प्रचारित हुई, बनारस के सभी समाचार-पत्रों में तो आयी ही। वहाँ से हम लोगों ने गाड़ी से गोरखपुर के लिए प्रस्थान किया। गाड़ी पर चढ़ने के पहले मुझे पता चला कि हमारे चार मित्र पुलिस के फन्दे में पड़ चुके हैं। गाड़ी में भी तलाशी हो रही थी। किन्तु हमारा सौभाग्य था कि हम लोग बच निकले। गोरखपुर पहुँचने पर हम लोगों ने देखा पूरा गोरखपुर बन्द था, क्योंकि उसी दिन महन्त अवैद्यनाथ की गिरफ्तारी हुई थी। गोरखपुर में हमें देख हमारे मित्र एक तरफ तो बहुत आह्लादित हुए और दूसरी ओर चिन्तित भी, क्योंकि गोरखपुर से लखनऊ के लिए जाने वाली गाड़ी के लिए निर्देश आ गया था कि वह

गोरखपुर से छूटने पर लखनऊ जा कर ही रुके। वहाँ के कार्यकर्ताओं ने हमें समझाया कि मनकापुर के पास जब गाड़ी पहुँचे तो आप जंजीर खींच कर गाड़ी रोक दें। गाड़ी रात्रि के डेढ़ बजे के लगभग वहाँ पहुँचेगी। उन्होंने यह भी कहा कि आप बिना चिन्ता किये वहाँ जायें, जिससे भी आप मिलेंगे वह आपको आगे का रास्ता बताने के लिए तैयार रहेगा।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने महाकाव्य 'साकेत' में यह लिखा है कि जब दशरथ ने राम को निर्वासन दिया तो शत्रुघ्न तमक कर बोले थे, 'आज मेरा धर्म—राजद्रोह।' मुझको लगा कि मुलायम सिंह यादव और विश्वनाथ प्रताप सिंह ने श्रीराम के जन्म-स्थान पर रामलला का मन्दिर न बनने देने के लिए जो क्रूर दमन-चक्र चलाया है उससे हर भारतीय के भीतर छिपा हुआ शत्रुघ्न गरज कर बोल रहा है, 'आज मेरा धर्म—राजद्रोह।' उनके उस मदान्ध निर्णय के विरुद्ध व्यापक जन-विद्रोह को मैं प्रत्यक्ष देख सका, इसके लिए मैं अपने को धन्य मानता हूँ।

मैं उस समय ६२ वर्ष का था। १९५३ से विश्वविद्यालय में पढ़ा रहा था। सामान्यतः कानून मान कर चलता रहा हूँ। यह ठीक है कि मैंने कई आन्दोलनों में भाग लिया है, किन्तु उनमें भी मैं प्राध्यापकीय मर्यादा का निर्वाह करता रहा हूँ। लेकिन इस बार सरकार की कुटिल नीतियों ने मुझे विवश कर दिया कि मैं 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति का पालन करूँ। सरकार यदि मुझे अयोध्या पहुँचने से वंचित करने के लिए रेल का बीच के स्टेशनों पर रुकना स्थगित कर सकती है तो मुझे भी उसका यथोचित प्रतिवाद करने का अधिकार था। अपनी जिन्दगी में पहली बार मैंने ट्रेन की चेन खींचने का आदेश दिया। ट्रेन रुकी। बाहर घोर अन्धकार था, फिर भी हम इक्कीस लोग छलाँग मार कर कूदे। गिरते-पड़ते भागे, क्योंकि उस गाड़ी में बहुत से पुलिस लोग थे और वे पीछा करेंगे इसका अनुमान था। हम दौड़ कर गन्ने के खेतों में छिप गये और तब तक छिपे रहे जब तक कि वह गाड़ी चली नहीं गयी।

गाड़ी के चले जाने के बाद हम लोगों को बीस मिनट लगे अपने साथियों को खोजने में क्योंकि सब अलग-अलग छिपे हुए थे। भगवान् की कृपा से हम सब मिल गये। रात्रि के दो बज रहे थे। चन्द्रमा डूब गया था। अँधेरा था। हम टार्च भी डर-डर कर जला रहे थे कि कहीं आस-पास घात लगा कर पुलिसवाले छिपे न हों। कुत्तों की आवाज के आधार पर हम चल कर गाँव में पहुँचे और एक टूटी झोंपड़ी के दरवाजे को खटखटाया। एक वृद्ध ने दरवाजा खोला और पूछा—'आप लोग तो अयोध्या जा रहे हैं न, आइये भीतर।' उसने अपने पौत्र को मास्टरजी को बुलाने के लिए भेजा। उसने यह आभास ही नहीं होने दिया कि हम उसके अपरिचित लोग हैं। न तो उसको असुविधा हुई और न हम लोगों को। उसने अपने झोंपड़े में हम सब को आश्रय दिया। मास्टरजी आये, उन्होंने मेरे पैर छूए। रात्रि में पौने तीन बजे वहाँ चाय बनी। हम सब २२ लोगों ने चाय पी। मुझे ऐसा लगा कि यह पूरा अंचल राममय हो गया है। मास्टरजी ने हम लोगों को एक अच्छी सलाह दी कि आप रात्रि में यात्रा करें और दोपहर को विश्राम करें। उन्होंने हम लोगों को अगले गाँव पहुँचा दिया। अगले गाँव के मुखिया ने हमें दूसरे अगले गाँव पहुँचा दिया। इन बन्धुओं का स्नेहपूर्ण व्यवहार और निश्छल सहयोग अविस्मरणीय है। इस तरह हम सारी रात चलते हुए करीब बीस किलोमीटर चल कर तुरकडीहा नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ हम लोगों को बताया गया कि वहाँ की रानी साहिबा ने रामभक्तों की सहायता के लिए सारी व्यवस्था कर रखी है और वे अपनी ट्रॉली से हम लोगों को सरयू के पुल तक पहुँचवा देंगी। इस खुशी में हम लोग मास्टरजी की नेक सलाह भूल गये कि आप लोग दिन के प्रकाश में पक्की सड़क पर न जायें।

रानी साहिबा के आदमी मिले, उन्होंने बड़ी इज्जत से हमें ठहराया, चाय पिलायी। हम लोगों को भूख लग

आयी थी, अतः हम सड़क के किनारे एक मैदान में बैठ कर भोजन करने लगे। इतने में वहाँ पुलिस आ गयी और हम घिर गये। पहले तो मैंने कहा कि आपके साथ हम नहीं जायेंगे, हम परिक्रमा करने आये हैं, परिक्रमा करने जायेंगे। वहाँ खड़े पुलिस के एक इंस्पेक्टर ने कहा कि आप सज्जन व्यक्ति हैं, प्रोफेसर हैं, आप बैठिये, मैं जिलाधिकारी से बात करके आता हूँ, जैसा वे निर्देश देंगे वैसा ही करेंगे। बाद में उसने कहा कि उन्होंने मान लिया है, उन्होंने कहा है कि आप उनसे मिल कर यह कह दें कि आप परिक्रमा करने जा रहे हैं, तो वे आपको छोड़ देंगे।

लेकिन वह झूठ बोल रहा था। उसने जिस बस पर हमको बैठाया वह हमें बजीरगंज थाने ले गयी। वहाँ हमें कहा गया कि आप लोग गिरफ्तार कर लिये गये हैं।

जैसे ही हम लोग बजीरगंज थाने में पहुँचे और लोगों को पता चला कि इक्कीस कारसेवक गिरफ्तार कर लिये गये हैं, बजीरगंज का बाजार बन्द हो गया। थोड़ी ही देर में बजीरगंज थाने के बाहर लगभग दो सौ रामभक्त इकट्ठे हो गये और 'जय श्रीराम' तथा 'सौगन्ध राम की खाते हैं, हम मन्दिर वहीं बनायेंगे' आदि नारे लगाने लगे। बाद में बस जब हमें गोण्डा जेल ले जाने लगी तो आधे घंटे तक जनता और पुलिस में रस्साकशी होती रही। बहुत मुश्किल से बस वहाँ से चल पायी। बाद में उनमें से कुछ मित्र हमें मिले और उन्होंने बताया कि हम लोगों ने बस को तब जाने दिया जब इंस्पेक्टर ने कसम खा कर कहा कि अब किसी राम-भक्त को हम गिरफ्तार नहीं करेंगे।

हम लोगों को गोण्डा जेल ले जाया गया। वहाँ जगह नहीं थी। तब हम लोगों को गाँधी राजकीय इंटर कॉलेज उप-जेल में ले जाया गया। हम लोग जब बजीरगंज थाने पर पहुँचे थे तो वहाँ से अयोध्या कुल बीस किलोमीटर दूर थी। मन में बहुत ही अफसोस हुआ। मेरे मुँह से अनायास यह शेर निकल पड़ा—

किस्मत तो देखिये कि टूटी कहाँ कमंद
दो चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया।

२८ अक्तूबर को हम लोग जेल में बन्द हुए। जेल में जैसे ही हम लोग पहुँचे वहाँ उल्लासपूर्वक बन्दीगृह के भीतर के साथियों ने हमारा स्वागत किया। बन्दीगृह के बाहर रामभक्तों की प्रचण्ड भीड़ लग गयी। हम लोगों ने उस आनन्दमय वातावरण में बन्दीगृह में प्रवेश किया। वहाँ बाहर से जलपान का इतना सामान भेजा गया कि हम पर नियन्त्रण करने के लिए जो पुलिसवाले थे वे भी उसको खा कर तृप्त हो गये। खाना फिर भी बाकी बचा रहा। जेल की व्यवस्था के अनुसार हम लोगों को कंकड़ीला चावल और पानी वाली दाल दी जाती लेकिन गोंडा के सहृदय निवासियों ने उस रात को भी, दूसरी सुबह भी, दोपहर में भी इतने प्रकार के व्यंजन और फल भेजे कि हम उनके आन्तरिक रूप से कृतज्ञ हो उठे।

वहीं हम लोगों ने निर्णय किया कि यह तो ठीक नहीं है कि हम अयोध्या के इतने पास आ कर लौट जायें। मुझे स्व० रामधारी सिंह दिनकर की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ याद हो आयीं—

'अपनी हड्डी की मशाल से हृदय चीरते तम का,
सारी रात चले तुम दुख झेलते कुलिश निर्मम का।
एक खेय है शेष किसी विध उसे पार कर जाओ,
वह देखो उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।
आकर इतने पास फिरे वह सच्चा शूर नहीं है,
थक कर बैठ गये क्यों भाई! मंजिल दूर नहीं है।'

वह पंक्ति मेरे हृदय को मथने लगी कि 'आकर इतने पास फिरे वह सच्चा शूर नहीं है।' हम अयोध्या के इतने निकट पहुँच कर भी वहाँ नहीं जा सके, यह नियति हमारी नहीं होनी चाहिए। इसको स्वीकार करने के लिए हम तैयार नहीं थे। कैसे अयोध्या जायें? मेरे नौजवान साथियों ने कहा कि आपकी आज्ञा हो तो हम जेल से फरार हो जायें। दो घड़ी तक मेरे मन में दुविधा रही कि यह आदेश दूँ या नहीं। फिर मैंने कहा 'जाओ, मेरा आशीर्वाद है।' जो लोग बाहर से जलपान कराने आये थे उन्हीं के साथ मेरे दो कार्यकर्ता धीरे से सरक कर निकल गये। दिल्ली से आये बहुत-से कार्यकर्ता और स्वयंसेवक वहाँ गिरफ्तार थे। हम कुल डेढ़ सौ लोग वहाँ थे। उनके भी दो-तीन लोग निकल गये। मुझे अफसोस है कि इस बात की सूचना कुछ मुखबिरों ने बन्दीगृह के अधीक्षक को दे दी।

अधीक्षक ने तुरन्त सुरक्षा की व्यवस्था कड़ी कर दी। अधिकारियों को सूचना भेजी गयी। वरिष्ठ पदाधिकारी आये। वे अपने साथ दो बसें ले कर आये थे। उन्होंने हुक्म दिया कि आप सबको तुरन्त यहाँ से स्थानान्तरित किया जायेगा। भारतीय जनता पार्टी का राष्ट्रीय उपाध्यक्ष होने के कारण मैं वहाँ सबसे वरिष्ठ अधिकारी था। बातचीत करने की जिम्मेदारी मुझे ही सौंपी गयी थी। मैंने उनके आदेश को अस्वीकार करते हुए कहा— 'हम लोग यहाँ से नहीं जायेंगे। क्या हम लोग भेड़-बकरी हैं कि आप हमें एक जगह लायें और फिर वहाँ से हाँक कर दूसरी जगह ले जायें? हम नहीं जायेंगे।' हम वहाँ से आना इसलिए नहीं चाहते थे कि हमारे पाँच साथी निकल गये थे और बाहर से बार-बार यह संकेत आ रहा था कि 'आप सब लोगों को भी छुड़ाने की व्यवस्था की जा रही है। अगर आज शाम तक पूरा दाँव लगा तो हम इस बन्दीगृह से आपको ले जायेंगे।' इसी वजह से मैंने दबंग हो कर कह दिया कि हम लोग नहीं जायेंगे। वे लोग चले गये। आधे घंटे में फिर लौट कर आये, इस बार वहाँ के स्थानीय कांग्रेसी विधायक उपाध्याय जी उनके साथ थे। उपाध्याय जी ने विनम्रता से हाथ जोड़ कर कहा— 'आप तो बहुत वरिष्ठ नेता हैं।' मैंने कहा— 'यह तो आपकी कृपा है। लेकिन यदि आप इनकी ओर से यह कहने आये हैं कि हम स्थानान्तरित हो जायें तो हम नहीं होंगे।' साथ में आये उक्त अधिकारी ने कहा— 'ठीक है, मैंने आपकी बात मान ली, आप यहीं रहें। अब आप लोग मेरी एक बात मान लें और वचन दें कि यहाँ से भागेंगे नहीं।' मैंने कहा कि 'इस सरकार से हमारी लड़ाई चल रही है। उसने अन्यायपूर्वक हमको यहाँ बन्दी बना रखा है। जैसे ही दाँव लगेगा वैसे ही हम लोग भाग जायेंगे। हम लोग यहाँ बन्दी बन कर रहने नहीं आये हैं, कारसेवा करने आये हैं। आप अपनी व्यवस्था कड़ी करके देख लीजिए। हम लोग अगर दाँव पायेंगे तो अवश्य भाग जायेंगे।'

यह हमने खुल कर उनको कह दिया। इस पर खूब नारे लगे। मैंने अपने सारे कार्यकर्ताओं को वहाँ गोलाई में बैठा कर गीत गवाना शुरू कर दिया। कैसे-कैसे तेजस्वी गीत 'जागो तो एक बार, हिन्दू जागो तो', 'जननी जन्म-भूमि स्वर्ग से महान् है' आदि-आदि। उक्त पदाधिकारी बहुत क्रुद्ध हुए और जाते-जाते हवा में चार चक्र गोलियाँ दागीं।

हम लोगों की 'युद्ध परिषद्' की बैठक हुई कि क्या किया जाये। उसमें एक प्रस्ताव आया कि अगर किसी तरह से छड़ को काटनेवाली आरी आ सके तो हम लोग छड़ काट कर निकल सकते हैं। यह संवाद बाहर के मित्रों तक पहुँचा दिया गया। यह जान कर आश्चर्य होगा कि कुछ ही देर बाद छः छोटी-छोटी नयी आरियाँ आ गयीं। हम लोगों ने अपने कमरे का एक दरवाजा बन्द कर दिया तथा दूसरे दरवाजे पर दस-बारह आदमी बैठ कर जोर-जोर से गीत गाने लगे। बाहर जो पुलिस का आदमी था उसे जलपान की सामग्री खिलाने चले गये कुछ लोग। भीतर हमारे स्वयंसेवक जोरों से छड़ों पर आरी चलाने लगे। वे नौसिखये लोग, जिन्होंने कभी यह काम नहीं किया था

उन्होंने देखते-ही-देखते दो छड़ काट डाले और उन्हें मोड़ दिया। इतनी जगह बना ली कि एक आदमी सरक कर उसे पार कर सके। उसके बाहर साढ़े छः फुट ऊँची चारदीवारी थी। बाहर के हमारे सहयोगी कार्यकर्ताओं के पास तीन स्कूटर थे और उन्होंने यह फैसला कर रखा था कि जैसे ही हम लोग निकलेंगे, एक-एक स्कूटर पर दो-दो आदमियों को चालक पीछे बैठा कर अपने 'अड्डे पर ले जायेंगे।

मैंने संकेत दिया, मेरे दो नौजवान साथी निकले। बाहर यह भी व्यवस्था थी कि जहाँ हम लोग उतरेंगे वहाँ पुलिस की जीप न आ जाये, इसलिए सड़क पर ढेर सारे पीपे डाल दिये गये थे। अगर पुलिस की जीप आये भी तो उसे पीपे हटाने में समय लगे। इस बीच जो लोग निकलें, वे भाग सकें। मैं भी उसी से हो कर बाहर निकला। साढ़े छः फुट ऊँची दीवार पर चेष्टा करके भी चढ़ा नहीं जा रहा था। एक कार्यकर्ता बैठ गया और बोला, 'मेरे कन्धे पर पैर रख कर आप दीवार पर चढ़ जायें।' मैं बहुत ही संकोच कर रहा था कि जूता पहन कर कैसे कन्धे पर पाँव रखूँ। लेकिन उसने आग्रह किया कि आप फिक्र न करें, पैर रखिये और चढ़ जाइये। उसके कन्धे पर पैर रख कर मैं दीवार पर चढ़ गया और भगवान् राम का नाम ले कर नीचे कूदा। भगवान् की कृपा से सब ठीक रहा। तुरन्त मुझको स्कूटर पर बैठा कर एक कार्यकर्ता के घर ले जाया गया। उस कार्यकर्ता की माता ने बहुत स्नेह दिया। मैं आतुर था कि हमें जल्दी यहाँ से विदा लेनी चाहिए। किन्तु उनकी माँ बिना खिलाये नहीं जाने देना चाहती थीं, बोलीं— 'आप खा कर जायें और राम-मन्दिर बना कर ही लौटें।'

हम लोगों ने बन्दीगृह में यह निश्चय किया था कि हम लोगों को अपना सारा सामान वहीं छोड़ देना होगा, क्योंकि सामान ले कर इतनी लम्बी यात्रा करना बहुत कठिन काम था और फिर यह आशंका थी कि इतने लोगों को सामान के साथ जाते देख पुलिस को भी शक हो जायेगा। फिर भी मैं अपने साथ एक छोटी-सी अटैची ले आया था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर कार्यकर्ता-बन्धुओं ने कहा कि 'आप इस अटैची को छोड़ ही दें। ५६ किलोमीटर रात्रि में चलना है। यह अटैची आपको और हम लोगों को भी बाधा पहुँचायेगी।' मुझको अपनी अटैची उसी मित्र के घर छोड़ देनी पड़ी। गोण्डा में सभी कारसेवक-बन्धु एक मन्दिर में एकत्र हुए और वहाँ से हम लोगों को एक मार्गदर्शक मिला। अँधेरे में निकलना चाहिए, यह पाठ हमने अच्छी तरह से सीख लिया था। पक्की सड़क पर कम-से-कम रहना चाहिए— यह पाठ उससे ज्यादा अच्छी तरह से सीख लिया था। रात्रि के आठ बजे हम लोग वहाँ से चले। एकादशी का चन्द्रमा था, हरिवंश राय बच्चन के अनुसार 'चाँदनी में वह सफेदी थी कि जैसे धूप ठण्डी हो गयी हो।' हँसते-गाते, नारे लगाते, हम लोग गाँव-गाँव होते चले। हर गाँव में बच्चे-बच्चियाँ, बूढ़े-बूढ़ियाँ, जवान 'जय श्रीराम' कह कर हमारा स्वागत करते। एक गाँव से दूसरे गाँव तक पहुँचाने की जिम्मेदारी बँटी हुई थी। लगातार सारी रात, अक्षरशः सारी रात हम लोग चलते रहे। लेकिन सारी रात चल कर भी कितना चल सकते थे। हम लोग हाँफ गये। सुबह चार बजते-बजते हमको लगा कि अब गिरे-तब गिरे। गाँव में ठाकुर साहब का एक मकान था। बताया गया कि उनके पास ट्रॉली है। रात्रि के आठ बजे से ही सुबह चार बजे तक बिना रुके हम चलते रहे। ठाकुर साहब से बातचीत हुई। उन्होंने कहा कि बड़ा लड़का बाहर गया हुआ है, छोटा लड़का अभी आया है, मालूम नहीं कि वह जायेगा या नहीं, दोनों ड्राइवर भी कारसेवा करने चले गये हैं। मैंने कहा, 'आप बेटे को जगाइये, शायद वह मान जाये' और वह मान भी गया। थोड़ी देर हम वहाँ रुके, साढ़े चार बजे ट्रॉली वहाँ से चली। एक घंटा ट्रॉली से चल कर हम पाँच किलोमीटर आगे बढ़े। मैं उस पर बैठा नहीं कि सो गया। एक घंटे के आराम ने हम लोगों को काफी ताजगी से भर दिया।

ट्राली से उतरने के बाद हमारी यात्रा फिर शुरू हुई तो धीरे-धीरे प्रकाश हो गया। प्रकाश के बीच में जितने गाँव थे वहाँ का माहौल देख कर लगता था कि वे मुलायम सिंह या वि० प्र० सिंह के नियन्त्रण से परे हैं, बिलकुल राममय अंचल है और हर व्यक्ति दृढ़ संकल्प के साथ सन्नद्ध है कि राम मन्दिर बन कर ही रहेगा।

जो लोग यह मानते हैं कि श्रीराम-जन्मभूमि मन्दिर के निर्माण का आग्रह थोड़े-से-धर्मोन्मादी, सिरफिरे लोगों का ही है, उनसे मैं प्रर्थना करता हूँ कि एक बार वे गाँवों में जा कर देखें कि देशवासियों की वास्तविक इच्छा क्या है। एक बार गाँवों में जायें और अनुभव करें कि राम के साथ हमारा देश किस प्रकार जुड़ा हुआ है।

हम लगातार यात्रा करते रहे। बीच में दो जगहों पर मित्रों ने ठहरा कर चाय पिलायी, एक जगह जलपान कराया। सबसे ज्यादा शक्ति तो हमको मिली प्रकृति-प्रदत्त गन्नों के खेत से। मैं पहले संकोच करता था कि बिना पूछे किसी का गन्ना कैसे तोड़ूँ? एक बार एक से माँगा तो उसने कहा— 'लगा तो है, जितना चाहिए तोड़ लो।' डेढ़ गन्ना मैंने चूसा। उस समय तक दो कप चाय, एक बिस्कुट तथा डेढ़ गन्ना चूस कर हम लोग चल रहे थे। गन्ने से इतनी ताकत मिली कि हम आपको बता नहीं सकते।

तीस तारीख़ को दोपहर एक बजे हम लोग सरयू नदी के पुल पर पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि एक बार लाठी-चार्ज हो चुका है तथा एक बार गोली चल चुकी है। हमारे मित्रों के कथनानुसार लोगीकाण्ड में दस-बारह लोग घायल हुए थे और सम्भवतः दो व्यक्ति शहीद हो गये थे। पुलिसवालों का कहना था कि एक व्यक्ति की स्थिति गम्भीर है; वह बच पायेगा, ऐसी आशा नहीं।

मैं जब वहाँ पहुँचा तो दिल्ली के कुछ कार्यकर्ता नेतृत्व कर रहे थे। कारसेवकों की भीड़ बहुत ही दृढ़ संकल्प किये थी कि हमको अवश्य पार जाना है। 'दर्शन करने आये हैं, दर्शन करके जायेंगे', 'रामलला हम आये हैं, मन्दिर वहीं बनायेंगे', तथा और भी बहुत-से दूसरे नारे लगातार गूँज रहे थे। मैं वहीं पहुँचा। मैंने भी धरना देने की घोषणा की और हम लोग वहाँ बैठ गये। लेकिन एक बात जरूर कहूँगा कि वहाँ पहुँच कर मुझको यह भी अनुभव हुआ कि अपने संगठन में कुछ त्रुटियाँ हैं और उन्हें हमें स्वीकार करना होगा। स्थानीय वरिष्ठ कार्यकर्ता वहाँ नहीं थे, जो हमें ठीक से मार्ग-दर्शन दे सकते। दूसरी बात यह है कि हम लोग अलग-अलग क्षेत्रों से आये हुए थे और आपस में उतना व्यक्तिगत परिचय नहीं था। तीसरी बात यह कि संघ के स्वयंसेवकों, भाजपा और विश्व हिन्दू परिषद् के कार्यकर्ताओं से कहीं ज्यादा संख्या उन लोगों की थी जो कि भावुक रामभक्त थे। वे किसी भी मूल्य पर वहाँ पहुँचना चाहते थे। उनको नियन्त्रित करना, अनुशासित रखना कठिन लग रहा था। हम लोग अनुभव कर रहे थे कि पुलिस ने हमें जहाँ बैठाया— नये आनेवाले लोग उससे आगे जा कर बैठ जाते थे। हम उनसे बार-बार पीछे बैठने का आग्रह करते थे। लेकिन वे इसके लिए तैयार नहीं होते थे। प्रेमपूर्वक समझाने या कभी-कभी डाँट देने पर कुछ लोग एक सीमा तक बात मान लेते थे किन्तु कुछ लोग मनमानी करते ही रहते थे। इसी बीच वहाँ पुलिस-बल का दबाव बढ़ गया। शाम पाँच बजे हमसे कहा गया कि हमें आदेश आया है कि पुल को किसी भी कीमत पर खाली कराना है। हम लोगों ने पुल पर से हटने से इन्कार कर दिया। हमारा कहना था कि जब तक हम लोगों को मालूम नहीं होता कि राम मन्दिर में क्या हुआ है— क्योंकि रेडियो ने घोषित किया है कि कारसेवा बिलकुल नहीं हो सकी, निषिद्ध क्षेत्र में कारसेवक प्रवेश ही नहीं कर पाये जबकि हम लोगों को प्राप्त सूचना के अनुसार वहाँ कारसेवा हुई है— अतः तब तक हम वहाँ से टस से मस नहीं होंगे। पुल पर जो अन्य मित्र थे उनमें अवधेश सिंह विश्व हिन्दू परिषद् के स्थानीय कार्यकर्ता थे, उनसे बातचीत हुई। दिल्ली के कार्यकर्ता-बन्धु भी थे। हम लोगों ने बातचीत में तय

किया कि पुलिस अधिकारियों से बातचीत की जाये कि क्या रास्ता निकल सकता है। पुलिस अधिकारी भी बातचीत करना चाहते थे।

मैं और स्थानीय विश्व हिन्दू परिषद् के नेता श्री अवधेश सिंह पुलिस के आमन्त्रण पर गोण्डा के जिला अधिकारी गुप्ताजी से बातचीत करने गये। आरक्षी महानिरीक्षक श्री शर्मा ने कहा, 'यदि आप लोग पुल खाली नहीं करेंगे तो हम गोली चलाने के लिए बाध्य होंगे।' हम लोगों ने कहा कि 'आप गोली चलाइए, लेकिन गोली चली तो आपका क्या होगा इसका अनुमान लगा लीजिए।'

जिलाधिकारी को यह सुझाव दिया गया कि आप हम लोगों को राम मन्दिर ले चलें और यह दिखाने की व्यवस्था करें कि वहाँ वास्तव में क्या घटा है और हम वहाँ से लौट कर पुल पर खड़े लोगों को प्रामाणिकता के साथ बतायें कि वहाँ क्या हुआ है, तभी रामभक्तों को शान्ति मिल सकती है। पुलिस अधिकारियों ने ऐसा करने में असमर्थता जाहिर की। हम लोग लौट कर अपने मित्रों के पास चले आये। एक घंटा और बीत गया, तब फिर उनका बुलावा आया। वे लोग हम दोनों को श्रीराम-जन्मभूमि के मन्दिर के दर्शन हेतु ले जाने को तैयार हो गये थे। हम जिलाधिकारी की गाड़ी में बैठ कर वहाँ गये। जैसे ही अयोध्या में हमने प्रवेश किया तो देखा कि वहाँ अत्यन्त उल्लास का वातावरण था। चारों तरफ दीपमालाएँ सजी हुई थीं। अयोध्या में दीपावली मनाई जा रही थी। मैंने आरक्षी महानिरीक्षक से कहा— 'आप कर्फ्यू की बात कह रहे थे, कहाँ है कर्फ्यू?' उन्होंने स्वीकार किया कि कर्फ्यू है लेकिन उसका पालन नहीं हो रहा है। इतने अधिक कारसेवक यहाँ पहुँच गये है कि सारी व्यवस्था ही चरमरा गयी है।

हनुमान गढ़ी से आगे श्रीराम-जन्मभूमि-परिसर में बहुत ही सख्त फौजी इन्तजाम था। सन्नाटा छाया हुआ था। केवल अर्द्ध-सैनिक बल के जवान वहाँ थे। हम लोग भीतर गये, हम लोगों ने देखा कि सामने की दीवार में जो लोहे की चार-पाँच जालियाँ थीं, उन्हें तोड़ दिया गया है। उनके साथ लगी दीवार के अंश टूटे हैं। हम लोगों ने यह भी देखा कि खण्डहर के शीर्ष की बुर्जियाँ तोड़ दी गयी थीं। जिलाधिकारी ने बताया कि ऊपर की कुछ ईंटें भी टूटी हैं। यह भी बताया गया कि फारसी के जो शिलालेख थे, वे हटा दिये गये हैं। मैंने देखा कि मन्दिर के पुनर्निर्माण हेतु ही मस्जिद के पिछले हिस्से की दीवार के एक बड़े अंश को तोड़ा गया था। हम लोगों ने रामलला के दर्शन किये और अपनी श्रद्धा अर्पित की।

यह भी लिख रखूँ कि शिलान्यास के ऊपर जो छतरी थी, वह सचमुच मुलायम सिंह के निर्देश से तोड़ दी गयी थी। निरावृत शिलान्यास-स्थल इस अत्याचार की मूक कहानी कह रहा था। कारसेवा शुरू होने के ठीक सात दिन पहले इस क्रूर कर्म के द्वारा मुलायम सिंह ने रामभक्तों की भावनाओं को रौंद कर उनके घावों पर नमक क्यों छिड़का, इसे तो वे ही बता सकते हैं। मैं तो यही कह सकता हूँ कि जनता इसके लिए उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगी।

अयोध्या के लिए प्रस्थान करते समय मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि उस दुर्भेद्य सैन्य-दुर्ग में मैं रामलला के दर्शन कर पाऊँगा। श्री मुलायम सिंह यादव जिस तरह रामभक्तों को ध्वस्त करने की धमकियों पर धमकियाँ, चुनौतियों पर चुनौतियाँ दिये जा रहे थे उससे हम सबके मन क्षुब्ध ही नहीं थे, क्रुद्ध थे। बार-बार वे (मुलायम सिंह यादव) रामभक्तों को डरा रहे थे कि वे उन्हें (रामभक्तों को) कुचल देंगे। उन्होंने दम्भ-भरे स्वर में कहा था कि 'वहाँ इतना पक्का इन्तजाम करेंगे कि परिन्दा भी पर नहीं मार सकेगा।' भारतीय जनता को लगा कि इस चुनौती को स्वीकार करना चाहिए। उनके इस दम्भ को चूर-चूर कर देने के लिए बरसती गोलियों की उपेक्षा कर रामभक्त जनता जिस आवेश में उमड़ी थी उस प्रलय-ज्वार के थपेड़ों के चिन्ह भी उस ढाँचे पर अंकित हुए थे। सचमुच

लोकशक्ति का उभार राजसत्ता की पशु-शक्ति को स्तम्भित कर देता है। बीस के करीब शहीदों और सैकड़ों घायलों ने यह साबित किया कि आदर्शवादी परिन्दे अपने परों को फड़फड़ा कर दम्भी शासकों का मान-मर्दन कर गये हैं। मुझे दुष्यन्त की पंक्तियाँ याद आयीं—

परिन्दे फिर भी पर तोले हुए हैं
हवा में सनसनी घोले हुए हैं।

हम लौटे। हमने पुल पर बैठे हुए रामभक्तों को शहीदों के रक्त से रंजित कारसेवा का यथातथ्य वर्णन सुनाया।

उन्होंने जयनाद से उसका स्वागत किया और हुतात्माओं के पावन स्मरण में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। किन्तु उनका पुल पार कर अयोध्या जाने का संकल्प अटल था। एक प्रस्ताव आया कि यदि उन्हें पुल पार कर सरयू के पावन जल में स्नान करने का अधिकार मिले तो वे उस रात पुल से हट सकते हैं। मैंने और अवधेश जी ने पुलिस अधिकारियों तक यह प्रस्ताव पहुँचा दिया। वे लोग पहले तो टालमटोल करते रहे, फिर बोले— प्रतिनिधि के रूप में ५० व्यक्तियों के एक जत्थे को जाने की अनुमति दी जा सकती है। अवधेश जी का और मेरा भी आग्रह था कि ५०-५० के जत्थे में ही सही किन्तु सभी सरयू-स्नान के इच्छुकों को यह अधिकार मिलना चाहिए। अन्त में पुलिस के अधिकारी इस शर्त पर जनता के अधिकार को मर्यादा देने के लिए राजी हुए कि वे लोग आगे नहीं बढ़ेंगे, वहीं से लौट आयेंगे। यह प्रस्ताव अवधेश जी तथा अन्य उपस्थित अधिकारियों से परामर्श कर मैंने मान लिया। करीब ६०० रामभक्तों ने ५०-५० के जत्थे में पुल पार कर सरयू-स्नान का पुण्य अर्जित किया। अन्तिम जत्थे के लौट आने के बाद रात के साढ़े नौ बजे अपने साथियों के साथ मैं पुल से नीचे आया।

ईमानदारी का तकाजा है कि मैं यह भी लिखूँ कि कुछ नौजवान साथियों को यह बात पसन्द नहीं आयी और उन्होंने हम लोगों पर अपना रोष व्यक्त किया। मैं उनके रोष का समादर करता हूँ, उनकी भावना से सहमत हूँ कि उचित यही था कि हम लोग रात-भर वहाँ बैठते और कारसेवा के पूरे अधिकार के लिए लड़ते, किन्तु हम लोग इस तथ्य से भी अवगत थे कि लोग मीलों पैदल चल कर आये हैं और करीब-करीब सभी भूखे-प्यासे बैठे हुए हैं। मेरे बार-बार आग्रह करने पर भी स्थानीय कार्यकर्ता उस रात कारसेवकों के लिए भोजन, जल आदि की व्यवस्था नहीं कर पाये थे, एक माइक भी नहीं जुटा पाये थे कि ठीक से सब लोगों तक अपनी बात पहुँचाई जाती। ऐसी स्थिति में एक रात का विराम मुझे अनुचित प्रतीत नहीं हुआ।

मुझे इस बात से हार्दिक प्रसन्नता हुई कि दूसरे दिन सवेरे ही रामभक्तों का भारी जमावड़ा पुल पर हो गया और कारसेवा करने के अधिकार की रक्षा करने का निनाद गूँजने लगा। मुझे लगा कि टी० वी०, रेडियो के झूठे प्रचार को निरस्त करने के लिए मुझे दिल्ली पहुँच कर प्रामाणिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना चाहिए और मैं दिल्ली चला आया।

रामजी ने मुझ जैसे अक्षम, अपात्र की सेवा को आन्दोलन-सिन्धु की बूँद के रूप में स्वीकार किया, यह उनकी महती कृपा है। ●

ग्रंथ के रचनाकार

अशोक कुमार मिश्र
सारस्वत क्षत्रिय विद्यालय
४, बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७

डॉ० अजय शुक्ल
४१ए/२७सी, तिलक नगर
अल्लापुर, इलाहाबाद

डॉ० अनिल कुमार शुक्ल
EB-२/२ए, हलियारा रोड
कोलकाता-७०० ०५९
दूरभाष : २५७१ ४७२८

डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी
इन्द्रप्रभा, नगर, मौरावाँ, उन्नाव, (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५१४२) २५६०९१

अरुनेन्दु सरकार
१०, राजकृष्ण स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००६
दूरभाष : २५५५ ७२१४

अमिताभ घोष
BE-३००, सेक्टर-१
साल्टलेक, कोलकाता-७०० ०६४
दूरभाष : २३३७ १९०७

अवधेश नारायण मिश्र 'दीपक'
२/५०, स्व० ब्रह्मदत्त द्विवेदी मार्ग
फर्रुखाबाद (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५६९२) २२५४२८

डॉ० अशोक कुमार उपाध्याय
६/७, खन्ना भवन, सुभाष नगर
बरेली, (उ० प्र०)

आनन्द मिश्र 'अभय'
सम्पादक-राष्ट्रधर्म, राजेन्द्र नगर
लखनऊ-२२६ ००४ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५२२) २६९३१३९

डॉ० इन्दु जोशी
३९, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७
दूरभाष : २२७४ १४६६

उम्मेद सिंह वैद
लोकनाथ आवासन,
८ए, कोलूपुकुर रोड
तेपरिया, कोलकाता-७०० ०५९
दूरभाष : २५७० ५७३१

डॉ० उषा द्विवेदी
पार्थ सारथी हाउसिंग कॉम्प्लेक्स
एच/ई, १६/१, सचिन्द्रलाल सरणी
बालुहाटी, कोलकाता-७०० ०५९
दूरभाष : २५७० ३१९४

डॉ० ओम प्रकाश सिंह
२५९, शान्तिनिकेतन
साकेत नगर, लालगंज
रायबरेली-२२९ २०६ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५३१५) २४४३८३

प्रो० ओम प्रकाश पाण्डेय
प्राधिकरण भवन, भरतपुरी
उज्जैन-४५६ ०१० (म० प्र०)
दूरभाष : २५१ १५३०

कन्हैयालाल नन्दन
१३२, कैलाश हिल्स
नयी दिल्ली-११० ०६५

डॉ० कमल किशोर गोयनका
ए-९८, अशोक विहार, फेज-प्रथम
दिल्ली-११० ०५२
दूरभाष : २७२१ ९२५१

डॉ० कमलेश जैन
५३, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कोलकाता-७
दूरभाष : २२१८ ९३३०

प्रो० कल्याणमल लोढ़ा
२ए, देशप्रिय पार्क (ईस्ट)
कोलकाता-७०० ०२९
दूरभाष : २४६४ २३००

प्रो० कुणाल घोष
४ए, 'रत्नावली'
७ए, जजेज कोर्ट रोड
कोलकाता-७०००२७
दूरभाष : २४७९ ११११

डॉ० कुमार कृष्ण
सत्यप्रिया, कैथलीघाट
जिला-सोलन (हि० प्र०)
पिन : १७३ २१५
दूरभाष : (०१७७) २२४१८३८

डॉ० कुसुम खेमानी
३ए, लाउडन स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ०१७
दूरभाष : २२४० ३३५३

केशरी नाथ त्रिपाठी
अध्यक्ष, भा.ज.पा. उत्तर प्रदेश
७, विधानसभा मार्ग
लखनऊ (उ० प्र०)
दूरभाष :(०५२२) २२२८५८४

केशव दीक्षित
९/१, अभेदानन्द सरणी
कोलकाता-७०० ००६
दूरभाष : २३५० ८०७५

कृष्ण कुमार अष्ठाना
सम्पादक-देवपुत्र
४०, संवाद नगर, इन्दौर (म० प्र०)

डॉ० कृष्ण कुमार त्रिपाठी
नेविलगंज, अछल्दा
जिला-इटावा (उ० प्र०)

डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र
७बी, हरिमोहन राय लेन
कोलकाता-७०० ०१५
दूरभाष : २२५१ ०१८२

प्रो० कृष्ण बिहारी पाण्डेय
४२ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद (उ० प्र०)
दूरभाष : २६० ०६४२

कृष्ण स्वरूप दीक्षित
७२ए, विधान सरणी
कोलकाता ७०० ००६
दूरभाष : ९३३१८ ५१६३५

डॉ० गिरिजाशंकर त्रिवेदी
कान्यकुब्ज भवन, तारादेव रोड
मुम्बई-४०० ०३४

गिरिराज किशोर
११/२१०, सूटरगंज
कानपुर-२०८ ००१
दूरभाष : (०५१२) २५३ ०५८२

प्रो० गोपाल राय
द्वारा- डॉ० सत्यकाम
एच-२, यमुना, इ. गा. रा. मु. वि. वि.
आवासीय परिसर, मैदान गढ़ी
नयी दिल्ली-११० ०६८
दूरभाष : (०११) २९५३ ३५३४

गोविन्द मिश्र
ई-७, अरेरा कॉलोनी
भोपाल-४६२ ०१६ (म० प्र०)

डॉ० चन्द्रकांत बांदिवडेकर
सी-२, ब्लाक-७, स्टेट बैंक नगर
पंचवटी पाषाण, पुणे-८
दूरभाष : (०२०) २५८८ ७९२७

डॉ० चन्द्रदेव सिंह (स्व०)
नीलकंठपुरम, चितईपुर-चुनार मार्ग, कन्दवा
वाराणसी-२२१ ००४ (उ० प्र०)

डॉ० चमनलाल गुप्त
विवेक कुटीर, समरहिल
शिमला-१७१ ००५ (हि० प्र०)
दूरभाष : (०१७७) २८३०६३७

चितरंजन मिश्र
हिन्दी विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ० प्र०)

डॉ० जगन्नाथ सेठ (स्व०)
चितरंजन एवेन्यू
कोलकाता-७०० ००७

जुगल किशोर जैथलिया
४२, कालीकृष्ण टैगोर स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७
दूरभाष : २२५९ ०९३०

त० शो० क० कण्णन
८, श्रीराम नगर
तिरुवानमियूर
चेन्नई-६०० ०४१ (तमिलनाडु)

तारा दुगड़
नीलकंठ
२६-बी, कैमेक स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ०१६
दूरभाष : २२४० १२१२

त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी
महामहिम राज्यपाल, कर्नाटक
बैंगलोर-५६० ००१
दूरभाष : (०८०) २२२५ ४१०२

दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'
सिविल लाइन्स
कोटा-३२४ ००१ (राज०)

दुर्गा व्यास
बी-३, तिरुपति टावर
१७, धर्मतल्ला लेन
शिवपुर, हावड़ा-७११ १०२
दूरभाष : २६४२ ६७८१

दुर्गादत्त सिंह
११, काशीपुर रोड
कोलकाता-७०० ००२
दूरभाष : २५५७ ११३९

डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी
द्वारा-केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी (उ० प्र०)

डॉ० धर्मपाल मैनी
१६६, सेक्टर-१९ए
चण्डीगढ़-१६० ०१९
दूरभाष : (०१७२) २७८ ०६५७

डॉ० नामवर सिंह
३२-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनन्दा, कालकाजी
नयी दिल्ली-११० ०१९

नन्दलाल शाह
४, मण्डेविला गार्डेन
खालीगंज, कोलकाता-७०० ०१९
दूरभाष : २४४० ९७७७

डॉ० नगेन्द्र चौरसिया
२-ई, घोषाल स्ट्रीट, कोलकाता-१९
दूरभाष : २४७६ ४७३४

नरेन्द्र कोहली
१७५, वैशाली
पीतमपुरा, दिल्ली-११० ०८८
दूरभाष : (०११) २७३१ २६०५

निर्भय मल्लिक
२०/१५, डी. जे. बाइ. लेन (वेस्ट)
एल. पुकुर, बटतल्ला
पो०-कोन्नगर, हुगली-७१२ २३५
दूरभाष : २६९४ ९५९०

नीलम श्रीवास्तव (स्व०)
डी-१८१डी, एल. डी. ए. कॉलोनी
कानपुर रोड, लखनऊ (उ० प्र०)

निर्मल वर्मा
बाई-ए-१ सह विकास
६८, पटपड़गंज, इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन
नयी दिल्ली

पद्मा सचदेव
बी-२४२, चितरंजन पार्क
नई दिल्ली-११० ०१९
दूरभाष : (०११) २६२७ ८७८६

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव
बी-७०, आवास विकास कॉलोनी
सूरजकुण्ड, गोरखपुर-२७३ ०१५
मोबाइल : ९४१५३ १४५००

डॉ० पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'
'साईकृपा' ५८, लाल एवेन्यू
अमृतसर-१४३ ००५ (पंजाब)
दूरभाष : (०१८३) २२५८७०२

पुरुषोत्तमदास हलवासिया (स्व०)
४७, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७

पुरुषोत्तमदास चितलांगिया
११३, पार्क स्ट्रीट, नार्थ ब्लॉक
कोलकाता-७०० ०१६
दूरभाष : २४७९ ९२९२

पुष्करलाल केंडिया
४३, कैलाश बोस स्ट्रीट, कोलकाता-६
दूरभाष : २३५१ २४३६

प्रकाश त्रिपाठी
५०९, पुराना कटरा, इलाहाबाद-२
दूरभाष : (०५३२) २५०५०९०

डॉ० प्रताप चंद्र चंद्र
२३ए, निर्मल चन्द्र स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ०१२
दूरभाष : २२३६ ८२४८

डॉ० प्रतिभा अग्रवाल
फ्लेट-६१, शालीमार अपार्टमेंट
४२बी, शेक्सपीयर सरणी, कोलकाता-१७
दूरभाष : २२८३ १३१४

पृथ्वीनाथ शास्त्री
३३, पूर्वपल्ली
शान्तिनिकेतन-७३१ २३५ (प० बंगाल)
दूरभाष : (०३४६३) २५२६३४

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी
आशीर्वाद अपार्टमेंट
सी. ए. ५/१०, देशबन्धु नगर
जगुईहाटी, कोलकाता-७०० ०५९
दूरभाष : २५७६ १५२२

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय
निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ
१८, इन्स्टीटयूशनल एरिया
लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३
दूरभाष : (०११) २४६२ ६४६७

बद्रीनारायण तिवारी
३८/२४, श्री प्रयागनारायण मंदिर
(शिवाला), कानपुर-२०८ ००१
दूरभाष : (०५१२) २३५ ५६२९

ब्रजनंदन सहाय 'मोहन प्रेमयोगी'
सर्वमंगला, लिलि गार्डेन, शिवपुरी
पटना-२३ (बिहार) दूरभाष : २८७९१४

डॉ० भगवती प्रसाद चौधरी (स्व०)
१०४/१ए, बिडन स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००६

डॉ० भारती शर्मा
१०२, बजाज अनिक्स, ३६, पुनियन पार्क
खार (वेस्ट) मुम्बई-४०० ०५२
दूरभाष : (०२२) २६४८ ४२१६

ममता कालिया
निदेशक : भारतीय भाषा परिषद
३६ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-१७
दूरभाष : २२८० २३०७

मनु शर्मा
३८२-सी, बड़ी पियरी
वाराणसी (उ० प्र०)

महावीर बजाज
४२, कालीकृष्ण टैगोर स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७
दूरभाष : २२५९ २६७२

मृदुला सिन्हा
१०-ए, राजाजी मार्ग, नयी दिल्ली-११० ०११
दूरभाष : (०११) २३०१ ६३८४

डॉ० माताप्रसाद सिंह
फ्लेट नं० ४०२
८, रामचरण सेठ रोड, रामरानातल्ला
हावड़ा-७११ १०४ दूरभाष : २६२७ ३०३५

डॉ० मोहन अवस्थी
पूर्व आचार्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद (उ० प्र०)

डॉ० यतीन्द्र तिवारी
१०/३९२, खलासी लाइन्स
कानपुर-१ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५१२) २११ १८७

डॉ० युगेश्वर
वेदान्त
सी-३३/७८-४, चनुआ शिवपुर
वाराणसी-२ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५४२) २२२११८३

डॉ० योगेश प्रवीन
पंचवटी, ८९, गोसनगर, लखनऊ-१८
दूरभाष : (०५२२) २२२ ९९९९

डॉ० रमानाथ त्रिपाठी
२६, वैशाली, पीतमपुरा
दिल्ली-११० ०८८
दूरभाष : (०११) २७३१ १२२५

राकेश कुमार ओझा
विशेष सचिव, श्री राज्यपाल
राजभवन, लखनऊ-२२७ १३२
दूरभाष : (०५२२) २२२०३३१

श्री राजेन्द्र उपाध्याय
६२-ब, लॉ अपार्टमेंट्स
ए.जी.सी.आर. एन्क्लेव
दिल्ली-११० ०९२
दूरभाष : (०११) २२३७ २६१५

डॉ० राजेन्द्र मिश्र
एच.आई.जी. सी-१६, शैलेन्द्र नगर
रायपुर-४९२ ००१ (छत्तीसगढ़)
दूरभाष : २४२३०५१

राजदेव सिंह 'कौशल'
राजेन्द्र बन्धु प्रेस
३२ए/१ए, दर्पनारायण टैगोर स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७

राजबहादुर 'विकल'
विकल निवास, ६५८, मोहम्मदअली
शाहजहाँपुर-२४२ ००१ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५८४२) २२५१८८

राधा मोहन उपाध्याय
मंगलदीप अपार्टमेंट
ब्लाक-डी, फ्लेट-२०२
५०६, जी. टी. रोड (साउथ)
हावड़ा-७११ १०१
दूरभाष : २६५० ७७६९

राम चन्द्र मिश्र 'कोशलेश'
६०४ सुन्दरम कॉम्प्लेक्स
९७/१, चंद्रो घोष रोड
कोलकाता-७०० ०४०
दूरभाष : २४२१ २३७८

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
डी-४, विश्वविद्यालय परिसर
देवास रोड, उज्जैन (म० प्र०)
दूरभाष : (०७३४) २५१०७७२

डॉ० रामचन्द्र तिवारी
सरस्वती सदन
बेतियाहाता, गोरखपुर (उ० प्र०)
दूरभाष : २३३५९८२

रामकृष्ण गुप्त 'बन्धु'
सलकिया हिन्दी साहित्य गोष्ठी
१४, भूपन मुखर्जी रोड
हावड़ा-७११ १०६
दूरभाष : २६५५ ७१२८

प्रो० राम मोहन पाठक
निदेशक-महामना मदनमोहन मालवीय
हिन्दी पत्रकारिता संस्थान,
म० गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५४२) २२१ ३३३३

राम कमल राय
९०सी, बाघम्बरी मार्ग
इलाहाबाद-२११ ००६
दूरभाष : (०५३२) २५००८६

रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी 'प्रलयंकर'
गोसाईंगंज, लखनऊ (उ० प्र०)

डॉ० रामेश्वर मिश्र
दक्षिण गुरुपल्ली
शान्तिनिकेतन-७३१ २३५
(प. बंगाल)
दूरभाष : (०३४६३) २६११२५

लक्ष्मीकान्त तिवारी
तिवारी ब्रदर्स
३, नागमोहन मल्लिक लेन
कोलकाता-७०० ००७
दूरभाष : २२६८ ३०२०

डॉ० वसुमति डागा
एफ३३/८, करुणामयी हाउसिंग एस्टेट
फेज-२, साल्टलेक
कोलकाता-७०० ०९१
दूरभाष : २३५९ ३१६४

डॉ० वसुन्धरा मिश्र
११०-सी, श्री अपार्टमेंट
१३८, जी. टी. रोड (साउथ)
हावड़ा-७११ १०२
दूरभाष : २६६० ५०२९

विजय कुमार 'प्रशांत'
सह-सम्पादक-राष्ट्रधर्म मासिक
राजेन्द्र नगर, लखनऊ-४
दूरभाष : (०५२२) २६९३ १३९

विजय बहादुर सिंह
२९, निराला नगर, दुष्यंत मार्ग
भोपाल-४६२ ००३ (म० प्र०)
दूरभाष : (०७५५) २७७५०००

डॉ० विद्या बिन्दु सिंह
४५, गोखले विहार मार्ग
लखनऊ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५२२) २२०६४५४

डॉ० विद्या निवास मिश्र
बी-८७, ए-१२, रवीन्द्रपुरी एक्सटेंशन
वाराणसी-५ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५४२) २३१ १६०४

विभा बत्रा
द्वारा- श्री शरत बत्रा
३८, फर्स्ट एवेन्यु
शास्त्रीनगर, अडियार
चेन्नई-७०० ०२०
दूरभाष : (०४४) २४९१ ३६७६

विमल लाठ
५२, जकरिया स्ट्रीट
कोलकाता७०० ०७३
दूरभाष : २३३५ ५२५१

डॉ० विवेकी राय
बड़ी बाग, गाजीपुर
उत्तर प्रदेश-२३३ ००७
दूरभाष : (०५४८) २२२१६१८

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
संपादक-दस्तावेज
बेतियाहाता, गोरखपुर (उ. प्र.)
दूरभाष : ३३५९६७

विश्वम्भर सुरेका
३/१, लाउडन स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ०१७
दूरभाष : २२४७ १२२१

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री
२८०, चित्तरंजन एवेन्यु
कोलकाता-७०० ००६
दूरभाष : २२४१ १३४८

शरदचन्द्र पाठक
प्रधानाध्यापक : श्री जैन विद्यालय
१८डी, सुकियस लेन
कोलकाता-७०० ००१
दूरभाष : २२४२ ४९५८

शंकरलाल मेहता
७७, हाजरा रोड, फ्लैट-२ए
सिद्धार्थ बिल्डिंग, कोलकाता-७०० ०२९
दूरभाष : २४७४ १७८७

शिव ओम अम्बर
४/१०, नून हाई
फर्रुखाबाद-२०९ ६२५ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५६९२) २२२०६७

शिव कुमार गोयल, पत्रकार
भक्त रामशरण दास भवन
बीच पट्टी, सिलचुआ-२४५ ३०४
गाजियाबाद (उ० प्र०)
दूरभाष : (०१२२) २३२२७३८

डॉ० शिवनाथ पाण्डेय
९, वाटकिन्स लेन, हावड़ा-७२१ १०१
दूरभाष : २६६६ ६७०१

डॉ० शीला मिश्र
८ए, फैजाबाद रोड
लखनऊ, दूरभाष : २३८ ६१३१

डॉ० शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव
एम२/१, पथ १०ई
राजेन्द्र नगर, पटना-८०० ०१६
दूरभाष : (०६१२) २६७२३४१

आचार्य श्रीकान्त शास्त्री
सुभद्रा कुंज, १२वीं, काशीपुर रोड
कोलकाता-७०० ००२
दूरभाष : २५५७ ५२८४

श्रीकान्त शास्त्री
२८०, चित्तरंजन एवेन्यू
कोलकाता-७०० ००६
दूरभाष : २२४१ १३४८

श्रीमोहन तिवारी
जी/इ-६, जँगरा, रवीन्द्र पल्ली
बागुईहाटी, कोलकाता-७०० ०५९

श्रीनारायण पाण्डेय
४१२/३एफ, बक्सी खुर्द
दारागंज, इलाहाबाद (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५३२) २५० ४२३५

श्रीनिवास शर्मा
५३, शिवठाकुर लेन, कोलकाता-७
दूरभाष : २६६१ ९६९७

श्रीराम तिवारी
सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय
१८६, चित्तरंजन एवेन्यू
कोलकाता-७०० ००७
दूरभाष : (०३३) ३०९२ ३०२३

डॉ० सत्यदेव मिश्र
१८, रौडसे फ्लैट्स
फैजाबाद रोड, विश्वविद्यालय परिसर
लखनऊ-२२६ ०२० (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५२२) २७४११०९

डॉ० सत्यकेतु सांकृत
१०५, अभिषेक एस्टेट
(सिल्वर एस्टेट के निकट)
घातीपुर, युनिवर्सिटी रोड
ग्वालियर (म० प्र०)

डॉ० सत्या उपाध्याय (तिवारी)
१२३, बसाक बगान, पातीपुकुर
कोलकाता
दूरभाष : ९८३१० २७३९२

स्नेहलता वेद
लोकनाथ आवासन
८ए, कोलूपुकुर रोड
तेघरिया, कोलकाता-७०० ०५९
दूरभाष : २५७० ५७३१

सय्यद महफूज़ हसन रिज़वी 'घुण्डरोक'
बी-६८, आयरन गेट रोड
गार्डनरीच, कोलकाता-७०० ०२४
दूरभाष : ३१०४ २४३७

डॉ० सरोज सिंह
द्वारा-डॉ० एस. पी. सिंह
१२/२४/४७/१-सी, म्योर रोड
इलाहाबाद (उ० प्र०)
दूरभाष : ९४७५६ १६०८३

सिद्धेश
श्रीपुर, मध्यग्राम बाजार
कोलकाता-७०० १३०
दूरभाष : २५३७ ६३७६

डॉ० सियाराम तिवारी
एन-२, प्रोफेसर कॉलोनी
कंकड़बाग, पटना-८०० ०२०
दूरभाष : (०६१२) २३६६०८२

सीतानाथ गोस्वामी
६३/१-ए, सेलीमपुर लेन
कोलकाता-३१
दूरभाष : २४१५ २९६६

सुषमा स्वराज
८, सफदरगंज लेन, नयी दिल्ली-११००११
दूरभाष : (०११) २३७९ ४०४४

स्वदेश भारती
उत्तरायण
३३१, पशुपति भट्टाचार्य रोड
कोलकाता-७०० ०४१
दूरभाष : २४६६ ४२६९

डॉ० सुकीर्ति गुप्ता
१२वीं, देशप्राण शासमल रोड
कोलकाता-७०० ०३३
दूरभाष : २४२४ ४१७१

डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित
डी-५४, निराला नगर
लखनऊ (उ० प्र०)
दूरभाष : (०५२२) २७८८ ४५२

डॉ० हरि प्रसाद दुबे
गयादेवी नगर, रामपुर भाग
फैजाबाद-२२४ २०३ (उ०प्र०)
दूरभाष : (०५२७०) २७७२९१

प्रो० चमन लाल गुप्ता
PROF. CHAMAN LAL GUPTA

पूर्व रक्षा राज्य मंत्री
भारत
FORMER MINISTER OF STATE FOR DEFENCE
INDIA

परम बन्धु,

कुमारसभा पुस्तकालय के बन्धु पूर्व राज्यपाल श्री विष्णुकांत शास्त्री जी के ७५वें जन्म दिवस पर उनकी देश तथा समाज के प्रति सेवाओं को उजागर करते हुए एक ग्रंथ प्रकाशित कर रहे हैं— यह जानकर अति प्रसन्नता हुई। शास्त्री जी ने जीवन के हर क्षेत्रों में चाहे शिक्षा हो अथवा राजनीति, एक कीर्तिमान स्थापित किया है। भगवान उनको लम्बी आयु तथा स्वस्थ शरीर दें ताकि वे देश व समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकें— यही मेरी परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है।

इस शुभावसर पर मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ एवं अनेक बधाइयाँ।

सप्रेम
—चमनलाल गुप्ता

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
१-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७

• श्रीरामसमर्थ •

श्रीमत्पंचखण्डपीठाधीश्वर समर्थगुरुपाद सद्गुरुदेव

आचार्य स्वामी श्री धर्मेन्द्र महाराज

मठ : 'पावनधाम' (श्रीपंचखण्डपीठ) विराटनगर (जिला जयपुर-राजस्थान) ३०३ १०२

निवास (पत्र-व्यवहार का पता) : 'पावन पॉइंसर' महात्मागांधीचन्द्रशेखर मार्ग, पो. एयरपोर्ट, डाँकरोड, जयपुर-३०२ ०११ (भारत)

दूरभाष : ०१४१-२५५३५५४ - २५५२२३४

सन्देश

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री के व्यक्तित्व में साहित्य, संस्कृति और आध्यात्मिकता का कुशल और विरल संगम देखा जाता है।

एक शीर्ष राजपुरुष की भूमिका में भी उन्होंने अपने हृदय की सद्भावों को सदा सुरक्षित रखा, यह उनकी अनुकरणीय विशेषता है।

अपनी शुभावस्था के वय में सोपान पर पहुँचने के इस अवसर पर मेरी अपेक्षा अनेक प्रशंसकों के मन में है कि अपनी आयु का सबसे महत्वपूर्ण शेष समय वे साहित्य और संस्कृति की सेवा में ही निवेदित करें।

वे शतायु हों, यशस्वी हों और अपनी प्रभा से भारतीय को प्रकाशित करते रहें।

सस्नेह और सादर —

श्री धर्मेन्द्र

साहित्य प्रेमी और आचार्य के रूप में मैंने उन्हें किसी दलबन्दी में नहीं देखा, चाहे जो उनकी राजनीतिक या धार्मिक धारणायें हों। उनके दृष्टिकोण में विशालता है जिसमें वे सबको समाहित कर लेते हैं। किसी मामले में उनसे विचारभिन्नता भी हो जाये तो भी उनके व्यवहार में रंचमात्र भी खिन्नता का भाव नहीं दिखाई देगा।

- त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी
महामहिम राज्यपाल, कर्नाटक

महापुरुष बाहर से महान दीखते हैं, जब उनके नजदीक जाओ तो धीरे-धीरे महानता घटती जाती है, लघुता में परिवर्तित होती जाती है।... लेकिन एक ऐसे व्यक्ति को मैंने देखा जिनकी महानता बड़ी से बड़ी होती गई। सिर्फ इसलिए कि उनका लक्ष्य बड़ा था, उनकी तपस्या बड़ी थी, उनका हृदय बड़ा था। उनकी वाणी मृदु थी, लेकिन उनका अहम् बहुत छोटा था। जो हर चीज का दोष स्वयं लेता था, श्रेय राम को देता था। और ऐसी जिंदगी का नाम है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री।

- सुषमा स्वराज
पूर्व केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री

ऐसा विद्वान, चरित्रवान, सात्विक और निरहंकारी व्यक्ति खोजने पर भी मिलेगा, इसमें मुझे बहुत संदेह है। मैंने बड़े-बड़े संन्यासियों में भी अहंकार देखा है - अपनी विद्वता का अहंकार, अपने पद का अहंकार, अपने सम्पर्कों का अहंकार। और यहाँ एक ऐसा व्यक्ति है, जिसे किसी चीज का अहंकार नहीं है, सत्ता का मद नहीं है।....
वे हमारे आत्मीय भी हैं और पूजनीय भी। मित्र भी हैं और गुरु भी। हमें उदात्तता की ओर खींचते भी हैं किन्तु हमें अपनी हीनता का बोध नहीं होने देते। वे विदा होते हैं तो व्यक्ति को यही लगता रहता है कि उसका कुछ बहुमूल्य खो गया है।

- डॉ० नरेन्द्र कोहली

राज्यपाल के रूप में आचार्य विष्णुकान्तजी शास्त्री ने अद्भुत आचरण-मानक स्थापित किये हैं। राजभवन में उन्हें देखकर प्रतीत होता है कि कभी राजर्षि जनक की 'रहनि' कैसी रही होगी। उनके प्रभाव परिवेश में आते ही हर व्यक्ति तेजस्विता के साथ साथ एक सरल-तरल आत्मीयता की जिन अमृत-रश्मियों में स्नान करने की अनुभूति करता है वह अपार है।

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय